मुनि नथमल

जैन दर्शन मनन और मीमांसा



6.3

From

जैन दर्शन मनन और मीमांसा

भगवान् महावीर
की
पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी
के उपलक्ष में

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि नथमल

जैन दर्शन मनन और मीमांसा

सम्पादकः मुनि दुलहराज



मूल्य : पचीस रुपये
परिवर्द्धित संस्करण, १९७३

प्रकाशक :
कमलेश चतुर्वेदी,
प्रवन्धक, आदर्श साहित्य संघ,
चूरू (राजस्थान)

मुद्रक :
भारती प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

JAIN DARSHAN : MANAN AUR MIMANSA
by **Muni Nathmal** **Rs. 25·00**



आशीर्वचन

धर्म का आधार है जीवन और दर्शन का आधार है साहित्य। वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ जीवनगत, आत्मगत, व्यक्तिगत और समूहगत हर तथ्य को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति दे रहे हैं, अतः धर्म भी साहित्य का विषय बन रहा है। जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है और विश्व-धर्म बनने की योग्यता रखने वाला धर्म है। इस धर्म को अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का परिवेश भी प्राप्त है किन्तु जो है, वह आत्मतोष के लिए पर्याप्त नहीं है। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी इस कार्य के लिए प्रेरणा है। इस अवसर पर प्राचीन जैन साहित्य का व्यवस्थित संपादन और नए मौलिक साहित्य का निर्माण साहित्य-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम है। हमें अपनी सम्पूर्ण निष्ठा से इस दिशा में समर्पित होकर जैन शासन की सेवा में अपना योगदान करना चाहिए।

'जैन दर्शन: मनन और मीमांसा' इसी क्रम की एक शृंखला है जिसमें लेखक ने जैन धर्म के समग्र तथ्यों को विस्तार से अभिव्यक्ति दी है। लेखन-कार्य में लेखक की अपनी आस्था के साथ तद्विषयक विशेष चिन्तन और मनन की अपेक्षा होती है। इसके अभाव में कोई भी लेखक अपने पाठकों को मननीय और मौलिक सामग्री नहीं दे सकता। प्रस्तुत पुस्तक का सृजन हमारे ही धर्म-संघ के एक साधनाशील मुनि की लेखनी से हुआ है। अध्यवसायी मुनि नथमल जी जितने लेखक हैं, उससे भी अधिक योगाभ्यासी हैं। आत्म-साधना और ज्ञानाराधना के अनुपम योग से साहित्य-क्षेत्र में अच्छी गति की है और कर रहे हैं। मैं चाहता हूं मुनि नथमल जी साहित्य के क्षेत्र में नया कीर्तिमान स्थापित करें और सत्य-निरपेक्ष तथ्य-संकलन करनेवालों के लिए एक आदर्श बनें। जैन धर्म के जिज्ञासु मनीषी इस पुस्तक का मनन कर साहित्यकार के सृजन को सार्थक करेंगे, इसी आशा के साथ।

—आचार्य तुलसी

हिसार
२५ जुलाई, १९७३



प्रास्ताविकम्

यह विश्व अनेक तत्त्वों की समन्विति है। वेदान्त दर्शन ने अद्वैत की स्थापना की पर द्वैत के बिना विश्व की व्याख्या नहीं की जा सकी तो उसे माया की परिकल्पना करनी पड़ी। ब्रह्म को सामने रखकर विश्व के मूलस्रोत की और माया को सामने रखकर उसके विस्तार की व्याख्या की गई। सांख्यदर्शन ने द्वैत के आधार पर विश्व की व्याख्या की। उसके अनुसार पुरुष चेतन और प्रकृति अचेतन है। दोनों वास्तविक तत्त्व हैं। विश्व की व्याख्या के ये दो मुख्य कोण हैं—अद्वैत और द्वैत। जो दार्शनिक विश्व के मूलस्रोत की खोज में चले, वे चलते-चलते चेतन तत्त्व तक पहुंचे और उन्होंने चेतन तत्त्व को विश्व के मूल-स्रोत के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिन दार्शनिकों को विश्व के मूलस्रोत की खोज वास्तविक नहीं लगी उन्होंने उसके परिवर्तनों की खोज की और उन्होंने चेतन और अचेतन की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की। प्रत्येक दर्शन अपनी-अपनी धारा में चलता रहा और तर्क के अविरल प्रवाह से उसे विकसित करता रहा।

जैन दर्शन का विश्व को देखने और उसकी व्याख्या करने का दृष्टिकोण दूसरा रहा। उसने अनेकान्त दृष्टि से विश्व को देखा और स्याद्वाद की भाषा में उसकी व्याख्या की, इसलिए वह न अद्वैतवादी बना और न द्वैतवादी। उसकी धारा स्वतन्त्र रही। फिर भी उसने दोनों कोणों का स्पर्श किया। अनेकान्त दृष्टि अनन्त नयों की समष्टि है। उसके अनुसार कोई भी एक नय पूर्ण सत्य नहीं है और कोई भी नय असत्य नहीं है। वे सापेक्ष होकर सत्य होते हैं और निरपेक्ष होकर असत्य हो जाते हैं। हम संग्रहनय की दृष्टि से देखते हैं तब सम्पूर्ण विश्व अस्तित्व के महास्कंध में अवस्थित होकर एक हो जाता है। इस नय की सीमा में द्वैत नहीं होता, चेतन और अचेतन का भेद भी नहीं होता। द्रव्य और गुण तथा शाश्वत और परिवर्तन का भेद भी नहीं होता। सर्वत्र अद्वैत ही अद्वैत। यह विश्व को देखने का एक

नय है। उसे देखने के दूसरे भी नय हैं। हम व्यवहारनय से देखते हैं तब विश्व अनेक खण्डों में दिखाई देता है। इस नय की सीमा में चेतन भी है, अचेतन भी है। द्रव्य भी है और गुण भी है। शाश्वत भी है और परिवर्तन भी है। सत्य की व्याख्या किसी एक नय से नहीं हो सकती। वह अनन्तधर्मा है। उसकी व्याख्या अनन्त नयों से ही हो सकती है। हम कुछेक नयों को ही जान पाते हैं, फलतः सत्य के कुछेक धर्मों की ही व्याख्या कर पाते हैं। कोई भी शास्त्र सम्पूर्ण सत्य की व्याख्या नहीं कर पाता और कोई भी व्यक्ति शास्त्रीय आधार पर सम्पूर्ण सत्य को साक्षात् नहीं जान पाता। यह दर्शनों का अन्तर और मतवादों का भेद हमारे ज्ञान और प्रतिपादन-शक्ति की अपूर्णता के कारण ही चल रहा है। यह भेद सत्य को विभक्त किए हुए है—जितने दर्शन उतने ही सत्य के रूप बन गए हैं। जैन दर्शन का अध्ययन हमें सत्य की दिशा में आगे ले जाता है और दर्शन के आकाश में छाए हुए कुहासे में देखने की क्षमता देता है। द्रव्य के अनन्त धर्म हैं। कोई दर्शन किसी एक धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है तो दूसरा दर्शन किसी दूसरे धर्म को मुख्य मानकर उसका प्रतिपादन करता है। दोनों की पृष्ठभूमि में एक ही द्रव्य है, किन्तु एकांगी प्रतिपादन के कारण वे विरोधी-से प्रतीत होने लग जाते हैं। उनमें प्रतीत होनेवाले विरोध का शमन अनेकान्त दृष्टि से ही किया जा सकता है। इस अर्थ में अनेकान्त दृष्टि और अहिंसा में पूर्ण अभिन्नता है। इसीलिए अनेकान्त को आधुनिक विचारक बौद्धिक अहिंसा कहते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा की व्याख्या लगभग सभी दर्शनों ने की है। जैन दर्शन ने उसकी गहराइयों में जाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इसे हम नई दिशा का उद्घाटन नहीं कह सकते। बौद्धिक अहिंसा या अनेकान्त नई दिशा का उद्घाटन है, सर्वथा नवीन और मौलिक आयाम है। यह व्यावहारिक और तात्त्विक दोनों क्षेत्रों में आनेवाली समस्याओं का समाधान है। भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती आचार्यों ने दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेकान्त दृष्टि का समग्रतः उपयोग किया और वे दार्शनिक संतुलन स्थापित करने में सफल भी हुए। उन्होंने विभिन्न दर्शनों में प्रतिभासित होनेवाले विरोध में समन्वय स्थापित किया और दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की आधार-शिला का निर्माण किया। वर्तमान चिंतन में समन्वय, तुलनात्मक अध्ययन और सर्व-धर्म-समभाव के अंकुर प्रस्फुटित हुए हैं, उनका बीज-वपन अनेकान्त दृष्टि के परिपार्श्व में हुआ था। यह आश्चर्य का विषय है कि निकट अतीत की कुछ शताब्दियों में जैन मनीषी भी एकांगी आग्रह में फंस गए। अनेकान्त की मर्यादा में होनेवाला उदार दृष्टिकोण और विशाल मानस इन शताब्दियों में नहीं दिखाई देता। व्यवहार के स्तर पर अनेकान्त का प्रयोग बहुत कम हुआ है। राग और द्वेष का मनोभाव तीव्र होता है उस स्थिति में मानसिक अहिंसा का समाचरण भी नहीं हो सकता तब बौद्धिक अहिंसा का समाचरण

कैसे हो सकता है।

भारतीय चिंतन की धारा में दर्शन और धर्म दोनों संयुक्त रहे हैं। हमारा जीवन-व्यवहार धर्म से शासित होता है। धर्म का स्वरूप आचार है। उसे मार्ग-दर्शन दर्शन से प्राप्त होता है। दर्शन के द्वारा तत्त्व प्रतिपादित होते हैं। धर्म उनकी क्रियान्विति करता है—हेय को छोड़ता है और उपादेय का अनुशीलन करता है। फिर भी हम इस सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि दर्शन का पक्ष जितना प्रबल होता है, उतना धर्म का नहीं होता। चिंतन की ऊंचाई को आचार बहुत कम बार छू पाता है। अनेकान्त का दर्शन के क्षेत्र में जितना उपयोग हुआ उसका दसांश भी व्यवहार के क्षेत्र में नहीं हुआ। इसके पीछे दर्शन की एकांगी धारा का भी कुछ प्रभाव है। प्राय: सभी दर्शनों ने दर्शन को शाश्वत सत्य की व्यवस्था तक ही सीमित रखा है। परिवर्तनशील व्यवहार की व्याख्या में दर्शन का नगण्य उप-योग हुआ है। शाश्वत और अशाश्वत दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। इन दोनों को विभक्त नहीं किया जा सकता। उस स्थिति में दर्शन को केवल शाश्वत की व्याख्या तक सीमित कैसे किया जा सकता है? परिवर्तन, जीवन-व्यवहार और सामयिक समस्याओं की व्याख्या करना भी उसका कार्य है। इस कार्य की उपेक्षा की गई, इसीलिए दर्शन और जीवन-व्यवहार में सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाया।

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्त्व-दर्शन या मोक्ष-दर्शन रहा है इसलिए उसने विश्व की व्याख्या और मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों की मीमांसा की है। जीवन के वर्तमान पक्ष की व्याख्या या तो नहीं की है या अल्पांश में की है। फलत: अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दर्शनशास्त्र से विच्छिन्न हो गए। व्यापक अर्थ में ये सभी दर्शन की शाखाएं हैं किन्तु दर्शन को मोक्षदर्शन के अर्थ में ही रूढ़ करने के कारण इनका पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। दर्शन तत्त्व की व्याख्या करता है किन्तु समाज को बदलता नहीं है—इस आरोप में सत्यांश है। मोक्ष-दर्शन में समाज को बदलने की कल्पना नहीं है। समाजशास्त्र आदि उससे विच्छिन्न हैं। इसलिए दर्शन का झुकाव समाज-व्यवस्था को बदलने की दिशा में नहीं है और नहीं रहा है। भारतीय दर्शनों के प्रणेता प्राय: मुमुक्षु साधक हुए हैं। वे सामाजिक भूमिका से दूर थे। उनका लक्ष्य था मोक्ष और वे मोक्षलक्षी दृष्टि का ही मुख्यत: निरूपण करते थे। समाज-व्यवस्था को बदलना सीधा प्राप्त भी नहीं था। काम और अर्थ, मोक्ष और धर्म—इस पुरुषार्थ चतुष्टयी पर भारतीय मनीषियों ने चिंतन किया है। इनका संतुलन रखने की दिशा भी प्रस्तुत की है। फिर भी उनका झुकाव मोक्ष की ओर रहा। समाज में गरीबी है, इसका चिन्तन किया है। वह व्यक्ति के अपने किए हुए कर्मों का फल है—इस सूत्र में उसका हेतु भी बतलाया है। उसे बदला जा सकता है—इस पर्याय की दिशा का उद्घाटन नहीं

हुआ। इसका कारण रहा कर्मशास्त्र का एकांगी दृष्टिकोण। यदि अनेकान्त दृष्टि से कर्मशास्त्र का अध्ययन किया जाता, समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री अनेकान्त दृष्टि से देखते तो व्यवस्था-परिवर्तन के द्वारा गरीबी समाप्त की जा सकती है—यह दृष्टि उन्हें प्राप्त हो जाती। सम्पन्नता या विपन्नता कर्म-हेतुक होती है पर कर्म-हेतुक ही नहीं होती। किसी भी कार्य की निष्पत्ति एक हेतु से नहीं होती, हेतु-समवाय से होती है। कर्म का विपाक भी अपने आप नहीं होता। वस्तु, क्षेत्र, काल, भाव आदि की युति से होता है। समाज-व्यवस्था का भाव (पर्याय) समुचित होता है तो विपन्नता को फलित करनेवाले कर्म का विपाक ही नहीं होता।

समाज के सामने अनेक समस्याएं हैं। सामाजिक विषमता, गरीबी, शस्त्रीकरण, युद्ध, जातीयता, साम्प्रदायिकता—इन समस्याओं के समाधान के लिए चिन्तन और प्रयत्न दोनों चल रहे हैं। पर इनके समाधान की दिशा में भारतीय दर्शनों का स्वर मुखर नहीं है। यह दुहाई अनेक बार सुनने को मिलती है—अमुक महापुरुष या अवतार की शिक्षा मानने से समाज की सारी समस्याएं सुलझ सकती हैं—यह एकांगी चिन्तन प्रतीत होता है। मैं मानता हूं समस्याएं शाश्वत हैं। पर उनका आकार शाश्वत नहीं है। वह देश-काल के अनुरूप बदलता रहता है। समस्याओं का बदलता हुआ आकार नया दृष्टिकोण चाहता है। हमारे दार्शनिक नए चोखटे में पुरानी प्रतिमा को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। फलतः समस्या के समाधान की दिशा में कोई नई प्रेरणा प्राप्त नहीं होती। अतीत के अनुभव वर्तमान के चिन्तन से अभिषिक्त होकर ही प्राणवान् रह सकते हैं। न जाने क्यों हमने मान लिया कि दर्शन का विकास हो चुका। वर्तमान में दर्शन के नव-उन्मेष का द्वार बंद है।

अनेकान्त कोरा दर्शन नहीं है, यह साधना है। एकांगी आग्रह राग और द्वेष से प्रेरित होता है। राग-द्वेष क्षीण करने का प्रयत्न किए बिना एकांगी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। जैसे-जैसे राग-द्वेष क्षीण होता है, वैसे-वैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है। जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। जैन-दर्शन ने राग-द्वेष को क्षीण करने के लिए अनेकान्त दृष्टि प्रस्तुत की। एकांगी दृष्टि से देखनेवाले दार्शनिक दर्शन का सही उपयोग नहीं कर पाते। दर्शन सत्य का साक्षात्कार करने के लिए है। राग-द्वेष में फंसा व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कैसे कर सकता है! सत्य की उपलब्धि के नाम पर जहां राग-द्वेष की वृद्धि होती है वहां दर्शन की दिशा सर्वथा विपरीत हो जाती है। दर्शन सत्य की उपलब्धि के लिए और सत्य शान्ति की उपलब्धि के लिए है। जब शान्ति की उपलब्धि के हेतु भी अशान्ति के हेतु बन जाते हैं तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ज्योतिपुंज से तिमिर की रश्मियां

विकीर्ण हो रही हैं।

धर्म और दर्शन ने मनुष्य को आकर्षित किया है। पर अपनी रागात्मक प्रवृत्ति के कारण वह सत्य से कम आकर्षित हुआ। उसके आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गया सत्य का संस्थान—सम्प्रदाय। सम्प्रदाय ने सत्य पर इतने आवरण डाले कि धर्म की सुरक्षा के लिए अधर्म का अनुसरण मान्य हो गया। अहिंसा की सुरक्षा के लिए हिंसा और सत्य की सुरक्षा के लिए असत्य का आचरण वर्जित नहीं रहा। धर्म के नाम पर होनेवाले संघर्षों का यही मूल स्रोत है।

जैन धर्म जातिबद्ध या संस्थाबद्ध नहीं है। वह धर्म-चेतना है। जैन दर्शन ने किसी भी जाति, सम्प्रदाय या वेशभूषा में रहनेवाले व्यक्ति को मुक्ति का अधिकारी घोषित किया है यदि उसकी धर्म-चेतना जागृत हो गई हो, राग-द्वेष सर्वथा क्षीण हो गया हो। धर्म-चेतना को सम्प्रदाय से मुक्त मानने वाला धर्म आध्यात्मिक धर्म होता है। सत्य को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि और उसे पाने के लिए आध्यात्मिक धर्म—जैन दर्शन की ये ही मौलिक उपलब्धियां हैं। जैन दर्शन को आप इन्हीं की छाया में पढ़ सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में ये ही दो कोण उजागर किए गए हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व की स्थापना के लिए तर्क को एक सापेक्ष आलंबन के रूप में स्वीकृति दी है। अपने अभ्युपगम की स्थापना और परकीय अभ्युपगम के निरसन के लिए तर्क का उपयोग करना हो तो उस सीमा में ही किया जाए, जिससे पर-पक्ष को मानसिक आघात न लगे। अपने विचार की पुष्टि अहिंसा की पुष्टि के लिए है। अहिंसा का खण्डन कर दूसरे के अभ्युपगम का खण्डन करना वास्तव में अपने अभ्युपगम का ही खण्डन है। इस अहिंसात्मक दृष्टि के कारण जैन दार्शनिक तर्क के तीखे बाण निर्मित करने और छोड़ने में प्रवृत्त नहीं हुए पर अनेकान्त दृष्टि का अभेद्य कवच पहन लेने के कारण वे दूसरों के तीखे तर्क-बाणों से आहत भी नहीं हुए। आप जैन दर्शन में तर्क-सत्य की अपेक्षा अनुभव-सत्य को अधिक पाएंगे। आग्रही मनुष्य अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए तर्क खोजता है और आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य की अभिव्यक्ति के लिए उसकी खोज करता है। तर्क व्यवहार की भूमिका का उपकरण है। सत्य वास्तविकता की गहराइयों में जाने पर उपलब्ध होता है। जैन दर्शन इस उपलब्धि का अन्यतम ऋजु मार्ग है। वह एक दर्शन नहीं है, किन्तु दर्शनों का समुच्चय है। अनन्त दृष्टियों के सह-अस्तित्व को मान्यता देने वाला एक दर्शन कैसे हो सकता है? जैन दर्शन के अध्ययन का अर्थ है—सब दर्शनों का अध्ययन और सब दर्शनों के सापेक्ष अध्ययन का अर्थ है जैन दर्शन का अध्ययन। इस उभययोगी दृष्टि से किए जाने वाले अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ प्रस्तुत है।

अहिंसा जैन दर्शन का आधारभूत तत्त्व है। फिर भी उसकी विशद चर्चा इसलिए नहीं की है कि 'अहिंसा तत्त्व दर्शन' में मैं उसकी चर्चा विस्तार से कर चुका

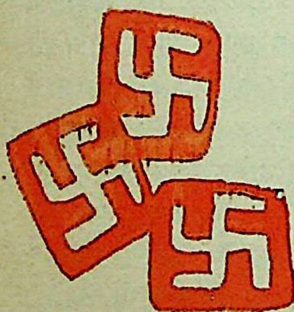
हूं। जैन योग पर आचार्यश्री तुलसी रचित 'मनोनुशासनम्' की व्याख्या मैं लिख चुका हूं इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका विस्तार नहीं मिलेगा। फिर भी जैन दर्शन की रूपरेखा की जिज्ञासा से थोड़ा-सा समाधान मिल सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ वि० सं० २००५ में किया था और यह सम्पन्न हुआ वि० सं० २०१० में। इसका पहला संस्करण 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' के नाम से दो भागों में वि० सं० २०१७ में 'तेरापंथ द्विशताब्दी' के अवसर पर प्रकाशित हुआ। यह उसी का परिष्कृत संस्करण है। आचार्यश्री का मार्गदर्शन मुझे सहज-सुलभ रहा है। मैं इसे अपना जन्मसिद्ध सौभाग्य ही मानता हूं। कृतज्ञता-ज्ञापन में उसकी अनुभूति को व्यक्त कर सकूं—यह सम्भव नहीं लगता। प्रयुक्त ग्रन्थों के उद्धरण लिखने में मुनिश्री शुभकरण जी और मुनिश्री श्रीचन्दजी का मुझे सहयोग मिला है। मुनिश्री दुलहराजजी का इस कार्य में बहुत बड़ा सहयोग रहा है। प्रस्तुत संस्करण में भी उनका बहुत बड़ा श्रम लगा है। उनके श्रम का मूल्यांकन भावात्मक है। साधुवाद देकर उसका मूल्य कम करना मुझे इष्ट नहीं है। इसका 'नामानुक्रम' मुनि श्रीचन्द्र जी ने तथा 'प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची' मुनि राजेन्द्रकुमार जी ने तैयार की है।

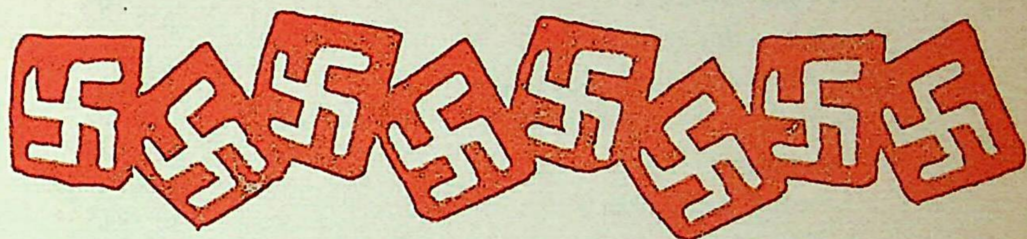
भगवान् महावीर का दर्शन उनकी पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर नए परिधान के साथ प्रस्तुत हो रहा है, यह मेरे लिए उल्लास का विषय है।

— मुनि नथमल

कोठारी-भवन
राजगढ़ (राजस्थान)
२५ जून, १९७३



विषय-वीथि



पहला खण्ड : परम्परा और कालचक्र

दूसरा खण्ड : दर्शन

३ : लोकवाद

१० : जैन दर्शन और बौद्ध

तीसरा खण्ड : आचार-मीमांसा

२ : मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व

चौथा खण्ड : ज्ञान-मीमांसा

१ : ज्ञान-मीमांसा

पांचवां खण्ड : प्रमाण-मीमांसा

१ : जैन-न्याय

४ : परोक्ष प्रमाण

५ : आगम-प्रमाण

१

परम्परा और कालचक्र

१

भगवान ऋषभ से पार्श्व तक

शाश्वत प्रश्न और जैन दर्शन

हम जिस जगत् में जी रहे हैं वह क्या है ? वह कहां है ? वह कब से है ? वह एक-रूपी है या बहुरूपी ? वह किसकी रचना है ? ये प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के मन को आलोड़ित करते रहे हैं। मनुष्य इन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए दर्शन की वेदी तक पहुंचा है।

दर्शन देखने की पद्धति है। हम वस्तु को दो साधनों से देखते हैं। पहला साधन है—प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार और दूसरा साधन है—हेतुवाद।

ध्यान-सिद्ध मनुष्य विश्व को अन्तर्दृष्टि से देखता है। बौद्धिक मनुष्य उसे तार्किक दृष्टि से देखता है। अन्तर्दृष्टि वैयक्तिक साधना से फलित ज्ञान है। इसलिए उसके अध्ययन की कोई प्रक्रिया नहीं है। तर्क मनुष्य के ऐन्द्रियिक अनुभवों (साहचर्य नियमों) से फलित ज्ञान है। वह सामूहिक बोध है, इसलिए उसके अध्ययन की प्रक्रिया है। अन्तर्दृष्टि से दृष्ट तत्त्वों का प्रतिपादक शास्त्र दर्शन-शास्त्र कहलाता है।

तार्किक ज्ञान से उपलब्ध तत्त्वों तथा तार्किक प्रक्रिया का प्रतिपादक शास्त्र तर्कशास्त्र कहलाता है।

आज दोनों प्रकार के शास्त्र बहुत एकात्मक हो गए हैं। अतः दर्शनशास्त्र शब्द से उन दोनों का बोध होता है।

भगवान् महावीर अन्तर्दृष्टा थे। उनके उत्तरवर्ती आचार्य तार्किक प्रतिभा के धनी थे। आज का जैन दर्शन उन दोनों के निरूपण का प्रतिफलन है।

जैन दर्शन ने उन शाश्वत प्रश्नों का उत्तर दिया है :

१. यह जगत् चेतन और अचेतन द्रव्यों का समवाय है।

२. यह अनंत आकाश का मध्यवर्ती आकाश खंड है। समग्र आकाश की

तुलना में यह एक बिंदु जैसा है।

३. यह शाश्वत है। इसका आदि-बिंदु नहीं है।

४. यह परिवर्तनशील भी है—प्रतिदिन नए-नए रूपों में बदलता रहता है।

५. यह अनादि है, इसलिए किसी महाशक्ति की कृति नहीं है।

तत्त्व-मीमांसा के प्रसंग में इन प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा की जाएगी। इतिहास खंड में केवल इतना ही प्रासंगिक है कि हमारा जगत् शाश्वत और अशाश्वत का सामंजस्य है।

भगवान् महावीर ने स्कन्दक संन्यासी से कहा था—"स्कन्दक! ऐसा कोई क्षण न था, न है और न होगा जिसमें इस जगत् का अस्तित्व न हो।" यह अस्तित्व की दृष्टि से जगत् की शाश्वतता का प्रतिपादन है।

भगवान् ने जमालि से कहा था—"जमालि! इस जगत् में कालचक्र गतिशील रहता है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का क्रम चालू रहता है। फलतः जगत् का आंचलिक स्वरूप बदलता रहता है।"

यह परिवर्तन की दृष्टि से जगत् की अशाश्वतता का प्रतिपादन है। ऐतिहासिक अध्ययन के लिए जगत् का परिवर्तनशील रूप ही हमारे लिए उपयोगी है।

कालचक्र

कालचक्र जागतिक ह्रास और विकास के क्रम का प्रतीक है। काल का पहिया नीचे की ओर जाता है तब भौगोलिक परिस्थिति तथा मानवीय सभ्यता और संस्कृति ह्रासोन्मुखी होती है। काल का पहिया जब ऊपर की ओर आता है तब वे विकासोन्मुखी होती हैं।

काल की इस ह्रासोन्मुखी गति को अवसर्पिणी और विकासोन्मुखी गति को उत्सर्पिणी कहा जाता है।

अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पर्यायों की क्रमशः अवनति होती है।

उत्सर्पिणी में उक्त पर्यायों की क्रमशः उन्नति होती है। वह अवनति और उन्नति सामूहिक होती है, वैयक्तिक नहीं होती।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारंभ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह पर्व होते हैं:

१. सुषम-सुषमा

२. सुषमा

३. सुषम-दुःषमा

४. दुःषम-सुषमा

५. दुःषमा ।
६. दुःषम-दुःषमा
ये छह अवसर्पिणी के पर्व हैं ।
उत्सर्पिणी के छह पर्व इस व्यतिक्रम से होते हैं :
१. दुःषम-दुःषमा
२. दुःषमा
३. दुःषम-सुषमा
४. सुषम-दुःषमा
५. सुषमा
६. सुषम-सुषमा ।

१. सुषम-सुषमा

आज हम अवसर्पिणी के पांचवें पर्व—दुःषमा में जी रहे हैं । हमारे युग का जीवन-क्रम सुषम-सुषमा से शुरू होता है । उस समय भूमि स्निग्ध थी । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे । मिट्टी की मिठास आज की चीनी से अनन्त गुना अधिक थी । कर्मभूमि थी किन्तु अभी कर्मयुग का प्रवर्तन नहीं हुआ था । पदार्थ अति स्निग्ध थे । इस युग के मनुष्य तीन दिन के अंतर से अरहर की दाल जितनी-सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते । खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नहीं थे । विकार बहुत कम थे इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लम्बा होता था । वे तीन पल्य तक जीते थे । अकाल-मृत्यु कभी नहीं होती थी । वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी । उनका शरीर तीन गाउ ऊंचा था । वे स्वभाव से शान्त और संतुष्ट होते थे । यह चार कोटि-कोटि का एकान्त सुखमय पर्व बीत गया ।

२. सुषमा

तीन कोटि-कोटि सागर का दूसरा सुखमय पर्व शुरू हुआ । इसमें भोजन दो दिन के अंतर से होने लगा । उसकी मात्रा बेर के फल जितनी हो गई । जीवनकाल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊंचाई दो गाउ की रह गई । इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी ।

३. सुषम-दुःषमा

काल और आगे बढ़ा । तीसरे सुख-दुःखमय पर्व में और कमी आ गई । एक दिन के अंतर से भोजन होने लगा । उसकी मात्रा आंवला के समान हो गई । जीवन का काल-मान एक पल्य हो गया । शरीर की ऊंचाई दो गाउ की हो गई । इस युग की काल-मर्यादा थी एक कोटि-कोटि सागर । इसके अन्तिम चरण में पदार्थों की

स्निग्धता में बहुत कमी हुई। सहज नियमन टूटने लगे। तब कृत्रिम व्यवस्था आयी और इसी समय कुलकर-व्यवस्था को जन्म मिला।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है। समाज-संगठन अभी नहीं हुआ था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी। एक जोड़ा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। समाज और राज्य की बात बहुत दूर थी। जनसंख्या कम थी। माता-पिता की मौत से छह माह पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। विवाह-संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकता बहुत सीमित थी। न खेती होती थी, न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे। उनके भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्प-वृक्ष थे। शृंगार और आमोद-प्रमोद, विद्या, कला और विज्ञान का कोई नाम नहीं जानता था। न कोई वाहन था और न कोई यात्री। गांव बसे नहीं थे। न कोई स्वामी था और न सेवक। शासन और शासित भी नहीं थे। न कोई शोषक था और न कोई शोषित। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु ही नहीं थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे। उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शान्त-स्वभाव वाले थे। चुगली, निन्दा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नहीं थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाएं भी उत्पन्न नहीं हुई थीं। लड़ने-झगड़ने की मानसिक ग्रन्थियां भी नहीं थीं। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था, मार-काट और हत्या नहीं होती थी। न संग्रह था, न चोरी और असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शान्ति में लीन रहते थे।

कालचक्र का पहला भाग (अर) बीता। दूसरा और तीसरा भी लगभग बीत गया।

सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस चीनी से अनन्त गुना मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गन्ध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई।

युगल मनुष्यों के शरीर का परिमाण भी घटता गया। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन करने की परम्परा भी टूटने लगी। कल्प-वृक्षों की शक्ति भी क्षीण हो चली।

यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनों की कहानी है।

कुलकर-व्यवस्था

असंख्य वर्षों के बाद नये युग का आरम्भ हुआ। यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नहीं पायी। सक्रान्ति-काल चल रहा था। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताएं कुछ बढ़ीं। इस स्थिति में आपसी संघर्ष और लूट-खसोट

होने लगी। परिस्थिति की विवशता ने क्षमा, शान्ति, सौम्य आदि सहज गुणों में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नयी व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लाग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। उन कुलों का एक मुखिया होता, वह कुलकर कहलाता। उसे दण्ड देने का अधिकार होता। वह सब कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियंत्रण रखता। यह शासन-तन्त्र का ही आदि-रूप था।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला ही नहीं होता और पूरा बुरा ही नहीं होता। उस में भलाई और बुराई दोनों के बीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अंकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति के योग की सह-स्थिति का नाम है—परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभावगत वृत्तियों की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की आवश्यकताएं कम थीं। उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे। उस समय मनुष्य को संग्रह करने और दूसरों द्वारा अधिकृत वस्तु को हड़पने की बात नहीं सूझी। इसके बीज उसमें थे, पर उन्हें अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला। ज्यों ही जीवन की थोड़ी आवश्यकताएं बढ़ीं, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुए कि लोगों में संग्रह और अपहरण की भावना उभर आयी। जब तक लोग स्वयं शासित थे, तब तक बाहर का शासन नहीं था। जैसे-जैसे स्व-गत शासन टूटता गया, वैसे-वैसे बाहरी शासन बढ़ता गया। यह कार्य-कारणवाद या एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है।

कुलकर सात हुए हैं, उनके नाम ये हैं :

१. विमलवाहन
२. चक्षुष्मान्
३. यशस्वी
४. अभिचन्द्र
५. प्रसेनजित
६. मरुदेव
७. नाभि

राजतन्त्र और दण्डनीति

कुलकर-व्यवस्था में तीन दण्ड-नीतियां प्रचलित हुईं। पहले कुलकर विमल-वाहन के समय में 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। 'हा! तूने यह क्या किया!' ऐसा कहना गुरुतर

दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली। तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय में छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पांचवें, छठे और सातवें—प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय में 'धिक्कार' नीति चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार', मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया। उस समय के मनुष्य अति-मात्र ऋजु, मर्यादा-प्रिय और स्वयं-शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दंड से अधिक होते।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलों को जो कल्प-वृक्षों से प्रकृति-सिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शान्त और प्रसन्न थे, उनमें क्रोध का उदय होने लगा। वे आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। 'धिक्कार' नीति का उल्लंघन होने लगा। जिन युगलों ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितियां न कभी देखीं और न कभी सुनीं—वे इन स्थितियों से घबरा गए। वे मिले और ऋषभकुमार के पास पहुंचे और मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा—"इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।"

"राजा कौन होता है ?" युगलों ने पूछा।

ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हें दी। युगलों ने कहा—"हममें आप सर्वाधिक समर्थ हैं। आप ही हमारे राजा बनें।"

ऋषभकुमार बोले—"आप मेरे पिता नाभि के पास जाइये, उनसे राजा की याचना कीजिए। वे आपको राजा देंगे।" वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट गए।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-संचालन के लिए नगर बसाया। वह बहुत विशाल था। उसका नाम रखा विनीता—अयोध्या। ऋषभ प्रथम राजा बने। शेष जनता प्रजा बन गई। वे प्रजा का अपनी सन्तान की भांति पालन करने लगे। गांवों और नगरों का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वास से हट भवनवासी बन गए। ऋषभ की क्रान्तिकारी और जन्मजात प्रतिभा से लोग नये युग के निर्माण की ओर चल पड़े। उन्होंने राज्य की समृद्धि के लिए गायों, घोड़ों और हाथियों का संग्रह किया। असाधु लोगों पर शासन और साधु लोगों की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपना मंत्रिमंडल बनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए उन्होंने आरक्षक दल स्थापित किया।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होंने चतुरंग सेना और

सेनापतियों की व्यवस्था की।

साम, दान, भेद और दण्ड-नीति का प्रवर्तन हुआ।

ऋषभ की दण्ड-व्यवस्था के चार अंग थे :

१. परिभाषक—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहीं बैठ जाओ' का आदेश देना।

२. मंडलिबन्ध—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३. बन्ध—बंधन का प्रयोग।

४. घात—डंडे का प्रयोग।[1]

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है, वैसे ही दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा। इन नीतियों में राजतन्त्र जमने लगा और अपराधी चार भागों में बंट गए। आरक्षक वर्ग के सदस्य 'उग्र', मंत्रि परिषद् के सदस्य 'भोज', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राजतन्त्र का अंग बन गया। यह युगों तक विकसित होता रहा।

विवाह-पद्धति का प्रारंभ

नाभि अन्तिम कुलकर थे। उनकी पत्नी का नाम था 'मरुदेवा'। उनके पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया 'उसभ' या 'ऋषभ'। इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था। युगल के एक साथ जन्म लेने या मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई। उन्हीं दिनों एक युगल जन्मा। उसके माता-पिता ने उसे ताड़ के वृक्ष के नीचे सुला दिया। उसका फल बच्चे के सिर पर गिरा और वह मर गया। उस युग की वह पहली अकाल-मृत्यु थी। अब वह बालिका अकेली रह गई। थोड़े समय बाद उसके माता-पिता मर गए। उस अकेली बालिका को अन्य युगलों ने आश्चर्य की दृष्टि से देखा। वे उसे कुलकर नाभि के पास ले गए। नाभि ने उसे ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया। ऋषभ युवा हो गए। उन्होंने अपनी सहोदरी सुमंगला के साथ सुनंदा को स्वयं ब्याहा। यहीं से विवाह-पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के अतिरिक्त भी दूसरी कन्याओं से विवाह करने लगे।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग में लोगों की भोजन-सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा—२१७, २१८।

फल। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नहीं रहे और वनवासी लोग गृहवासी होने लगे। इससे पूर्व प्राकृतिक वनस्पति प्राप्त थी। अब बोए हुए बीज से अनाज होने लगा।

वे पकाना नहीं जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभ के पास पहुंचे और अपनी समस्या का समाधान मांगा। ऋषभ ने अनाज को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभ अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल में अग्नि उत्पन्न हो नहीं सकती। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष—दोनों काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नहीं होते।

समय के चरण आगे बढ़े। काल स्निग्ध-रूक्ष बना, तब वृक्षों की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई, वह फैली। वन जलने लगे। लोगों ने उस अपूर्व वस्तु को देखा और उसकी सूचना ऋषभ को दी। उन्होंने अग्नि का उपयोग और पाक-विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

शिल्पकला और व्यवसाय का प्रशिक्षण

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएं सिखलाईं। कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी की लक्षण विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को अठारह लिपियों और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, क्रीड़ाविधि आदि-आदि विद्याओं का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि शिल्पों का जन्म हुआ। अन्नपाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार शिल्प का आरंभ हुआ। सामाजिक जीवन ने वस्त्र-शिल्प और गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि को काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

पदार्थों के विकास के साथ-साथ उनके विनिमय की आवश्यकता अनुभूत हुई। उस समय ऋषभ ने व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया।

पदार्थ बढ़े तब परिग्रह में ममता बढ़ी, संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

सामाजिक परम्पराओं का सूत्रपात

पहले मृतकों की दाहक्रिया नहीं की जाती थी, अब लोग मृतकों को जलाने लगे। पहले पारिवारिक ममत्व नहीं था, अब वह विकसित हो गया। इसलिए मृत्यु के बाद लोग रोने लगे। उसकी स्मृति में वेदी और स्तूप बनाने की प्रथा भी चल पड़ी। नाग-पूजा और अन्य कई उत्सव भी लोग मनाने लगे।

इस प्रकार समाज में कुछ परम्पराओं ने जन्म ले लिया।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन

कर्तव्य-बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभ राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अंतिम भाग में वे राज्य त्यागकर मुनि बने। मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ। यौगलिक काल में क्षमा, सन्तोष आदि सहज धर्म ही था। हज़ार वर्ष की साधना के बाद भगवान् ऋषभ को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि-धर्म के पांच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह-व्रतों का उपदेश दिया। साधु-साध्वियों का संघ बना। श्रावक-श्राविकाएं भी बनीं।

साम्राज्य-लिप्सा

भगवान् ऋषभ कर्म-युग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था। उसने अपने ९८ भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस में परामर्श कर भगवान् ऋषभ के पास पहुंचे। सारी स्थिति भगवान् ऋषभ के सामने रखी। दुविधा की भाषा में पूछा—'भगवन्! क्या करें? बड़े भाई से लड़ना नहीं चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नहीं चाहते। भाई भरत ललचा गया है। आपके दिये हुए राज्य को वह हमसे वापस लेना चाहता है। हम उससे लड़ें तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जाएगी। बिना लड़े राज्य सौंप दें तो साम्राज्य का रोग बढ़ जाएगा। परमपिता! इस दुविधा से उबारिए।'

भगवान् ने कहा—'पुत्रो! तुमने ठीक सोचा। लड़ना भी बुरा है और क्लीव होना भी बुरा है। राज्य दो परों वाला पक्षी है। उसका मजबूत पर युद्ध है। उसकी उड़ान में पहले वेग होता है, अन्त में थकान। वेग में से चिनगारियां उछलती हैं। उड़ाने वाले लोग उसमें जल जाते हैं। उड़ने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप।

'पुत्रो! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के लिए भी और

पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गंवाकर पछताता है और विजेता कुछ नहीं पाकर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमें स्वयं न जले यह कभी नहीं होता।

'राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हें कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हूं? पुत्रो! मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूं, जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियां जुड़ी हुई नहीं हैं।'

भगवान् की आश्वासन-भरी वाणी सुन वे सारे के सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एकटक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नहीं पकड़ सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारों से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना में नहीं समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खण्ड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसीलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नहीं था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुंचने वाले ही भगवान् बनते हैं। संग्रह के चरम विन्दु पर पहुंच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

भगवान् ने कहा—'संयम का क्षेत्र निर्वाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें कोई अधीन करने आएगा और न वहां युद्ध और कायरता का प्रसंग है।'

पुत्रों ने देखा पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व-कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्गदर्शन का सम्मान किया। राज्य को त्याग स्व-राज्य की ओर चल पड़े। स्व-राज्य की अपनी विशेषताएं हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा में नहीं चला आता। एक संयम के विना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। संयम के आने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयों से क्षमा मांगी। स्वतन्त्रतापूर्वक अपना-अपना राज्य सम्हालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नहीं रहे थे। वे अकिंचन जगत् के भाई बन चुके थे। भरत का भातृ-प्रेम अब उन्हें नहीं ललचा सका। वे उसकी लालची आंखों को देख चुके थे। इसलिए उसकी गीली आंखों का उन पर कोई असर नहीं हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधीन कर लिया। बाहुबलि को उसने नहीं छुआ। अट्ठानवे भाइयों के राज्य-त्याग को वह अब भी नहीं भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असंयम का जगत्

ही ऐसा है, जहां सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिंचनता की अनुभूति होती रहती है।

युद्ध का पहला चरण

दूत के मुंह से भरत का सन्देश सुन बाहुबलि की भृकुटी तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कांपते होंठों से कहा—'दूत! भरत अब भी भूखा है? अपने अट्ठानवे सगे भाइयों का राज्य हड़पकर भी तृप्त नहीं बना। हाय! यह कैसी मनोदशा है! साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नहीं। मेरा बाहुबल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यों को नहीं हड़प सकता? किन्तु यह मानवता का अपमान, शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भंग है, मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रों को उसे तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिए। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् में विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धान्त पनपा तो बच्चों और बूढ़ों का क्या बनेगा? युवक उन्हें चट कर जाएंगे। रोगी, दुर्बल और अपंग के लिए यहां कोई स्थान नहीं रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं—ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-अभी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर ढकेलना चाहता है? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रान्ता उससे बेभान हो दूसरों पर टूट पड़ता है।

'भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा। अब उस उन्माद के रोग का शिकार मैं हूं। हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझती—यह मैं जानता हूं। आक्रमण को अभिशाप मानता हूं। किन्तु आक्रमणकारी को सहूं—यह मेरी तितिक्षा से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोड़ने वाला समझता ही नहीं तो आखिर जोड़ने वाला कब तक जोड़े?'

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुंच गई। इधर बाहुबलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आ गया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। सम्राट् की सेना ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुंह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लड़ाइयां होती रहीं। आखिर दोनों भाई सामने आ खड़े हुए। तादात्म्य आंखों पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनों ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनों विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। वे विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रणभूमि में उतर आए।

दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पांच प्रकार के युद्ध निर्णीत हुए। उन सब में सम्राट् पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा तोड़ बाहुबलि पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुदावलियों से गूंज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खड़ा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गए।

एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूंजा—'महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया पर छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा। महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता। महान् पिता के महान् पुत्र! हमें क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।' इन लाखों कण्ठों की विनम्र स्वर-लहरियों ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने-आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नहीं लौटता। उसका प्रहार भरत पर नहीं हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल नोच डाले और अपने पिता के पथ की ओर चल पड़ा।

बाहुबलि के पैर आगे नहीं बढ़े। वे पिता की शरण में चले गए पर उनके पास नहीं गए। अहंकार अब भी बच रहा था। पूर्व-दीक्षित छोटे भाइयों को नमस्कार करने की बात याद आते ही उनके पैर रुक गए। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा में खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाएं अनगिनत होती हैं। असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबलि अहं से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अहं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरान्त भी वे आगे नहीं बढ़ सके।

'ये पैर स्तब्ध क्यों हो रहे हैं? सरिता का प्रवाह रुक क्यों रहा है?' ये शब्द बाहुबलि के कानों को बींध हृदय को पार कर गए। बाहुबलि ने आंखें खोलीं। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी हैं। बहनों की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आंखें झुक गईं।

'अवस्था से छोटे-बड़े की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नहीं है। ये मेरे पैर गणित के छोटे से प्रश्न में उलझ गए। छोटे भाइयों को मैं नमस्कार कैसे करूं—इस तुच्छ चिन्तन में मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और बड़प्पन के मानदण्ड बदल जाते हैं। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं, उनका चरित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे और छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिए।'

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह वह चला। वे केवली बन गए। सत्य का साक्षात् ही नहीं हुआ, वे स्वयं सत्य वन गए। शिव अब उनका साध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे स्वयं आनन्द बन गए।

अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा हो गया। भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थवान् नहीं रहा। वह सम्राट् बना रहा किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्यवादी नहीं रहा। पदार्थ मिलते रहे पर आसक्ति नहीं रही। वह उदासीन-भाव से राज्य-संचालन करने लगा।

भगवान् अयोध्या आए। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—'भरत मोक्ष-गामी है।' एक सदस्य भगवान् पर बिगड़ गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फांसी की सजा दे दी। वह घबरा गया, भरत के पैरों में गिर पड़ा और अपराध के लिए क्षमा मांगी। भरत ने कहा—'तेल भरा कटोरा लिए सारे नगर में घूम आओ। तेल की एक बूंद नीचे न डालो तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नहीं है।'

अभियुक्त ने वैसा ही किया। बड़ी सावधानी से नगर में घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट् ने पूछा—नगर में घूम आए ?

'जी, हां।' अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट्—नगर में कुछ देखा तुमने ?

अभियुक्त—नहीं, सम्राट् ! कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कई नाटक देखे होंगे ?

अभियुक्त—जी, नहीं। मौत के सिवा कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कुछ गीत तो सुने होंगे ?

अभियुक्त—सम्राट् की साक्षी से कहता हूं, मौत की गुनगुनाहट के सिवा कुछ भी नहीं सुना।

सम्राट्—मौत का इतना डर ?

अभियुक्त—सम्राट् इसे क्या जाने ? यह मृत्युदण्ड पानेवाला ही समझ सकता है।

सम्राट्—क्या सम्राट् अमर रहेगा ? कभी नहीं। मौत के मुंह से कोई नहीं बच सकता। तुम एक जीवन की मौत से डर गए। न तुमने नाटक देखे और न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूं। यह साम्राज्य मुझे नहीं लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आंखों ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्युदण्ड उसके लिए केवल शिक्षाप्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नानघर में गए, अंगूठी खोली। अंगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ़ गई। पर-पदार्थ से शोभा बढ़ती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है—इस चिन्तन में लगे और लगे सहज सौन्दर्य को ढूंढने। भावना का प्रवाह आगे बढ़ा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणों में ही मुनि बने, वीतराग बने और केवली बने। भावना की शुद्धि ने व्यवहार की सीमा तोड़ दी। न वेश बदला, न राज-प्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक संयम इनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चल पड़े।

ऋषभ के पश्चात्

काल का चौथा चरण दुःषम-सुषमा आया। वह बयालीस हज़ार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर तक रहा। इस अवधि में कर्म-क्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ। धर्म बहुत फला-फूला। इस युग में जैन धर्म के बीस तीर्थंकर हुए। यह सारा दर्शन प्रागैतिहासिक युग का है। इतिहास अनन्त अतीत की चरण-धूलि को भी नहीं छू सका है। वह पांच हज़ार वर्ष को भी कल्पना की आंख से देख पाता है।

सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। पर थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसमें मिश्रित है, यह बहुत सम्भव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

वेदों का अस्तित्व पांच हज़ार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखाचित्र खींचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे[1]।

जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१७।६।

अरिष्टनेमि थे[1]। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो धारणा का उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। 'तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित—अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णाहीन हो गए[2]। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है[3]। घोर आंगिरस ने जो उपदेश दिया, उसका सम्बन्ध आत्मवादी धारणा से है। 'इसीभासिय' में अंगिरिस नामक प्रत्येक-बुद्ध का उल्लेख है। वे भगवान्-अरिष्टनेमि के शासनकाल में आए थे। इस आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारों से प्रभावित कोई संन्यासी रहे होंगे ?

कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सम्बन्ध भी था। अरिष्टनेमि समुद्र-विजय और कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया।[4] अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे[5]। राजीमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया[6]।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली[7]।

कृष्ण की आठ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुईं[8]। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने[9]। जैन साहित्य में अरिष्टनेमि और कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं[10]।

वेदों में कृष्ण के देव रूप की चर्चा नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है[11]। पौराणिक काल में कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्वशक्तिमान् देव बन जाते हैं। कृष्ण के यथार्थ-रूप का वर्णन जैन आगमों में मिलता है[12]। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार

---

१. ज्ञाताधर्मकथा, ५
२. छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१७।६
३. आयारो, १।१।१-४।
४. उत्तरज्झयणाणि, २२।६, ८
५. वही, २२।२५, २६
६. वही, २२।३१
७. अन्तकृत, ३।८
८. वही, ५। १-८
९. वही, १।१, १०; २।१-८; ४।१-१०
१०. ज्ञाताधर्मकथा, ५
११. छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१७।६
१२. ज्ञाताधर्मकथा, १६

नहीं किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

तीर्थंकर पार्श्व

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक-परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें 'पुरिसादाणीय'[१]—पुरुषादानीय विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे।

धर्मानन्द कौसम्बी ने भगवान् पार्श्व के बारे में कुछ मान्यताएं प्रस्तुत की हैं :

"परीक्षित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियों के पूर्व नहीं जा सकता। परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरू देश में महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी-देश में पार्श्व एक नई संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रन्थों में आयी है। पार्श्व की नई संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी रही होगी, क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यों को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पड़ा था।

पार्श्व का धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह—इन चार बातों के त्याग करने का वे उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दस आज्ञाएं सुनाईं, उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुनकर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन में घुसे और वहां खून की नदियां बहाईं। न जाने कितने लोगों को क़त्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियों को पकड़कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाए? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नहीं।

---

१. ठाणं, ६।७८ आदि-आदि।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीन नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही सीमित थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, अब वह इन नियमों के सम्बन्ध से सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के संघ भी थे। तपस्या का एक अंग समझकर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊबकर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखनेवाले तीसरे प्रकार के भी संन्यासी थे और उन लोगों में पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए।"[1]

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजितनाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्व हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर ने पांच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निर्ग्रन्थ श्रमणों के संघ भगवान् ऋषभ से ही रहे हैं, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से कौसम्बीजी की संघबद्धता सम्बन्धी धारणा सही है।

---

१. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।

२

भगवान् महावीर

संसार जुआ है। उसे खींचने वाले दो बैल हैं—जन्म और मौत। संसार का दूसरा पार्श्व है—मुक्ति। वहां जन्म और मौत दोनों नहीं। वह अमृत है। वह अमरत्व की साधना का साध्य है। मनुष्य किसी साध्य की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लेता। जन्म लेना संसार की अनिवार्यता है। जन्म लेने वाले में योग्यता होती है, संस्कारों का संचय होता है। इसलिए वह अपनी योग्यता के अनुकूल अपना साध्य चुन लेता है। जिसका जैसा विवेक, उसका वैसा ही साध्य और वैसी ही साधना—यह एक तथ्य है। इसका अपवाद कोई नहीं होता। भगवान् महावीर भी इसके अपवाद नहीं थे।

जन्म और परिवार

दुःषम-सुषमा पूरा होने में ७४ वर्ष ११ महीने साढ़े सात दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि की बेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ई० पूर्व ५९९ की बात है। विदेह में कुण्डपुर नामक एक नगर था। उसके दो भाग थे। उत्तर भाग का नाम क्षत्रिय कुण्डग्राम और दक्षिण भाग का नाम ब्राह्मण कुण्डग्राम था। भगवान् का जन्म क्षत्रिय कुण्डग्राम में हुआ था।

भगवान् की माता त्रिशला क्षत्रियाणी और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे।[1] त्रिशला वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक

१. आयारचूला, १५/२५:
समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

की वहन थी। सिद्धार्थ क्षत्रिय कुण्डग्राम के अधिपति थे।

भगवान् के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था।[1] उनका विवाह चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था।[2] भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था।[3]

नाम और गोत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आए, तब से सम्पदाएं बढ़ीं, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा।[4]

वे ज्ञात (नाग) नामक क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम नागपुत्र हुआ।[5]

साधना के दीर्घकाल में उन्होंने अनेक कष्टों का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नहीं हुए। इसलिए उनका नाम महावीर हुआ।[6] यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ काश्यप-गोत्रीय क्षत्रिय थे।[7] पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर काश्यप-गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

वाल-क्रीड़ा के बाद अध्ययन का समय आया। तीर्थंकर गर्भ-काल से ही अवधिज्ञानी होते हैं। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे। वे पढ़ने के लिए गए। अध्यापक जो पढ़ाना चाहता था, वह उन्हें ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वयं सिद्ध हैं। आपको पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

यौवन आया। महावीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नहीं थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया[8]।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय-कन्या यशोदा के साथ हुआ[9]। उनके

---

१. आयारचूला, १५।२०
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पत्र २४५
३. आयारचूला, १५।२०,२१
४. वही, १५।१३
५. देखें—अतीत का अनावरण, पृ० १३१-४३
६. आयारचूला, १५।१६
७. वही, १५।१७
८. वही, १५।१५
९. वही, १५।२२
समणस्स णं भगवओ महावीरस्य भज्जा जसोया कोडिण्णागोत्तेणं।

प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई।[1] उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र (अपने भानजे) जमालि के साथ हुआ।[2]

उनके एक शेषवती (दूसरा नाम यशस्वती) नाम की दौहित्री—धेवती हुई।[3]

महाभिनिष्क्रमण

वे जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया[4]। उन्होंने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उन्होंने महावीर से घर में रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर में रहे। यह जीवन उनका एकान्त-विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होंने कच्चा जल पीना छोड़ दिया, रात्रि-भोजन नहीं किया और ब्रह्मचारी रहे[5]।

तीस वर्ष की अवस्था में उनका अभिनिष्क्रमण हुआ। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल गए। 'आज से सब पाप-कर्म अकरणीय हैं'—इस प्रतिज्ञा के साथ वे श्रमण बने[6]।

शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति था उसका सहचर परिणाम। उन्होंने बारह वर्ष तक शान्त, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

'जहां हित है, अहित है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा? जहां यथार्थवाद है, अर्थवाद है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा?'

यह पूछा—श्रमणों ने, ब्राह्मणों ने, गृहस्थों ने और अन्यान्य दार्शनिकों ने जम्बू से और जम्बू ने पूछा—सुधर्मा से। यह प्रश्न अहित से तपे और अर्थवाद से ऊबे हुए लोगों का था।

जम्बू बोले—'गुरुदेव! मेरी जिज्ञासाएं उभरती आ रही हैं। लोग भगवान् महावीर के धर्म को गहरी श्रद्धा से सुन रहे हैं। उनके जीवन के बारे में बड़े

---

१. आयारचूला, १५।२३
२. कल्पसूत्र, १०९
३. आयारचूला, १५।२४
४. महावीर कथा, पृ० ११३
५. आयारो, ९।१।११:

अविसाहिए दुवे वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते।
एगत्त-गए पिहियच्चे, से अहिन्नाय-दंसणे संते॥

६. आयारचूला, १५।३२:
सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं।

कुतूहल-भरे प्रश्न पूछ रहे हैं। उन्होंने मुझमें भी कुतूहल भर दिया है। मैं उनके जीवन का दर्शन चाहता हूं। आपने उनको निकटता से देखा है, सुना है, निश्चय किया है, इसलिए मैं आपसे उनके ज्ञान, श्रद्धा और शील के बारे में कुछ सुनना चाहता हूं।'

सुधर्मा बोले—'जम्बू ! जिस धर्म से दूसरे लोगों को और मुझे महावीर के जीवन-दर्शन की प्रेरणा मिली है, उसका महावीर के पौद्गलिक जीवन से लगाव नहीं है।'

आध्यात्मिक जगत् में ज्ञान, दर्शन और शील की संगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी, खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ थे—यह है उनके यशस्वी जीवन का दर्शन।

जो दूसरों के खेद को नहीं जानता, वह अपने खेद को भी नहीं जानता। जो दूसरों की आत्मा में विश्वास नहीं करता, वह अपने आप में भी विश्वास नहीं करता।

भगवान् महावीर ने आत्मा को आत्मा से तोला। वे आत्म-तुला के मूर्त-दर्शन थे। उन्होंने खेद सहा, किन्तु किसी को खेद दिया नहीं। इसलिए वे खेदज्ञ थे। उनकी खेदज्ञता से धर्म का अजस्र प्रवाह बहा।

भगवान् महावीर का जीवन घटना-बहुल नहीं, तपस्या-बहुल है। वे दीर्घ तपस्वी थे। उनका जीवन-दर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नहीं है। वह उनकी साधना से फूटा है।

उन्होंने देखा—ऊपर, नीचे और बीच में सब जगह जीव हैं। वे चल भी हैं और अचल भी। वे नित्य भी हैं और अनित्य भी। आत्मा कभी अनात्मा नहीं होती, इसलिए वह नित्य है। पर्याय का विवर्त्त चलता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। जन्म और मौत उसी के दो पहलू हैं। दोनों दुःख हैं। दुःख का हेतु विषमता है। विषमता का बीज है—राग और द्वेष। भगवान् ने समता धर्म का निरूपण किया। उसका मूल है—वीतराग-भाव।

भगवान् ने सबके लिए एक धर्म कहा—बड़ों के लिए भी और छोटों के लिए भी।

भगवान् ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद आदि सभी वादों को जाना और फिर अपना मार्ग चुना[1]। वे स्वयं-सम्बुद्ध थे। भगवान् निर्ग्रन्थ बनते ही अपनी जन्मभूमि से चल पड़े। हेमन्त ऋतु थी। भगवान् के पास केवल एक देव-दूष्य वस्त्र था। भगवान् ने नहीं सोचा कि सर्दी में मैं यह वस्त्र पहनूंगा। वे कष्ट-सहिष्णु थे। तेरह महीनों तक वह वस्त्र भगवान् के पास रहा। फिर उसे

---

१. सूयगडो, ६।२७

छोड़ भगवान् पूर्ण अचेल हो गए। वे पूर्ण असंग्रही थे।

काटने वाले कीड़े भगबान् को चार महीने तक काटते रहे। लहू पीते और मांस खाते रहे। भगवान् अडोल रहे। वे क्षमा-शूर थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक किसी लक्ष्य पर आंखें टिका ध्यान करते। उस समय गांव के बाल-बच्चे उधर से आ निकलते और भगवान् को देखते ही हल्ला मचाते, चिल्लाते। फिर भी वे स्थिर रहते। वे ध्यान-लीन थे।

भगवान् को प्रतिकूल कष्टों की भांति अनुकूल कष्ट भी सहने पड़े। भगवान् जब कभी जनाकीर्ण बस्ती में ठहरते, उनके सौन्दर्य से ललचा अनेक ललनाएं उनका प्रेम चाहतीं। भगवान् उन्हें साधना की बाधा मान उनसे परहेज करते। वे स्व-प्रवेशी (आत्म-लीन) थे।

साधना के लिए एकान्तवास और मौन—ये आवश्यक हैं। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरों का हित नहीं साध सकता। स्वयं अपूर्ण पूर्णता का मार्ग नहीं दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थों से मिलना-जुलना छोड़ ध्यान करते, पूछने पर भी नहीं बोलते। लोग घेरा डालते तो वे दूसरी जगह चले जाते।

कई आदमी भगवान् का अभिवादन करते। फिर भी वे उनसे नहीं बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हें भी वे कुछ नहीं कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या में रम रहे थे जो सबके लिए सुलभ नहीं है।

भगवान् असह्य कष्टों को सहते। कठोरतम कष्टों की वे परवाह नहीं करते। व्यवहार-दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतों से जरा भी नहीं ललचाते। दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि लड़ाइयां देखने को उत्सुक भी नहीं होते।

सहज आनन्द और आत्मिक चैतन्य जागृत नहीं होता, तब तक बाहरी उपकरणों के द्वारा आमोद पाने की चेष्टा होती है। जिनके चैतन्य का पर्दा खुल जाता है, सहज सुख का स्रोत फूट पड़ता है—वे नीरस होते ही नहीं, वे सदा समरस रहते हैं। बाहरी साधनों के द्वारा अन्तर् के नीरस भाव को सरस बनाने का यत्न करनेवाले भले ही उसका मूल्य न आंक सकें।

भगवान् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा में भाग नहीं लेते। उन्हें मध्यस्थ भाव से टाल देते। वे सारे कष्ट—अनुकूल और प्रतिकूल, जो साधना के पूर्ण विराम हैं, भगवान् को लक्ष्य-च्युत नहीं कर सके।

भगवान् ने विजातीय तत्त्वों (पुद्गल-आसक्ति) को न शरण दी और न उनकी शरण ली। वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे।

निरपेक्षता का आधार वैराग्य-भावना है। रक्त-द्विष्ट आत्मा के साथ अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं। अपेक्षा का अर्थ है—दुर्बलता। व्यक्ति का सबल और दुर्बल होने का मापदण्ड अपेक्षाओं की न्यूनाधिकता है।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओं को ठुकराने लगे। सजीव पानी पीना छोड़ दिया; अपना अकेलापन देखने लग गए; क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शान्त कर डाला। सम्यग्-दर्शन का रूप निखर उठा। पौद्गलिक आस्थाएं हिल गईं।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवों का अस्तित्व जाना। उन्हें सजीव मान उनकी हिंसा से विलग हो गए।

अचर जीव दूसरे जन्म में चर और चर जीव दूसरे जन्म में अचर हो सकते हैं। राग-द्वेष से बंधे हुए सब जीव सब प्रकार की योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

यह संसार रंगभूमि है। इसमें जन्म-मृत्यु का अभिनय होता रहता है। भगवान् ने इस विचित्रता का चिन्तन किया और वे वैराग्य की दृढ़ भूमिका पर पहुंच गए।

भगवान् ने संसार के उपादान को ढूंढ निकाला। उसके अनुसार उपाधि—परिग्रह से बंधे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं। कर्म ही संसार-भ्रमण का हेतु है। वे कर्मों के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गए। भगवान् ने स्वयं अहिंसा को जीवन में उतारा। दूसरों को उसका मार्गदर्शन दिया। वासना को सर्व कर्म-प्रवाह का मूल मान भगवान् ने स्त्री-संग छोड़ा।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनों साधना के आधारभूत तत्त्व हैं। अहिंसा अवैर साधना है। ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है। अवैर भाव के बिना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्गदर्शन नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने उन पर बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से मनन किया।

भगवान् ने देखा—बन्ध कर्म से होता है। उन्होंने पाप को ही नहीं, उसके मूल को उखाड़ फेंका।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य—इन दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमांसा में अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है। भगवान् आहार-पानी की मात्रा के जानकार थे। रस-गृद्धि से वे किनारा कसते रहे। वे जीमनवार में नहीं जाते और दुर्भिक्ष-भोजन भी नहीं लेते। उन्होंने सरस भोजन का संकल्प तक नहीं किया। वे सदा अनासक्त और यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन करते रहे। भगवान् ने अनासक्ति के लिए शरीर की परिचर्या को भी त्याग रखा था। वे खाज नहीं खनते। आंख को भी साफ नहीं करते। भगवान् संग-त्याग की दृष्टि से गृहस्थ के पात्र में खाना नहीं खाते और न उनके वस्त्र ही पहनते।

भगवान् का दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नहीं देखते,

पीछे नहीं देखते, बुलाने पर भी नहीं बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी में नंगे बदन घूमते। सर्दी से डरे विना हाथों को फैलाकर चलते। भगवान् अप्रतिबद्धविहारी थे, परिव्राजक थे। बीच-बीच में शिल्प-शाला, सूना घर, झोंपड़ी, प्रपा, दूकान, लोहकार-शाला, विश्राम-गृह, आराम-गृह, श्मशान, वृक्ष-मूल आदि स्थानों में ठहरते। इस प्रकार भगवान् बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे। भगवान् साधना-काल में समाहित हो गए। अपने आप में समा गए। भगवान् दिन-रात यतमान रहते। उनका अन्तःकरण सतत क्रियाशील या आत्मान्वेषी हो गया।

भगवान् अप्रमत्त बन गए। वे भय और दोषकारक प्रवृत्तियों से हट सतत जागरूक बन गए।

ध्यान करने के लिए समाधि (आत्म-लीनता या चित्त-स्वास्थ्य), यतना और जागरूकता—ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान के अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान् ने नींद पर भी विजय पा ली। वे दिन-रात का अधिक भाग खड़े रहकर ध्यान में बिताते। विश्राम के लिए थोड़े समय लेटते, तब भी नींद नहीं लेते। जब कभी नींद सताने लगती तो भगवान् फिर खड़े होकर ध्यान में लग जाते। कभी-कभी तो सर्दी की रातों में घड़ियों तक बाहर रहकर नींद टालने के लिए ध्यानमग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल में सिर्फ एक मुहूर्त तक नींद ली। शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण में बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चंड-कौशिक सांप ने उन्हें काट खाया। और भी सांप, नेवले आदि सरीसृप जाति के जन्तु उन्हें सताते। पक्षियों ने उन्हें नोचा।

भगवान् को मौन और शून्यगृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े। ग्राम-रक्षक, राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियों का कोप-भाजन बनना पड़ा। उन्होंने कुछ प्रसंगों पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया।

भगवान् अबहुवादी थे। वे प्रायः मौन रहते। आवश्यकता होने पर भी विशेष नहीं बोलते। एकान्त स्थान में उन्हें खड़ा देख लोग पूछते—'तुम कौन हो ?' तब भगवान् कभी-कभी नहीं बोलते। भगवान् के मौन से चिढ़कर वे उन्हें सताते। भगवान् क्षमा-धर्म को स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि (मानसिक सन्तुलन या स्वास्थ्य) को भी नहीं खोते।

कभी-कभी भगवान् प्रश्नकर्ता को संक्षिप्त-सा उत्तर भी देते। 'मैं भिक्षु हूँ'—

यह कहकर फिर अपने ध्यान में लीन हो जाते।

देवों ने भी भगवान् को अछूता नहीं छोड़ा। उन्होंने भी भगवान् को घोर उपसर्ग दिए। भगवान् ने गन्ध, शब्द और स्पर्श सम्बन्धी अनेक कष्ट सहे।

सामान्य बात यह है कि कष्ट किसी के लिए भी इष्ट नहीं होता। स्थिति यह है कि जीवन में कष्ट आते हैं, फिर वे प्रिय लगें या न लगें। कुछ व्यक्ति कष्टों को विशुद्धि के लिए वरदान मान उन्हें हंस-हंस झेल लेते हैं। कुछ व्यक्ति अधीर हो जाते हैं। अधीर को कष्ट सहन करना पड़ता है, धीर कष्ट को सहते हैं।

साधना का मार्ग इससे भी और आगे है। वहां कष्ट निमंत्रित किये जाते हैं। साधनाशील उन्हें अपने भवन का दृढ़ स्तम्भ मानते हैं। कष्ट आने पर साधना का भवन गिर न पड़े, इस दृष्टि से वह पहले ही उसे कष्टों के खंभों पर खड़ा करता है। जान-बूझकर कष्टों को न्यौता दे, उसे उनके आने पर अरति और न आने पर रति नहीं हो सकती। अरति और रति—ये दोनों साधना की बाधाएं हैं। भगवान् महावीर इन दोनों को पचा लेते थे। वे मध्यस्थ थे।

मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके।

भगवान् तृण-स्पर्श को सहते। तिनकों के आसन पर नंगे बदन बैठते, लेटते और नंगे पैर चलते तब वे चुभते। भगवान् उनकी चुभन से घबराकर वस्त्रधारी नहीं बने।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा। शिशिर में जब ठण्डी हवाएं फुंकारें मारतीं, लोग उनके स्पर्शमात्र से कांप उठते; दूसरे साधु पवन-शून्य स्थान की खोज और कपड़ा पहनने की बात सोचने लग जाते। कुछ तापस धूनी तप सर्दी से बचते; कुछ लोग ठिठुरते हुए किवाड़ को बन्द कर विश्राम करते। वैसी कड़ी और असह्य सर्दी में भी भगवान् शरीर-निरपेक्ष होकर खुले बरामदों और कभी-कभी खुले द्वार वाले स्थानों में बैठ उसे सहते।

भगवान् ने आतापनाएं लीं। सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा। वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर और क्षुद्र जन्तु काटते। वे उसे समभाव से सह लेते।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही। वे वैसे जनपदों में गए, जहां के लोग निर्ग्रन्थ साधुओं से परिचित नहीं थे। वहां भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टों को हंसते-हंसते सहा। वहां के लोग रूक्ष भोजी थे, इसलिए उनमें क्रोध की मात्रा अधिक थी। उसका फल भगवान् को भी सहना पड़ा। भगवान् वहां के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हें एक ओर से दूसरी ओर सुविधा-पूर्वक नहीं जाने देते। बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते। तब कुछेक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते।। बहुत से लोग ऐसे थे जो कुत्तों को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते। वहां जो दूसरे श्रमण थे वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तों के उपद्रव से मुक्त नहीं थे। भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं था,

फिर भी वे शान्तभाव से वहां घूमते रहे।

भगवान् का संयम अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा में भी अवमौदर्य करते—कम खाते। रोग होने पर भी वे चिकित्सा नहीं करते, औषध नहीं लेते। वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, दतौन आदि नहीं करते। उनका पथ इन्द्रिय के कांटों से अबाध था। कम खाना और औषध न लेना स्वास्थ्य के लिए हितकर है। भगवान् ने वह स्वास्थ्य के लिए नहीं किया। वे वही करते जो आत्मा के पक्ष में होता। उनकी सारी चर्या आत्म-लक्षी थी। अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया; कषाय को जीता; आसक्ति को जीता; यह सब निरपेक्ष-भाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मूहूर्त और उत्तरा-फाल्गुनी का योग था। उस वेला में भगवान् महावीर जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजु-वालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामाक गाथापति की कृषि-भूमि में व्यावर्त नामक चैत्य के निकट, शालवृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुंह कर सूर्य का आताप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे। ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा। क्षपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रान्त बन गए। उत्क्रान्ति के कुछ ही क्षणों में वे आत्म-विकास की आठवीं, नवीं और दसवीं भूमिका को पार कर गए। बारहवीं भूमिका में पहुंचते ही उनके मोह का बन्धन पूर्णतः टूट गया। वे वीतराग बन गए। तेरहवीं भूमिका का प्रवेशद्वार खुला। वहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णतः टूट गए।

भगवान् अब अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी, अनन्त आनन्दमय और अनन्त-वीर्य बन गए।

अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवों के, सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो गया। अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा में पहुंच गए,[१] तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली बन गए[१]।

धर्म का संघीय प्रयोग

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया। देव अति विलासी होते हैं। वे व्रत और संयम स्वीकार नहीं करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ[२]।

---

१. आयारचूला, १५।३८
२. वही, १५।४१

भगवान् जंभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहां सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहां इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे[1]।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पांडित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण में आए।

उन्हें जीव के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर्-आत्मा भगवान् के चरणों में झुक गई।

भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धा-पूर्वक भगवान् के शिष्य बन गए। भगवान् ने उन्हें छह जीव-निकाय, पांच महाव्रत और पचीस भावनाओं का उपदेश दिया[2]।

इन्द्रभूति गौतम गोत्री थे। जैन साहित्य में इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके संवाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। वे भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने। भगवान् नें उन्हें श्रद्धा का सम्बल और तर्क का बल—दोनों दिए। जिज्ञासा की जागृति के लिए भगवान् ने कहा—"जो संशय को जानता है, वह संसार को जानता है। जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जानता।[3]"

इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हें जब-जब संशय हुआ, कुतूहल हुआ, श्रद्धा हुई, वे झट भगवान् के पास पहुंचे और उनका समाधान लिया[4]।

तर्क के साथ श्रद्धा को सन्तुलित करते हुए भगवान् ने कहा—

'गौतम ! कई व्यक्ति प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं और अन्त तक श्रद्धाशील ही बने रहते हैं।

'कई प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं, किन्तु पीछे अश्रद्धाशील बन जाते हैं।

'कई प्रयाण की वेला में अश्रद्धाशील होते हैं, किन्तु पीछे श्रद्धाशील बन जाते हैं।

'जिसकी श्रद्धा असम्यक् होती है, उसमें अच्छे या बुरे सभी तत्त्व असम्यक परिणत होते हैं।

१-२. आयारचूला, १५।४२

३. आयारो, ५।९ :

संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति
संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति।

४. भगवती, १।१

जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उनमें सम्यक् या असम्यक् सभी तत्त्व सम्यक् परिणत होते हैं[1]।

इसलिए गौतम ! तू श्रद्धाशील बन। जो श्रद्धाशील है, वही मेधावी है।'

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पंडितों का क्रम बंध गया। एक-एक कर वे सब आए और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सब के एक-एक सन्देह था—

१. इन्द्रभूति—जीव है या नहीं ?

२. अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?

३. वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न ?

४. व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?

५. सुधर्मा—यहां जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?

६. मंडितपुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?

७. मौर्यपुत्र—देव हैं या नहीं ?

८. अकम्पित—नरक है या नहीं ?

९. अचलभ्राता—पुण्य ही मात्रा-भेद से सुख-दुख का कारण बनता है या पाप उससे पृथक् है ?

१०. मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नहीं ?

११. प्रभास—मोक्ष है या नहीं[2]?

भगवान् उनके प्रच्छन्न सन्देहों को प्रकाश में लाते गए और वे उनका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई—चवालीस सौ शिष्य बन गए।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यों को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियों ने प्रव्रज्या ली। साध्वी-संघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौंपा। आगे चलकर १४ हज़ार साधु और ३६ हज़ार साध्वियां हुईं।

स्त्रियों को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने में हिचकते थे। आचार्य विनोबा भावे ने इस प्रसंग का बड़े मार्मिक ढंग से स्पर्श किया है। उनके शब्दों में—"महावीर के सम्प्रदाय में—स्त्री-पुरुषों का किसी प्रकार का कोई भेद नहीं किया गया है। पुरुषों को जितने अधिकार दिये गए हैं, वे सब अधिकार बहनों को दिये गए थे। मैं इन मामूली अधिकारों की बात नहीं कहता हूं, जो इन दिनों चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने

---

१. आयारो, ५।६६

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १५४९-२०२४

की आवश्यकता भी महसूस नहीं हुई होगी। परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारों की बात कर रहा हूं।

पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियां थीं। वह प्रथा आज तक जैन धर्म में चली आयी है। आज भी जैन संन्यासिनी होती हैं। जैन धर्म में यह नियम है कि संन्यासी अकेले नहीं घूम सकते हैं। दो से कम नहीं, ऐसा संन्यासी और संन्यासिनियों के लिए नियम है। तदनुसार दो-दो बहनें हिन्दुस्तान में घूमती हुई देखते हैं। बिहार, मारवाड़, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाडु की तरफ इस तरह घूमती हुई देखने को मिलती हैं, यह एक बहुत बड़ी विशेषता माननी चाहिए।

महावीर के पीछे ४० ही साल के बाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होंने स्त्रियों को संन्यास देना उचित नहीं माना। स्त्रियों को संन्यास देने में धर्म-मर्यादा नहीं रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनन्द एक बहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उसे उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा कि "यह बहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् संन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।" तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी और बोले कि—"हे आनन्द, तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम मैं कर रहा हूं लेकिन इससे अपने सम्प्रदाय के लिए एक बड़ा खतरा मैंने उठा लिया है।" ऐसा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वैसा परिणाम बाद में आया भी। बौद्धों के इतिहास में बुद्ध को जिस खतरे का अन्देशा था, वह पाया जाता है। यद्यपि बौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है। उसमें दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने के लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नहीं था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पड़ते हैं। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी बहुत है। सारी दुनिया में उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नहीं मानता हूं। महापुरुषों की भिन्न-भिन्न वृत्तियां होती हैं, लेकिन कहना पड़ेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को व्यावहारिक भूमिका छू नहीं सकी। उन्होंने स्त्री-पुरुषों में तत्त्वतः भेद नहीं रखा। वे इतने दृढ़प्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन में उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी में उनकी महावीरता है।

रामकृष्ण परमहंस के सम्प्रदाय में स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी, जो रामकृष्ण परमहंस की पत्नी थी और नाममात्र की ही पत्नी थी।

वैसे तो वह उनकी माता ही हो गई थी और सम्प्रदाय के सभी भाइयों के लिए वह मातृ-स्थान में ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नहीं दी गई थी।

महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नहीं हो सकती थी कि बहनों को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहंस-मठ में स्त्रियों को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषों का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग बात है। लेकिन अब तक स्त्रियों को दीक्षा ही नहीं मिलती थी, वह अब मिल रही है। इस पर से अंदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने में कितना बड़ा पराक्रम किया।[1]"

भगवान् ने गृहस्थों को धर्म का उपदेश दिया। उसे स्वीकार करने वाले पुरुष और स्त्रियां, उपासक और उपासिकाएं या श्रावक और श्राविकाएं कहलाए। भगवान् के आनंद आदि दस प्रमुख श्रावक थे। ये बारह व्रती थे। इनकी जीवन-चर्चा का वर्णन करनेवाला एक अंग-ग्रन्थ 'उपासक दशा' है। जयन्ती आदि श्राविकाएं थीं, जिनके प्रौढ़ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवतीसूत्र से मिलती है।[2] धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ चतुष्ट्य (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

संघ-व्यवस्था और सांस्कृतिक उन्नयन

सभी तीर्थंकरों की भाषा में धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है। उसका साधन द्विरूप नहीं हो सकता। उसमें मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप-भेद नहीं हो सकता।

धर्म की साधना अकेले में हो सकती है, पर उसका विकास अकेले में नहीं होता। अकेले में उसका प्रयोजन ही नहीं होता, वह समुदाय में होता है। समुदाय मान्यता के बल पर बनते हैं। असमानताओं के उपरान्त भी कोई एक समानता आती है और लोग एक भावना में जुड़ जाते हैं।

जैन मनीषियों का चिन्तन साधना के पक्ष में जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-संस्थान के पक्ष में सामुदायिक है। जैन तीर्थंकरों ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओं के संघ की स्थापना की।

धर्म वैयक्तिक तत्त्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालों का समुदाय

---

१. श्रमण, वर्ष ६, अंक ६, पृ० ३७-९

२. भगवती, १२।१

बनता है, इसलिए व्यवहार में वह भी सामुदायिक बन जाता है।

भगवान् ने श्रमण संघ की बहुत ही सुदृढ़ व्यवस्था की। अनुशासन की दृष्टि से भगवान् का संघ सर्वोपरि था। पांच महाव्रत और अणुव्रत ये मूलगुण थे। इन के अतिरिक्त उत्तर गुणों की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण संघ को ग्यारह या नौ भागों में विभक्त किया। पहले सात गणधर सात गुणों के और आठवें, नवें तथा दसवें, ग्यारहवें क्रमशः आठवें और नवें गण के प्रमुख थे।

गणों की सारणा-वारणा और शिक्षा-दीक्षा के लिए सात पद निश्चित किए :

१. आचार्य
२. उपाध्याय
३. स्थविर
४. प्रवर्तक
५. गणी
६. गणधर
७. गणावच्छेदक

सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि संचालन का कार्य आचार्य का कार्य था।

सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना उपाध्याय का कार्य था।

श्रमणों को संयम में स्थिर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणों को पुनः स्थिर करना, उनकी कठिनाइयों का निवारण करना स्थविर का कार्य था।

आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियों तथा सेवा-कार्य में श्रमणों को नियुक्त करना प्रवर्तक का कार्य था।

श्रमणों के छोटे-छोटे समूहों का नेतृत्व करना गणी का कार्य था।

धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार और उपकरणों की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओं के साथ संघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिंता करना गणावच्छेदक का कार्य था।[1]

इनकी योग्यता के लिए विशेष मानदण्ड स्थिर किए। इनका निर्वाचन नहीं होता था। ये आचार्य द्वारा नियुक्त किये जाते थे। किन्तु स्थविरों की सहमति होती थी।

विनय

जैन साहित्य में चर्या या सामाचारी के लिए 'विनय' शब्द का प्रयोग होता

---

१. स्थानांगवृत्ति पत्र, १३८।

है। उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन में विनय का सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपण किया गया है। विनय एक तपस्या है। मन, वाणी और शरीर को संयत करना विनय है, यह संस्कृति है। इसका बाह्य रूप लोकोपचार विनय है। इसे सभ्यता का उन्नयन कहा जा सकता है। इसके सात रूप हैं :

१. अभ्यासवर्तिता—अपने बड़ों के समीप रहने का मनोभाव।

२. परछन्दानुवर्तिता—अपने बड़ों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना।

३. कार्य-हेतु—गुरु के द्वारा दिये हुए ज्ञान आदि कार्य के लिए उनका सम्मान करना।

४. कृतप्रतिकर्तृता—कृतज्ञ होना, उपकार के प्रति कुछ करने का मनोभाव रखना।

५. आर्त्त-गवेषणता—आर्त्त व्यक्तियों की गवेषणा करना।

६. देश-कालज्ञता—देश और काल को समझकर कार्य करना।

७. सर्वार्थ-प्रतिलोमता—सब अर्थों में प्रयोजनों के अनुकूल प्रवृत्ति करना।[1]

सामाचारी

श्रमण-संघ के लिए दस प्रकार की सामाचारी का विधान है[2] :

१. आवश्यकी—उपाश्रय से बाहर जाते समय आवश्यकी—आवश्यक कार्य के लिए जाता हूं—कहे।

२. नैषेधिकी—कार्य से निवृत्त होकर आए तब नैषेधिकी—मैं निवृत्त हो चुका हूं—कहे।

३. आपृच्छा—अपना कार्य करने की अनुमति लेना।

४. प्रतिपृच्छा—दूसरों का कार्य करने की अनुमति लेना।

५. छन्दना—भिक्षा में लाए आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमंत्रित करना।

६. इच्छाकार—कार्य करने की इच्छा जताना, जैसे—आप चाहें तो मैं आपका कार्य करूं ?

७. मिथ्याकार—भूल हो जाने पर स्वयं उसकी आलोचना करना।

८. तथाकार—आचार्य के वचनों को स्वीकार करना।

९. अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, सम्मान करना।

१०. उपसम्पदा—ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से

---

१. भगवती, २५।७।८०२

२. उत्तरज्झयणाणि, २६।२-७

रहना अथवा दूसरे गणों में जाना।

जैसे शिष्य का आचार्य के प्रति कर्तव्य होता है, वैसे ही आचार्य का भी शिष्य के प्रति कर्तव्य होता है। आचार्य शिष्य को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखाकर उऋण होता है :

१. आचार्य-विनय
२. श्रुत-विनय
३. विक्षेपणा-विनय
४. दोष-निर्घात-विनय।[1]

आचार-विनय के चार प्रकार हैं :

१. संयम सामाचारी—संयम के आचरण की विधि।
२. तप सामाचारी—तपश्चरण की विधि।
३. गण सामाचारी—गण की व्यवस्था की विधि।
४. एकाकी विहार सामाचारी—एकल विहार की विधि।

श्रुत-विनय के चार प्रकार हैं—

१. सूत्र पढ़ाना।
२. अर्थ पढ़ाना।
३. हितकर विषय पढ़ाना।
४. निःशेष पढ़ाना—विस्तारपूर्वक पढ़ाना।

विक्षेपणा-विनय के चार प्रकार हैं :

१. जिसने धर्म नहीं देखा, उसे धर्म-मार्ग दिखाकर सम्यक्त्वी वनाना।
२. जिसने धर्म देखा है, उसे साधर्मिक बनाना।
३. धर्म से गिरे हुए को धर्म में स्थिर करना।
४. धर्म-स्थित व्यक्ति के हित, सुख और मोक्ष के लिए तत्पर रहना।

दोष-निर्घात-विनय के चार प्रकार हैं :

१. कुपित के क्रोध को उपशान्त करना।
२. दुष्ट के दोष को दूर करना।
३. आकांक्षा का छेदन करना।
४. आत्मा को श्रेष्ठ मार्ग में लगाना।

आचार्य के छह कर्तव्य

संघ की व्यवस्था के लिए आचार्य को निम्नलिखित छह बातों का ध्यान रखना चाहिए :

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध, चौथी दशा।

१. सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ में चतुर्विध-संघ को स्थिर करना।

२. विनय—सबके साथ नम्रता से व्यवहार करना।

३. गुरु-पूजा—अपने बड़े अर्थात् स्थविर साधुओं की भक्ति करना।

४. शैक्ष बहुमान—शिक्षा ग्रहण करने वाले और नवदीक्षित साधुओं का सत्कार करना।

५. दानपति श्रद्धा-वृद्धि—दान देने में दाता की श्रद्धा बढ़ाना।

६. बुद्धिबलवर्द्धन—अपने शिष्यों की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना।

शिष्य के लिए चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति आवश्यक होती है :

१. उपकरण-उत्पादनता।

२. सहायता।

३. वर्ण-संज्वलनता।

४. भारप्रत्यवरोहणता।

उपकरण-उत्पादन के चार प्रकार हैं :

१. अनुत्पन्न उपकरणों का उत्पादन।

२. पुराने उपकरणों को संरक्षण और संघ-गोपन करना।

३. उपकरण कम हो जाएं तो उनका पुनरुद्धार करना।

४. यथाविधि संविभाग करना।

सहायता के चार प्रकार हैं :

१. अनुकूल वचन बोलना।

२. काया द्वारा अनुकूल सेवा करना।

३. जैसे सुख मिले वैसे सेवा करना।

४. अकुटिल व्यवहार करना।

वर्ण-संज्वलनता के चार प्रकार हैं :

१. यथार्थ गुणों का वर्णन करना।

२. अवर्णवादी को निरुत्तर करना।

३. यथार्थ गुण वर्णन करने वालों को बढ़ावा देना।

४. अपने से वृद्धों की सेवा करना।

भारप्रत्यवरोहणता के चार प्रकार हैं :

१. निराधार या परित्यक्त साधुओं को आश्रय देना।

२. नवदीक्षित साधु को आचार-गोचर की विधि सिखाना।

३. सार्धमिक के रुग्ण हो जाने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करना।

४. सार्धमिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर किसी का पक्ष लिए बिना

मध्यस्थ भाव से उसके उपशमन, क्षमायाचना आदि का प्रयत्न करना तथा ये मेरे सार्धमिक किस प्रकार कलह-मुक्त होकर समाधि-सम्पन्न हों, ऐसा चिन्तन करते रहना।[1]

दिनचर्या

अपर रात्र में उठकर आत्मालोचन व धर्म-जागरिका करना—यह चर्या का पहला अंग है। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं :

१. सामायिक—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२. चतुर्विंशस्तव—चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति।

३. वन्दना—आचार्य को दशावर्त्त-वन्दना।

४. प्रतिक्रमण—कृत दोषों की आलोचना।

५. कायोत्सर्ग—काया का स्थिरीकरण।

६. प्रत्याख्यान—त्याग करना।

इस आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरु से पूछे—मैं क्या करूं? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा में लगूं या स्वाध्याय में? यह पूछने पर आचार्य सेवा में लगाए तो अग्लान-भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे[2]। दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है :

'स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥'

—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है।

आगमिक काल-विभाग इस प्रकार रहा है—दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षा-चर्या और चौथे में फिर स्वाध्याय।[3]

रात के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे।[4]

पूर्व रात्र में भी आवश्यक कर्म करे। पहले पहर में प्रतिलेखन करे, वैसे चौथे पहर में भी करे, यह मुनि की जागरूकतापूर्ण जीवन-चर्या है।

---

१. प्रवचनसारोद्धार, गाथा ६४१
२. उत्तरज्झयणाणि, २६।८-१०
३. वही, २६।१२
४. वही, २६।१८

श्रावक-संघ

धर्म की आराधना में जैसे साधु-साध्वियां संघ के अंग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी हैं। ये चारों मिलकर ही चतुर्विध-संघ को पूर्ण बनाते हैं। भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों के माता-पिता तुल्य कहा है।

श्रावक की धार्मिक-चर्या यह है :

१. सामायिक के अंगों का अनुपालन।

२. दोनों पक्षों में पौषधोपवास।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-संघ के लिए हैं, वैसे ही श्रावक-संघ के लिए भी हैं।

श्रावक के छह गुण

देश-विरति चारित्र का पालन करनेवाला श्रद्धा-सम्पन्न व्यक्ति श्रावक कहलाता है। इसके छह गुण हैं :

१. व्रतों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान।

व्रतों का अनुष्ठान चार प्रकार से होता है :

(क) विनय और बहुमानपूर्वक व्रतों को सुनना।

(ख) व्रतों के भेद और अतिचारों को सांगोपांग जानना।

(ग) गुरु के समीप कुछ काल के लिए अथवा सदा के लिए व्रतों को अंगीकार करना।

(घ) ग्रहण किए हुए व्रतों को सम्यक् प्रकार पालना।

२. शील (आचार)—इसके छः प्रकार हैं :

(क) जहां बहुत से शीलवान् बहुश्रुत साधर्मिक लोग एकत्र हों, उस स्थान को आयतन कहते हैं, वहां आना-जाना रखना।

(ख) विना कार्य दूसरे के घर न जाना।

(ग) चमकीला-भड़कीला वेश न रखते हुए सादे वस्त्र पहनना।

(घ) विकार उत्पन्न करने वाले वचन न कहना।

(ङ) जुआ आदि कुव्यसनों का त्याग करना।

(च) मधुर नीति से अर्थात् शान्तिमय मीठे वचनों से कार्य चलाना, कठोर वचन न बोलना।

३. गुणवत्ता—इसके पांच प्रकार हैं :

(क) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा रूप पांच प्रकार का स्वाध्याय करना।

(ख) तप, नियम, वन्दनादि अनुष्ठानों में तत्पर रहना।

(ग) विनयवान् होना।

(घ) दुराग्रह नहीं करना।
(ङ) जिनवाणी में रुचि रखना।
४. ऋजु व्यवहार करना—निष्कपट होकर सरल भाव से व्यवहार करना।
५. गुरु-सुश्रूषा।
६. प्रवचन अर्थात् शास्त्रों के ज्ञान में प्रवीणता।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है। नम्रता का अर्थ है कषाय-विजय। अभ्युत्थान, अभिवादन, प्रियनिमन्त्रण, अभिमुखगमन, आसन-प्रदान, पहुंचाने के लिए जाना, प्राजंलीकरण आदि-आदि शिष्टाचार के अंग हैं। इनका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्याय में है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावकों को भी वन्दना करते थे।[1] धर्म-दृष्टि से उनके लिए वन्दनीय मुनि होते हैं। वन्दना की विधि यह है :

'तीन बार दाहिने से बाएं ओर प्रदक्षिणा करता हूं, स्तवना करता हूं, नमस्कार करता हूं, सत्कार करता हूं और सम्मान करता हूं। आप कल्याण रूप हैं, मांगलिक हैं, धर्मदेव हैं और ज्ञानवान् हैं। अतः मैं आपकी पर्युपासना करता हूं, मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूं।'[2]

नमस्कार महामन्त्र में पांच परमात्माओं को नमस्कार किया जाता है :

णमो अरहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं
मैं अर्हत् को नमस्कार करता हूं।
मैं सिद्ध को नमस्कार करता हूं।
मैं आचार्य को नमस्कार करता हूं।
मैं उपाध्याय को नमस्कार करता हूं।

---

१. भगवती, १२
२. तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि
नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं
मंगलं देवयं चेइयं
पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

मैं लोक के सभी साधुओं को नमस्कार करता हूं।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान संस्कृति का एक संक्षिप्त-सा रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है।

निर्वाण

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन विताया। तीस वर्ष तक धर्मोपदेश किया। भगवान् ने काशी, कोशल, पंचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जांगल, बाह्लीक, गांधार, सिंधु-सौवीर आदि देशों में विहार किया।

भगवान् के चौदह हज़ार साधु और छत्तीस हज़ार साध्वियां बनीं। नन्दी के अनुसार भगवान् के चौदह हज़ार साधु प्रकीर्णकार थे।[1] इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओं की संख्या और अधिक थी। १,५९,००० श्रावक और ३, १८,००० श्राविकाएं थीं। यह व्रती श्रावक-श्राविकाओं की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालों की संख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उपदेश का समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। उनका क्रान्ति-स्वर समाज के जागरण का निमित्त बना। वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) पावापुर में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान् थे[2]। जैन साहित्य में तीन सौ तिरेसठ धर्म-मतवादों का उल्लेख मिलता है। यह भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय चार वर्गों में समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है। वे हैं[3] :

१. क्रियावाद
२. अक्रियावाद
३. विनयवाद
४. अज्ञानवाद।

क्रियावादी दार्शनिकों की धर्मनिष्ठा आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मवाद पर टिकी हुई थी। वे सुकृत और दुष्कृत को एक समान नहीं मानते थे। सुचीर्ण कर्म

---

१. नन्दी, सूत्र ७९:
   चोद्दस पइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।
२. सुत्तनिपात (सभियसुत्त) : यानि च तीणि यानि च सट्ठि।
३. सूयगडो, १।१२।१

का फल अच्छा होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल बुरा होता है—इस सिद्धान्त में उनकी आस्था थी।

अक्रियावादी दार्शनिकों की नैतिक निष्ठा वर्तमान की उपयोगिता पर टिकी हुई थी। वे आत्मा को पुनर्जन्मानुयायी तत्त्व नहीं मानते थे, इसलिए उनमें धर्म-निष्ठा नहीं थी। उनका सिद्धान्त था—'सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नहीं है। सुचीर्ण कर्म का अच्छा फल नहीं होता; दुश्चीर्ण कर्म का बुरा फल नहीं होता। कल्याण और पाप अफल है। पुनर्जन्म नहीं है। मोक्ष नहीं है।'

विनयवादी अहं-विसर्जन और समर्पण को सर्वोपरि मूल्य देते थे। उनकी दृष्टि में अहं ही सब दुःखों का मूल था।

अज्ञानवादी दुःखों का मूल ज्ञान को मानते थे। अज्ञानी मनुष्य जितना सुखी होता है उतना ज्ञानी नहीं होता। वे अपने सारे ज्ञान का उपयोग ज्ञान के निरसन में करते थे।

भगवान् महावीर ने चारों वादों की समीक्षा कर क्रियावाद का सिद्धान्त स्वीकार किया।

उनका स्वीकार एकांगी दृष्टि से नहीं था। इसलिए उनके दर्शन को सापेक्ष-क्रियावाद की संज्ञा दी जा सकती है।

कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यज्ञ, जातिवाद आदि ब्राह्मण सिद्धान्तों का विरोध करने के लिए महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु यह गहराई से आलोचित नहीं है। महावीर जिस श्रमण-परम्परा में दीक्षित हुए वह बहुत प्राचीन है। उसका अस्तित्व वेदों की रचना से पूर्ववर्ती है। वेदों में स्थान-स्थान पर विरोधी विचारधारा का उल्लेख मिलता है। उसका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से ही है।

भगवान् महावीर का परिवार तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व के धर्म का अनुगामी था। इन साक्ष्यों से यह प्रतिध्वनित नहीं होता कि महावीर ने ब्राह्मण सिद्धान्तों का विरोध करने के लिए जैन धर्म का प्रवर्तन किया।

अहिंसा और मुक्ति—ये श्रमण-संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। महावीर ने स्वयं द्वारा व्याख्यात अहिंसा की प्राचीन तीर्थंकरों द्वारा व्याख्यात अहिंसा के साथ एकता प्रतिपादित की है।

भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं, किन्तु उन्नायक थे। उन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आगे बढ़ाया, अपने समसामायिक विचारों की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचनापूर्वक विवेचन सूत्रकृतांग में मिलता है। वहां पंचमहाभूतवाद, एकात्म-वाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, षष्ठात्मवाद, नियतिवाद, सृष्टिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, प्रकृतिवाद आदि अनेक विचारों की चर्चा

और उन पर भगवान् का दृष्टिकोण मिलता है।

कोई धर्म पुराना होने से अच्छा होता है और नया होने से अच्छा नहीं होता, इस मान्यता में मुझे सत्य की ध्वनि सुनाई नहीं देती, फिर भी इस सत्य पर आवरण नहीं डाला जा सकता कि श्रमण-परम्परा प्राग्वैदिक है और भारतीय जीवन में आदिकाल से परिव्याप्त है।

श्रमणों की अनेक धाराएं रही हैं। उनमें सबसे प्राचीन धारा भगवान् ऋषभ की और सबसे अर्वाचीन भगवान् बुद्ध की है। और सब मध्यवर्ती हैं।

वैदिक और पौराणिक दोनों साहित्य-विधाओं में भगवान् ऋषभ श्रमण धर्म के प्रवर्तक के रूप में उल्लिखित हुए हैं। भगवान् ऋषभ का धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों से अभिहित होता रहा है। आदि में उसका नाम श्रमण धर्म था। फिर अर्हत् धर्म हुआ। भगवान् महावीर के युग में उसे निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निग्गंठ नातपुत्ते' के नाम से हुआ है। उनके निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वह 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में श्रमणों के चालीस से अधिक सम्प्रदाय थे। उनमें पांच बहुत प्रभावशाली थे :

१. निर्ग्रन्थ-महावीर का शासन
२. शाक्य-बुद्ध का शासन
३. आजीवक-मक्खली गोशालक का शासन
४. गैरिक-तापस शासन
५. परिव्राजक-सांख्य शासन

बौद्ध-साहित्य में छह श्रमण-सम्प्रदायों का उल्लेख है :

१. अक्रियावाद
२. नियतिवाद
३. अच्छेदवाद
४. अन्योन्यवाद
५. चातुर्याम संवरवाद
६. विक्षेपवाद

इनके आचार्य क्रमशः ये हैं :

१. पूरण कश्यप
२. मक्खलि गोशाल
३. अजितकेशकंबली
४. पकुधकात्यायन
५. निर्ग्रन्थज्ञात पुत्र
६. संजयवेलट्ठिपुत्त

इन छह संघों में एक संघ का आचार्य पूरण कश्यप था। उसका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा···गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम, सत्य-भाषण—इन सबों से पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।" इस पूरण कश्यप के वाद को अक्रियावाद कहते थे।

दूसरे संघ का आचार्य मक्खलि गोशाल था। उसका कहना था—"प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है, न कुछ कारण। वे बिना हेतु के और बिना कारण के ही अपवित्र होते हैं। प्राणि की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु नहीं है, कुछ भी कारण नहीं है। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम, यह सब कुछ नहीं है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं—वे नियति (भाग्य), संगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते हैं—अक्लमन्द और मूर्ख सबों के दुःखों का नाश अस्सी लाख के महाकल्पों के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है।" इस मक्खलि गोशाल के मत को संसार शुद्धिवाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते हैं।

तीसरे संघ का प्रमुख अजितकेशकंबली था। उसका कहना था कि—"दान, यज्ञ तथा होम, यह सब कुछ नहीं है, भले-बुरे कर्मों का फल नहीं मिलता। न इहलोक है, न परलोक। चार भूतों से मिलकर मनुष्य बना है। जब वह मरता है तो उसमें का पृथ्वी धातु पृथ्वी में, आपो धातु पानी में, तेजो धातु तेज में तथा वायु धातु वायु में मिल जाता है और इन्द्रियां सब आकाश में मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अरथी पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते हैं। वहां उसकी अस्थि सफेद हो जाती हैं और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खों ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते हैं, वे झूठ भाषण करते हैं। व्यर्थ की बड़-बड़ करते हैं। अक्लमन्द और मूर्ख दोनों का ही मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता।" अजितकेशकंबली के इस मत को उच्छेदवाद कहते हैं।

चौथे संघ का आचार्य पकुधकात्यायन था। उसका कहना था कि—"सातों पदार्थ न किसी न किए, न करवाए। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खम्बे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते और एक-दूसरे को

सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुखं, दुःखं तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं। इनमें मारने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला कोई नहीं। जो तेज शस्त्रों से दूसरे से दूसरे के सिर काटता है वह खून नहीं करता, सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्त स्थान) में घुसता है, इतना ही।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं।

छठे बड़े संघ का आचार्य संजयवेलट्ठिपुत्र था। वह कहता था—"परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता। परलोक है, यह भी नहीं; परलोक नहीं है, यह भी नहीं।...अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नहीं मानता, नहीं मिलता, यह भी मैं नहीं मानता। वह रहता भी है, नहीं भी रहता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नहीं समझता। वह रहता है यह भी नहीं, वह नहीं रहता, यह भी नहीं।"[1] इस संजयवेलट्ठिपुत्र के वाद को विक्षेपवाद कहते थे।

महावीर का धर्म और गणतन्त्र

भगवान् महावीर वैशाली-गणतन्त्र के वातावरण में पले-पुसे थे। वैशाली-गणराज्य के प्रमुख महाराज चेटक भगवान् के मामा थे। भगवान् के पिता सिद्धार्थ उस गणराज्य के एक सदस्य थे। भगवान् के प्रारम्भिक संस्कार अहिंसा की व्याख्या में प्रतिफलित मिलते हैं।

महावीर का पहला सिद्धान्त था—समानता।

आत्मिक समानता की अनुभूति के बिना अहिंसा विफल हो जाती है। गण-राज्य की विफलता का मूल हेतु है—विषमता।

महावीर का दूसरा सिद्धान्त था—आत्म-निर्णय का अधिकार।

हमारे भाग्य का निर्णय किसी दूसरी सत्ता के हाथ में हो, वह हमारी सार्वभौम सत्ता के प्रतिकूल है—यह उन्होंने बताया। उन्होंने कहा—दुःख और सुख दोनों तुम्हारी ही सृष्टि हैं। तुम्हीं अपने मित्र हो और तुम्हीं अपने शत्रु। यह निर्णय तुम्हीं को करना है, तुम क्या होना चाहते हो? जनतंत्र के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। जहां व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं होता, वहां उसका कर्तृत्व कुंठित हो जाता है। नव-निर्माण के लिए पुरुषार्थ और पुरुषार्थ के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार आवश्यक है।

महावीर का तीसरा सिद्धान्त था—आत्मानुशासन।

उन्होंने कहा—दूसरों पर हुकूमत मत करो। हुकूमत करो अपने शरीर पर, अपनी वाणी पर और मन पर। आत्मा पर शासन करो, संयम के द्वारा, तपस्या के

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ४५-७

द्वारा। यह अच्छा नहीं होगा कि कोई व्यक्ति वध और बंधन के द्वारा तुम्हारे पर शासन करे।

जनतंत्र की सफलता आत्मानुशासन पर निर्भर है। बाहरी नियन्त्रण जितना अधिक होता है, उतना ही जनतंत्र निस्तेज होता है। उसकी तेजस्विता इस बात पर निर्भर है कि देशवासी लोग अधिक से अधिक आत्मानुशासित हों।

महावीर का चौथा सिद्धान्त था—सापेक्षता।

उसका अर्थ है—सबको समान अवसर। विलौना करते समय एक हाथ पीछे जाता है और दूसरा आगे आता है, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे जाता है। इस क्रम से नवनीत निकलता है, स्नेह मिलता है।

चलते समय एक पैर आगे बढ़ता है, दूसरा पीछे, फिर आगे वाला पीछे और पीछे वाला आगे आ जाता है। इस क्रम से गति होती है, आदमी आगे बढ़ता है।

यह सापेक्षता ही स्याद्वाद का रहस्य है। इसी के द्वारा सत्य का ज्ञान और उसका निरूपण होता है। यह सिद्धान्त जनतंत्र की रीढ है। कुछेक व्यक्ति सत्ता, अधिकार और पद से चिपककर बैठ जाएं, दूसरों को अवसर न दें तो असन्तोष की ज्वाला भभक उठती है।

यह सापेक्ष-नीति गुटवन्दी को कम करने में काफी काम कर सकती है। नीतियां भिन्न होने पर भी यदि सापेक्षता हो तो अवाञ्छनीय अलगाव नहीं होता।

महावीर ने जो किया, वह मुक्ति के लिए किया। उन्होंने जो कहा, वह मुक्ति के लिए कहा। जनतंत्र भी तो व्यावहारिक मुक्ति का प्रयोग है। इसलिए महावीर की करनी और कथनी—दोनों में पथ-दर्शन की क्षमता है।

मनुष्य की ईश्वरीय सत्ता का संगान

भगवान् महावीर का जन्म उस युग में हुआ जिसमें मनुष्य भाग्य के झूले में झूल रहा था। भाग्य ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि तत्त्व है। जब मनुष्य ईश्वरीय सत्ता का यन्त्र बनकर जीता है तब उसके जीवन-रथ का सारथि भाग्य ही होता है। भगवान् महावीर भाग्यवादी नहीं थे, इसका सहज फलित यह है कि वे चालू अर्थ में ईश्वरवादी नहीं थे। वे गणतन्त्र के संस्कारों में पले-पुसे थे। वे किसी भी महासत्ता को अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सौंप देने के पक्ष में नहीं थे। उनकी अहिंसा की व्याख्या में अधिनायकवादी मनोवृत्ति के लिए कोई अवकाश नहीं था। भगवान् ने कहा—'दूसरों पर शासन करना हिंसा है, इसलिए किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो।' इस दुनिया में स्वतन्त्रता का अपहरण होता है पर वह ईश्वरीय तत्त्व नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते थे, किन्तु उसकी मनुष्य से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। मनुष्य ईश्वर की

सृष्टि है और ईश्वर उसका सर्जक है, यह कृति और कर्त्ता का सिद्धान्त उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनकी स्थापना में आत्मा की तीन कक्षाएं हैं :

१. बहिर्-आत्मा
२. अन्तर्-आत्मा
३. परम-आत्मा।

बहिर्-आत्मा

यह पहली कक्षा है। इसमें देह ही सब कुछ होता है। उसमें विराजमान चिन्मय आत्मा का अस्तित्व ज्ञात नहीं होता।

अन्तर्-आत्मा

यह दूसरी कक्षा है। इस कक्षा में सत्य उद्‌घाटित हो जाता है कि जैसे दूध में नवनीत व्याप्त होता है, वैसे ही देह में चिन्मय सत्ता व्याप्त है।

परम-आत्मा

यह तीसरी कक्षा है। इसमें चिन्मय सत्ता पर आयी हुई देहरूपी भस्म दूर होने लग जाती है। आत्मा परमात्मा के रूप में प्रकट हो जाता है।

आत्मा और परमात्मा मानवीय पुरुषार्थ की प्रक्रिया से प्रयुक्त नहीं है। भगवान् महावीर के दर्शन में परमात्मा का अस्वीकार नहीं है, उसकी विश्व-सृजन-सत्ता का अस्वीकार है।

भगवान् महावीर के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। उसके कर्तृत्व का भार वहन करने के लिए किसी सत्ता को जन्म देने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् महावीर से स्कन्दक संन्यासी ने पूछा—भंते ! यह जगत् शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् ने कहा—आयुष्मन् ! अस्तित्व (द्रव्यार्थिकनय) की दृष्टि से जगत् शाश्वत है और रूपान्तरण की दृष्टि से वह अशाश्वत है। वह अशाश्वत है इस दृष्टि से उसमें जगत्-कर्तृव्य का अंश भी सन्निहित है। महावीर के अनुसार वह जीवों और परमाणुओं के स्वाभाविक संयोग की प्रक्रिया से सम्पादित होता है। इसी सम्पादन को लक्ष्य में रखकर महान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने महावीर के दर्शन की ईश्वरवादी दर्शनों से तुलना की है। उन्होंने लिखा है :

'पारमैश्वर्ययुक्तत्वात्, आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्त्तेति निर्दोषं, कर्त्तृवादो व्यवस्थितः॥

—'आत्मा परम ऐश्वर्य-सम्पन्न है। अतः वह ईश्वर है। वह कर्त्ता है। इस दृष्टि से महावीर का दर्शन कर्त्तृवादी है।'

महावीर ने कर्तृत्व का निरसन नहीं किया। उन्होंने उस कर्तृ-सत्ता का निरसन किया, जिसे समग्र जगत् की निर्माण-वेदिका पर प्रतिष्ठित किया जा रहा था।

भगवान् महावीर ने ईश्वरोपासना के स्थान में श्रमणोपासना का प्रवर्तन किया। ईश्वर परोक्ष शक्ति है और वह अगम्य है। उसके प्रति जितना आकर्षण हो सकता है, उतना जीवित मनुष्य और गम्य व्यक्तित्व के प्रति नहीं हो सकता। भगवान् ने मनुष्य को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित किया और यह उद्घोष किया कि ईश्वर कोई कल्पनातीत सत्ता नहीं है। वह मनुष्य का ही चरम विकास है। जो मनुष्य विकास की उच्च कक्षा तक पहुंच जाता है, वह परमात्मा या ईश्वर है।

भगवान् महावीर ने परम आत्मा की पांच कक्षाएं निर्धारित कीं :

१. अर्हत्—धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक।
२. सिद्ध—मुक्त आत्मा।
३. आचार्य—धर्म-तीर्थ के संचालक।
४. उपाध्याय—धर्म-ज्ञान के संवाहक।
५. साधु—धर्म के साधक।

इनमें चार कक्षाओं के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी मुक्त आत्माएं हैं। इनमें पहला स्थान मनुष्य का है, दूसरा स्थान मुक्त आत्मा का है। मुक्त आत्मा मनुष्य-मुक्ति का हेतु नहीं है। उसकी मुक्ति के हेतु अर्हत् हैं। इसलिए महावीर ने प्रथम स्थान उनको दिया।

भगवान् महावीर ने श्रमणों की उपासना के साथ कोई कर्मकाण्ड नहीं जोड़ा। उनकी भाषा में उपासना का अर्थ है—पास बैठना। महावीर के अनुयायी श्रमणों के पास जाते और उनसे धर्म का ज्ञान प्राप्त करते। भगवान् ने श्रमणोपासना को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने कहा—'श्रमण की उपासना करने वाला सुनता है; जानता है, देय और उपादेय का विवेक करता है; नए ग्रन्थिपात से बचता है; पुरानी ग्रन्थियों का मोक्ष करता है और मुक्त हो जाता है।'

पूर्वमीमांसा के प्रवक्ता मानते थे कि मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता, सर्वज्ञ नहीं हो सकता। महावीर ने बताया यदि कोई वीतराग हो सकता है तो मनुष्य ही हो सकता है। यदि कोई सर्वज्ञ हो सकता है तो मनुष्य ही हो सकता है।

मीमांसक वेदों को अपौरुषेय मानते थे। उनके अनुसार मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए उसका ज्ञान अंतिम प्रमाण नहीं हो सकता। ईश्वर अपने आप में पूर्ण है, सर्वज्ञ है, इसलिए वह स्वतः प्रमाण है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए उसका स्वतः प्रामाण्य है। मानवीय ज्ञान वेदों से स्फूर्त है, इसलिए उसका परतः-प्रामाण्य है।

भगवान् बुद्ध सर्वज्ञता को नहीं मानते थे, इसलिए उन्होंने शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया। भगवान् महावीर मनुष्य में सर्वज्ञ होने की क्षमता स्वीकार करते थे, इसलिए उन्होंने पौरुषेय शास्त्र के स्वतः प्रामाण्य का प्रतिपादन और

अपौरुषेय शब्द-बोध का निरसन किया। महावीर ने कहा—'ईश्वर सर्वज्ञ है पर शरीर के अभाव में वह प्रतिपादक नहीं हो सकता। मनुष्य में सर्वज्ञता और प्रतिपादन—दोनों क्षमताएं हो सकती हैं।'

भगवान् महावीर मानवीय समस्या का मूल और उसका समाधान मनुष्य में ही खोजते थे। एक बार उन्होंने अपने शिष्यों को आमन्त्रित किया और कहा—'आर्यो! बताओ! प्राणी किससे डरते हैं?' प्रश्न बहुत बड़ा नहीं था। पर भगवान् ने किस आशय से पूछा है, सब मुनि इस उलझन में फंस गए। आखिर गौतम ने कहा—'भंते! यदि आपको कष्ट न हो तो आप ही बताएं।' भगवान् ने कहा—'आर्यो! प्राणी दुःख से डरते हैं।'

'आर्यो! बताओ, दुःख की सृष्टि कौन करता है?'

गौतम बोले—'भंते! हम आपके मुंह से ही सुनना चाहते हैं।'

भगवान् ने कहा—'आर्यो! मनुष्य अपने ही प्रमाद से दुःख की सृष्टि करता है, जैसे मकड़ी अपने ही जाल में उलझती है।'

'आर्यो! बताओ, दुःख की मुक्ति कौन करता है?'

गौतम ने कहा—'भंते! आप ही कहें।'

भगवान् ने कहा—'आर्यो! मनुष्य अपने ही अप्रमाद से दुःख की मुक्ति करता है।'

महावीर का युग देववाद का युग था। कुछ दार्शनिक देवों को बहुत महत्त्व देते थे। पर महावीर ने मानवीय चेतना को दिव्य चेतना से कभी अभिभूत नहीं होने दिया। उनका ध्रुव सिद्धान्त था कि मनुष्य संयम कर सकता है, देव नहीं कर सकता।

इन्द्र ने अपने वैभव का प्रदर्शन कर दशार्णभद्र राजा को पराजित करना चाहा, तब भगवान् ने कहा—'दशार्णभद्र! तुम मनुष्य हो। अपनी शक्ति को जानने वाला मनुष्य देवगण से पराजित नहीं होता।' दशार्णभद्र राज्य को त्यागकर मुनि बन गए। इन्द्र त्याग के साथ स्पर्धा नहीं कर सका। उसका सिर राजर्षि के सामने झुक गया।

महावीर जब दीक्षित हुए तब उनकी शिविका को उठाने में सबसे आगे मनुष्य थे। यह अग्रगामिता का अधिकार मनुष्यों को इसलिए प्राप्त था कि महावीर मनुष्य थे। महावीर ने अपना सारा जीवन इस व्याख्या में बिताया कि ईश्वरीय सृष्टि का सर्जक मनुष्य है, पर मानवीय सृष्टि का सर्जक ईश्वर नहीं है।

धर्म की व्यापक चेतना का उद्‌गान

ढाई हजार वर्ष पूर्व हिन्दुस्तान के क्षितिज में नई स्थापनाएं और नए प्रयोग हो रहे थे। चिन्तन प्रवहमान था। नई-नई धाराएं फूट रही थीं। एक ओर

कर्मकाण्डों की ज़टिल प्रक्रियाओं के प्रयोग हो रहे थे। दूसरी ओर आत्मवादी, निर्वाणवादी तथा औपनिषदिक तत्त्वों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन चल रहा था। उस युग में महावीर राज्य-सम्पदा से मुंह मोड़ सत्य की खोज में निकल पड़े। वे साढ़े बारह वर्ष तक आत्म-सागर की गहराइयों में डुबकियां लगाते रहे। बारहवें वर्ष के उत्तरार्ध में उनकी साधना सफलता के शिखर पर पहुंच गई। उन्हें अप्रतिपाती आत्म-साक्षात्कार हो गया। उसके आलोक में उन्होंने सत्य की व्याख्या की।

धर्म की व्यापक धारणा

महावीर की धर्म की धारणा बहुत व्यापक थी। उसका कारण उनकी आस्था का अहिंसक परम्परा में विकसित होना है। वैदिक परम्परा में धर्म की स्वीकृति एक विशिष्ट वर्ग के लिए थी। उनके सामने महावीर ने श्रमण परम्परा के शाश्वत स्वर को बहुत प्रभावी पद्धति से उच्चारित किया। भगवान् ने लोगों को बताया अहिंसा धर्म उन सबके लिए है :

१. जो अहिंसा का आचरण करने के लिए प्रस्तुत हैं या नहीं हैं।
२. जो अहिंसा को जानने के लिए उपस्थित हैं या नहीं हैं।
३. जो हिंसा से निवृत्त हैं या नहीं हैं।
४. जो जागतिक संयोगों में आसक्त हैं या नहीं हैं।
५. जो परिग्रह में आसक्त हैं या नहीं है।

भगवान् ने सब मनुष्यों को अहिंसा के आचरण की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा :

१. धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।

२. धर्म की आराधना में जाति-पांति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए।

३. धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गांव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है। फलस्वरूप उनके साधु अरण्यवासी कम संख्या में थे।

४. धर्म की आराधना में वेश का भेद नहीं हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।

५. भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—धर्म का उपदेश जैसे पुण्य को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्य को दो।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है।

महावीर तीर्थ के प्रवर्तक थे। तीर्थ एक सम्प्रदाय है किन्तु उन्होंने धर्म को

सम्प्रदाय के साथ बांधा नहीं। उनकी दृष्टि में जैन सम्प्रदाय की अपेक्षा जैनत्व प्रधान था। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करनेवाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो जाता है। शास्त्रीय शब्दों में उन्हें क्रमशः अन्यलिंग-सिद्ध और गृहलिंग-सिद्ध कहा जाता है।

इस व्यापक और उदार चेतना की परिणति ने ही जैन आचार्यों को यह कहने के लिए प्रेरित किया—

'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥'

—महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि के साथ मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन युक्तियुक्त है, वही मेरे लिए स्वीकार्य है।

'भव-बीजांकुर-जनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥'

—भव-बीज को अंकुरित करनेवाले राग-द्वेष आदि जिसके क्षीण हो चुके हैं, उसे मेरा नमस्कार है। वह ब्रह्मा, विष्णु, हर या जिन कोई भी हो।

'स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा॥'

—मैं अपने आगमों को अनुराग मात्र से स्वीकार नहीं कर रहा हूं, और दूसरों के आगमों को द्वेषमात्र से अस्वीकार नहीं कर रहा हूं, किन्तु स्वीकार और अस्वीकार के पीछे मेरी मध्यस्थ-दृष्टि काम कर रही है।

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-संग्रह करने में अधिक सफल क्यों नहीं हुई?

इसके समाधान में कहा जा सकता है—जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धान्तवादिता, तपोमार्ग की कठोरता, अहिंसा की सूक्ष्मता और सामाजिक बन्धन का अभाव—ये सारे तत्त्व लोक-संग्रहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं। जैन साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव भी उसके विस्तृत न होने का प्रमुख कारण बना है।

तप और ध्यान का समन्वय

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रयोगों का युग था। उस समय हजारों श्रमण और हजारों वैदिक संन्यासी धर्म के विविध प्रयोगों में संलग्न थे। कुछ श्रमण और संन्यासी कठोर तपश्चर्या कर रहे थे। कुछ श्रमण और संन्यासी ध्यान की उत्कृष्ट आराधना में लीन थे। आत्मानुभूति के विभिन्न मार्गों की खोज चल रही थी।

भगवान् बुद्ध छह वर्ष तक कठोर तपश्चर्या करते रहे। उससे शान्ति नहीं

मिली, तब उन्होंने ध्यान-मार्ग अपनाया। उससे उन्हें बोधि-लाभ हुआ। उन्होंने मध्यम प्रतिपदा का प्रतिपादन किया, यह स्वाभाविक ही था।

भगवान् महावीर की दृष्टि हर क्षेत्र में समन्वय की थी। उन्होंने सापेक्षता का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग किया था। उन्होंने अपनी साधना में तपश्चर्या का पूर्ण बहिष्कार भी नहीं किया और ध्यान को आत्मानुभूति का एकमात्र साधन भी नहीं माना। उन्होंने तपश्चर्या और ध्यान दोनों को मान्यता दी।

कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर की साधना-पद्धति बहुत कठोर है। यह सर्वथा निराधार नहीं है। उनकी साधना-पद्धति में कठोर-चर्या के अंश अवश्य हैं। किन्तु वे अनिवार्य नहीं हैं।

भगवान् महावीर ने देखा कि सबकी शक्ति और रुचि समान नहीं होती। कुछ लोगों में तपस्या की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु ध्यान की रुचि और क्षमता नहीं होती। कुछ लोगों में ध्यान की रुचि और क्षमता होती है, किन्तु तपस्या की रुचि और क्षमता नहीं होती। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति में दोनों कोटि की रुचि और क्षमता का समावेश किया। ध्यान की कक्षा तपस्या की कक्षा से ऊंची है। फिर भी तपस्या साधना के क्षेत्र में सर्वथा मूल्यहीन नहीं है। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का वह महत्त्वपूर्ण अंग है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी कहलाते थे। अनगार तप में शूर होते हैं—'तवसूरा अणगारा'—यह जैन परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है। भगवान् महावीर ने केवल उपवास को ही तप नहीं माना। उनकी तप की परिभाषा में ध्यान भी सम्मिलित है।

भगवान् महावीर ने अज्ञानमय तप का प्रबल विरोध किया और ज्ञानमय तप का समर्थन। अहिंसा-पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है, जिनका दैहिक बल या विराग तीव्र हो। भगवान् महावीर ने धार्मिक जीवन की अनेक कक्षाएं प्रतिपादित कीं। गृहवासी के लिए चार कक्षाएं हैं—

१. सुलभ-बोधि—यह प्रथम कक्षा है। इसमें न धर्म का ज्ञान होता है और न अभ्यास ही। केवल उसके प्रति अज्ञात अनुराग होता है। सुलभ-बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में धर्माचरण की योग्यता पा सकता है।

२. सम्यग्-दृष्टि—यह दूसरी कक्षा है। इसमें धर्म का अभ्यास नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान होता है।

३. अणुव्रती—यह तीसरी कक्षा है। इसमें धर्म का ज्ञान और अभ्यास दोनों होते हैं।

४. प्रतिमाधर—यह चौथी कक्षा है। इसमें धर्म का विशेष अभ्यास होता है। मुनि के लिए निम्न दो कक्षाएं हैं :

संघवासी मुनि—यह पहली कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण की प्रधानता है, तपस्या की प्रधानता नहीं है।

एकलविहारी मुनि—यह दूसरी कक्षा है। इसमें अहिंसाचरण के साथ-साथ तपस्या भी प्रधान होती है।

इन छहों कक्षाओं में गृहवासी के लिए चौथी और मुनि के लिए छठी कक्षा में कुछ कठोर साधना का अभ्यास होता है। शेष कक्षाओं की साधना का मार्ग ऋजु है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में मृदु, मध्य और अधिक तीनों मात्राओं का समन्वय है। मनुष्य भी मंद, मध्य और प्राज्ञ तीन कोटि के होते हैं। इन तीनों कोटियों को एक कोटि में रखकर धर्म की व्याख्या करने की अपेक्षा विभिन्न कोटि के लोगों के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों से धर्म की व्याख्या करना अधिक मनोवैज्ञानिक है।

असाम्प्रदायिक धर्म का मंत्रदान

एक व्यक्ति ने आचार्यश्री से पूछा—क्या भगवान् महावीर जैन थे ? आचार्यश्री ने कहा—नहीं, वे जैन नहीं थे। वे जिन थे, उनको मानने वाले जैन होते हैं। वे जैन न होकर भी, दूसरे शब्दों में अजैन होकर भी, महान् धार्मिक थे। इसका फलित स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति जैन होकर ही धार्मिक हो सकता है, ऐसा अनुबंध नहीं है। जैन, वैष्णव, शैव, बौद्ध—ये सब नाम धर्म की परम्परा के सूचक हैं। इनकी धर्म के साथ व्याप्ति नहीं है। इसी सत्य की स्वीकृति का नाम असाम्प्रदायिक दृष्टि है।

साम्प्रदायिकता एक उन्माद-रोग है। उसके आक्रमण का ज्ञान तीन लक्षणों से होता है :

१. सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध—मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी।

२. प्रशंसा और निंदा—अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निंदा।

३. ऐकान्तिक आग्रह—दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् महावीर अहिंसा की गहराई में पहुंच चुके थे। इसलिए उन पर साम्प्रदायिक उन्माद आक्रमण नहीं कर सका। इसे उलटकर भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर पर साम्प्रदायिक उन्माद का आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए वे अहिंसा की गहराई में जा सके। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित किए बिना जो धर्म के मंच पर आता है, उसके सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य की दृष्टि को विकसित कर धर्म के मंच पर आने वाले व्यक्ति के सामने

धर्म मुख्य और सम्प्रदाय गौण होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी पर मुख्यता नहीं दी। जो लोग सम्प्रदाय को मुख्यता दे रहे थे, उनके दृष्टि-कोण को महावीर ने सारहीन बतलाया।

जो धर्म-नेता अपने उपस्थान में आने वाले के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरों के लिए उसे बन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि में अहिंसक नहीं हैं। अपनी ही कल्पना के ताने-बाने में उलझे हुए हैं।

भगवान् महावीर ने मोक्ष का अनुबन्ध किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं माना, किन्तु धर्म के साथ माना। भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धान्त की स्थापना कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गए। 'अश्रुत्वा केवली' उस व्यक्ति का नाम है जिसने कभी धर्म नही सुना, किन्तु अपनी नैसर्गिक निर्मलता के कारण केवली की कक्षा तक पहुंच गया। 'अश्रुत्वा केवली' के साथ किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या धर्माराधना की पद्धति का सम्बन्ध नहीं होता। उस सम्प्रदाय-मुक्त व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानकर महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता को मान्यता दे दी।

महावीर ने एक सिद्धान्त की स्थापना और की। उसके अनुसार किसी भी सम्प्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है। इस स्थापना में सम्प्रदाय के बीच व्यवधान डालने वाली खाइयों को पाटने का प्रयत्न है। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नहीं दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो। मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन बिताने को बहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिबद्धता का अन्तिम स्पर्श सच्चाई के साथ था, किसी नियम के साथ नहीं। भगवान् ने 'गृह-लिंग सिद्ध' की स्वीकृति दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौती नहीं दी? घरवासी गृहस्थ भी किसी क्षण मुक्त हो सकता है, इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक परम्परा की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए बिना भी हो सकती है। जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कहीं भी आलोकित कर सकता है। इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भांति व्यापक बना दिया। 'प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध' का सिद्धान्त भी साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह है। 'प्रत्येक-बुद्ध' किसी सम्प्रदाय से प्रभावित तथा किसी धर्म-परम्परा से प्रतिबद्ध होकर प्रव्रजित नहीं होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रबुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपनी

परम्परा में प्रव्रजित होने वालों को प्राप्त थी।

महावीर की ये चार स्थापनाएं—अश्रुत्वा केवली, अन्यलिंग-सिद्ध, गृहलिंग-सिद्ध और प्रत्येक-बुद्ध-सिद्ध—'मेरे उपस्थान में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी,' इस मिथ्या आश्वासन के सम्मुख खुली चुनौती के रूप में प्रस्तुत हैं।

जो लोग अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरों की निंदा करते थे, उनके सामने महावीर ने कटु-सत्य प्रस्तुत किया। भगवान् ने कहा—'जो ऐसा करते हैं, वे धर्म के नाम पर अपने बंधन की शृंखला को और अधिक सुदृढ़ बना रहे हैं।'

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते ! शाश्वत धर्म कौन-सा है ?'

भगवान् ने कहा—'किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परिताप मत करो, स्वतन्त्रता का अपहरण मत करो—यह शाश्वत धर्म है।'

भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि जैन धर्म शाश्वत है। तत्त्व शाश्वत हो सकता है किन्तु नाम और रूप कभी शाश्वत नहीं होते।

भगवान् महावीर का युग धर्म के प्रभुत्व का युग था। उस समय पचासों धर्म-सम्प्रदाय थे। उनमें कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली थे। कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। शाश्वतवादी अशाश्वतवादी सम्प्रदाय पर प्रहार करते थे और अशाश्वतवादी शाश्वतवादी धारा पर। इस पद्धति को महावीर ने साम्प्रदायिक अभिनिवेश की संज्ञा दी।

महावीर की अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वादी निरूपण-शैली का मुख्य प्रयोजन है—सत्य के प्रति अन्याय करने की मनोवृत्ति का विसर्जन। स्याद्वाद एक अनुरोध है, उन सबसे जो सत्य को एकांगी दृष्टि से देखते हैं और आग्रह की भाषा में उसकी व्याख्या करते हैं। महावीर ने स्याद्वाद के माध्यम से शाश्वतवादी तत्त्ववेत्ताओं से अनुरोध किया कि वे अशाश्वतवादी धारा को भी समझने का प्रयत्न करें और अशाश्वतवादी तत्त्ववेत्ताओं से अनुरोध किया कि वे शाश्वतवाद की स्वीकृति का द्वार सदा के लिए वन्द न करें। एकांगिता सत्य को मान्य नहीं है, तब फिर किसी सम्प्रदाय को क्यों मान्य होना चाहिए ? सम्प्रदाय एक सीमा है। उस सीमा की एक सीमित उपयोगिता है। मनुष्य उपयोगिता को ध्यान में रखकर घर बनाता है—अनन्त को एक सीमा में बांधकर उसमें रखता है। किन्तु जब वह घर में अनन्त आकाश का आरोपण कर लेता है तब उसकी उपयोगिता असत्य में बदल जाती है। धार्मिक जब सम्प्रदाय को ही अंतिम सत्य मान लेता है, तब उपयोगिता आग्रह में बदल जाती है। वह निरपेक्ष आग्रह ही साम्प्रदायिकता है। महावीर की अहिंसा इसी ईंधन से प्रज्वलित हुई थी।

नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा

भगवान् महावीर का युग क्रियाकांडों का युग था। महाभारत की ध्वंस-लीला

का जनमानस पर अभी असर मिटा नहीं था। जनता त्राण की खोज में भटक रही थी। अनेक दार्शनिक उसे परमात्मा की शरण में ले जा रहे थे। समर्पण का सिद्धांत बल पकड़ रहा था। श्रमण-परम्परा इसका विरोध कर रही थी। भगवान् पार्श्व के निर्वाण के बाद कोई शक्तिशाली नेता नहीं रहा, इसलिए उसका स्वर जनता का ध्यान आकृष्ट नहीं कर पा रहा था। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस स्वर को फिर शक्तिशाली बनाया।

भगवान् महावीर ने कहा—'पुरुष ! तेरा त्राण तू ही है। बाहर कहां त्राण ढूंढ़ रहा है ?'

इस आत्मकर्तृत्व की वाणी ने भारतीय जनमानस में फिर एक बार पुरुषार्थ की लौ प्रज्वलित कर दी। श्रमण परम्परा ने ईश्वर कर्तृत्व को मान्यता नहीं दी। इसीलिए उसमें उपासना या भक्तिमार्ग का विकास नहीं हुआ। भगवान् महावीर के धार्मिक निरूपण में आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त हैं। उसमें उपासना और भक्ति के सिद्धान्त नहीं हैं।

श्रमण-परम्परा प्रारम्भ से ही व्रतनिष्ठ रही है। माना जाता है—आर्य भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ई० सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आए। आर्यों से पहले बसने वाले पूस, भद्र, उर्वश, सुहत्रू, अनु, कुनाश, शंबर, नमुचि, व्रात्य आदि मुख्य थे। उसके संवाहक श्रमण व्रती थे। उनका अनुगामी समाज व्रात्य था।

व्रात्य का मूल व्रत है। वह अपने में त्राण और प्रकाश खोजने का मार्ग है। वह आत्म-निर्भर और दोनों ओर अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने का मार्ग है। वह अपने सान्निध्य में रहकर अपनी शक्तियों को जागृत करने और उनसे लाभ उठाने का मार्ग है।

भगवान् महावीर की व्याख्या में व्रत धार्मिक जीवन की आधारशिला (मूल गुण) है। धर्म का भव्य प्रासाद उसी के आधार पर खड़ा किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ने मुनि-धर्म के लिए पांच महाव्रतों तथा गृहवासी के लिए पांच अणुव्रतों की व्यवस्था दी।

पांच महाव्रत—

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह।

पांच अणुव्रत—

१. एकदेशीय अहिंसा
२. एकदेशीय सत्य

३. एकदेशीय अचौर्य
४. स्वदार-संतोष
५. इच्छा-परिमाण।

व्रतों के विस्तार में भगवान् ने उस समय के अनैतिक आचरणों की ओर अंगुली-निर्देश किया और उन्हें छोड़ने की घोषणा की।

भगवान् महावीर के अस्तित्वकाल में उनका धर्म बहुत व्यापक नहीं बना। उनके श्रावकों की संख्या लाखों में ही सीमित थी।

भगवान् के निर्वाण के बाद उत्तरवर्ती आचार्यों ने उपासना और भक्तिमार्ग को भी स्थान दिया। उस अवधि में जैन धर्म में प्रतीकों की पूजा-उपासना प्रचलित हुई। मंत्र-जप का महत्त्व बढ़ा। महावीर की आत्म-केन्द्रित साधना विस्तार-केन्द्रित हो गई। उस युग में जन-साधारण जैन धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और वह भारत के बहुत बड़े भाग में एक प्रभावी धर्म के रूप में सामने आ गया।

बिहार का क्रान्ति-घोष

भगवान् महावीर ने उसी शाश्वत सत्य का उपदेश दिया, जिसका उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर दे चुके थे। किन्तु महावीर के समय की परिस्थितियों ने उनकी वाणी को ओजपूर्ण बनाने का अवसर दिया। हिंसा का प्रयोजनपक्ष सदा होता है—कभी मन्द और कभी तीव्र। उस समय हिंसा सैद्धान्तिक पक्ष में भी स्वीकृत थी। भगवान् ने इस हिंसा के आचरण को दोहरी मूर्खता कहा। उन्होंने कहा—प्रातः स्नानादि से मोक्ष नहीं होता[१]। जो सुबह और शाम जल का स्पर्श करते हुए जल-स्नान से मुक्ति बतलाते हैं, वे अज्ञानी हैं[२]। हेतु से जो मुक्ति बतलाते हैं, वे भी अज्ञानी हैं[३]।

स्नान, हवन आदि से मुक्ति बतलाना अपरीक्षित वचन है। पानी और अग्नि में जीव हैं। सब जीव सुख चाहते हैं—इसलिए जीवों को दुख देना मोक्ष का मार्ग नहीं है—यह परीक्षित-वचन है[४]।

जाति की कोई विशेषता नहीं है[५]। जाति और कुल त्राण नहीं बनते[६]। जाति-मद का घोर विरोध किया। ब्राह्मणों को अपने गणों के प्रमुख बना उन्होंने जाति-समन्वय का आदर्श उपस्थित किया।

---

१. सूयगडो, १।७।१२।
२. वही, १।७।१३ : पाओसिणाणाइसु णत्थि मोक्खो।
३. वही, १।७।१८।
४. वही, १।७।१९।
५. उत्तरज्झयणाणि, १२।३७।
६. सूयगडो, १।१३।११ : ण तस्स जाती व कुलं व ताणं।

उन्होंने लोक-भाषा में उपदेश देकर भाषा के उन्माद पर तीव्र प्रहार किया। आचार-धर्म को प्रमुखता दे, उन्होंने विद्या-मद की बुराई की ओर स्पष्ट संकेत किया।[1]

लक्ष्य का विपर्यय समझाते हुए भगवान् ने कहा—"जिस तरह कालकूट विष पीने वाले को मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को ही घातक होता है और जिस तरह विधि से वश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारी का ही विनाश करता है, उसी तरह विषय की पूर्ति के लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मा के पतन का ही कारण होता है।"[2]

वैषम्य के विरुद्ध आत्म-तुला का मर्म समझाते हुए भगवान् ने कहा—प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्त्वों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है[3]। यह सब समझकर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार भगवान् की वाणी में अहिंसा की समग्रता के साथ-साथ वैषम्य, जातिवाद, भाषावाद और हिंसक मनोभाव के विरुद्ध क्रान्ति का उच्चतम घोष था। उसने समाज की अन्तर्-चेतना को नव जागरण का संदेश दिया।

तत्त्व-चर्चा का प्रवाह

भगवान् महावीर की तपःपूत वाणी ने श्रमणों को आकृष्ट किया। भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गए[4]। अन्यतीर्थिक संन्यासी भी भगवान् की परिषद् में आने लगे। अम्बड़,[5] स्कन्दक, पुद्गल[6] और शिव[7] आदि परिव्राजक भगवान् के पास आए, प्रश्न किए और समाधान पा भगवान् के शिष्य बन गए।

कालोदायी आदि अन्य यूथिकों के प्रसंग भगवान् के तत्त्व-ज्ञान की व्यापक चर्चा पर प्रकाश डालते हैं[8]। भगवान् का तत्त्व-ज्ञान बहुत सूक्ष्म था। वह युग भी

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ६।१० :
न चित्ता तायए भाषा, कओ विज्जाणुसासणं ?
२. वही, २०।४४।
३. आयारो, ४।२५, २६।
४. उत्तरज्झयणाणि, २३; भगवती १।६, ६।३२, सूयगडो २।७।
५. भगवती, २।१।
६. वही, ११।१२।
७. वही, ११।६।
८. वही, ७।१०, १८।८।

धर्म-जिज्ञासुओं से भरा हुआ था। सोमिल ब्राह्मण,[1] तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक[2], जयन्ती श्राविका,[3] माकन्दी,[4] रोह, पिंगल[5] आदि श्रमणों के प्रश्न तत्त्व-ज्ञान की बहती धारा के स्वच्छ प्रतीक हैं।

बिम्बसार-श्रेणिक

भगवान् जीवित धर्म थे। उनका संयम अनुत्तर था। वह उनके शिष्यों को भी संयममूर्ति बनाए हुए था। महानिर्ग्रन्थ अनाथ के अनुत्तर संयम को देखकर मगध सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया। वह जीवन के पूर्व-काल में बुद्ध का उपासक था। उसकी पट्टराज्ञी चेलणा महावीर की उपासिका थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। सम्राट् ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नहीं झुका। सम्राट् ने महानिर्ग्रन्थ अनाथ को ध्यान-लीन देखा। उनके निकट गए। वार्तालाप हुआ। अन्त में जैन बन गए[6]।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा। सम्राट् के पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार जैन थे। जैन-परम्परा में आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मांगा जाता है। जैन-साहित्य में अभयकुमार सम्बन्धी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

श्रेणिक की तेईस रानियां भगवान् के पास प्रव्रजित हुईं।[7] उसके अनेक पुत्र भगवान् के शिष्य बने[8]। सम्राट् श्रेणिक के अनेक प्रसंग आगमों में उल्लिखित हैं।

चेटक

वैशाली अठारह देशों का गणराज्य था। उसके प्रमुख महाराजा चेटक थे। वे भगवान् महावीर के मामा थे। जैन-श्रावकों में उनका प्रमुख स्थान था। वे बारह व्रती श्रावक थे। उनके सात कन्याएं थीं। वे जैन के सिवाय किसी दूसरे के साथ अपनी कन्याओं का विवाह नहीं करते थे।

श्रेणिक ने चेलणा को कूटनीतिक ढंग से ब्याहा था। चेटक के सभी जामाता

---

१. भगवती, १८।१०।
२. वही, २।५।
३. वही, १२।१।
४. वही, १८।३।
५. वही, २।१।
६. उत्तरज्झयणाणि, २०।
७. अन्तकृतदशा।
८. ज्ञाताधर्मकथा, १।

प्रारम्भ से ही जैन थे। श्रेणिक पीछे जैन बन गया।

चेटक की पुत्रियों के नाम	चेटक के जामाताओं के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रभावती	उदायन	सिंधु सौवीर
पद्मावती	दधिवाहन	चम्पा
मृगावती	शतानीक	कौशम्बी
शिवा	चण्डप्रद्योत	अवन्ती
ज्येष्ठा	भगवान् के भाई नन्दिवर्धन	कुण्डग्राम
सुज्येष्ठा	(साध्वी बन गई)	
चेलणा	बिम्बसार (श्रेणिक)	मगध

अपने दौहित्र कोणिक के साथ चेटक का भीषण संग्राम हुआ था। संग्राम-भूमि में भी वे अपने व्रतों का पालन करते थे। अनाक्रमणकारी पर प्रहार नहीं करते थे। एक दिन में एक वार से अधिक शस्त्र-प्रयोग नहीं करते थे। इनके गणराज्य में जैन-धर्म का समुचित प्रसार हुआ। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् के निर्वाण के समय वहीं पौषध किये हुए थे।

राजर्षि

भगवान् के पास आठ राजा दीक्षित हुए—इसका उल्लेख स्थानांगसूत्र में मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१)वीरांगक, (२) वीरयशा, (३)संजय, (४) एणेयक, (५) सेय, (६) शिव, (७) उद्रायण, (८) शंख—काशीवर्धन। इनमें वीरांगक, वीरयशा और संजय—ये प्रसिद्ध हैं। टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। एणेयक श्वेतविका नरेश प्रदेशी का सम्बन्धी कोई राजा था। सेय अमलकत्था नगरी का अधिपति था। शिव हस्तिनापुर का राजा था। उसने सोचा—मैं वैभव से सम्पन्न हूं, यह मेरे पूर्वकृत शुभ-कर्मों का फल है। मुझे वर्तमान में भी शुभ-कर्म करने चाहिए। यह सोच राज्य पुत्र को सौंपा। स्वयं दिशाप्रोक्षित तापस बन गया। दो-दो उपवास की तपस्या करता और पारणा में पेड़ से गिरे हुए पत्तों को खा लेता, इस प्रकार की चर्या करते हुए उसे विभंग अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसने सात द्वीप और सात समुद्रों को देखा। यह विश्व सात द्वीप और सात समुद्र प्रमाण है, इसका जनता में प्रचार किया।

भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम भिक्षा के लिए जा रहे थे। लोगों में शिव राजर्षि के सिद्धान्त की चर्चा सुनी। वे भिक्षा लेकर लौटे। भगवान् से पूछा—'भगवन्! द्वीप समुद्र कितने हैं?' भगवान् ने कहा—'असंख्य' हैं। गौतम ने उसे

प्रचारित किया। यह बात शिव राजर्षि तक पहुंची। वह संदिग्ध हुआ और उसका विभंग अवधि-ज्ञान लुप्त हो गया। वह भगवान् के समीप आया, वार्तालाप कर भगवान् का शिष्य बन गया।[1]

उद्रायण सिन्धु सौवीर आदि सोलह जनपदों का अधिपति था। दस मुकुटबद्ध राजा इसके अधीन थे। भगवान् महावीर लम्बी यात्रा कर वहां पधारे। राजा ने भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली।

वाराणसी के राजा शंख के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। अन्तकृतदशा के अनुसार भगवान् ने राजा अलक को वाराणसी में प्रव्रज्या दी थी। सम्भव है यह उन्हीं का दूसरा नाम है।

उस युग में शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इसलिए राजाओं का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता। जैन-धर्म ने समाज को केवल अपना अनुगामी बनाने का यत्न नहीं किया, वह उसे व्रती बनाने के पक्ष पर भी बल देता रहा। शाश्वत सत्यों की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषों से बचने के लिए भी जैन श्रावक प्रयत्नशील रहते थे। चारित्रिक उच्चता के लिए भगवान् महावीर ने जो आचार-संहिता दी, वह समाज में मानसिक स्वास्थ्य का वातावरण बनाए रखने में क्षम है।

१. भगवती, ११।९

३

भगवान् महावीर की उत्तरकालीन परम्परा

उत्तरवर्ती परम्परा

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद गौतमस्वामी बारह वर्ष तक जीवित रहे। वीर सम्वत् बारह में वे मुक्त हो गए। उनका जीवन-काल इस प्रकार रहा :

गृहस्थ	छद्मस्थ	केवली
५० वर्ष	३० वर्ष	१२ वर्ष

दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान् के प्रथम उत्तराधिकारी गौतम हुए। श्वेताम्बर परम्परा का अभिमत है कि भगवान् के प्रथम उत्तराधिकारी सुधर्मा हुए। ये भगवान् के निर्वाण के बाद बीस वर्ष तक जीवित रहे। उनका जीवन-काल इस प्रकार रहा :

गृहस्थ	छद्मस्थ	केवली
५० वर्ष	३० वर्ष	२० वर्ष

इनके उत्तराधिकारी जम्बूस्वामी हुएं। उनका जीवन-काल इस प्रकार रहा :

गृहस्थ	छद्मस्थ	केवली
१६ वर्ष	२० वर्ष	४४ वर्ष

जम्बूस्वामी के पश्चात् कोई केवली नहीं हुआ। यहां से श्रुतकेवली—चतुर्दशपूर्वी की परम्परा चली। छह आचार्य श्रुतकेवली हुए :

१. प्रभव
२. शय्यम्भव
३. यशोभद्र
४. सम्भूतविजय

५. भद्रबाहु

६. स्थूलभद्र।

स्थूलभद्र के पश्चात् चार पूर्व नष्ट हो गए। वहां से दसपूर्वी की परम्परा चली। दस आचार्य दसपूर्वी हुए :

१. महागिरि

२. सुहस्ती

३. गुणसुन्दर

४. कालकाचार्य

५. स्कन्दिलाचार्य

६. रेवतिमित्र

७. मंगु

८. धर्म

९. चन्द्रगुप्त

१०. आर्यवज्र।

तीन प्रधान परम्पराएं

१. गणधर-वंश।

२. वाचक-वंश—विद्याधर-वंश।

३. युग-प्रधान।

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनों होते थे। वे गण की सार-सम्हाल और गण की शैक्षणिक व्यवस्था—इन दोनों के उत्तरदायित्वों को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के बाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यों की परम्परा (गणधरवंश) अपने-अपने गण के गुरू-शिष्य क्रम से चलती है। वाचनाचार्यों और युग-प्रधानों की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नहीं है। जिस किसी भी गण या शाखा में एक के बाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य हुए हैं,उनका क्रम जोड़ा गया है।

आचार्य सुहस्ती के बाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य—दोनों हुए हैं। जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग में सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हें युग-प्रधान माना गया। वे गणाचार्य और वाचनार्थ दोनों में से हुए हैं।

हिमवंत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर-वंश की परम्परा इस प्रकार है[1] :

---

१. देखें—जैन दर्शन का इतिहास, पृ० १८०-९०।

१. आचार्य सुहस्ती
२. आर्य बहुल और बलिसह
३. आचार्य उमा स्वाति
४. आचार्य श्यामाचार्य
५. आचार्य सांडिल्य या स्कन्दिल (वि० सं० ३७६ से ४१४ तक युग-प्रधान)
६. आचार्य समुद्र
७. आचार्य मंगुसूरि
८. आचार्य नन्दिलसूरि
९. आचार्य नागहस्तीसूरि
१०. आचार्य रेवतिनक्षत्र
११. आचार्य सिंहसूरि
१२. आचार्य स्कन्दिल (वि० सं० ८२६ वाचनाचार्य)
१३. आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
१४. आचार्य नागार्जुनसूरि
१५. आचार्य भूतदिन्न
१६. आचार्य लोहित्यसूरि
१७. आचार्य दुष्यगणी
१८. आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
१९. आचार्य कालिकाचार्य (चतुर्थ)
२०. आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)[1]

सम्प्रदाय-भेद

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। विचार व्यक्ति-व्यक्ति की ही उपज होता है, किन्तु संघ में रूढ़ होने के बाद संघीय कहलाता है।

तीर्थंकर वाणी जैन-संघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए उसमें तर्क की कर्कशता नहीं है। वह तर्क से बाधित भी नहीं है। वह सूत्र-रूप है। उसकी व्याख्या में तर्क का लचीलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को परम्परा से समझा। कहीं समझ में नहीं आया, हृदयंगम नहीं हुआ, तो अपनी युक्ति और जोड़ दी। लम्बे समय में अनेक सम्प्रदाय बन गए। श्वेताम्बर और दिगम्बर जैसे शासन-भेद हुए। भगवान् महावीर के समय में कुछ श्रमण वस्त्र पहनते, कुछ नहीं भी पहनते।

---

१ देखें—परिशिष्ट १।

भगवान् स्वयं वस्त्र नहीं पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती ही नहीं या वस्त्र नहीं पहनने से ही मुक्ति होती है, ये दोनों बातें गौण हैं। मुख्य बात है—राग-द्वेष से मुक्ति। जैन-परम्परा का भेद मूल तत्त्वों की अपेक्षा ऊपरी बातों या गौण प्रश्नों पर अधिक टिका हुआ है।

गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा अलग हो गया, इसलिए उसे निह्नव नहीं माना गया। थोड़े से मतभेद को लेकर जो जैन शासन से अलग हुए उन्हें निह्नव माना गया।

बहुरतवाद

जमाली पहला निह्नव था। वह क्षत्रिय-पुत्र और भगवान् महावीर का दामाद था। मां-बाप के अगाध प्यार और अतुल ऐश्वर्य को ठुकरा वह निर्ग्रन्थ बना। भगवान् महावीर ने स्वयं उसे प्रव्रजित किया। पांच सौ व्यक्ति उसके साथ थे। मुनि जमाली अब आगे बढ़ने लगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में अपने आपको लगा दिया। सामायिक आदि ग्यारह अंग पढ़े। विचित्र तप-कर्म—उपवास, बेला, तेला यावत् अर्द्ध मास और मास की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विहार करने लगा।

एक दिन की बात है, ज्ञानी और तपस्वी जमाली भगवान् महावीर के पास आया। वन्दना की, नमस्कार किया और बोला—'भगवन्! मैं आपकी अभ्यनुज्ञा पाकर पांच सौ निर्ग्रन्थों के साथ जनपद विहार करना चाहता हूं।' भगवान् ने जमाली की बात सुन ली। उसे आदर नहीं दिया। मौन रहे। जमाली ने दुबारा और तिबारा अपनी इच्छा को दोहराया। भगवान् पहले की भांति मौन रहे। जमाली उठा। भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। बहुशाला नामक चैत्य से निकला। अपने साथी पांच सौ निर्ग्रन्थों को ले भगवान् से अलग विहार करने लगा।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जमाली ठहरा हुआ था। संयम और तप की साधना चल रही थी। निर्ग्रन्थ-शासन की कठोरचर्या और वैराग्यवृत्ति के कारण वह अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार लेता। उससे जमाली का शरीर रोगातंक से घिर गया। विपुल वेदना होने लगी। कटु दुःख उदय में आया। पित्तज्वर से शरीर जलने लगा। घोरतम वेदना से पीड़ित जमाली ने अपने साधुओं से कहा—'देवानुप्रियो! बिछौना करो।' साधुओं ने विनयावनत हो उसे स्वीकार किया। बिछौना करने लगे। वेदना का वेग बढ़ रहा था। एक-एक पल भारी हो रहा था। जमाली ने अधीर स्वर से पूछा—'मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो?' श्रमणों ने उत्तर दिया—'देवानुप्रिय! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है।' दूसरी बार फिर पूछा—

'देवानुप्रियो ! बिछौना किया या कर रहे हो ?' श्रमण-निर्ग्रन्थ बोले—'देवानुप्रिय ! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है।' इस उत्तर ने वेदना से अधीर बने जमाली को चौंका दिया। शारीरिक वेदना की टक्कर से सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। विचारों ने मोड़ लिया। जमाली सोचने लगा—भगवान् चलमान को चलित, उदीर्यमाण को उदीरित यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं, वह मिथ्या है। यह सामने दीख रहा है। मेरा बिछौना बिछाया जा रहा है, किन्तु बिछा नहीं है। इसलिए क्रियमाण अकृत; संस्तीर्यमाण असंस्तृत है—किया जा रहा है किन्तु किया नहीं गया है, बिछाया जा रहा है किन्तु बिछा नहीं है—का सिद्धान्त सही है। इसके विपरीत भगवान् का 'क्रियमाण कृत' और 'संस्तीर्यमाण संस्कृत' करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया, वह बिछा लिया गया—यह सिद्धान्त गलत है। चलमान को चलित, यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण मानना मिथ्या है। चलमान को अचलित यावत् निर्जीर्यमाण को अनिर्जीर्ण मानना सही है। बहुरतवाद—कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है। इस सैद्धान्तिक उथल-पुथल ने जमाली की शरीर-वेदना को निर्वीर्य बना दिया। उसने अपने साधुओं को बुलाया और अपना सारा मानसिक आन्दोलन कह सुनाया। श्रमणों ने आश्चर्य के साथ सुना। जमाली भगवान् के सिद्धान्त को मिथ्या और अपने परिस्थितिजन्य अपरिपक्व विचार को सच बता रहा है। माथे-माथे का विचार अलग-अलग होता है। कुछेक श्रमणों को जमाली का विचार रुचा, मन को भाया, उस पर श्रद्धा जमी। वे जमाली की शरण में रहे। कुछेक जिन्हें जमाली का विचार नहीं जंचा, उस पर श्रद्धा या प्रतीति नहीं हुई, वे भगवान् की शरण में चले गए। थोड़ा समय बीता। जमाली स्वस्थ हुआ। श्रावस्ती से चला। एक गांव से दूसरे गांव विहार करने लगा। भगवान् उन दिनों चम्पा के पूर्णभद्र-चैत्य में विराज रहे थे। जमाली वहां आया। भगवान् के पास बैठकर बोला—'देवानुप्रिय ! आपके बहुत सारे शिष्य असर्वज्ञ-दशा में गुरुकुल से अलग होते हैं, वैसे मैं नहीं हुआ हूं। मैं सर्वज्ञ, अर्हत्, जिन, केवली होकर आपसे अलग हुआ हूं।' जमाली की यह बात सुनकर भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम स्वामी बोले—'जमाली ! सर्वज्ञ का ज्ञान-दर्शन शैल-स्तम्भ और स्तूप से रुद्ध नहीं होता। जमाली ! यदि तुम सर्वज्ञ होकर भगवान् से अलग हुए हो तो लोक शाश्वत है या अशाश्वत, जीव शाश्वत है या अशाश्वत—इन दो प्रश्नों का उत्तर दो।' गौतम के प्रश्न सुन वह शंकित हो गया। उनका यथार्थ उत्तर नहीं दे सका। मौन हो गया। भगवान् बोले—'जमाली ! मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य भी मेरी भांति प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं। किन्तु तुम्हारी भांति अपने आपको सर्वज्ञ कहने में समर्थ नहीं हैं।'

'जमाली ! यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। लोक कभी नहीं था, नहीं है, नहीं होगा—ऐसा नहीं है। किन्तु यह था, है और रहेगा। इसलिए

यह शाश्वत है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी होती है और उत्सर्पिणी के बाद फिर अवसर्पिणी। इस काल-चक्र की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। इसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। त्रैकालिक सत्ता की दृष्टि से वह शाश्वत है। वह कभी नैरयिक बन जाता है, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देव। इस रूपान्तर की दृष्टि से वह अशाश्वत है।' जमाली ने भगवान् की बातें सुनीं पर वे अच्छी नहीं लगीं। उन पर श्रद्धा नहीं हुई। वह उठा, भगवान् से अलग चला गया। मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा—झूठी बातें कहने लगा। मिथ्या-अभिनिवेश से वह आग्रही बन गया। दूसरों को भी आग्रही बनाने का जी भर जाल रचा। बहुतों को झगड़ाखोर बनाया। इस प्रकार की चर्चा चलती रही। लम्बे समय तक श्रमण-वेश में साधना की। अन्तकाल में एक पक्ष की संलेखना की। तीस दिन का अनशन किया। किन्तु मिथ्या-प्ररूपणा या झूठे आग्रह की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित नहीं किया। इसलिए आयु पूरा होने पर वह लान्तक-कल्प (छठे देवलोक) के नीचे किल्विषिक (निम्न श्रेणी का) देव बना।

गौतम ने जाना—जमाली मर गया है। वे उठे। भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर बोले—'भगवन्! आपका अन्तेवासी कुशिष्य जमाली मर-कर कहां गया है? कहां उत्पन्न हुआ है?' भगवान् बोले—'गौतम! वह किल्विषिक देव बना है।'

गौतम—'भगवन्! किन कर्मों के कारण किल्विषिक देव-योनि मिलती है?'

भगवान्—'गौतम! जो व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और संघ के प्रत्यनीक होते हैं, आचार्य और उपाध्याय का अपयश बखानते हैं, अवर्ण बोलते हैं और अकीर्ति गाते हैं, मिथ्या-प्रचार करते हैं, एकान्त-आग्रही होते हैं, लोगों में पांडित्य के मिथ्याभिमान का भाव भरते हैं, वे साधुपन की विराधना कर किल्विषिक देव बनते हैं।'

गौतम—'भगवन्! जमाली अणगार अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा आहार करता था। वह अरस-जीवी यावत् तुच्छ-जीवी था। वह उपशान्त-जीवी, प्रशान्त-जीवी और विविक्त-जीवी था।'

भगवान्—'हां, गौतम! वह ऐसा था।'

गौतम—'तो फिर भगवन्! वह किल्विषिक देव क्यों बना?'

भगवान्—'गौतम! जमाली अणगार आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक था। उनका अयश बखानता, अवर्ण बोलता और अकीर्ति गाता था। एकान्त-आग्रह का प्रचार करता और लोगों को मिथ्याभिमानी बनाता था। इसलिए वह साधुपन का आराधक नहीं बना। जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी उसने मिथ्यास्थान का आलोचन और प्रायश्चित नहीं किया। यही हेतु है, गौतम! वह तपस्वी और वैरागी होते हुए भी किल्विषिक देव बना। संलेखना और अनशन भी

उसे आराधक नहीं बना सके।'

गौतम—'भगवन् ! जमाली देवलोक से लौटकर कहां उत्पन्न होगा ?'

भगवान्—'गौतम ! जमाली देव, अनेक बार तिर्यंच, मनुष्य और देव-गति में जन्म लेगा। संसार-भ्रमण करेगा। दीर्घकाल के बाद साधुपन ले, कर्म खपा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।'

जीव-प्रादेशिकवाद

दूसरे निह्नव का नाम तिष्यगुप्त है। इनके आचार्य वस्तु चतुर्दशपूर्वी थे। वे तिष्यगुप्त को आत्म-प्रवादपूर्व पढ़ा रहे थे। उसमें भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद आया।

गौतम—'भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?'

भगवान्—'नहीं।'

गौतम—'भगवन् ! क्या दो, तीन यावत् संख्यात प्रदेश से कम जीव के प्रदेशों को जीव कहा जा सकता है ?'

भगवान्—'नहीं। असंख्यात प्रदेशमय चैतन्य पदार्थ को ही जीव कहा जा सकता है।'

यह सुन तिष्यगुप्त ने कहा—अन्तिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं हैं। इसलिए अन्तिम प्रदेश ही जीव है। गुरु के समझाने पर भी अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब उन्हें संघ से पृथक् कर दिया। ये जीव-प्रदेश सम्बन्धी आग्रह के कारण जीवप्रादेशिक कहलाए।

अव्यक्तवाद

श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ़ चैत्य में आचार्य आषाढ़ विहार कर रहे थे। उनके शिष्यों में योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। आचार्य का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उसने सोचा—शिष्यों का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। वे फिर अपने शरीर में प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। योगसाधना का क्रम पूरा हुआ। आचार्य देव रूप में प्रकट हो बोले—'श्रमणो ! मैंने असंयत होते हुए भी संयतात्माओं से वन्दना कराई, इसलिए मुझे क्षमा करना।' सारी घटना सुना देव अपने स्थान पर चले गए। श्रमणों को सन्देह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव ! निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह अव्यक्त मत कहलाया। आषाढ़ के कारण यह विचार चला। इसलिए इसके आचार्य आषाढ हैं—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं पर वास्तव में इसके प्रवर्तक आषाढ के शिष्य ही होने चाहिए। ये तीसरे निह्नव हुए।

सामुच्छेदिकवाद

अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ़ रहे थे। पहले समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे—यह पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था।

उन्होंने एकान्त-समुच्छेद का आग्रह किया। वे संघ से पृथक् कर दिये गए। उनका मत 'सामुच्छेदिकवाद' कहलाया। ये चौथे निह्नव हुए।

द्वैक्रियवाद

गंग मुनि आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। वे शरद्ऋतु में अपने आचार्य को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नदी थी। उसे पार करते समय सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था। मुनि ने सोचा—आगम में कहा है—एक समय में दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं होती। किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति हो रही है। गुरु के पास पहुंचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा—'वास्तव में एक समय में एक ही क्रिया की अनुभूति होती है। मन का क्रम वहुत सूक्ष्म है, इसलिए हमें उसकी पृथकता का पता नहीं चलता।' गुरु की बात उन्हें नहीं जंची। वे संघ से अलग होकर 'द्वैक्रियवाद' का प्रचार करने लगे। ये पांचवें निह्नव हुए।

त्रैराशिकवाद

छठे निह्नव रोहगुप्त (षडुलूक) हुए। वे अन्तरंजिका के भूतगृह चैत्य में ठहरे हुए अपने आचार्य श्रीगुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। वहां पोट्टशाल परिव्राजक अपनी विद्याओं के प्रदर्शन से लोगों को अचम्भे में डाल रहा था और दूसरे सभी धार्मिकों को वाद के लिए चुनौती दे रहा था। आचार्य ने रोहगुप्त को उसकी चुनौती स्वीकार करने का आदेश दिया और मयूरी, नकुली, विडाली, व्याघ्री, सिंही आदि अनेक विद्याएं भी सिखाईं।

रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया। राज-सभा में चर्चा का प्रारंभ हुआ।

पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियों की स्थापना की। रोहगुप्त ने जीव, अजीव और निर्जीव—इन तीनों राशियों की स्थापना कर उसे पराजित कर दिया।

रोहगुप्त ने वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएं भी विफल कर दीं। उसे पराजित कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आये, सारा घटनाचक्र निवेदित किया।

गुरु ने कहा—राशि दो हैं। तूने तीन राशि की स्थापना की, यह अच्छा नहीं किया। वापस सभा में जा, इसका प्रतिवाद कर।' आग्रहवश गुरु की बात स्वीकार नहीं कर सके। गुरु उन्हें 'कुत्रिकापण' में ले गए। वहां जीव मांगा वह मिल गया, अजीव मांगा वह भी मिल गया, तीसरी राशि नहीं मिली। गुरु राज-सभा में गए और रोहगुप्त के पराजय की घोषणा की। इस पर भी उनका आग्रह कम नहीं हुआ। इसलिए उन्हें संघ से अलग कर दिया गया।

अबद्धिकवाद

सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल थे। आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्बलिका-पुष्यमित्र हुए। एक दिन वे विन्ध्य नामक मुनि को कर्म-प्रवाद का बन्धाधिकार पढ़ा रहे थे। उसमें कर्म के दो रूपों का वर्णन आया। कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा के साथ चिपक जाता है—एकरूप हो जाता है और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है—अलग हो जाता है।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वे आचार्य से कहने लगे—आत्मा और कर्म यदि एकरूप हो जाएं तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते। इसलिए यह मानना ही संगत है कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं, उससे एकीभूत नहीं होते। वास्तव में बन्ध होता ही नहीं। आचार्य ने दोनों दशाओं का मर्म बताया पर उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। आखिर उन्हें संघ से पृथक् कर दिया।

जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल के सिवाय शेष निह्नव आ, प्रायश्चित ले फिर से जैन-परम्परा में सम्मिलित हो गए। जो सम्मिलित नहीं हुए उनकी भी अब कोई परम्परा प्रचलित नहीं है।

यंत्र देखिये :

आचार्य	मत-स्थापन	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिक-वाद	ऋषभपुर (राजगृह)	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
आषाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष पश्चात्
अश्वमित्र	सामुच्छेदिक-वाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
गंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्

रोहगुप्त (षडुलूक)	त्रैराशिकवाद	अन्तरंजिका	निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्
गोष्ठामाहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्

स्थानांग में सात निह्नवों का ही उल्लेख है। जिनभद्र गणी आठवें निह्नव बोटिक का उल्लेख और करते हैं, जो वस्त्र त्यागकर संघ से पृथक् हुए थे।[1]

श्वेताम्बर-दिगम्बर

दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना कब हुई, यह अब भी अनुसंधान-सापेक्ष है। परम्परा से इसकी स्थापना वीर निर्वाण की छठी-सातवीं शताब्दी में मानी जाती है। श्वेताम्बर नाम कब पड़ा—यह भी अन्वेषण का विषय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इनमें से एक का नामकरण होने के बाद ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता हुई।

भगवान् महावीर के संघ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का समवाय था। आचारांग १।१।८ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का वर्णन है।

सचेल मुनि के लिए वस्त्रैषणा का वर्णन आचारांग २।५ में है। अचेल मुनि का वर्णन आचारांग १।१।६ में है। उत्तराध्ययन २।१३ में अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है। आगम-काल में अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे।[2]

भगवान् महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप में चला। उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत विजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्पराएं आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनों एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद से सैद्धान्तिक मतभेद का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उस समय संघ एक था, फिर भी गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभवस्वामी के समय से ही कुछ मतभेद के अंकुर फूटने लगे हों, ऐसा प्रतीत होता है।

शय्यम्भव ने दशवैकालिक में—'वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है'—इस पर जो

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५५०-२६०२।

२ कल्पसूत्र, ४।२८, ६३।

वल दिया है और ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है—इस वाक्य द्वारा भगवान् के अभिमत को साक्ष्य किया है[1]।

उससे आन्तरिक मतभेद की सूचना मिलती है। कुछ शताब्दियों के पश्चात् शय्यम्भव का 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' वाक्य परिग्रह की परिभाषा वन गया। उमास्वाति का 'मूर्च्छा-परिग्रह-सूत्र' इसी का उपजीवी है।[2]

जम्बू स्वामी के पश्चात् 'दस वस्तुओं' का लोप माना गया है। उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है[3]। यह भी परम्परा-भेद की पुष्टि करता है। भद्रवाहु के समय (वी० नि० १६० के लगभग) पाटलिपुत्र में जो वाचना हुई, उन दोनों परम्पराओं का मतभेद तीव्र हो गया। इससे पूर्व श्रुत विषयक एकता थी। किन्तु लम्वे दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए। भद्रवाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वह सव को पूर्ण मान्य नहीं हुआ। दोनों का मतभेद स्पष्ट हो गया। माथुरी वाचना में श्रुत का जो रूप स्थिर हुआ, उसका अचेलत्व-समर्थकों ने पूर्ण वहिष्कार करदिया। इस प्रकार आचार और श्रुत विषयक मतभेद तीव्र होते-होते वीर-निर्वाण की छठी-सातवीं शताब्दी में एक मूल दो भागों में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर शाखा निकली, यह भी नहीं कहा जा सकता और दिगम्बर से श्वेताम्बर शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा वताता है। पर सच तो यह है कि साधना की दो शाखाएं, समन्वय और सहिष्णुता के विराट् प्रकाण्ड का आश्रय लिए हुए थीं, वे उसका निर्वाह नहीं कर सकीं, काल-परिपाक से पृथक् हो गईं। अथवा यों कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजों ने समन्वय के महातरु को अंकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागों में विभक्त हो गया। किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण ६०९ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

सचेलत्व और अचेलत्व का आग्रह और समन्वय-दृष्टि

जब तक जैन-शासन पर प्रभावशाली व्यक्तित्व का अनुशासन रहा, तब तक सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद उग्र नहीं बना। कुन्द-कुन्द के समय यह विवाद

---

१. दसवेआलिय, ६।२०-२२।

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१२।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५९३ :

गण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिन्ना॥

तीव्र हो उठा था[1]। बीच-बीच में इसके समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे हैं। यापनीय संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का समन्वित रूप था। इस संघ के मुनि अचेलत्व आदि की दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा का अनुसरण करते थे और मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर थे। वे स्त्री-मुक्ति को मानते थे और श्वेताम्बर सम्मत आगम-साहित्य का अध्ययन करते थे।

समन्वय की दृष्टि और भी समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है। कहा गया है :

'कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन, कोई एक और कोई अचेल रहता है। वे परस्पर एक-दूसरे की अवज्ञा न करें; क्योंकि यह सब जिनाज्ञा-सम्मत है। यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति और धृति के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होता है। इसलिए सचेल मुनि अचेल मुनियों की अवज्ञा न करें और अचेल मुनि सचेल मुनियों को अपने से हीन न मानें। जो मुनि महाव्रत धर्म का पालन करते हैं और उद्यत-विहारी हैं, वे सब जिनाज्ञा में हैं।[2]

चैत्यवास और संविग्न

स्थानांगसूत्र में भगवान् महावीर के नौ गणों का उल्लेख मिलता है। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं[3] :

१. गोदास-गण	२. उत्तर-वलिस्सह-गण	३. उद्देह-गण
४. चारण-गण	५. उडुपाटित-गण	६. वेशपाटिक-गण
७. कामर्द्धि-गण	८. मानव-गण	९. कोटिक-गण

गोदास भद्रबाहु स्वामी के प्रथम शिष्य थे। उनके नाम से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उत्तर-वलिस्सह आर्य महागिरि के शिष्य थे। दूसरे गण का प्रवर्तन इनके द्वारा हुआ।

आर्य सुहस्ती के शिष्य स्थविर रोहण से उद्देह-गण, स्थविर श्री गुप्त से चारण-गण, भद्रयश से उडुपाटित-गण, स्थविर कामर्द्धि से वेशपाटिक-गण और उसका अन्तर कुल कामर्द्धिगण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण और स्थविर

---

१. षट्प्राभृत, पृ० ६७।

२. आचारांगवृत्ति, पत्र

जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वे पि य ते जिणाणाए ॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधिइयादि कारणं पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥२॥
सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म खवणट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणइ एवं ॥३॥

३. ठाणं, ९।२९।

सुस्थित-सुप्रतिवुद्ध से कोटिक-गण प्रवर्तित हुए।

आर्य सुहस्ती के समय शिथिलाचार की एक स्फुट रेखा निर्मित हुई थी। वे स्वयं सम्राट् सम्प्रति के आचार्य बन कुछ सुविधा के उपभोक्ता बने थे। पर आर्य महागिरि के संकेत से शीघ्र ही सम्हल गए थे। माना जाता है कि उनके सम्हल जाने पर भी एक शिथिल परम्परा चल पड़ी।

वीर निर्वाण की नवीं शताब्दी (८५०) में चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोड़कर मन्दिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नहीं बढ़ा। देवर्द्धिगणी के दिवंगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। विद्या-बल और राज्य-बल—दोनों के द्वारा इन्होंने उग्र-विहारी श्रमणों पर पर्याप्त प्रहार किया। हरिभद्रसूरि ने 'सम्वोध-प्रकरण' में इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

अभयदेवसूरि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन-शासन की वास्तविक परम्परा का लोप मानते हैं।[1]

चैत्यवास से पूर्व गण, कुल और शाखाओं का प्राचुर्य होते हुए भी उनमें पारस्परिक विग्रह या अपने गण का अहंकार नहीं था। वे प्रायः अविरोधी थे। अनेक गण होना व्यवस्था-सम्मत था। गणों के नाम विभिन्न कारणों से परिवर्तित होते रहते थे। भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा के नाम से गण को सौधर्म गण कहा गया।

समन्तभद्रसूरि ने वनवास स्वीकार किया, इसलिए उसे वनवासी गण कहा गया।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष संविग्न, विधि-मार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

स्थानकवासी

इस सम्प्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रवल किया। इन्हीं लोकाशाह के अनुयायियों में से स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह थोड़े ही समय में शक्तिशाली बन गया।

तेरापंथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यश्री रुघनाथजी के शिष्य 'संत भीखणजी'

---

१. आगम अष्टोत्तरी, ७१।
देवड्ढिखमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा॥

(आचार्य भिक्षु) ने विक्रम सम्वत् १८१७ में तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। एकसूत्रता के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया। शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोड़े ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वों को प्रकाश में लाए। सामाजिक भूमिका में उस समय वे कुछ अपूर्व-से लगे। आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान हैं। कुछ तथ्य वर्तमान समाज के पथ-दर्शक बन गए हैं।

दिगम्बर-परम्परा में भी अनेक संघ हो गए। उनके नाम ये हैं :

१. मूलसंघ। इसके अन्तर्गत सात गण विकसित हुए :

देवगण
सेनगण
देशीगण
सूरस्थगण
बलात्कारगण
काणूरगण
निगमान्वय।

२. यापनीयसंघ
३. द्राविड़संघ
४. काष्ठासंघ
५. माथुरसंघ।[1]

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखें—दक्षिण भारत में जैन धर्म, पृ० १७३-८२।

४

जैन साहित्य

साहित्य

जैन साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागों में बंटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् ने अपने आपको देखा और समूचे लोक को देखा। भगवान् ने तीर्थ चतुष्टय (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की। इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए। भगवान् ने बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बताया।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने उसे सूत्र-रूप में गूंथा। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इसलिए उनका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक भाग बारह हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ द्वादशांगी। बारह अंग ये हैं—(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय, (५) भगवती, (६) ज्ञाता-धर्मकथा, (७) उपासक-दशा, (८) अन्तकृतदशा, (९) अनुत्तरोपपातिक-दशा, (१०) प्रश्न-व्याकरण, (११) विपाक, (१२) दृष्टिवाद।

स्थविरों ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रों की संख्या हजारों तक पहुंच गई।

भगवान् के चौदह हजार शिष्य प्रकरणकार (ग्रन्थकार) थे।[१] उस समय लिखने की परम्परा नहीं थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

---

१ नन्दी, सूत्र ७९।

दृष्टिवाद के पांच विभाग हैं :

१. परिकर्म

२. सूत्र

३. पूर्वानुयोग

४. पूर्वगत

५. चूलिका ।

पूर्वगत के चौदह विभाग हैं। वे पूर्व कहलाते हैं। उनका परिमाण बहुत ही विशाल है। वे श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषयों के अक्षय-कोष होते हैं। इनकी रचना के बारे में दो विचारधाराएं हैं—पहली के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व ही ज्ञान राशि का यह भाग चला आ रहा था। इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे 'पूर्व' कहा गया।

दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ये रचे गए, इसलिए इन्हें 'पूर्व' कहा गया।[1]

पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ़ नहीं सकते। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई।[2] आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दशपूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अंगों के अध्येता। चतुर्दशपूर्वी श्रमणों का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हें श्रुत-केवली कहा गया है।

इनकी भाषा संस्कृत मानी जाती है। इनका विषय गहन और भाषा सहज सुबोध नहीं थी। इसलिए अल्पमति लोगों के लिए द्वादशांगी रची गई। कहा भी है :

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

आचारांग का स्थान पहला है।[3] वह योजना की दृष्टि से है। रचना की दृष्टि से पूर्व का स्थान पहला है।

---

१. स्थानांग १०।१ वृत्ति—
सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि ।

२. आवश्यक निर्युक्ति—
जइविय भूयावाए सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो ।
निज्जूहणा तहा विहु दुम्मेहे पप्प इत्थी य ॥

३. नंदी, सूत्र ८०

चौदह पूर्व

क्र. सं	नाम	विषय	पद-परिमाण	वस्तु	चूलिका-वस्तु
१.	उत्पाद	द्रव्य और पर्यायों की उत्पत्ति	एक करोड़	दस	चार
२.	अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवों का परिमाण	छियानवे लाख	चौदह	बारह
३.	वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख	आठ	आठ
४.	अस्तिनास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता का निरूपण	साठ लाख	अठारह	दस
५.	ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड़	बारह	०
६.	सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड़ छह	दो	०
७.	आत्म-प्रवाद	आत्मा और जीव का निरूपण	छब्बीस करोड़	सोलह	०
८.	कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड़ अस्सी लाख	तीस	०
९.	प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निषेध	चौरासी लाख	बीस	०
१०.	विद्यानुप्रवाद	सिद्धियों और उनके साधनों का निरूपण	एक करोड़ दस लाख	पन्द्रह	०
११.	अवन्ध्य (कल्याण)	शुभाशुभ फल की अवश्यंभाविता का निपरूण	छब्बीस करोड़	बारह	०
१२.	प्राणायुप्रवाद	इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण	एक करोड़ छप्पन लाख	तेरह	०
१३.	क्रियाविशाल	शुभाशुभ क्रियाओं का निरूपण	नौ करोड़	तीन	०
१४.	लोकबिन्दुसार	लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढ़े बारह करोड़	पचीस	०

आगमों की भाषा

जैन आगमों की भाषा अर्ध-मागधी है। आगम-साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी में उपदेश देते हैं[1]। इसे उस समय की दिव्य भाषा[2] और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्थ कहा है[3]। यह प्राकृत का ही एक रूप है। यह मगध के एक भाग में बोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है। इसमें मागधी और दूसरी भाषाओं—अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसलिए यह अर्ध-मागधी कहलाती है।[4] भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे। इसलिए जैन-साहित्य की प्राचीन प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दों का मिश्रण अर्ध-मागधी कहलाता है। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है, जो सम्भवतः सबसे अधिक प्राचीन है। इसे आर्य भी कहा जाता है[5]। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्ष कहा, उसका मूल आगम का ऋषि-भाषित शब्द है[6]।

आगमों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य

केवली, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्यव-ज्ञानी, चतुर्दश-पूर्वधर और दश-पूर्वधर की रचना को आगम कहा जाता है। आगम में प्रमुख स्थान द्वादशांगी या गणि-पिटक का है। वह स्वतः प्रमाण है। शेष आगम परतः प्रमाण हैं—द्वादशांगी के अविरुद्ध हैं, वे प्रमाण हैं, शेष अप्रमाण।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त होता है—

---

१. समवाओ, ३४।१ :
भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।
२. भगवती, ५।४।
३. पन्नवणा, १।६२ :
भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति।
४. निशीथचूर्णि :
मगदद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं अट्ठारसदेसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं।
५. प्राकृत व्याकरण (हेम) ८।१।३।
६. ठाणं, ७।४८।१० :

सक्कता पागता चेव, दुहा भणितीओ आहिया।
सरमंडलंमि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिता॥

अंग-प्रविष्ट और अनंग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थाविरों ने जो साहित्य रचा, वह अनंग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनंग-प्रविष्ट है। गणधरों के प्रश्न पर भगवान् ने त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम-साहित्य रचा गया, वह अंग-प्रविष्ट और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरों ने जो रचा, वह अनंग-प्रविष्ट है।

: द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है। अनंग-प्रविष्ट नियत नहीं होता[1]। अभी जो एकादश अंग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं, इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

अनंग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागों में बंटता है। कुछेक आगम स्थवरों के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किए गए, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचारांग का दूसरा श्रुत-स्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहण अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए आर्य शय्यम्भव ने किया[2]। शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं[3]। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य-रक्षित और नन्दी के देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है[4]।

आगम-वाचनाएं

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलिपुत्र में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ[5]। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। बहुत

---

१. विशेपावश्यक, भाष्य, गाथा ५५०

गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणतो वा।
धुवचलविसेसतो वा अंगाणंगेसु नाणत्तं॥

२. दशवैकालिक भूमिका, पृ० १७।

३. वही, पृ० १७।

४. पाइयसद्दमहण्णवो, उपोद्घात, पृ० ३०, ३१।

५. परिशिष्टपर्व, ८।१९३; ९।५५-५८।

सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्गवासी हो गए। आगम ज्ञान की शृंखला टूट-सी गई। दुर्भिक्ष मिटा तब संघ मिला। श्रमणों ने ग्यारह अंग संकलित किए। बारहवें अंग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नहीं रहा। वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमें पांच सौ विद्यार्थी थे और हज़ार साधु उनकी परिचर्या में नियुक्त थे। प्रत्येक विद्यार्थी-साधु के दो-दो साधु परिचारक थे। अध्ययन प्रारम्भ हुआ। लगभग विद्यार्थी साधु थक गए। एकमात्र स्थूलभद्र बच रहे। उन्हें दस-पूर्व की वाचना दी गई। बहनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। वाचना बन्द कर दी। फिर बहुत आग्रह करने पर चार पूर्व दिये पर उनका अर्थ नहीं बताया। स्थूलभद्र पाठ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली थे। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलभद्र के बाद दस पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा। वज्रस्वामी अन्तिम दश-पूर्वधर हुए। वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्य-रक्षित हुए। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते थे। आर्य-रक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन किया किन्तु अनभ्यास के कारण वे नवें पूर्व को भूल गए। विस्मृति का यह क्रम आगे बढ़ता गया।

आगम-संकलन का दूसरा प्रत्यन वीर-निर्वाण ८२७ पौर ८४० के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा में हुआ। इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में आगम संकलित हुए। उसे वल्लभी-वाचना या नागार्जुनीय-वाचना कहा जाता है।

माथुरी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी ने वल्लभी में फिर से आगमों का व्यवस्थित लेखन किया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई।[1]

आगम-विच्छेद का क्रम

भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। आर्थी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद इसी समय हुआ। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार यह वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ।

---

१. भगवती, २०।८।

शाब्दी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के समय वीर निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हुए। इनके वाद दशपूर्वों की परम्परा आर्यवज्र तक चली। उनका स्वर्गवास वीर-निर्वाण के ५७१ (विक्रम संवत् १०१) वर्ष पश्चात् हुआ। उसी समय दसवां पूर्व विच्छिन्न हुआ। नवां पूर्व दुर्वलिका-पुष्यमित्र की मृत्यु के साथ—वीर-निर्वाण ६०४ वर्ष (विक्रम संवत् १६४) में लुप्त हुआ।

पूर्वज्ञान का विच्छेद वीर-निर्वाण के हज़ार वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल-ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बू स्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दशपूर्वी भद्रवाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दशपूर्व रहे। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग (आचारांग) का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इसके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर-निर्वाण ६८३ (विक्रम संवत् २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया। उसका क्रम इस प्रकार है[1] :

१. केवली

१. गौतम २. सुधर्मा ३. जम्बू	६२ वर्ष

२. श्रुत केवली

१. विष्णु २. नन्दिमित्र ३. अपराजित ४. गोवर्द्धन ५. भद्रवाहु	१०० वर्ष

३. दशपूर्वधारी

१. विशाखाचार्य २. प्रोष्ठिल ३. क्षत्रिय ४. जयसेन ५. नागसेन ६. सिद्धार्थ ७. धृतिसेन ८. विजय ९. बुद्धिल १०. गंगदेव ११. सुधर्म	१८३ वर्ष

४. एकादशांगधारी

१. नक्षत्र
२. जयपाल
३. पांडु
४. ध्रुवसेन
५. कंसाचार्य

} २२० वर्ष

५. आचारांगधारी

१. सुभद्र
२. यशोभद्र
३. यशोबाहु
४. लोहार्य

} ११८ वर्ष
कुल ६८३

दृष्टिवाद अंग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अंश ईस्वी प्रारंभिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषांश भी लिपिबद्ध नहीं किया जाएगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जाएगा। फलतः उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतवलि सदृश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरिनार की चन्द्र गुफा में उसे लिपिवद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिवद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पंचमी' के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण बन रहा है।[1]

केवलज्ञान के लोप की मान्यता में दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं। चार पूर्वों का लोप भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमें ऐक्य है। केवल काल-दृष्टि से आठ वर्ष का अन्तर है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर-निर्माण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात्। यहां तक दोनों परम्पराएं आस-पास चलती हैं। इसके पश्चात् उनमें दूरी बढ़ती चली जाती है। दसवें पूर्व के लोप की मान्यता में दोनों में काल का बड़ा अन्तर है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार दशपूर्वी वीर-निर्वाण से ५८४ वर्ष तक हुए और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार २४५ वर्ष तक। श्वेताम्बर एक पूर्व की परम्परा को देवर्द्धिगणी तक ले जाते और आगमों के कुछ मौलिक भाग को अब तक सुरक्षित मानते हैं। दिगम्बर वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमों का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के पश्चात् आगमों का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

१. धवला टीका, भाग १, भूमिका, पृ० १३।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और उपांगों की जो तीन बार संकलना हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी हुआ है। स्थानांग में सात निह्नवों और नव गणों का उल्लेख स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप में उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति के उपरान्त भी अंगों का अधिकांश भाग मौलिक है। भाषा और रचना-शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध रचना-शैली की दृष्टि से शेष सब अंगों से भिन्न है। आज के भाषाशास्त्री उसे ढाई हज़ार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। सूत्रकृतांग, स्थानांग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

अनुयोग

अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध। वे चार हैं :

१. चरणकरणानुयोग,
२. धर्मकथानुयोग,
३. गणितानुयोग,
४. द्रव्यानुयोग।

आर्य-वज्र तक अनुयोग के विभाग नहीं थे। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों का प्रतिपादन किया जाता था। आर्य-रक्षित ने इस पद्धति में परिवर्तन किया। इसके निमित्त उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र बने। आर्य-रक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल। विन्ध्य इनमें मेधावी था। उसने आर्य-रक्षित से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे सहपाठ में अध्ययन-सामग्री बहुत विलम्ब से मिलती है। इसलिए शीघ्र मिले, ऐसी व्यवस्था कीजिए।" आर्य-रक्षित ने उसे आलापक देने का भार दुर्बलिका पुष्यमित्र को सौंपा। कुछ दिन तक वे उसे वाचना देते रहे। फिर एक दिन दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आर्य-रक्षित से निवेदन किया—"गुरुदेव! इसे वाचना दूंगा तो मेरा नवां पूर्व विस्मृत हो जाएगा। अब जो आर्यवर का आदेश हो वही करूं।'

आर्य-रक्षित ने सोचा—'दुर्बलिका पुष्यमित्र की यह गति है। अब प्रज्ञा-हानि हो रही है। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों को धारण करने की क्षमता रखने वाले अब अधिक समय तक नहीं रह सकेंगे।' चिन्तन के पश्चात् उन्होंने आगमों को चार अनुयोगों के रूप में विभक्त कर दिया[1]।

---

१. आवश्यक कथा, श्लोक १७४ :
चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्थाख्याने स्यात् कोपि न क्षमः।
ततोऽनुयोगांश्चतुरः पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः॥

आगमों का पहला संस्करण भद्रबाहु के समय में हुआ था और दूसरा संस्करण आर्य-रक्षित ने (वीर-निर्वाण ५८३-५९७ में) किया। इस संस्करण में व्याख्या की दुरूहता मिट गई। चारों अनुयोगों में आगमों का विभाग इस प्रकार किया :

१. चरण-करणानुयोग —कालिक सूत्र
२. धर्मकथानुयोग —उत्तराध्ययन ऋषि-भाषित आदि।
३. गणितानुयोग (कालानुयोग) —सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि
४. द्रव्यानुयोग —दृष्टिवाद

दिगम्बरा-परम्परा में ये चार अनुयोग कुछ रूपान्तर से मिलते हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं :

१. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग, ४. द्रव्यानुयोग[1]।

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगों का विषय क्रमशः इस प्रकार है :

१. आचार।
२. चरित, दृष्टान्त, कथा आदि।
३. गणित, काल आदि।
४. द्रव्य, तत्त्व आदि।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगों का विषय क्रमशः इस प्रकार है :

१. महापुरुषों के जीवन-चरित।
२. लोकालोक विभक्ति, काल, गणित आदि।
३. आचार।
४. द्रव्य, तत्त्व[2]।

दिगम्बर आगमों को लुप्त मानते हैं, इसलिए वे प्रथमानुयोग में महापुराण और पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि को समाविष्ट करते हैं।

लेखन और प्रतिक्रिया

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक है। प्रज्ञापना में १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है[3]। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियां सिखाईं—ऐसा उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र आदि में मिलता है। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओं में लेख-कला का पहला स्थान है[4]। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओं का उपदेश किया तथा असि, मषि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए। इनमें आये हुए लेख-कला

१-२, रत्नकरण्डश्रावकाचार, अधिकार १, पृ० ७१-३।
३. प्रज्ञापना, पद १।
४. समवाओ, ७२।७, प्रश्नव्याकरण ५ आश्रव।

और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते हैं। नन्दी-सूत्र में तीन प्रकार का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमें पहला संज्ञाक्षर है। इसका अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—लिपि।

लेख-सामग्री

प्रागैतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता[1]। राजप्रश्नीयसूत्र में पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोंरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र), छंदन (ढक्कन), सांकली, मषि और लेखनी—लेख-सामग्री के इन उपकरणों की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना में 'पोत्थारा' शब्द आता है[2] जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य। इसे शिल्पार्य में गिना गया है। इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं[3]। भगवतीसूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती है, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द दोनों प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नहीं, उसी का एक अंश है। पांच प्रकार की पुस्तकें बतलाई गई हैं—१. गण्डी, २. कच्छवी, ३. मुष्टि, ४. संपुट फलक, ५. सृपाटिका। हरिभद्रसूरि ने भी दशवैकालिक टीका में प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है।[4] निशीथ चूर्णी में भी इनका उल्लेख है। अनुयोग द्वार का पोत्थकम्म (पुस्तककर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़-पत्र अथवा संपुटक-पत्र-संचय और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है। इसी सूत्र में आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला, किया हैं। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि०) के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला में पढ़ने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने लिखा है—'भारतवासी लोग कागज बनाते थे।'[5] ईसवी के दूसरे शतक में ताड़-पत्र और चौथे में भोज-पत्र

---

१. लेख सामग्री के लिए देखें—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४२-५६।

२. प्रज्ञापना, पद १

३. वही, पद १

४. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५

५. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ४

लिखने के व्यवहार में लाए जाते थे[1]। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में ई० सं० पांचवीं में लिखे हुए पत्र मिलते हैं[2]। तथ्यों के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग होता था, इसका दो हज़ार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा विधान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम लिखने का इतिहास

जैन दृष्टि के अनुसार श्रुत-आगम की विशाल धन-राशि चौदह पूर्व में संचित है। वे कभी लिखे नहीं गए। किन्तु अमुक-अमुक परिमाण स्याही से उनके लिखे जा सकने की कल्पना अवश्य हुई है। द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद मथुरा में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में साधु-संघ एकत्र हुआ। आगमों को संकलित कर लिखा गया और आर्य स्कन्दिल ने साधुओं को अनुयोग की वाचना दी। इसलिए उनकी वाचना माथुरी-वाचना कहलाई। इनका समय वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० तक माना जाता है। माथुरी वाचना के ठीक समय पर वलभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमण-संघ को एकत्र कर आगमों को संकलित किया। नागार्जुन और अन्य श्रमणों को जो आगम और प्रकरण याद थे, वे लिखे गए। संकलित आगमों की वाचना दी गई, यह 'नागार्जुनीय-वाचना' कहलाती है। कारण कि इसमें नागार्जुन की प्रमुखता थी। वीर-निर्वाण ९८० (या ९९३) वर्ष में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने फिर आगमों को पुस्तकारूढ़ किया और संघ के समक्ष उसका वाचन किया। यह कार्य वलभी में सम्पन्न हुआ। पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए आगमों के अतिरिक्त अन्य प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे गए। दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें 'पाठान्तर' आदि वाक्यावली के साथ आगम, टीका, चूर्णि में संगृहीत किया गया।

प्रतिक्रिया

आगमों के लिपिबद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते और अपने साथ रख भी नहीं सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है :

१. अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक

१-२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० २

लिखना संयम-विराधना का हेतु है।

२. पुस्तकों को ग्रामान्तर ले जाते हुए कंधे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते हैं।

३. उनके छेदों की ठीक तरह 'पडिलेहना' नहीं हो सकती।

४. मार्ग में भार बढ़ जाता है।

५. वे कुन्थु आदि जीवों के आश्रय होने के कारण अधिकरण है अथवा चोर आदि से चुराए जाने पर अधिकरण हो जाते हैं।

६. तीर्थंकरों ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नहीं दी है।

७. उनके पास में होते हुए सूत्र-गुणन में प्रमाद होता है—आदि आदि।

साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते है और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का दण्ड आता है और आज्ञा आदि दोष लगते हैं। आचार्य-श्री भिक्षु के समय भी ऐसी विचारधारा थी। उन्होंने इसका खण्डन भी किया है।

अंग और उपांग तथा छेद और मूल

दिगम्बर-साहित्य में आगमों के दो ही विभाग मिलते हैं—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य।

श्वेताम्बर-परम्परा में भी मूल-विभाग यही रहा। स्थानांग, नन्दी आदि में यही मिलता है। आगम-विच्छेद काल में पूर्वों और अंगों के निर्यूहण और शेषांश रहे, उन्हें पृथक् संज्ञाएं मिलीं। निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुतस्कन्ध को छेद-सूत्र कहा गया।

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अंग-प्रविष्ट को उसके अंग-स्थानीय और बारह सूत्रों को उपांग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जंघाएं, दो उरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुत-पुरुष के आचार आदि बारह अंग हैं। इसलिए ये अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं।

कान, नाक, आंख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग हैं। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपांग हैं।

बारह अंगों और उनके उपांगों की व्यवस्था इस प्रकार है :

अंग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्र	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्य-प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अंग	उपांग
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृतदशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा।

उपांग का प्रयोग उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थभाष्य में किया है।[1]

अंग स्वतः और उपांग परतः प्रमाण हैं, इसलिए अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह प्रयोग समुचित है।

'छेद' का प्रयोग उनके भाष्यों में मिलता है। 'मूल' का प्रयोग सम्भवतः सबसे अधिक अर्वाचीन है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो मूल सूत्र माने जाते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार—ये दो चूलिका सूत्र हैं।

छेद-सूत्र चार हैं :

१. व्यवहार

२. बृहत्कल्प

३. निशीथ

४. दशाश्रुतस्कन्ध।

इस प्रकार अंग-बाह्य-श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों में योजना हुई है।

आगमों का वर्तमान रूप

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-संघ मिला। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि काल कर चुके थे। साधुओं की संख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयों से प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। श्रुत की विस्मृति हो गई।

देवर्द्धिगणी ने अवशिष्ट संघ को वलभी में एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कण्ठस्थ था, वह उनसे सुना। आगमों के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति से उनका संकलन किया, सम्पादन किया और पुस्तकारूढ़ किया।

---

१. तत्त्वार्थभाष्य, टीका, पृ० २३

आगमों का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणी का है। अंगों के कर्त्ता गणधर हैं। अंग-बाह्य-श्रुत के कर्त्ता स्थविर हैं। उन सबका संकलन और सम्पादन करनेवाले देवर्द्धिगणी हैं। इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्ता भी माने जाते हैं।[1]

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह 'स्तवक' और जोड़ों तक चलता है।

निर्युक्तियां और निर्युक्तिकार

द्वितीय भद्रबाहु ने दस निर्युक्तियां लिखीं :

१. आवश्यक-निर्युक्ति
२. दशवैकालिक-निर्युक्ति
३. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
४. आचारांग-निर्युक्ति
५. सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
६. दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति
७. बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८. व्यवहार-निर्युक्ति
९. सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति
१०. ऋषिभाषित-निर्युक्ति

इनका रचनाकाल वीर-निर्वाण की पांचवीं-छठी शताब्दी है। बृहत्कल्प की निर्युक्ति भाष्य-मिश्रित अवस्था में मिलती है। व्यवहार-निर्युक्ति भी भाष्य में मिली हुई है।

सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित—ये दोनों निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। कुछ निर्युक्तियां मूल निर्युक्तियों की पूरक हैं, जैसे :

---

१. समाचारीशतक :
श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जाताया......भव्यलोकोपकाराय श्रुतव्यक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढ़ाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनान्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्त्ता श्री देवर्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः।

मूल	पूरक
१. आवश्यक-निर्युक्ति	ओघ-निर्युक्ति
२. दशवैकालिक-निर्युक्ति	पिण्ड-निर्युक्ति
३. बृहत्कल्प-निर्युक्ति	पंचकल्प-निर्युक्ति
४. आचारांग-निर्युक्ति	निशीथ-निर्युक्ति

इनकी भाषा प्राकृत है। इनमें संक्षिप्त शैली के आधार पर अनेक विषय और पारिभाषिक शब्द प्रतिपादित हैं। ये भाष्य और चूर्णियों के लिए आधारभूत उपादान हैं। ये पद्यबद्ध व्याख्याएं हैं।

भाष्य और भाष्यकार

आगमों और निर्युक्तियों के आशय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गए। अब तक दस भाष्य उपलब्ध हुए हैं :

१. आवश्यक-भाष्य
२. दशवैकालिक-भाष्य
३. उत्तराध्ययन-भाष्य
४. बृहत्कल्प-भाष्य
५. पंचकल्प-भाष्य
६. व्यवहार-भाष्य
७. निशीथ-भाष्य
८. जीतकल्प-भाष्य
९. ओघनिर्युक्ति-भाष्य
१०. पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य

इनमें बृहत्कल्प और ओघनिर्युक्ति पर दो-दो भाष्य मिलते हैं—लघुभाष्य और बृहद्भाष्य। इनकी भाषा प्राकृत है। ये भी पद्यबद्ध हैं। विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य—ये आचार्य जिनभद्रगणी (वि० सातवीं शताब्दी) की रचनाएं हैं।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पंचकल्प-महाभाष्य—ये संघदासगणी (वि० छठी शताब्दी) की रचनाएं हैं।

चूर्णियां और चूर्णिकार

चूर्णियां गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। निम्न आगम-ग्रन्थों पर चूर्णियां मिलती हैं :

१. आवश्यक	२. दशवैकालिक
३. नन्दी	४. अनुयोगद्वार
५. उत्तराध्ययन	६. आचारांग

७. सूत्रकृतांग
८. निशीथ
९. व्यवहार
१०. दशाश्रुत-स्कन्ध
११. वृहत्कल्प
१२. जीवाभिगम
१३. भगवती
१४. महा-निशीथ
१५. जीतकल्प
१६. पंचकल्प
१७. ओघ-निर्युक्ति

प्रथम आठ चूर्णियों के कर्त्ता जिनदास महत्तर हैं। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी है। जीतकल्प-चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेन सूरि हैं। उनका जीवन-काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। वृहत्कल्प चूर्णी प्रलम्ब सूरि की कृति है। शेष चूर्णिकारों के विषय में अभी जानकारी नहीं मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्त्ता हैं—अगस्त्यसिंह मुनि।

टीकाएं और टीकाकार

आगमों के पहले संस्कृत-टीकाकार हरिभद्र सूरि हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर टीकाएं लिखीं।

विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने जैन-परम्परा में जो संस्कृत-वाङ्मय का द्वार खोला, वह अब विस्तृत होने लगा। शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर टीकाएं लिखीं। शेष नव अंगों के टीकाकार हैं—अभयदेव सूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका है। नन्दी, प्रज्ञापन, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, वृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार मलयगिरि हैं।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्यायशास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्यायशास्त्रियों ने अपने-अपने तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर कसकर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया। तब जैन न्यायशास्त्री भी इस ओर मुड़े। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में न्याय का जो नया स्रोत बहा, वह बारहवीं शताब्दी में बहुत व्यापक हो गया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न्यायशास्त्रियों की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में पार्श्वचन्द्र सूरी तथा स्थानकवासी परम्परा के धर्मसी मुनि ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा में आगमों पर स्तबक लिखे। विक्रम की उन्नीसवीं सदी में श्रीमद् भिक्षु स्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने आगम के सैकड़ों दुरूह स्थलों पर प्रकीर्ण व्याख्याएं लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुत-स्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन

(२७ अध्ययन) और भगवती सूत्र पर पद्यात्मक व्याख्या लिखी। आचारांग (द्वितीय श्रुत-स्कन्ध) का वार्तिक लिखा।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या और न्यायशास्त्र से बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर ही हम जैन दर्शन के हृदय को छूने का यत्न करेंगे।

परवर्ती प्राकृत-साहित्य

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उसमें सर्वोपरि महत्त्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अंगों के बचे-खुचे अंशों के लुप्त होने का प्रसंग आया। तब आचार्य धरसेन (विक्रम दूसरी शताब्दी) ने भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो साधुओं को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनों ने षट्-खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय में आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कषाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेषांश हैं। इसलिए इन्हें पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। इन पर प्राचीन कई टीकाएं लिखी गई हैं, वे उपलब्ध नहीं हैं। जो टीका वर्तमान में उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होंने विक्रम सम्वत् ८७३ में षट्-खण्डागम की ७२,००० श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी।

कषाय-पाहुड़ पर २०,००० श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच में ही उनका स्वर्गवास हो गया। उसे उन्हीं के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ में हुई। उसका शेष भाग ४०,००० श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनों को मिलाकर इसका प्रमाण ६०,००० श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और संस्कृत के संक्रान्ति-काल की रचना है। इसीलिए इसमें दोनों भाषाओं का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अन्तिम भाग महाबंध है। इसके रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। यह ४१,००० श्लोक-प्रमाण है। इन तीनों ग्रन्थों में कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

विक्रम की दूसरी शती में आचार्य कुन्दकुन्द हुए। इन्होंने अध्यात्मवाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। इनका झुकाव निश्चयनय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय—ये इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। इनमें आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर्-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होंने गोम्मट-सार और लब्धिसार-क्षपणासार—इन दो ग्रन्थों की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएं हैं।

श्वेताम्बर-आचार्यों ने मध्ययुग में जैन-महाराष्ट्री में लिखा। विक्रम की तीसरी शती में शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी में संघदास क्षमाश्रमण ने वसुदेव हिन्डी नामक

एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा[1]। इसमें वसुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओं, चरित्रों, विविध वस्त्रों, उत्सवों और विनोद-साधनों का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्र-समास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्र सूरि विक्रम की आठवीं शती के विद्वान् आचार्य हैं। 'समराइच्च कहा' इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्यकाल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्रविद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोश आदि अनेक विषयक ग्रन्थ लिखे गए हैं[2]।

संस्कृत-साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव, उनकी संग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसका आधार भाषा—ये तीनों चीज़ें तत्त्वों की संवाहक होती हैं। सूरज, हवा और अकाश की तरह ये तीनों चीज़ें सबके लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है, जहां पर साम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे सब भेद मिट जाते हैं।

संस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने न किया—यह विचार कोई महत्त्व नहीं रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि में बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचारधाराएं हैं। वे त्रिपथगा (गंगा) की तरह लम्बे अर्से तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा। जैनों ने अर्ध-मागधी भाषा और बौद्धों ने पालि भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद में इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो साहित्य बनाया, वह लौकिक (वर्तमान में प्रचलित) संस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक संस्कृत में लिखने के सम्बन्ध में किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना ज़रा कठिन है।

---

१ पाइअ भाषाओ अने साहित्य, पृ० ६१।

२, वही, पृ० ६५।

संस्कृत और प्राकृत—ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएं हैं और ऋषियों की भाषाएं हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत और प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

संस्कृत भाषा तार्किकों के तीखे तर्क-बाणों के लिए तूणीर बन चुकी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सभी दार्शनिक संस्कृत भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वयं इस ओर मुड़े। उन्होंने पहले ही चरण में प्राकृत-भाषा की तरह संस्कृत भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

प्रादेशिक साहित्य

ई० पूर्व पांचवीं शताब्दी में जैन धर्म का अस्तित्व दक्षिण भारत में था। ई० पूर्व तीसरी शताब्दी में भद्रबाहु बारह हज़ार मुनियों के साथ दक्षिण भारत में गए। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। उनके वहां जाने से जैन धर्म बहुत प्रभावी हो गया।

दिगम्बर-आचार्यों का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण बन गया। दक्षिण की भाषाओं में उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड़ भाषा में जैन कवि पोन्न का शान्तिपुराण, पंप का आदिपुराण और भारत आज भी बेजोड़ माना जाता है। रत्न का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवीं शती से सोलहवीं शती तक जैन महर्षियों ने काव्य, व्याकरण, शब्द-कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक-संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पांच द्राविड़-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमें जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं[1]। तमिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पांच महाकाव्यों में से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति—जैन कवियों द्वारा रचित हैं। नन्नोल तमिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियों की कृति हैं।

गुजराती साहित्य

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओं में दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है। पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम

---

१. कर्णाटक कवि चरित्र।

है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और संस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियों और महर्षियों ने इस भाषा में अनेक रचनाएं प्रस्तुत की।[1]

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैनमुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापंथी— सभी ने राजस्थानी में लिखा है। रास और चरितों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित बहुत ही रोचक है। कवि समयसुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकल ढालों का संकलन किया जाए तो इतिहास को कई दिशाएं मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश हैं। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का भी सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियों में लिखा गया है—१. जैन-शैली, २. चारणी शैली ३. लौकिक शैली। जैन-शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इस शैली में प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अतः जैन-शैली में गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप में अन्यान्य लोग हैं। जैनों, ब्राह्मणों, राजपूतों, भाटों आदि ने भी इस शैली में रचना की है। इसमें भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन-शैली से भिन्न प्रकार की है। यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओं में भी, विशेषकर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुतः अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है।[2]

तेरापंथ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी-साहित्य में एक नया स्रोत बहाया। अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओं का प्रमाण ३८,००० श्लोक के लगभग है। मारवाड़ी के ठेठ शब्दों में लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शान्ति दोनों धाराओं में बहा है।

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकम्पा, शील री नवबाड़ आदि उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

---

१. देखें—जैन गुर्जर कविओ।
२. साहित्य सन्देश, भाग १९, अंक १-२ (भाषाविज्ञान विशेषांक), पृ० ७९-८०।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक-प्रमाण गद्य-पद्य लिखे।

उनकी लेखनी में प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वतः प्रमाण उनकी अमर कृतियां हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की त्रिवेणी में आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनिया के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोमुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी भर रहा है।

हिन्दी साहित्य

हिन्दी का आदि-स्रोत अपभ्रंश है। विक्रम की दसवीं शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्ध-हेमशब्दानुशासन में इसका भी व्याकरण लिखा। उसमें उदाहरण-स्थलों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों परम्पराओं के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उससे बहुत प्रभावित रहा है। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व का महाकवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रइधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रंश में हैं। योगीन्द्र का योगसार और परमात्मप्रकाश संत-साहित्य के प्रतीक-ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के नए-नए रूपों में जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पांच शताब्दियों में वह योग उल्लासवर्धक नहीं रहा। इस शताब्दी में फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है—ऐसा प्रतीत हो रहा है।[1]

---

१. देखें—परिशिष्ट २।

५

जैन संस्कृति

व्रत

जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है—संयम और संवर। वह आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के प्रति अनासक्ति का सूचक है। व्रत का उपजीवी तत्त्व तप है। उसके उद्‌भव का मूल जीवन का समर्पण है।

जैन परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा के पालन में बाधा न आए, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है—जिनमें आत्मवल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द में जैन-संस्कृति की आत्मा उत्सर्ग है। बाह्य स्थितियों में जय-पराजय की अनवरत शृंखला चलती है। वहां पराजय का अन्त नहीं होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय में होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचार-धारा की बहुमूल्य देन संयम है।

सुख का वियोग मत करो, दुःख का संयोग मत करो—सबके प्रति संयम करो। सुख दो और दुःख मिटाओ की भावना में आत्म-विजय का भाव नहीं होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण, साथ-साथ चलते हैं। इधर शोषण और उधर दुःख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च संस्कृति नहीं।

सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय

की प्रतीक है। सुख का वियोग किए बिना शोषण नहीं होता, अधिकारों का हरण और द्वन्द्व नहीं होता।

सुख मत लूटो और दुःख मत दो—इस उदात्त-भावना में आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही। उसके अतिरिक्त जगत् की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान् निर्देश है।

प्राणिमात्र अपने अधिकारों में रमणशील और स्वतन्त्र है, यही उनकी सहज सुख की स्थिति है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नहीं होगा।

दस प्रकार का संयम[1], दस प्रकार का संवर[2] और दस प्रकार का विरमण है, वह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है या है निवृत्ति या है निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति।

दस आशंसा के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति है।[3] जैन-संस्कृति में प्रमुख वस्तु है 'दृष्टिसम्पन्नता'—सम्यक्-दर्शन। संसारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है तब कोई दुविधा नहीं होती। अव्यवस्था तब होती है, जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाय। संसारोन्मुखी वृत्ति में मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवों के जीवन का अधिकार स्वीकार नहीं करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आंकते। दुःख मिटाने और सुखी बनाने की वृत्ति व्यावहारिक है, किन्तु क्षुद्र भावना, स्वार्थ और संकुचित वृत्तियों को प्रश्रय देनेवाली है। आरम्भ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म से दूर किये रहते हैं। बड़ा व्यक्ति अपने हित के लि[illegible] छोटे व्यक्ति की, बड़ा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा क[illegible] नहीं सकुचाता।

बड़े से भी कोई बड़ा होता है और छो[illegible] भी कोई छोटा। बड़े द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किन्तु [illegible] के प्रति कठोर बनते वह नहीं सोचता। यहां गतिरोध होता है।

जैन विचारधारा यहां बताती है—दुःखनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो, उसे ध्रुव सत्य मान मत चलो। सुख मत लूटो, दुःख मत दो—इसे विकसित करो। इसका विकास होगा तो दुःख मिटाओ, सुखी बनाओ की भावना अपने आप पूरी होगी। दुःखी न बनाने की भावना बढ़ेगी तो दुःख अपने आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ़ होगी तो

---

१. ठाणं, १०।८
२. वही, १०।१०
३. वही, १०।१३४

सुखी बनाने की आवश्यकता ही क्या होगी ?

संक्षेप में तत्त्व यह है—दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुंचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़ों का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियां चाहिए; जैसे :

१. आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।

२. मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।

३. लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।

४. क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।

५. शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।

६. सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।

७. माध्यस्थ्य या आग्रहहीनता, जिससे सत्य-स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। 'एक ही साधै सब सधै'—संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-बिन्दु मानकर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है, जो 'जैन-विचारणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाएं हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा, कष्ट-सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएं और जुड़ जाएं तो साम्य आयेगा—भोगपरक नहीं, किन्तु त्यागपरक; वृत्ति बढ़ेगी—दानमय नहीं, किन्तु अग्रहणमय; नियन्त्रण बढ़ेगा—दूसरों का नहीं, किन्तु अपना।

अहिंसा का विकास संयम के आधार पर हुआ है। जर्मन विद्वान् अलबर्ट स्वीजर ने इस तथ्य का बड़ी गम्भीरता से प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार "यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमें मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएं कैसे बंध सकीं और दूसरों को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है ? यह दलील कि संन्यास की भावना मार्ग में बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोड़ी से थोड़ी करुणा भी इस संकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ।'

अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है। यह मूलतः कार्य के आचरण से नहीं अधिकतर पूर्ण बनने के आचरण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियों के साथ के सम्पर्क में अकार्य के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नहीं हुआ है। भारतीय संन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

'अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता से व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतों का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।'

'पर फिर कहना पड़ता है कि भारतीय विचारधारा हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुंचाना, ऐसा ही कहती रही है तभी वह शताब्दी गुजर जाने पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है।'

जैन-धर्म में सर्वप्रथम भारती संन्यास ने आचारगत विशेषता प्राप्त की। जैन-धर्म मूल से ही नहीं मारने और कष्ट न देने के उपदेश को महत्त्व देता है जब कि उपनिषदों में इसे मानो प्रसंगवश कह दिया गया है। साधारणतः यह कैसे संगत हो सकता है कि यज्ञों में जिनका नियमित कार्य था पशु-हत्या करना, उन ब्राह्मणों में हत्या न करने का विचार उठा होगा? ब्राह्मणों ने अहिंसा का उपदेश जैनों से ग्रहण किया होगा, इस विचार की ओर संकेत करने के पर्याप्त कारण हैं।'

'हत्या न करने और कष्ट न पहुंचाने के उपदेश की स्थापना मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महानतम अवसरों में से एक है। जगत् और जीवन के प्रति अनासक्ति और कार्य-त्याग के सिद्धान्त से प्रारम्भ होकर प्राचीन भारतीय विचार-धारा इस महान् खोज तक पहुंच जाती है, जहां आचार की कोई सीमा नहीं। यह सब उस काल में हुआ जब दूसरे अंचलों में आचार की उतनी अधिक उन्नति नहीं हो सकी थी। मेरा जहां तक ज्ञान है जैन धर्म में ही इसकी प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई।'[1]

सामान्य धारणा यह है कि जैन-संस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक

1. Indian Thought and its Development, pp. 79-84.

है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद में आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है। ऋग्वेद के गीतों में वर्तमान भावना आशावादी है। उसका कारण तत्त्व-चिंतन की अल्पता है। जहां चिन्तन की गहराई है वहां विषाद की छाया पायी जाती है। उषा को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह मनुष्य-जीवन को क्षीण करती है।[1] उल्लास और विषाद विश्व के यथार्थ रूप हैं। समाज या वर्तमान के जीवन की भूमिका में केवल उल्लास की कल्पना होती है। किन्तु जब अनन्त अतीत और भविष्य के गर्भ में मनुष्य का चिन्तन गतिशील होता है, समाज के कृत्रिम बन्धन से उन्मुक्त हो जब मनुष्य 'व्यक्ति' स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है, कोरी कल्पना से प्रसूत आशा के अन्तरिक्ष से उतर वह पदार्थ की भूमि पर चला जाता है, समाज और वर्तमान की वेदी पर खड़े लोग कहते हैं—यह निराशा है, पलायन है। तत्त्व-दर्शन की भूमिका में से निहारने वाले लोग कहते हैं कि यह वास्तविक आनन्द की ओर प्रयाण है। पूर्व औपनिषदिक विचारधारा के समर्थकों को ब्रह्मद्विष् (वेद से घृणा करने वाले) और देवनिन्द (देवताओं की निन्दा करने वाले) कहा गया। भगवान् पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका समय हमें उस काल में ले जाता है जब ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हो रहा था। जिसे पलायनवाद कहा गया उससे उपनिषद्-साहित्य मुक्त नहीं रहा।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाएं करते हैं। जैन उपासकों का कामना-सूत्र है[2]:

१. कब मैं अल्प-मूल्य एवं बहु-मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा।

२. कब मैं मुण्ड हो, गृहस्थपन छोड़ साधुव्रत स्वीकार करूंगा।

३. कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना यानी अन्तिम अनशन में शरीर को झोंसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रखकर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूंगा।

जैनाचार्य धार्मिक विचार में बहुत ही उदार रहे हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हें परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था में कभी नहीं बांधा। समाज-व्यवस्था को समाजशास्त्रियों के लिए सुरक्षित छोड़ दिया।

---

१. ऋग्वेद, २।१।१।१८।१२४

२. ठाणं, ३।४९७ :

कयाणमहं अप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि।
कयाणमहं मुण्डे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामि।
कयाणमहं अपच्छिममारणांतियसंलेहणाझूसणाझुसिए, भत्तपाणं पडियाइक्खओ पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरिस्सामि।

धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है किन्तु सामाजिक बन्धनों की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनों की संख्या करोड़ों से लाखों में हो गई, उसका कारण यह हो सकता है और इस सिद्धान्तवादिता के कारण वह धर्म के विशुद्ध रूप की रक्षा भी कर सका है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। भगवान् ने अहिंसा-धर्म का निरूपण उन सबके लिए किया—जो आत्म-उपासना के लिए तत्पर थे या नहीं थे; जो उपासना-मार्ग सुनना चाहते थे या नहीं चाहते थे; जो शस्त्रीकरण से दूर थे या नहीं थे; जो परिग्रह की उपाधि से बंधे थे या नहीं थे; जो पौद्गलिक संयोग में फंसे हुए थे या नहीं थे।

भगवान् ने सबको धार्मिक जीवन बिताने से लिए प्रेरणा दी और कहा :

१. धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप श्रमण श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए।[1]

२. धर्म की आराधना में जाति-पांति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए।[2]

३. धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गांव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है[3]।

४. धर्म की आराधना में वेश का भेद नहीं हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है।[4]

५. भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—धर्म का उपदेश जैसे सम्पन्न को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही सम्पन्न को दो[5]।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टि में जैनों के सम्प्रदाय हैं। पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदाओं को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना। इनकी

---

१. भगवती, २०।८ :
तित्थं पुण···समणा समणीओ सावया सावियाओ य।

२. देखें—उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन ११।

३. आयारो, ८।१४ :
गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह।

४. उत्तरज्झयणाणि, ५।२२ :
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं।

५. आयारो, २।१७४ :
जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेश में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेश में भी मुक्त हो जाता है। सहज ही प्रश्न होता है—जैन-संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-संग्रह करने में अधिक सफल क्यों नहीं हुई?

इसके उत्तर में पांच कारण प्रस्तुत होते हैं :

१. सूक्ष्म सिद्धान्तवादिता,
२. तपोमार्ग की कठोरता,
३. अहिंसा की सूक्ष्मता,
४. सामाजिक बंधन का अभाव,
५. साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव।

कला

कला विशुद्ध सामाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन करनेवाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राज्यकाल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौंसठ कलाओं का निरूपण किया।[1] टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेशभूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करनेवाले तपस्वियों ने कहा है—'जो व्यक्ति सब कलाओं में प्रवर धर्म कला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है।[2] जैन-धर्म का आत्म-पक्ष धर्म-कला के उन्नयन में ही संलग्न रहा। बहिरंग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विस्तार के साथ-साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्रकला

जैन-चित्रकला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनों प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २।
२. बावत्तरि कलाकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरं, धम्मकलं जे न याणंति॥

प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्रकला और स्मृति-हेतुक स्थापना के आधार पर मूर्तिकला का विकास हुआ। ताड़पत्र और पत्रों पर ग्रन्थ लिखे गए और उनमें चित्र किये गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हज़ारों ऐसी प्रतियां लिखी गईं, जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अमूल्य हैं।

ताड़पत्रीय या पत्रीय प्रतियों के पट्ठों, चातुर्मासिक प्रार्थनाओं, कल्याण-मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों के चित्रों को देखे बिना मध्यकालीन चित्रकला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

योगी मारा गिरिगुहा (रामगढ़ की पहाड़ी, सरगुजा) और सितन्नवासल (पद्दुकोटै राज्य) के भित्तिचित्र अत्यन्त प्राचीन और सुन्दर हैं।

चित्रकला की विशेष जानकारी के लिए जैन चित्रकल्पद्रुम देखना चाहिए।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। वे सौन्दर्य और सूक्ष्मता—दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापंथ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि में ये अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ग्यारह इंच लम्बे और पांच इंच चौड़े पन्ने में लगभग अस्सी हज़ार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

मूर्तिकला और स्थापत्य-कला

कालक्रम से जैन-परम्परा में प्रतिमा-पूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएं हैं। कुछ जैन सम्प्रदाय मूर्ति-पूजा करते हैं और कुछ नहीं करते। किन्तु कला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण विषय है।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी जाती है और पटना म्यूज़ियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पालिस अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूज़ियमों में भी अनेक जैन-मूर्तियां मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्त-कालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में चौवीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैन-मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन-सम्प्रदाय

की है।[1]

खण्डगिरि और उदयगिरि में ई० पू० १८८—३० तक की शुंगकालीन मूर्ति-शिल्प के अद्भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। वहां पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएं हैं, जिनमें मूर्ति-शिल्प भी है। दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान में खुदाई में जैन-मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई० पू० ३०० —२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अनुपम मानी जाती है। श्रवणबेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में से है। वह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत शान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व की जैन-मूर्तिकला की अनुपम देन है।

मौर्य और शुंग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्तिकला की मुख्य तीन धाराएं हैं:

१. गांधार-कला—जो उत्तर-पश्चिम में पनपी।

२. मथुरा-कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में विकसित हुई।

३. अमरावती की कला—जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई।

जैन मूर्तिकला का विकास मथुरा-कला से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ' आबू के मन्दिर एवं रणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।

जैन-पर्व

पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं। जैनों के मुख्य पर्व चार हैं :

१. अक्षय तृतीया

२. पर्युषण और दसलक्षण

३. महावीर जयन्ती

४. दीपावली।

अक्षय तृतीया का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है। उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनों की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया। इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र वदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमें तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्म-

---

१. भारतीय मूर्तिकला, पृ० ५९।

शोधक प्रवृत्तियों की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलों के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी स्वयंभूत विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का संदेशवाहक है।

दिगम्बर-परम्परा में भाद्र शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक दसलक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में एक-एक धर्म की आराधना की जाती है, इसलिए इसे दसलक्षण पर्व कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म-दिवस के उपलक्ष में मनाई जाती है।

दीपावली का सम्बन्ध भगवान् महवीर के निर्वाण से है। कार्तिकी अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ था। उस समय देवों और राजाओं ने प्रकाश किया था। उसी का अनुसरण दीप जलाकर किया जाता है।

दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण के जो प्रसंग हैं वे केवल जनश्रुति पर आधारित हैं, किन्तु इस त्योहार का जो सम्बन्ध जैनियों से है, वह इतिहास-सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि-वेला में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इन्द्रों ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जनसेन ने हरिवंशपुराण में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही प्राचीनतम प्रमाण है।

जैन धर्म का प्रभाव-क्षेत्र

भगवान् महावीर के युग में जैन-धर्म भारत के विभिन्न भागों में फैला। सम्राट् अशोक के पुत्र सम्प्रति ने जैन-धर्म का सन्देश भारत से बाहर भी पहुंचाया। उस समय जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पांडे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ई० सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हज़ार वर्षों तक जैन-धर्म मध्यपूर्व के देशों में किसी न किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास-लेखक वान क्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास-लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि "हज़रत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम और फिलस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु सैकड़ों की संख्या में फैले हुए थे।" 'सियाहत नाम ए नासिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता,

शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।[1]

जैन-धर्म का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और संयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जाता है। पुरातत्त्व-विद्वान् पी० सी० राय चौधरी के अनुसार—"यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप में धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओं ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दू-शासन के वैभवपूर्ण युग थे, जिन युगों में जैन-धर्म-सा महान् धर्म प्रचारित हुआ।"

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा सिद्धान्त ने भारत को कायर बना दिया पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी कायर नहीं होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आयी और तब आयी जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए उनमें दो बातें सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं :

१. अनाक्रमण—संकल्पी हिंसा का त्याग।

२. इच्छा-परिमाण—परिग्रह का सीमाकरण।

यह लोकतन्त्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन में प्रज्ञा और चारित्र्य का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग परम्परा का अन्धानुसरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सन्तुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जैन-धर्म का आचारशास्त्र भी जनतन्त्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। 'परिमित परिग्रह'—उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारकों के अनुसार परिमित-परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य

---

१. विश्ववाणी, इलाहबाद

रूप से आचरणीय था। सम्भवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारों का यह प्रथम उद्घोष था।"

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारों का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने बोये थे। महात्मा गांधी का निमित्त पा, वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

भगवान् महावीर की जन्मभूमि, तपोभूमि और विहारभूमि बिहार था। इस लिए महावीरकालीन जैन-धर्म पहले बिहार में पल्लवित हुआ। कालक्रम से वह बंगाल, उड़ीसा, उत्तर भारत, दक्षिण भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त और राजपूताना में फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव, लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायों के प्रबल विरोध के कारण जैन-धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियों की अल्प संख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धान्तिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। बीच-बीच में प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्बुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विल ड्यूरेन्ट ने लिखा है— "अकबर ने जैनों के कहने पर शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियों पर पशु-हत्याएं रोक दी थीं। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय में मांस-भक्षण के निषेध का नियम रखा था।"[१]

जैन मन्त्री, दण्डनायक और अधिकारियों के जीवन-वृत्त बहुत ही विस्तृत हैं। वे विधर्मी राजाओं के लिए भी विश्वासपात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अंकन पदार्थों से नहीं, किन्तु चारित्रिक मूल्यों से ही हो सकता है।

जैन धर्म : विकास और ह्रास

विश्व की प्रत्येक प्रवृत्ति को उतार-चढ़ाव का सामना करना पड़ा है। कोई भी प्रवृत्ति केवल उन्नति और अवनति के बिन्दु पर अवस्थित नहीं रहती।

जैन धर्म के विकास के मुख्य हेतु ये हैं :

१. मध्य मार्ग—जैन आचार्यों ने गृहस्थ के लिए अणुव्रतों का विधान कर उनकी सामाजिक अपेक्षाओं का द्वार बन्द नहीं किया।

---

१. Our Oriental Heritage, pp. 467-71.

२. समन्वय—जैन धर्म में भिन्न-भिन्न विचारों का सापेक्ष दृष्टि से समन्वय होने के कारण वह विभिन्न विचारधारा के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३. समाहार—जैन धर्म में जातिवाद की तात्त्विकता मान्य नहीं थी, इसलिए सभी जाति के लोग उसे अपनाते रहे।

४. परिवर्तन की क्षमता—जैन आचार्यों ने सामाजिक परम्परा को शाश्वत का रूप नहीं दिया। इसलिए जैन समाज में देश और काल के अनुसार परिवर्तन का अवकाश रहा। यह जनता के आकर्षण का सबल हेतु रहा।

५. सैद्धान्तिक सहिष्णुता—दूसरे धर्मों के सिद्धान्तों को सहने की क्षमता के कारण जैन धर्म दूसरों की सहानुभूति अर्जित करता रहा।

६. जन भाषा का प्रयोग।

७. अहिंसा का व्यवहार में प्रयोग।

८. प्रामाणिकता—जैन गृहस्थ अहिंसा-पालन के साथ-साथ कर्तव्य के प्रति वहुत जागरूक थे। वे देश के विकास और रक्षा के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे।

दक्षिण के जैन समाज ने जीविका (अन्नदान), शिक्षा (ज्ञानदान), चिकित्सा (औषधदान) और अहिंसा (अभयदान) के माध्यम से जैन-धर्म को जन-धर्म का रूप दे दिया था।

९. सशक्त और कुशल आचार्यों का नेतृत्व।

विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी में इन स्थितियों में परिवर्तन आने लगा। फलत: जैन धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया।

ह्रास के मुख्य हेतु—

१. आन्तरिक पवित्रता और शक्ति की कमी, बाह्य कर्मकांडों की प्रचुरता।

२. व्यक्तिवादी मनोवृत्ति—दूसरों की हानि से मुझे क्या? मैं दूसरों के लिए क्यों कर्म बांधूं? इस प्रकार के एकान्तिक निवृत्तिवादी चिन्तन ने परस्परता के वन्धन में शिथिलता ला दी।

दक्षिण भारत में जैन-धर्म के ह्रास के मुख्य तीन कारण हैं:

१. जैन जागृति करने वाले प्रभावशाली आचार्यों के कार्य-काल में बहुत बड़ा व्यवधान।

२. ऐसे नेतृत्व का अभाव जो राजनीति और धर्मनीति को साथ-साथ लेकर चल सके।

३. अन्य धर्मों के वढ़ते हुए प्रभाव की उपेक्षा और अपने आपको एकान्तत: आध्यात्मिक वनाए रखने की प्रवृत्ति।

समासत: ये तीन कारण हैं। दक्षिण के मुख्य दो प्रान्तों में ह्रास के अन्यान्य कारण भी रहे हैं।

१. तमिल प्रान्त में ह्रास के कारण

१. शैव नायनार और वैष्णव अल्वारों का उदय।

२. उनके द्वारा जातिवाद का बहिष्कार कर अपने धर्म-संघ में नीची जाति वालों का प्रवेश।

३. राजधर्म को प्रभावित कर राजाओं को अपने मत के प्रति आकृष्ट करना।

४. जैन स्तुतियों का अनुकरण कर शैव स्तुतियों का निर्माण करना।

२. कर्नाटक में ह्रास के कारण

१. राष्ट्रकूट और गंगवंशीय राजाओं का अन्त।

२. वीर शैवमत के उदय-काल में जैन आचार्यों की उपेक्षा और उसके प्रभाव को रोक पाने की अक्षमता।

३. वसवेश्वर द्वारा प्ररूपित 'लिंगायत' धर्म के वढ़ते चरण को रोक न पाना।

४. अनेक राजाओं का शैव-मत में दीक्षित हो जाना।

विकास और ह्रास कालचक्र के अनिवार्य नियम हैं। इस विषय में कोई भी वस्तु केवल विकास या ह्रास की रेखा पर अवस्थित नहीं रहती। आरोह के वाद अवरोह और अवरोह के वाद आरोह चलता रहता है। जैन धर्म के अनुयायी-समाज की संख्या में ह्रास हुआ है। किन्तु भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सत्यों का ह्रास नहीं हुआ है। उनके सापेक्षता, सहअस्तित्व, अहिंसा, मानवीय एकता, निःशस्त्रीकरण, स्वतन्त्रता और अपरिग्रह के सिद्धान्त विश्वमानस में निरन्तर विकसित होते जा रहे हैं।

६

चिन्तन के विकास में जैन आचार्यों का योग

श्रद्धावाद-हेतुवाद

चिंतन की तुलना सरिता के उस प्रवाह से की जा सकती है जिसका उद्गम छोटा होता है और गतिशील होने के साथ-साथ वह विशालकाय होता चला जाता है। भारतीय मानस श्रद्धा-प्रधान रहा है। उसमें तर्क-बीज की अपेक्षा श्रद्धा-बीज अधिक अंकुरित हुए हैं। इसीलिए यहां मौलिक चिंतक अपेक्षाकृत कम हुए हैं। धर्म के क्षेत्र में कुछ महान् साधक, अवतार या तीर्थंकर हुए हैं। वे हिमालय की भांति अत्यन्त महान् थे। उनकी महानता तक मौलिक चिंतक भी नहीं पहुंच पाते थे। फलत: उनके प्रति चिंतकों का श्रद्धानत होना स्वाभाविक था। साधारण जन तो श्रद्धानत था ही किन्तु साधारण जन की श्रद्धा और चिंतक की श्रद्धा में एक अन्तर था। साधारण जन अपने श्रद्धेय की हर वाणी को श्रद्धा से स्वीकार करता था। चिंतक अपने श्रद्धेय की महान् आध्यात्मिक उपलब्धि के प्रति श्रद्धानत होने पर भी उनके प्रत्येक वचन को श्रद्धा से स्वीकार करने का आग्रह नहीं करता था। आचार्य सिद्धसेन जैन परम्परा में मौलिक चिंतक हुए हैं। उनकी ज्ञान-गरिमा अगाध थी। वे भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धाप्रणत थे, किन्तु साथ-साथ अपने स्वतन्त्र चिंतन का भी उपयोग करते थे। उन्होंने अनेक तथ्यों पर अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। उस समय के श्रद्धावादी आचार्यों और मुनियों ने उनके सामने तर्क उपस्थित किया—'जो तथ्य आगम-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं, उनके प्रतिकूल किसी भी सिद्धान्त की स्थापना कैसे की जा सकती है?' आचार्य सिद्धसेन ने इस तर्क का सीधा खण्डन भी नहीं किया और उनके मत का समर्थन भी नहीं किया। उन्होंने स्याद्वाद की शैली से एक नया चिंतन प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि महावीर ने दो प्रकार के तत्त्वों का प्रतिपादन किया है—

१. हेतुगम्य
२. अहेतुगम्य

अहेतुगम्य तत्त्व चिंतन और तर्क की सीमा से परे होते हैं। उन्हें समझने के लिए तर्क का उपयोग नहीं हो सकता। वे श्रद्धा के विषय हैं। हम अतीन्द्रिय-तत्त्व और अतीन्द्रिय-ज्ञान को स्वीकार करते हैं। तर्क इन्द्रिय ज्ञान की परिधि में होता है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते ! जैसे हम श्वास लेते हैं, वैसे ही क्या पृथ्वीकाय के जीव भी श्वास लेते हैं ? भगवान् ने इसका स्वीकारात्मक उत्तर दिया। इन्द्रिय के द्वारा यह गम्य नहीं है, इसलिए यह तर्क का विषय भी नहीं है। किन्तु महावीर ने क्या ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन नहीं किया जो इन्द्रियगम्य हैं और जिनकी व्याख्या तर्क के द्वारा की जा सकती है ? आचार्य सिद्धसेन ने यह चिंतन प्रस्तुत किया कि जो व्यक्ति अहेतुगम्य तत्त्वों का आगम-प्रामाण्य के द्वारा और हेतुगम्य तत्त्वों का तर्क-प्रामाण्य के द्वारा प्रतिपादन करता है, वह आगम के हृदय को यथार्थ समझता है और उनका यथार्थ प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति हेतुगम्य और अहेतुगम्य दोनों तत्त्वों को केवल आगम-प्रामाण्य से समझने का प्रयत्न और प्रतिपादन करता है, उसने आगम के यथार्थ को नहीं समझा और उनके प्रतिपादन की यथार्थ पद्धति भी उसे प्राप्त नहीं है।[1]

इस विचार का बीज-वपन निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने किया था। उनका युग तर्कशास्त्र के विकास का प्रारम्भिक युग था। इसलिए उन्होंने आगम और दृष्टान्त—इन दो शब्दों का प्रयोग किया था—आगमगम्य तत्त्व आगम के द्वारा और दृष्टान्तगम्य तत्त्व दृष्टान्त के द्वारा जानने चाहिए।[2] आचार्य सिद्धसेन तर्कशास्त्र के विकास-कर्ताओं में अग्रणी थे। इसलिए उन्होंने दृष्टान्त के स्थान पर हेतुवाद का प्रयोग किया।

आगम युग में तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं था। सत्य का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति जो बात कहे उसके प्रति तर्क कैसे हो सकता था ? जब सत्य के साक्षात् द्रष्टा नहीं रहे तब तर्क का विकास होने लगा। तार्किक विद्वान् प्रत्येक तत्त्व को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। उसी स्थिति में यह विचार प्रस्फुटित हुआ कि सब कुछ तर्क का विषय नहीं है। महर्षि मनु ने इसी संदर्भ में लिखा था—पुराण, मानव धर्म, अंगयुक्तवेद और आयुर्वेद—ये आज्ञासिद्ध हैं। ये हेतु के द्वारा

---

१. सम्मति ४५ :

जो हेउवायपक्खम्भि हेउओ, आगमे य आगमिओ।
स ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥

२. आवश्यकनिर्युक्ति ६।७ :

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो।
दिट्ठंतिय दिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इयरा।

परीक्षणीय नहीं हैं।[1] शास्त्र की अपरीक्षणीयता का बौद्ध आचार्यों ने सशक्त प्रतिवाद किया। उन्होंने कहा—आपके शास्त्रों में कुछ चिंतनीय है, इसीलिए आप उन पर विचार करने से कतराते हैं। यदि सोना निर्दोष है तो फिर उसकी परीक्षा से डर क्यों? उन्होंने बुद्ध के मुख से कहलाया—जैसे समझदार मनुष्य कसौटी, छेद और ताप के द्वारा परीक्षा कर स्वर्ण को लेता है, भिक्षुओ! तुम वैसे ही कसौटी, छेद और ताप के द्वारा परीक्षा कर मेरे वचन को स्वीकार करो। मैं कहता हूं, इसलिए उसे स्वीकार मत करो—

१. अस्ति वक्तव्यता काचित्, तेनेदं न विचार्यते।
निर्दोषं कांचनं चेत् स्यात्, परीक्षाया बिभेति किम्?
२. निकषच्छेदतापेभ्यः, सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो! ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।

जैन आचार्यों ने इन दोनों अतिवादों से बचकर अपना चिंतन स्थिर किया। उन्होंने सूक्ष्म तत्त्व को आज्ञासिद्ध और स्थूल तत्त्व को परीक्षासिद्ध बतलाया।

आचार्य सिद्धसेन ने स्वतंत्र चिंतन और हेतुवाद का जो मूल्यांकन किया, वह सबको मान्य नहीं हुआ। फलतः जैन परम्परा में दो धाराएं निर्मित हो गईं—

१. सिद्धान्तवादी
२. तर्कवादी

सिद्धान्तवादी आगमिक प्रतिपादन को शब्दशः और अक्षरशः स्वीकार करते थे। तर्कवादी आगम के हेतुगम्य तत्त्वों की तार्किक समीक्षा भी करते थे और उनके साथ नया चिंतन भी जोड़ते थे। सिद्धान्तवादियों ने अपनी सारी शक्ति आगमिक वचनों के समर्थन में लगाई, जबकि तार्किक विद्वानों की शक्ति अपने समसामयिक दार्शनिकों के तर्कों को समझने और उनकी जैन-पद्धति से मीमांसा करने में लगी। उन्होंने दूसरे दर्शनों से कुछ लिया और उन्हें कुछ देने का प्रयत्न भी किया। यह समाहार की वृत्ति सत्य को अनेकान्तदृष्टि से देखने पर ही प्राप्त हो सकती थी। आचार्य सिद्धसेन ने सत्य को व्यापक दृष्टि से देखा तभी उन्हें यह दिखाई दिया कि विश्व के किसी भी दर्शन में जो सुप्रतिपादित है, वह महावीर के वचन का ही बिन्दु है।[2] वे महावीर को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखते हैं। उनके लिए महावीर

---

१. मनुस्मृति :
पुराणं मानवो धर्मः, सांगो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः॥
२. द्वात्रिंशिका १।३०:
सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥

एक आत्मा है। आत्मा ही परम सत्य है। जहां कहीं भी सत्य के कण दिखाई देते हैं, वे सब आत्मा की ज्योति के ही स्फुलिंग हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य सिद्धसेन के अभिमत को सहज भाषा में प्रस्तुत किया है—जिस किसी समय में, जिस किसी रूप में और जिस किसी नाम से जिस किसी रूप में आप प्रकट हों, यदि आप वीतराग हैं तो आप मेरे लिए एक ही हैं। मैं वीतराग के प्रति प्रणत हूं, देश-काल तथा नाम और रूप के प्रति प्रणत नहीं हूं।[1]

यथार्थवाद

जैन धर्म यथार्थवादी है। यथार्थवाद में सत्य का स्वीकार श्रद्धा से नहीं होता। न व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और न सिद्धान्त के प्रति श्रद्धा। दोनों की परीक्षा की जाती है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस वास्तविकता को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उजागर किया है। उन्होंने लिखा है—'भगवन्! श्रद्धा से आपके प्रति हमारा पक्षपात नहीं है। अन्य दार्शनिकों के प्रति द्वेष के कारण हमारी अरुचि नहीं है। हमने आप्तत्व की परीक्षा की है। उस परीक्षा में आप खरे उतरते हैं। इसीलिए हमने आपका अनुगमन किया है।'[2]

आचार्य हरिभद्र ने इस सत्य को निरपेक्ष शब्दों में अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं—'महावीर के प्रति मेरा कोई पक्षपात नहीं है और कपिल आदि दार्शनिकों के प्रति मेरा कोई द्वेष नहीं है। मैं इस विचार का व्यक्ति हूं कि जिसका विचार युक्तियुक्त हो, उसका अनुगमन करना चाहिए।'[3]

इस स्पष्ट विचार का आधार यथार्थवाद है। पौराणिक काल में अपने इष्टदेव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने की होड़-सी लग गई थी। फलतः जितने भी महा-पुरुष हुए उनका मानवीय रूप दैवी चमत्कारों से आवृत हो गया। यह स्थिति यथार्थवाद के अनुकूल नहीं थी। आचार्य समन्तभद्र ने इस पर तीव्र प्रहार किया। उन्होंने इन चमत्कारों को महानता का मानदंड मानने से अपनी असहमति प्रकट की। उन्होंने महावीर को चमत्कारों के आवरण से निकालकर यथार्थवाद के आलोक

---

१. अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका ३१ :
यत्र तत्र समये यथा तथा, योसि सोस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवान्, एक एव भगवान्! नमोस्तु ते॥

२. अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका २९ :
न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः॥

३. लोकतत्त्व-निर्णय :
पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

में देखने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध श्लोक है—

देवागमनभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥[1]

'भगवन्! देवताओं का आना, आकाश-विहार, छत्र-चामर आदि विभूतियां ऐन्द्रजालिक व्यक्तियों के भी हो सकती है। आपके पास देवता आते थे। आप छत्र, चामर आदि अनेक यौगिक विभूतियों से सम्पन्न थे। इसलिए महान् नहीं। आप इसलिए महान हैं कि आपने सत्य को अनावृत किया था।'

आचार्य हेमचन्द्र ने भी चिन्तन की इसी धारा को विकसित किया। उन्होंने कहा—'आपके चरण कमल में इन्द्र लुठते थे, इस बात का दूसरे दार्शनिक खण्डन कर सकते हैं या अपने इष्टदेव को भी इन्द्रपूजित कह सकते हैं, किन्तु आपने जो यथार्थवाद का निरूपण किया, उसका वे निराकरण कैसे करेंगे?'[2]

प्राचीनता और नवीनता

पुरानी और नई पीढ़ी का संघर्ष वहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नए व्यक्ति और नई कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नहीं है कि वह सहज ही किसी को मान्यता दे दे। नई पीढ़ी में मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढ़ी का अपना अहं होता है, अपना मानदण्ड होता है, इसलिए वह नई पीढ़ी को नए मानदण्डों के आधार पर मान्यता देने में सकुचाती है। यह संघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म—सभी क्षेत्रों में रहा है। 'पुराना होने मात्र से सब कुछ अच्छा नहीं होता'—महाकवि कालिदास का यह स्वर दो पीढ़ियों के संघर्ष से उत्पन्न स्वर है। उनके काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानों ने उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया तब उन्हें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा—'पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नहीं होता, और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नहीं होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट बतलाते हैं और जो मूढ होता है, वह बिना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।'[3]

---

१. आप्तमीमांसा १ :

२. अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका १२ :
क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा, तवांघ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः।
इदं यथावस्थित वस्तुदेशनं, परैः कथंकारमपाकरिष्यते ॥

३. अग्निमालविका :
पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरंधर आचार्यों ने उसे मान्य नहीं किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढ़ी के तिरस्कार का पात्र बनना पड़ा। उसी मन:स्थिति में उन्होंने यह लिखा—'वायु की शान्ति के लिए तेल, पित्त की शान्ति के लिए घी और श्लेष्म की शान्ति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहे, या ब्रह्मा का पुत्र, इसमें वक्ता का क्या अन्तर आएगा? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोड़ मध्यस्थ दृष्टि का अवलंबन लें।'[1]

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस विषय में आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। उनका चिन्तन है कि कोई व्यक्ति नया नहीं है और कोई पुराना नहीं है। जिसे हम पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा। आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नई पीढ़ी के लिए पुरानों की सूची में आ जाता है। पुराणता अवस्थित नहीं है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा?'[2]

आचार्य सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की अभय की भावना को आत्मसात् कर लिया था। वे सत्य के प्रकाशन में सकुचाते नहीं थे। मुक्त-समीक्षा और प्राचीनता की युक्तिसंगत आलोचना के कारण उनका विरोध बढ़ रहा था। वे इस स्थिति से परिचित थे; किन्तु स्वतन्त्रचेता व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति से घबराता नहीं। उनका अभय स्वर इस भाषा में प्रस्फुटित हुआ—

'पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, क्या वह चिन्तन करने पर उसी रूप में सिद्ध होगी? नहीं भी हो सकती है। उस स्थिति में मृत पुरखों की जमी हुई प्रतिष्ठा के कारण उस असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। इस व्यवहार से यदि मेरे विद्वेषी बढ़ते हैं तो भले ही बढ़ें।'[3]

---

१. अष्टांगहृदय, उत्तरस्थान, अध्याय ४०, श्लोक ८६-८७ :
वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं, तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।
एतद् ब्रह्मा भाषतां ब्रह्मजो वा, का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः।
अभिधातृवशात् किं वा, द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य, माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम्।

२. द्वात्रिंशिका ६।५ :
जनोयमन्यस्य मृतः पुरातनः, पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः, पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्।

३. द्वात्रिंशिका ६।२ :
पुरातनैर्या नियता: व्यवस्थिति स्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवा'दऽहन्न जातः प्रथयन्तु विद्विषः।

'व्यवस्थाएं या मर्यादाएं अनेक प्रकार की हैं और वे परस्पर-विरोधी भी हैं। उनका शीघ्र ही निर्णय कैसे किया जा सकता है ? फिर भी यह मर्यादा है, यह नहीं है, इस प्रकार का एकपक्षीय निर्णय करना पुरातन के प्रेम से जड़ बने हुए व्यक्ति के लिए ही उचित हो सकता है, किसी परीक्षक के लिए नहीं।'[1]

'पुरातन-प्रेम के कारण आलसी बना हुआ व्यक्ति जैसे-जैसे यथार्थ का निश्चय नहीं कर पाता, वैसे-वैसे वह निश्चय किए-हुए व्यक्ति की भांति प्रसन्न होता है। वह कहता है हमारे पूर्वज ज्ञानी थे। उन्होंने जो कुछ कहा, वह मिथ्या कैसे हो सकता है। मैं मंदमति हूं। उसका आशय नहीं समझ सकता, यह मेरी अल्पता है। किन्तु गुरुजनों की कही हुई बात अन्यथा नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय करनेवाला व्यक्ति आत्म-नाश की ओर दौड़ता है।'[2]

'शास्त्रकार हमारे जैसे ही मनुष्य थे। उन्होंने मनुष्यों के लिए ही मनुष्यों के व्यवहार और आचार निश्चित किए हैं। जो लोग परीक्षा करने में आलसी हैं, वे ही यह कह सकते हैं कि उनकी थाह नहीं पायी जा सकती, उनका पार नहीं पाया जा सकता। किन्तु परीक्षक व्यक्ति उन्हें अगाध मानकर कैसे स्वीकार करेगा ? वह परीक्षापूर्वक ही उन्हें स्वीकार कर सकता है।'[3]

'एक शास्त्र असम्बद्ध और अस्तव्यस्त रचा हुआ होता है, फिर भी यह पुरातन पुरुषों के द्वारा रचित है, यह कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं। आज का बना हुआ शास्त्र संबद्ध और संगत है फिर भी नवीन होने के कारण उसे नहीं पढ़ते। यह मात्र स्मृति का मोह है, परीक्षा का विवेक नहीं है।'[4]

अल्पवया शिशु की बात युक्तियुक्त हो सकती है और पुराने पुरुषों की कही हुई बात दोषपूर्ण हो सकती है, इसलिए हमें परीक्षक बनना चाहिए। नवीनता की उपेक्षा और प्राचीनता का मोह हमारे लिए उचित नहीं है। यह विक्रम की पांचवीं शती का चिन्तन आज के वैज्ञानिक युग में और अधिक मूल्यवान् बन गया है।

---

१. द्वात्रिंशिका ६।४ :
वहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं, विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा, पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते।

२. द्वात्रिंशिका ६।६ :
विनिश्चयं नैति यदा यथाऽलसस्तथा तथा निश्चितवत् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति।

३. द्वात्रिंशिका ६।७ :
मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणै र्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम्।
अलब्धपाराण्यलसेसु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ?

४. द्वात्रिंशिका ६।८ :
यदेव किंचिद् विषमप्रकल्पितं, पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृति र्न पठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः।

काल-हेतुक अवरोध और उनके फलित

भारतीय चिन्तन का यह व्यापक रूप रहा है कि पुरातन काल सत्युग था, वर्तमान युग कलिकाल है। इसमें प्रकृष्टता निकृष्टता की ओर चली जाती है। इस चिन्तन के आधार पर भारतीय जनता का विश्वास दृढ़ हो गया है कि प्राचीन काल में जो अच्छाइयां, क्षमताएं और विशेषताएं थीं, वे इस कलिकाल में समाप्त हो चुकी हैं और रही-सही समाप्त होती जा रही हैं। इस चिन्तनधारा ने एक विचित्र प्रकार की हीन भावना उत्पन्न कर दी। लगभग पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व कुछ जैन मुनि यह मानने लगे थे कि वर्तमान में धर्म नहीं है, व्रत नहीं है और चरित्र विच्छिन्न हो गया है। वर्तमान में जो जैन शासन चल रहा है, वह ज्ञान और दर्शन के आधार पर चल रहा है। किन्तु आज कोई साधु नहीं है। प्राचीन काल में शरीर का संहनन उत्तम होता था, आज वैसा नहीं रहा। उत्तम संहनन वाले ध्यान के अधिकारी थे, अब कोई ध्यान का अधिकारी नहीं है। ध्यान विच्छिन्न हो गया। प्राचीन काल में जिनकल्प मुनि विशिष्ट साधना करते थे। अब जिनकल्प साधना का भी विच्छेद हो गया। विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान और विशिष्ट यौगिक लब्धियां भी विच्छिन्न हो गईं।[1] चिन्तन की इस धारा ने विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया। मुनिजन यह मानकर चलने लगे कि इस दुषमाकाल में विशिष्ट साधना और विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो सकती। इस धारणा का प्रभाव भी हुआ। साधना के पथ में अभिनव उन्मेष लाने की मनोवृत्ति शिथिल हो गई। जब यह मान लिया जाता है कि आज विशिष्टता उपलब्ध नहीं हो सकती फिर उसके लिए प्रयत्न करने की स्फुरणा भी नहीं रहती। कुछ मनीषी मुनियों का ध्यान इस हीनभावना की मनोवृत्ति और उसके फलितों पर गया। उन्होंने इसका प्रतिवाद किया। भाष्यकार संघदासगणी ने कहा—'जो मुनि यह कहते हैं कि वर्तमान में साधुत्व नहीं है, उन्हें श्रमण संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।' आचार्य रामसेन ने इसका सशक्त समर्थन किया कि वर्तमान में ध्यान हो सकता है। उसका विच्छेद नहीं हुआ है।[2]

कुछ विच्छित्तियों के बारे में किसी आचार्य ने कुछ नहीं कहा। यह बहुत ही विमर्शनीय है। विच्छेदों की चर्चा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के आचार्यों ने की है। तुलनात्मक दृष्टि से श्वेताम्बर आचार्यों ने अधिक की है। दिगम्बर परम्परा में ध्यान, कायोत्सर्ग और प्रतिमा के अभ्यास की परम्परा दीर्घ काल तक चली। दिगम्बर आचार्यों ने योग-विषयक अनेक ग्रंथ रचे। श्वेताम्बर परम्परा में ध्यान का अभ्यास सुदूर अतीत में ही कम हो गया था। श्वेताम्बर आचार्यों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय

---

१. व्यवहार भाष्य, १०।६९९,७००

२. तत्त्वानुशासन

यशोविजयजी आदि कुछेक विद्वान् ही योग ग्रन्थों के निर्माता हुए हैं। आचार्यश्री तुलसी ने योग पर 'मनोनुशासन' नाम का ग्रन्थ लिखा। उसके निर्माण की अवधि में उन्होंने कहा—'यौगिक उपलब्धियों के विच्छेद की बात साधक के मन में पहले से ही न विठाई जाती तो आज तक जैन परम्परा में अधिक विकास हुआ होता।'

साधना करने वाले सब व्यक्तियों का अध्यवसाय समान नहीं होता। उनकी क्षमता भी समान नहीं होती। गति में भी तारतम्य होता है। किन्तु लक्ष्य समान होता है। कौन कितना आगे बढ़ सके, यह उस पर निर्भर है। पहले ही हम उसे अवरोध पट्ट दिखा दें कि तुम इससे आगे नहीं जा सकते तो उसके चरण प्रारम्भ में ही ठिठक जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कलिकाल के निमित्त से निर्मित किए गए अवरोधों को तोड़ने के लिए महत्त्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया। उन्होंने लिखा कि—'सुषमाकाल में साधक लम्बी तपस्या के बाद फल प्राप्त करते थे। यह कलिकाल ही ऐसा है, जिसमें साधक अल्पकालीन तपस्या से ही फल प्राप्त कर लेता है। फिर कलिकाल क्या बुरा है? हमें कृतयुग से क्या प्रयोजन?'[1]

'प्रभो! सुषमा (कृतयुग) की अपेक्षा दुषमा (कलिकाल) में तुम्हारी कृपा अधिक फलवती होती है। कल्पतरु मेरु की अपेक्षा मरुभूमि में अधिक श्लाघनीय होता है।'[2]

'कल्याण-सिद्धि के लिए यह कलिकाल कसौटी है। अग्नि के बिना अगर की गंध प्रस्फुटित नहीं होती।'[3]

"मैं युग-युग तक संसार में भ्रमण कर चुका किन्तु तुम्हारा दर्शन नहीं मिला। मैं इस कलिकाल को नमस्कार करता हूं जिसमें तुम्हारे दर्शन मिले।"[4]

'लोग कहते हैं कि कलिकाल में लोग बहुत उच्छृंखल और दुष्ट होते हैं। क्या कृतयुग में ऐसे लोग नहीं थे? यह सच है कि उस युग में भी ऐसे लोग थे। फिर

---

१. वीतरागस्तव ९।१ :
यत्राल्पेनापि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते।
कलिकालः स एकस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः।

२. वही ९।२ :
सुषमातो दुःषमायां, कृपा फलवती तव।
मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाघ्या कल्पतरोः स्थितिः।

३. वही ९।३ :
कल्याणसिद्ध्यै साधीयान्, कलिरेव कषोपलः।
विनाग्निं गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते॥

४. वही ९।७ :
युगान्तरेषु भ्रान्तोस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृतः।
नमोस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत।

हम कलिकाल पर व्यर्थ ही क्यों कुपित होते हैं ?'[1]

कुछ-कुछ आचार्यों ने कालहेतुक अवरोधों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सुस्थिर हो चुके थे। उनका उन्मूलन नहीं किया जा सका।

अध्यात्म के उन्मेष

भगवान् महावीर का दर्शन आत्मा का दर्शन है। उसके आदि, मध्य और अंत में सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। उसकी गहराइयों में जाने का प्रयत्न अध्यात्म है। इस बिन्दु को आचार्य कुंदकुंद ने सर्वाधिक विकसित किया। वे जैन परम्परा में अध्यात्म के मुख्य प्रवक्ता थे। भगवान् महावीर ने मोक्ष के चार मार्ग बतलाए—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इनकी व्याख्या अनेक आचार्यों ने की। वे सब व्याख्याएं व्यवहारनय पर आश्रित हैं। व्यवहारनय स्थूल और बुद्धिगम्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। निश्चयनय का दृष्टिकोण सूक्ष्म और आत्मगम्य है। अध्यात्म का प्रवक्ता निश्चयनय का आलम्बन लेकर चलता है। आचार्य कुंदकुंद की अनेक व्याख्याएं और स्थापनाएं निश्चयनय पर अवलंबित हैं। उन्होंने निश्चयनय के आधार पर कहा—'आत्मा को जानना ही सम्यक् ज्ञान है, उसे देखना ही सम्यक् दर्शन है और उसमें रमण करना ही सम्यक् चारित्र है।'[2]

उन्होंने व्यवहारनय का अस्वीकार नहीं किया और सामाजिक जीवन में उसका अस्वीकार किया भी नहीं जा सकता। तत्त्व के गहन पर्यायों तक हर आदमी नहीं पहुंच सकता। उसकी पहुंच तत्त्व के कुछेक स्थूल पर्यायों तक होती है। उसे वास्तविक सत्य तक ले जाने के लिए स्थूल सत्य का आलम्बन लेना आवश्यक होता है। आचार्य कुंदकुंद ने इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया। एक व्यक्ति सीमान्त के प्रदेश में गया। उसे एक आदमी मिला। उसने आगन्तुक को नमस्कार किया। आगन्तुक ने उसे स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दिया। सीमान्तवासी उसे समझ नहीं सका। आगन्तुक ने सीमान्त प्रदेश की भाषा में आशीर्वाद दिया, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने स्वस्ति का अर्थ भी जान लिया। जैसे सीमान्तवासी को सीमान्त की भाषा के बिना समझाना शक्य नहीं है, वैसे ही व्यवहारदृष्टि वाले व्यक्ति को व्यवहारनय के माध्यम के बिना वास्तविक सत्य समझाना शक्य नहीं है।[3]

---

१. वीतरागस्तव ६।४ :
युगान्तरेपि चेन्नाथ ! भवन्त्युच्छृंखलाः खलाः।
वृथैव तर्हि कुप्यामः, कलये वामकेलये।

२. समयसार १६ :
दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि, अप्पाणं चेव णिच्छयदो।

३. समयसार ८ : : जह णवि सक्कमणज्जो, अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं।

व्यवहार की भूमिका पर जीनेवाले धार्मिक लोग स्वर्ग के प्रलोभन और नर्क के भय से ही धर्म की बात सोचते हैं। उनकी दृष्टि पुण्य और पाप तक पहुंचती है। परमार्थदर्शी की दृष्टि में आत्मा ही सब कुछ है। आत्मा की भूमिका में पुण्य का कोई महत्त्व नहीं है। व्यवहारदृष्टि के लोग कहते हैं कि अशुभ कर्म कुशील हैं और शुभकर्म सुशील हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द का तर्क है कि शुभ कर्म संसार में प्रवेश कराता है, फिर वह सुशील कैसे ?[1] जैसे लोहे की बेड़ी मनुष्य को बांधती है, वैसे ही सोने की बेड़ी भी बांधती है। अशुभ और शुभ दोनों ही कर्म जीव को बांधते हैं, मुमुक्षु व्यक्ति के लिए दोनों ही वांछनीय नहीं हैं।[2] परमार्थ दृष्टि (निश्चयनय) से शून्य व्यक्ति संसार और मोक्ष के हेतुओं को नहीं जानते। इसी लिए वे अज्ञानवश पुण्य की इच्छा करते हैं।[3]

विक्रम की सातवीं शताब्दी में भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने पुण्य और पाप को इसी कोण से देखा। उन्होंने सुख-दुःख की मीमांसा करते हुए लिखा—'पुण्य का फल दुःखी ही है क्योंकि वह कर्म का उदय ही है। जैसे कर्म का उदय होने के कारण पाप का फल दुःख होता है।'[3]

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में आचार्य भिक्षु ने पुण्य और पाप की निश्चय-नय से मीमांसा की। उन्होंने लिखा—पुण्य वांछनीय नहीं है। उसकी इच्छा करने से ही पाप का बंध होता है।

जैसे-जैसे न्यायशास्त्र या तर्कशास्त्र का विकास होता गया, वैसे-वैसे साम्प्रदायिक अभिनिवेश और वाद-विवाद बढ़ता गया। महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा, छल और जाति को तत्त्व रूप में स्वीकृति दी। उसका प्रयोग प्रायः सभी तार्किक करने लगे। जैन आचार्यों के सामने लोकैषणा और लोकसंग्रह का प्रश्न गौण था, अहिंसा का प्रश्न मुख्य। वे तर्क के क्षेत्र में प्रवेश करके भी अहिंसा को नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने तर्क पर अध्यात्म के अंकुश को रखना सदा पसन्द किया। आचार्य सिद्धसेन महान् तार्किक थे। उन्होंने जैन परम्परा को तार्किक दृष्टि से समृद्ध किया था। फिर भी विवाद और वितण्डा उन्हें काम्य नहीं थे। उन्होंने लिखा—'दो गांव से आनेवाले और एक मांस-पिण्ड में लुब्ध होकर परस्पर लड़नेवाले कुत्तों में भी मैत्री हो सकती है किन्तु वाद-विवाद करनेवाले दो भाइयों में मैत्री नहीं हो

---

१. समयसार १५२ : कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाँण सुहसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।

२. वही, १५३ सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।

३. वही, १६१ : परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता।

सकती।'[1] अहिंसाशून्य वाद पर उनका यह तीखा व्यंग्य है। यह व्यंग्य के लिए व्यंग्य नहीं किन्तु इसके पीछे एक सिद्धान्त है। अहिंसा या अध्यात्म के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाला इसी भाषा में सोचेगा और बोलेगा। उन्होंने अपने समय की स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'श्रेय किसी दूसरी दिशा में है और हमारे धुरंधर-वादी किसी दूसरी दिशा में जा रहे हैं। किसी भी मुनि ने वाक्-युद्ध को शिव का उपाय नहीं बतलाया है।'[2] सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलंक आदि आचार्यों ने अनेकान्त के बीज को विकसित किया वैसे ही हरिभद्रसूरी ने समाधि-योग का बीज विकसित किया। महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की प्रसिद्धि के बाद प्रत्येक दर्शन की साधना-पद्धति योग के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जैन धर्म की साधना-पद्धति का नाम मोक्षमार्ग था। हरिभद्रसूरी ने मोक्षमार्ग को योग के रूप में प्रस्तुत किया। इस विषय में योगविंशिका, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। उन्होंने योग की परिभाषा की—'धर्म की समग्र प्रवृत्ति, मोक्ष के साथ योग कराती है, इसलिए वह योग है।'[3] इसमें महर्षि पतंजलि की 'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः', गीता की 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्'—इन सब परिभाषाओं की समन्विति है। हरिभद्रसूरी महान् तार्किक प्रतिभा-संपन्न थे। फिर भी उनका मत यह था कि प्रेक्षावान् मनुष्यों को तत्त्वसिद्धि के लिए अध्यात्म-योग का ही सहारा लेना चाहिए। वाद-ग्रन्थ उनके लिए पर्याप्त नहीं है।[4]

आत्मा का अनुभव उन व्यक्तियों को होता है जो ध्यान की गहराई में उतरते हैं। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं। साधारण जन अनुगमन करता है। अनुगमन करने वालों में न अपना अनुभव होता है और न किसी सत्य का साक्षात्कार। इसलिए वे अपनी अनुभूति से नहीं चलते। वे दूसरों की अनुभूति को मानकर चलते हैं। धर्म के क्षेत्र में ऐसे लोगों की बहुलता होती है तब अध्यात्म की ज्योति वाद-विवाद की राख से ढंक जाती है। जैन आचार्यों ने समन्वय की धारा को प्रवाहित

---

१. द्वात्रिंशिका ८।१ :
ग्रामान्तरोपगतयो - रेकामिषसंगजातमत्सरयोः।
स्यात् सख्यमपि शुनो-र्भ्रात्रोरपि वादिनो र्न स्यात्॥

२. द्वात्रिंशिका ८।७ :
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥

३. योगविंशिका १ :
मोक्खेणजोयणाओ, जोगो सव्वोवि धम्मवावारो।

४. योगबिन्दु ६५ :
अतोऽत्रैव महान् यत्नः, तत् तत्तत्त्वप्रसिद्धये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो, वादग्रन्थास्त्वकारणम्॥

कर अध्यात्म की ज्योति को प्रज्ज्वलित रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। अनेकान्त की दृष्टि और स्याद्वाद की भाषा उन्हें प्राप्त थी। उन्होंने उसका उपयोग कर जनता को बताया कि अध्यात्म सबका एक है। यह दिखाई देनेवाला भेद निरूपण का है। जितने निरूपण के प्रकार हैं, उतने ही नय हैं। नय सापेक्ष होते हैं। आप एक नय को दूसरे नय से निरपेक्ष कर देखते हैं तब दोनों नयों में विरोध प्रतिभासित होता है। दो नयों को समन्वित कर देखते हैं तब वे दोनों एक-दूसरे के पूरक रूप में दिखाई देते हैं। वस्तु-जगत् में कोई असंगति नहीं है। यह असंगति एकांगी दृष्टिकोण में उत्पन्न होती है। आचार्य अकलंक ने चैतन्य और अचैतन्य का समन्वय किया। उनके मतानुसार इनमें असामंजस्य नहीं है। ये दोनों धर्म एक साथ रहते हैं। ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से आत्मा चेतन है। प्रमेयत्व आदि धर्मों की दृष्टि से वह अचेतन भी है: आत्मा केवल चैतन्य धर्म की दृष्टि से ही चेतन है। वह एक-धर्मा नहीं है, किन्तु अनन्त-धर्मा है। शेष धर्म अचेतन हैं। इसलिए वह चेतनाचेतनात्मक है।[1]

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्रसूरी देवनंदी, हेमचन्द्र, यशोविजयजी आदि मनीषियों ने सब दर्शन का समन्वय कर अध्यात्म का निर्विवाद दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने जैन-शास्त्रों में चर्चित विषयों की सांख्य, बौद्ध आदि दर्शनों से तुलना की और उनमें चर्चित विषयों की जैन दर्शन से तुलना की। आचार्य सिद्धसेन ने दर्शनों का अनेकान्त दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह मत प्रकट किया कि जिन दर्शनों को मिथ्या माना जा रहा है, वे एकांगी दृष्टि से देखने पर मिथ्या हैं। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो मिथ्या प्रतिभासित होने वाले सारे दर्शन समन्वित होकर एक सम्यक् दर्शन का निर्माण कर देते हैं। जैन दर्शन सापेक्ष-वादी दर्शन है। इस आधार पर उन्होंने एक परिभाषा निर्मित की—मिथ्यादर्शनों का समूह ही जैन दर्शन है। इस उक्ति को सामने रखकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह धारणा प्रसारित की है कि जैन दर्शन का मौलिक देय कुछ भी नहीं है। उसने दूसरे दर्शनों से उधार लेकर अपने दर्शन को प्रतिष्ठित किया है। यह सच है कि जैन आचार्यों ने दूसरे दर्शनों के उपयोगी तत्त्वों को स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि उसका कोई मौलिक आधार नहीं है। पड़ोसी दर्शन एक-दूसरे के विचारों को ग्रहण करते ही हैं। जैन आचार्यों ने अनेकान्तवादी होने के कारण दूसरे दर्शनों के दृष्टिकोण को मुक्तभाव से अपनाया। इससे उनके दर्शन की आधारहीनता प्रकट नहीं होती, उनकी समन्वय-भावना ही प्रकट होती है।

---

१. स्वरूपसम्बोधन ३:
प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैं, अचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माद्, चेतनाचेतनात्मकः॥

हरिभद्रसूरी ने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में परस्पर-विरोधी प्रतिभासित होने वाले दार्शनिक तत्त्वों का अद्भुत समन्वय किया है। उनका वह ग्रन्थ समन्वय-ग्रन्थों में अद्वितीय है। उनका निश्चित सिद्धान्त था कि अध्यात्मचेता विद्वान् के लिए कोई भी सिद्धान्त अपना या पराया नहीं होता। जो सिद्धान्त प्रत्यक्ष और अनुमान से अबाधित होता है, वही उसका अपना सिद्धान्त होता है। यह दृष्टिकोण अध्यात्म के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण उन्मेष है।

व्यवहार जगत् नाम और रूप से आक्रान्त होता है। अध्यात्म में गुण की ही प्रतिष्ठा होती है। आचार्य हेमचन्द्र ने सोमनाथ के मंदिर में शिवलिंग के समक्ष चिंतन की मुक्तधारा प्रवाहित की। उससे उनके प्रतिस्पर्धी भी नतमस्तक हो गए। उन्होंने कहा—'भवबीज के अंकुर को पैदा करने वाले राग और द्वेष क्षीण हो चुके हैं, उस वीतराग आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं, फिर उसका नाम ब्रह्मा, विष्णु, महादेव या जिन कुछ भी हो।'[1]

वीतरागता और अनेकान्त ये दोनों अध्यात्म के प्रकाशस्तम्भ हैं। वीतरागता आत्मा का शुद्ध रूप है। उसकी अनुभूति का क्षण ही आत्मोपलब्धि का क्षण है। अनेकान्त सत्य के साक्षात्कार का सशक्त माध्यम है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने संपूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा—'सब प्रतिपक्ष मेरे साक्षी हैं। मैं उनके समक्ष यह उदार घोषणा करता हूं कि वीतराग से अधिक कोई देव नहीं है और अनेकान्त के अतिरिक्त कोई नय नहीं है।'[2]

अध्यात्म के कल्पवृक्ष की शाखाएं तीन हैं—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र। ज्ञान और दर्शन का समन्वित रूप दर्शन है। चारित्र धर्म है। दर्शन और धर्म—ये दोनों शाखाएं अध्यात्म से अविच्छिन्न रहती हैं तब सत्य को अभिव्यक्ति मिलती है और वर्तमान जीवन में प्रकाश की रश्मियां फूटती हैं। जब दर्शन और धर्म अध्यात्म से विच्छिन्न हो जाते हैं तब सत्य आवृत हो जाता है और वर्तमान अंधकार से भर जाता है। पौराणिक काल में धर्म की धारणाएं बदल गईं। उसका मुख्य रूप पारलौकिक हो गया। वह वर्तमान से कटकर भविष्य से जुड़ गया। जनमानस में यह धारणा स्थिर हो गई कि धर्म से परलोक सुधरता है, स्वर्ग मिलता हैं, मोक्ष मिलता है। इस धारणा ने जनता को धर्म की वार्तमानिक उपलब्धियों से वंचित कर भविष्य के सुनहले स्वप्नों के जगत् में प्रतिष्ठित

---

१. महादेवस्तोत्र :
भवबीजांकुरजनना, रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

२. अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका २८ :
इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे।
न वीतरागात् परमस्ति दैवतं, न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥

कर दिया।

भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था—'धर्म का फल वर्तमान काल में ही होता है। जिस क्षण में उसका आचरण किया जाता है, उसी क्षण में कर्म का निरोध या क्षय होता है। धर्म का मुख्य फल यही है।' जिसके कर्म का निरोध या क्षय होता है, उसका चित्त निर्मल, वृत्तियां शान्त, इन्द्रियां प्रशान्त और व्यवहार पवित्र होता है। उसके मन में स्वर्ग का प्रलोभन और नर्क का भय जागृत ही नहीं होता। पुण्यवादी धारा के प्रवाह में यह व्याख्या अगम्य हो रही थी तब उमास्वाति ने एक नया चिंतन प्रस्तुत किया—'स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं, अतः उनके वारे में तुम्हें विचिकित्सा हो सकती है। मोक्ष का सुख उनसे भी अधिक परोक्ष है। अतः उसके विषय में भी तुम संदिग्ध हो सकते हो। किन्तु धर्म से प्राप्त होनेवाला शान्ति का सुख प्रत्यक्ष है। इसे प्राप्त करने में तुम स्वतंत्र हो। यह अर्थ-व्यय से प्राप्त नहीं होता किन्तु आत्मानुभूति में प्रवेश करने से प्राप्त होता है।'[1]

तुम कहते हो मरने के बाद मोक्ष मिलता है किन्तु यह सच नहीं है। जो वर्तमान क्षण में नहीं मिलता, वह मरने के बाद कैसे मिलेगा? यदि तुम्हें वर्तमान क्षण में मोक्ष की अनुभूति नहीं तो मरने के बाद भी मोक्ष नहीं मिल सकता। इसी जीवन में और इसी क्षण में मोक्ष हो सकता है, यह बहुत ही आश्चर्यकारी बात है। लोगों की धारणा के सर्वथा विपरीत है। किन्तु आचार्य ने बताया—'जो व्यक्ति जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य और ज्ञान के मद को निरस्त कर देता है, काम-वासना पर विजय पा लेता है, कायिक, वाचिक और मानसिक विकृतियों से शून्य हो जाता है और आकांक्षा से मुक्ति पा लेता है, उसे इसी जन्म में और इसी क्षण में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।'[2]

सामाजिक जीवन में अनैतिकता का प्रवेश आर्थिक प्रलोभन के कारण होता है। हर मनुष्य जानता है कि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है। मृत्यु के बाद क्या होगा—यह प्रश्न भी हर आदमी के सामने उभरता है। कुछ लोग पुनर्जन्म को अस्वीकार करते हैं, किन्तु बहुत लोग उसे स्वीकार करते हैं। उसे स्वीकार करनेवाले भावी जीवन को वर्तमान जीवन से उत्कृष्ट चाहते हैं। उसके

---

१. प्रशमरतिप्रकरण २३७ :
स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न च व्ययप्राप्तम्॥

२. प्रशमरतिप्रकरण, २३८ :
निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥

लिए वे धर्म की शरण में आते हैं। धर्म का मौलिक रूप है—इन्द्रिय का संयम, मन का संयम, समता का अभ्यास, विशुद्ध आचरण और अर्जित संस्कारों को क्षीण करने के लिए ज्ञानपूर्ण तप। यह मार्ग दुर्गम प्रतीत होता है। जनता को सरल मार्ग चाहिए। धर्म के प्रवक्ताओं में जैसे-जैसे लोकैषणा का भाव प्रबल हुआ, वैसे-वैसे उन्होंने धर्म को सरलता की दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया। फलतः आचार धर्म या संयम-धर्म का स्थान उपासना धर्म ने ले लिया। यह सरल होने के कारण जन साधारण को अपनी ओर अधिक आकृष्ट कर सका। भगवान् की भक्ति, नाम का जप और पूजा करने में पारलौकिक जीवन को उत्कर्ष का आश्वासन है और आचार-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि तथा इन्द्रिय-संयम के लिए किया जानेवाला तीव्र अध्यवसाय और पुरुषार्थ भी अपेक्षित नहीं है। धर्म की इस धारणा ने धार्मिकों की संख्या में बाढ़ ला दी किन्तु धर्मचेतना को सीमित कर दिया। आज यह प्रश्न पूछा जाता है कि इतने धर्मों के होने पर भी मनुष्य इतना अशान्त क्यों ? इतना क्रूर क्यों ?इतना अनैतिक क्यों ?उपासना-प्रधान धर्म के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। संयमप्रधान धर्म इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता था, किन्तु वह वर्तमान में धर्म के सिंहासन पर आसीन नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने धर्म की इसी स्थिति पर चिंतन किया और उन्होंने अनुभव की भाषा में लिखा—'वीतराग ! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारे आदेशों का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। तुम्हारे आदेशों का पालन करनेवाला सत्य को प्राप्त होता है और उनका पालन नहीं करनेवाला भटक जाता है। प्रश्न उपस्थित हुआ, वीतराग का आदेश क्या है ? आचार्य ने उत्तर दिया, उनका आदेश है संवर—मन का संवरण, वाणी का संवरण, काया का संवरण और श्वास का संवरण।'[1]

धर्म की इस धारा के विकास से धार्मिकों की संख्या सीमित हो सकती है किंतु धर्मचेतना को व्यापक होने की स्फूर्ति मिलेगी। यह रूपान्तर धर्म को अध्यात्म के कल्पवृक्ष से विच्छिन्न नहीं होने देगा और उसके सामने प्रस्तुत प्रश्नों का सक्रिय समाधान दे सकेगा।

धर्म का सूत्र

आत्मा से आत्मा को देखो—यह धर्म का सूत्र है। राजनीति का सूत्र इससे भिन्न होता है। उसका सूत्र है—दूसरों को देखो। जो आत्मा को देखता है, आत्मा

---

१. वीतरागस्तव, १९।४,५ : वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं परम् ।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ।
आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा ।
आश्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ।

की आवाज सुनता है और आत्मा की वाणी बोलता है वह धार्मिक होता है। इसीलिए उमास्वाति ने धार्मिक को दूसरों की दृष्टि से अन्ध, बधिर और मूक कहा है।[1] उपाध्याय यशोविजयजी ने इस चिन्तन को मार्मिक ढंग से विकसित किया। उन्होंने लिखा—'जो साधक आत्मा की प्रवृत्ति में जागरूक और पर-प्रवृत्तियों के लिए अंध, मूक और बधिर है, वही समत्व को प्राप्त कर सकता है।[2]' गांधीजी के तीन बंदरों के संदर्भ को इन प्राचीन उक्तियों में खोजा जा सकता है।

समता की अनुभूति का उत्स आत्म-दर्शन है। उसका आचरण आत्मदर्शी में ही प्रस्फुटित होता है। आचार्य सोमदेव समता के आचरण को सब आचरणों में श्रेष्ठ बतलाते हैं।[3] उन्होंने राजनैतिक और सामाजिक जीवन में भी समता के आचरण को प्रतिष्ठित करने की बात कही। किन्तु उसको व्यावहारिक रूप नहीं मिला।

धर्म सम्प्रदाओं में विभक्त हो चुका था। फलतः सामाजिक स्तर पर होनेवाला विकास साम्प्रदायिक स्तर पर हो नहीं सका। हर सम्प्रदाय अपनी सम्मत विधियों को समाज में लागू करना चाहता था। शैव सम्प्रदाय के उत्कर्ष-काल में जैनों और बौद्धों को शैव पद्धतियों को अपनाने के लिए बाध्य किया गया। बौद्धों ने इस स्थिति को मान्य नहीं किया। बहुत सारे जैनों ने भी उसे मान्यता नहीं दी। कुछ जैन मुनि मध्यम मार्ग के पक्ष में थे। उन्होंने समझौतावादी मनोवृत्ति अपनायी और नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उस चिन्तन के पीछे तीन दृष्टियां परिलक्षित होती हैं—

१. समन्वय की मनोवृत्ति।
२. सामाजिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त।
३. शैवों के बढ़ते हुए प्रभाव की स्थिति में जैन परम्परा को बनाए रखना।

जैन धर्म में दीक्षित व्यक्ति को समन्वय का संस्कार सहज ही मिलता है। समन्वयवादी विरोध में भी अविरोध खोजता है। अनेकान्त के अनुसार सर्वथा विरोध होता ही नहीं, इसलिए विरोध में भी अविरोध का स्रोत उपलब्ध हो जाता है।

भगवान् महावीर ने जीवन के शाश्वत मूल्यों की व्याख्या की। उन्होंने सामाजिक मूल्यों को परिवर्तनशील बताया। इसीलिए जैन धर्म में सामाजिक व्यवस्था का कोई विधान नहीं है। सामाजिक व्यवस्थाएं भिन्न-भिन्न होती हैं। किसी भी समाज-व्यवस्था को मानने वाला व्यक्ति धर्म को स्वीकार कर सकता है। उस स्थिति में समाज-व्यवस्था और धर्म को एक सूत्र में नहीं पिरोया जा सकता। कुछ

---

१. प्रशमरतिप्रकरण २३५ : स्वगुणाभ्यासरतमतेः, परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य।
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य।

२. अध्यात्मोपनिषद् ४।२ : आत्मप्रवृत्तावतिजागरूकः, परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः।
सदा चिदानंदपदोपभोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी।

३. नीतिवाक्यामृत १।५ : सर्वं सत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परममाचरणम्।

सम्प्रदाय धर्म को जाति का रूप दे रहे थे। यह संगठन के लिए उचित हो सकता है। किन्तु धर्म के लिए इसकी श्रेष्ठता नहीं साधी जा सकती। जो धर्म जाति के रूप में संगठित है, उसमें साम्प्रदायिकता, कट्टरता और आग्रह अधिक है, धर्म कम। धर्म आत्मा की पवित्र अनुभूति है, उसे व्यवस्था के स्तर पर विकसित नहीं किया जा सकता।

सोमदेवसूरि ने समन्वय की भाषा में कहा—'गृहस्थ के लिए दो धर्म होते हैं: लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित।[1] जैनों के लिए वह समग्र लौकिक व्यवस्था प्रमाण है, जिसे मान्य करने पर सम्यक्त्व की हानि और व्रत दूषित न हो।[2]

इस समन्वय की धारा के दो फलित हुए—

१. सामाजिक सामंजस्य।

२. सैद्धांतिक शैथिल्य।

शैव-सम्मत समाज-व्यवस्था को मान लेने पर सामाजिक एकता का अनुभव हुआ। उस स्थिति में जैनों पर होनेवाले प्रहार कम हो गए। उन्हें अपनी परंपरा को व्यवस्थित रखने का अवसर मिल गया। साथ-साथ कुछ मूल्य भी चुकाना पड़ा। जैन मुनि अब तक जातिवाद पर निरन्तर प्रहार कर रहे थे किन्तु वैदिक समाज-व्यवस्था के साथ जुड़ जाने पर वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को भी धीमे-धीमे मान्यता देनी पड़ी।' जैन परम्परा के हाथ से एक बड़ा क्रान्तिसूत्र छूट गया—कल तक वे जिसका खण्डन करते थे, आज उसका समर्थन करने लग गए।

साधन-शुद्धि

आध्यात्मिक जगत् का साध्य है—आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण में साध्य बन जाता है और वही उस के अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है, वह अगले क्षण के लिए साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धान्तिक रूप दिया, वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए, इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले

---

१. यशस्तिलक : द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां, लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः, परः स्यादागमाश्रयः।

२. वही : सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानि नं, यत्र न व्रतदूषणम्।

नहीं मिली। साध्य और साधन की शुद्धि का सिद्धान्त अब राजनीतिक चर्चा में भी उतर आया है।

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है संयम। वह संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति लड्डुओं के लिए तपस्या करते हैं, वे कभी भी धर्मी नहीं हैं और इस उद्देश्य से तपस्या करने वालों को जो लड्डू खिलाते हैं, वे भी धर्मी नहीं हैं।

जो साधन अच्छे नहीं होते वे साध्य का ही अन्त कर देते हैं—इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है। देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है अहिंसा। किन्तु जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है। जो हिंसा के द्वारा धर्म करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वह है जो धर्म के लिए हिंसा नहीं करता।

लोहू से लिपटा हुआ पीताम्बर लोहू से साफ नहीं होता। इसी प्रकार हिंसा से हिंसा का शोधन नहीं होता।

वर्तमान राजनीति में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं—साम्यवादी और इतर साम्यवादी। जनता का जीवन-स्तर ऊंचा करना दोनों का लक्ष्य है पर पद्धतियां दोनों की भिन्न हैं।

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है। लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनों का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए। एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है। गांधीवादी विचार यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का। लक्ष्य की पूर्ति येनकेन-प्रकारेण नहीं, किन्तु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए।

आचार्य भिक्षु के समय में भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देनेवाली मान्यता थी। उसके अनुयायी कहते थे—प्रयोजनवश धर्म के लिए भी हिंसा का अवलंबन लिया जा सकता है। एक बार थोड़ी हिंसा होती है, किन्तु आगे उससे बहुत धर्म होता है।

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—बाद में धर्म या पाप होगा, इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नहीं बनता। कार्य की कसौटी वर्तमान ही है।

जिसके मन में दया का भाव उठा, उसके लिए दया का साधन है उपदेश। और जिसके मन में दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिए दया का साधन है हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष—आत्मा का पूर्ण विकास। उसके

साधन हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि को सम्यक्दृष्टि और असंयमी को संयमी बनाना साध्य के अनुकूल है।

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन।

हृदय-परिवर्तन

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं—शक्ति, प्रभाव और सहजवृत्ति। सत्ता से शक्ति, सम्बन्ध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहजवृत्ति का उदय होता है। शक्ति राज्य-संस्था का आधार है। प्रभाव समाज-संस्था या भौतिक जीवन का आधार है। सहजवृत्ति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति से प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए। सहजवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सब लोग अहिंसक या मोक्षार्थी हो जाएं यह कल्पना ठीक है पर सबको अहिंसक या मोक्षार्थी बना देंगे, यह शक्ति का सूत्र है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि शक्ति के धागे में सबको एक साथ बांधने की क्षमता है। पर उससे व्यक्ति के स्वतंत्र मनोभाव का विकास नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी संबंधों से प्रभावित होकर जो अहिंसक बनता है, वह अहिंसा की उपासना नहीं करता। वह सम्बन्धों को बनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यों को बांधता है पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिए उसमें स्थायित्व नहीं होता।

मोहाणुओं तथा पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं उनके लिए हम अहिंसा की कल्पना ही नहीं कर सकते। शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य का भाव जागता है, वह हृदय-परिवर्तन है। हृदय वही होता है, उसकी वृत्ति बदलती है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो, किन्तु वह हृदय की पवित्रता नहीं है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है किन्तु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। बाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से है। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नहीं बच सकती।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें, यह संभव है पर वैसा

कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें यह संभव नहीं है। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है।

अहिंसा का अंकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

नैतिकता

भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए जो आचार-संहिता निर्धारित की उसमें नैतिकता का मुख्य स्थान है। गृहस्थ सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जीता है। उसका व्यवहार समाज को प्रभावित करता है। अध्यात्म वैयक्तिक है। उसका व्यवहार में पड़नेवाला प्रतिबिंब वैयक्तिक नहीं होता, वह सामाजिक हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति अपने अन्तःकरण में आध्यात्मिक रहे और व्यवहार में पूरा अधार्मिक, यह द्वैध अध्यात्म का लक्षण नहीं है। अध्यात्म आन्तरिक वस्तु है। उसे हम नहीं देख सकते। उसका दर्शन व्यवहार के माध्यम से होता है। जिस व्यक्ति का व्यवहार शुद्ध, निश्छल और करुणापूर्ण होता है, वह व्यक्ति आध्यात्मिक है। उसका व्यवहार अध्यात्म को वाह्य जगत् में प्रतिबिंबित कर देता है। किन्तु जैसे-जैसे धर्म के क्षेत्र में वहिर्मुखीभाव वढ़ता गया, वैसे-वैसे धार्मिक का व्यक्तित्व विरूप वनता गया—एक रूप धर्म की उपासना के समय का और दूसरा रूप सामाजिक व्यवहार के समय का। एक ही व्यक्ति उपासना के समय वीतराग की प्रतिमूर्ति वन जाता है और दूकान या कार्यालय में क्रूर वन जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने धर्म के क्षेत्र में पनप रही इस द्विरूपता पर चिंतन कर धर्मक्रान्ति की आवाज़ उठाई। उसकी क्रियान्विति के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उसकी पृष्ठभूमि में उनका चिंतन शाश्वत होने के साथ-साथ वहुत ही युगीन है। अनैतिकता का मूल हेतु वैषम्य है। साम्य की स्थिति का निर्माण किए विना नैतिकता को विकसित नहीं किया जा सकता।

सर्वधर्म-समभाव और शास्त्रज्ञ

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय धर्म के भिन्न-भिन्न स्वर उच्चारित कर रहे थे। धार्मिक जनता बहुत असमंजस में थी। किस स्वर में धर्म का स्पर्श है और किसमें नहीं, यह निर्णय बहुत कठिन हो रहा था। प्रत्येक स्वर की पुष्टि के लिए पुराने शास्त्रों के साक्ष्य दिए जा रहे थे। उनके समर्थन में नए शास्त्र और नए भाष्य लिखे जा रहे थे। इस शास्त्राकीर्ण धर्म में जनता का प्रवेश नहीं हो रहा था। उस स्थिति में स्याद्वाद के अनुचिंतक मनीषियों ने धर्म और शास्त्र के विषय में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उपाध्याय यशोविजयजी ने शास्त्रज्ञ की पहचान के लिए

तीन मानदण्ड प्रस्तुत किए—

१. अनेकान्त।

२. मध्यस्थभाव।

३. उपशम—कषाय की शान्ति।

'जो व्यक्ति मोक्ष को दृष्टि में रखते हुए अनेकान्त चक्षु से सब दर्शनों की तुल्यता को देखता है, वही शास्त्रज्ञ है।'[1]

मनुष्य में झुकाव की मनोवृत्ति होती है। वह अपने अनुकूल चिंतन और तर्क के प्रति झुक जाता है। झुकाव का कारण राग और द्वेष है। जिसमें राग-द्वेष के उपशमन की साधना नहीं होती, वह मध्यस्थ या तटस्थ नहीं हो सकता। मध्यस्थ भाव को प्राप्त किए बिना कोई भी व्यक्ति शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। उपाध्यायजी ने बताया—'माध्यस्थ भाव से युक्त एक पद का ज्ञान भी प्रमाण है। माध्यस्थ्य शून्य शास्त्र-कोटि भी व्यर्थ है।'[2] उनकी भाषा में मध्यस्थ भाव ही शास्त्र का अर्थ है। वह मध्यस्थ भाव से ही सही रूप में जाना जाता है।[3]

शास्त्रज्ञ लोग धर्मवाद के स्थान पर विवाद को महत्त्व दे रहे थे। उनको लक्ष्य कर कहा गया—

शमार्थं सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभिः।
स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शान्तं सदा मनः॥

'मनीषियों ने शास्त्रों का निर्माण शान्ति के लिए किया। सब शास्त्रों को जाननेवाला वही है जिसका मन शान्त है।'

धर्म के नाम पर अशान्ति को उभारने वाला शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता। जो स्वयं अशान्त है वह भी शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता।

शास्त्रीय आग्रह करने वाले चिंतन के विकास में विश्वास नहीं करते। किन्तु वास्तविकता यह है कि विचार का बीज उर्वर मस्तिष्क में विकसित होता रहता है। मैंने विचार-बीज के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। व्यापक संदर्भ में इसके शत-शत पल्लवन देखे जा सकते हैं।

---

१. अध्यात्मोपनिषद् १।७ :
तेन स्याद्वादमालम्ब्य, सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशाद् विशेषेण, यः पश्यति स शास्त्रवित्॥

२. अध्यात्मोपनिषद् १।७३ :
माध्यस्थ्यसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटि वृथैवान्या, तथा चोक्तं महात्मना॥

३. अध्यात्मोपनिषद् १।७१ :
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो, येन तच्चारु सिध्यति।
स एव धर्मवादः स्या-दन्यद् बालिशवल्गनम्॥

२

दर्शन



१

दर्शन

दर्शन की परिभाषा

यह संसार अनादि-अनन्त है। इसमें संयोग-वियोगजन्य सुख-दुःख की अविरल धारा वह रही है। उसमें गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध में निकलता है। वहां जो हेय और उपादेय की मीमांसा होती है, वही दर्शन बन जाता है[1]।

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा है। "जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।"[2]

अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सब से अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है[3]। वस्तु का अस्तित्व स्वयंजात होता है किन्तु उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। 'गुलाब का फूल लाल है'—कोई जाने या न जाने किन्तु 'गुलाब का फूल मन हरने वाला है'—यह बिना जाने नहीं होता। वह तब तक मनहर नहीं, जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। 'दूध सफेद है'—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं; किन्तु 'वह उपयोगी है'—यह मूल्य विषयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय-अप्रिय आदि मूल्यांकन पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तु-

---

१. आचरांगवृत्ति, १।१, उपोद्घात :
इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसाऽने कातिकटुकदुःखोपनिपातपीडितेन· तदपनयनाय हेयोपादेयपरिज्ञाने यत्नोविधेयः। स च न विशिष्टविवेक मृते।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, २।४।६ :
आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति

३. वही, २।४।५ :
न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति···

वृत अस्तित्व के जगत् में रहते हैं। उनका अस्तित्व-निर्णय और मूल्य-निर्णय—ये दोनों आत्मा द्वारा ज्ञात होने पर होते हैं। 'वस्तु का अस्तित्व है'—इसमें चेतना की कोई अपेक्षा नहीं किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है, तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व का निर्णय होता है। यह चेतना का साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि में उसका मूल्यांकन होता है, तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं :

१. वस्तुवृत्त विषयक निर्णय।

२. मूल्य विषयक निर्णय।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है[1]। यही तत्त्व 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा'—इस बुद्धिद्वय से मिलता है[2]। जैन दर्शन में यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। कारण यही है कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) में वही क्षम है।

एक विचार आ रहा है—दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तु-वृत्तों को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनों शाखाओं को छूता रहा है। उसने जैसे अस्तित्व-विषयक समस्या पर विचार किया है, वैसे ही अस्तित्व से सम्बन्ध रखने वाली मूल्यों की समस्या पर भी विचार किया है। ज्ञेय, हेय और उपादेय का ज्ञान उसी का फल है।

मूल्य-निर्णय की दृष्टियां

मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियां हैं :

१. सैद्धान्तिक या बौद्धिक।

२. व्यावहारिक या नैतिक।

३. आध्यात्मिक, धार्मिक या पारमार्थिक।

वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेयमात्र सत्य है। सत्य का मूल्य सैद्धान्तिक होता है। यह आत्मानुभूति से परे नहीं होता। आत्म-विकास शिव है,

---

१. ठाणं, ३। वृत्ति—
सेणं भन्ते ! सवणे किं फले ? णाण फले। सेणं भंते णाणे किं फले ? विण्णाणफले।
ज्ञानम्—श्रुतज्ञानम्, विज्ञानम्—अर्थादीनां हेयोपादेयत्वविनिश्चयः।

२. आचारांगवृत्ति, १।१।१।१ :
सा च द्विधा—ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च। तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवति—इत्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। प्रत्याख्यान-परिज्ञया च सावद्ययोगाबन्धहेतवः प्रत्याख्येयाः, इत्येवंरूपा चेति।

यह आध्यात्मिक मूल्य है। पौद्गलिक साजसज्जा सौन्दर्य है, यह व्यावहारिक मूल्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नहीं होता किन्तु आत्म-विकास होने के कारण वह शिव होता है। जो शिव नहीं होता, वह सुन्दर हो सकता है। मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियां स्थूल नियम हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तियों की जितनी अपेक्षाएं होती हैं, उतनी ही मूल्यांकन की दृष्टियां हैं। कहा भी है—

'न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।'

—प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु में नहीं। निश्चय-दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

'तानेवार्थान् द्विषतः, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा।'[1]

—एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसी में लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए ?

व्यवहार की दृष्टि में भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की दृष्टि में गीत-गान विलाप मात्र हैं, नाटक विडम्बनाएं हैं, आभूषण भार हैं और काम-भोग दुःख।[2]

सौन्दर्य की कल्पना दृश्य-वस्तु में होती है। वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—इस चतुष्टय से सम्पन्न होती है। वर्णादि चतुष्टय किसी में शुभ परिणमनवाला होता है और किसी में अशुभ परिणमनवाला। इसलिए सौन्दर्य-असौन्दर्य, अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, उपादेयता-हेयता आदि के निर्णय में वस्तु की योग्यता निमित्त बनती है। वस्तु के शुभ-अशुभ परमाणु मन के परमाणुओं को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परमाणुओं के साथ वस्तु के परमाणुओं का साम्य होता है, वह व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनों का वैषम्य हो तो आकर्षण नहीं बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि के समवाय पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति में जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है, वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। परमार्थ-दृष्टि में आत्मा ही सुन्दर है; वही अच्छी, प्रिय और उपादेय है। आत्म-व्यतिरिक्त सब वस्तु हेय हैं। इसलिए फलितार्थ होता है—'दर्शनं स्वात्मनिश्चितिः'—अपनी आत्मा का जो

---

१. प्रशमरति प्रकरण, ५२।
२. उत्तरज्झयणाणि, १३।१६ :
सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

निश्चय है, वही दर्शन है।

मूल्य के प्रत्येक निर्णय में आत्मा की सन्तुष्टि या असन्तुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा में आत्मा का सन्तोष या असन्तोष भी अशुद्ध होता है। इसलिए इस दशा में होनेवाला मूल्यांकन नितान्त बौद्धिक या नितान्त व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नहीं होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र। यह श्रद्धा, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह आत्मा की परिक्रमा किये चलती है—

'दर्शन आत्मा का निश्चय है।
बोध आत्मा का ज्ञान है।
चारित्र आत्मा में स्थिति या रमण है।'[1]
यही तत्त्व आचार्य शंकर के शब्दों में मिलता है[2]।

यह आध्यात्मिक रत्नत्रयी है। इसी के आधार पर जैन दर्शन कहता है—आस्रव हेय है और संवर उपादेय। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख हेय है और मार्ग उपादेय। वेदान्त के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेय और उपादेय की सूची लिए हुए चलते हैं।

हेय और उपादेय की जो अनुभूति है, वह दर्शन है। अगम्य को गम्य बनानेवाली विचार-पद्धति भी दर्शन है। इस परिभाषा के अनुसार महापुरुषों (आप्तजनों) की विचार-पद्धति भी दर्शन है। तत्त्व उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक है। विचार-पद्धतियों की दृष्टि से वे (दर्शन) अनेक हैं।

दर्शन की प्रणाली

दर्शन की प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व के गुणों से सम्बन्ध रखता है, इसीलिए उसे तत्त्व का विज्ञान कहना चाहिए। युक्ति विचार का विज्ञान है। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली के द्वारा पदार्थ, आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, पुद्गल, जीवन, मस्तिष्क, जगत्, ईश्वर आदि तथ्यों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है। इसीलिए एकांगी दृष्टि से दर्शन की अनेक परिभाषाएं मिलती हैं :

---

१. पंचास्तिकाय, १७०।
दर्शनं निश्चयः पुंसि, बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ।।

२. शांकर भाष्य, १।१।१ :
ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थ :
निःशेषसंसारबीजः, अविद्याधनर्थनिवर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितयव्म्।

१. जीवन की बौद्धिक मीमांसा दर्शन है।

२. जीवन की आलोचना दर्शन है।

इनमें पूर्णता नहीं किन्तु अपूर्णता में भी सत्यांश आवश्य है।

आस्तिक दर्शन की भित्ति—आत्मवाद

"अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहां से आया हूं ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं ? मैं कौन हूं ? यहां से फिर कहां जाऊंगा ?"[1]

इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता हैं। धर्म दर्शन की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्म-तत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सच्चाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

अज्ञानी क्या करेगा जब कि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता इसलिए पहले सत्य को जानो और बाद में उसे जीवन में उतारो।

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूं ? जो अमृतत्त्व का साधन हो वही मुझे बताओ।"[2] कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव ! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है।"[3] मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधन-भूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—"आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है।"[4] तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में।

---

१. आयारो, १।२ :
एवमेगेसिं णो णातं भवति—
अत्थि मे आया उववाइए,
णत्थि में आया उववाइए,
के अहं आसी ?
के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

२. येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम्।
यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।

३. उत्तरज्झयणाणि, १४।४० :
एको हु धम्मो नरदेवताणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि।

४. बृहदारण्यक उपनिषद्, २।४।५ :
आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:।

संत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

दर्शन

धर्म-मूलक दर्शन का विचार चार प्रश्नों पर चलता है :

१. वन्ध

१. बन्ध-हेतु (आस्रव)

३. मोक्ष

४. मोक्ष-हेतु (संवर-निर्जरा)

संक्षेप में तत्त्व दो हैं—आस्रव और संवर। इसीलिए काल-क्रम के प्रवाह में बार-बार यह वाणी मुखरित हुई है :

'आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥'[1]

यही तत्त्व वेदान्त में अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है :

'अविद्या बन्धहेतुः स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति वध्यते जन्तुः, न ममेति विमुच्यते ॥'

बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य और क्या हैं? यही तो हैं :

१. दुःख—हेय।

२. समुदय—हेयहेतु।

३. मार्ग—हानोपाय या मोक्ष-उपाय।

४. निरोध—हान या मोक्ष।

यही तत्त्व हमें पातञ्जल-योगसूत्र और व्यास-भाष्य में मिलता है।[2] योग-दर्शन भी यही कहता है—विवेकी के लिए यह संयोग दुःख है और दुःख हेय है।[3] त्रिविध दुःख के थपेड़ों से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु बनता है[4]।

'नृणामेकोगम्यस्त्वमसि खलु नानापथजुषाम्'—गम्य एक है, उसके मार्ग अनेक। सत्य एक है, शोध-पद्धतियां अनेक। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। सत्य-शोध की संस्थाएं, सम्प्रदाय या समाज हैं। वे धर्म नहीं हैं। सम्प्रदाय

---

१. वीतराग स्तोत्र, १९।६।

२. व्यास भाष्य, २।१५ :
यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो, रोगहेतुः आरोग्यं, भैषज्यम् इति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्-तद्यथा—संसारः संसार-हेतुः, मोक्षो, मोक्षोपाय इति।

३. योगसूत्र, २।१५।१६ :
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः हेयं दुःखमनागतम्।

४ सांख्यकारिका, १ :
दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

अनेक बन गए पर सत्य अनेक नहीं बना। सत्य शुद्ध, नित्य और शाश्वत होता है। साधन के रूप में वह है अहिंसा और साध्य के रूप में वह है मोक्ष।

दुःख से सुख की ओर

मोक्ष और क्या है? दुःख से सुख की ओर प्रस्थान और दुःख से मुक्ति। निर्जरा—आत्म-शुद्धि सुख है। पाप-कर्म दुःख है[1]। भगवान् महावीर की दृष्टि पाप के फल पर नहीं, पाप की जड़ पर प्रहार करती है। वे कहते हैं—'मूल का छेद करो। काम-भोग क्षण मात्र सुख हैं, वहुत काल तक दुख देने वाले हैं। यह संसार मोक्ष के विपक्ष है इसलिए ये सुख नहीं हैं।' 'दुख सबको अप्रिय है। संसार दुःखमय है।' जन्म दुख है, वुढ़ापा दुःख है और मृत्यु दुःख है। आत्म-विकास की जो पूर्ण दशा है, वहां न जन्म है, न मृत्यु है, न रोग है और न जरा।

मोक्ष

दर्शन का विचार जहां से चलता है और जहां रुकता है—आगे-पीछे वहीं आता है—वन्ध और मोक्ष। मोक्ष-दर्शन के विचार की यही मर्यादा है। और जो विचार होता है वह इनके परिवार के रूप में होता है। भगवान् महावीर ने दो प्रकार की प्रज्ञा वताई—'ज्ञ' और 'प्रत्याख्यान'—जानना और छोड़ना। ज्ञेय सव पदार्थ हैं। आत्मा के साथ जो विजातीय सम्वन्ध है, वह हेय है। उपादेय हेय से भिन्न कुछ भी नहीं है। आत्मा का अपना रूप सत्-चित् और आनन्दघन है। हेय नहीं छूटता तव तक वह छोड़ने-लेने की उलझन में फंसा रहता है। हेय छूटते ही यह अपने रूप में आ जाता है। फिर वाहर से न कुछ लेता है और न कुछ लेने की उसे अपेक्षा होती है।

शरीर छूट जाता है। शरीर के धर्म छूट जाते हैं। शरीर के मुख्य धर्म चार हैं:

१. आहार
२. श्वास-उच्छ्वास
३. वाणी
४. चिन्तन।

ये रहते हैं तव संसार चलता है। संसार में विचारों और सम्पर्कों का तांता जुड़ा रहता है। इसीलिए जीवन अनेक रस-वाही वन जाता है।

---

१. भगवती, ७।८:
जे निज्जिण्णे से सुहे, पावे कम्मे जेय कडे जेय कज्जइ कज्जिस्सइ-सव्वे से दुक्खे।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न है कि सत्य क्या है ? जैन आगम कहते हैं—'वही सत्य है जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है।'[1] वैदिक सिद्धान्त में भी यही लिखा है—'आत्मा जैसे गूढ़ तत्त्व का क्षीणदोषयति (वीतराग) ही साक्षात्कार करते हैं।'[2] उनकी वाणी अध्यात्मवादी के लिए प्रमाण है। क्योंकि वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते। जैसे कहा है—'असत्य बोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नहीं बोलता।'

वीतराग अन्यथाभाषी नहीं होते—यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हें पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है जो निरावरण हो। निरावरण यानी यथार्थद्रष्टा। वीतराग-वाक्य यानी यथार्थवक्तृत्व। ये दो प्रतिज्ञाएं हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाएं हैं। इन्हीं के आधार पर हमने आप्त के उपदेश को आगम-सिद्धान्त माना है।[3] फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थज्ञाता एवं यथार्थवक्ता से हमें जो कुछ मिला वही सत्य है।

स्वतन्त्र विचारकों का खयाल है कि दार्शनिक परम्परा के आधार पर ही भारत में अन्धविश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क हैं, अनुभव है, फिर वह क्यों ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यों न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—'किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण न मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी।' इस उलझन को पार करने के लिए हमें दर्शन-विकास के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

दर्शन की उत्पत्ति

वैदिकों का दर्शन-युग उपनिषद्काल से शुरू होता है। आधुनिक अन्वेषकों के मतानुसार लगभग चार हज़ार वर्ष पूर्व उपनिषदों का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिषद् का रचनाकाल ईसा से पूर्व १८८० से

---

१. भगवती :
तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं।

२. मुण्डक उपनिषद्, ३।५ :
सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ४।४ :
अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानञ्चाभिधत्ते स आप्त।

१६८० के बीच माना है। बौद्धों का दार्शनिक युग ईसा से पूर्व पांचवीं शताब्दी में शुरू होता है। जैनों के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोड़ें। यहां यह बता देना अनावश्यक न होगा कि हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्त्या वह निर्दिष्टकाल आगम प्रणयनकाल है। किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमों से हुई है, इस पर थोड़ा आगे चलकर कुछ विशद रूप में बताया जाएगा। इसलिए प्रस्तुत विषय में उस युग को दार्शनिक युग की संज्ञा दी गई है। दार्शनिक ग्रन्थों की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओं के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्रायः सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमें ऋषि उपदेश देते गए और वे उनके उपदेश 'आगम' बनते गए। अपने प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियों द्वारा उनका समर्थन किया जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी में बोलते हैं—"मैं यों कहता हूं।"[1] दार्शनिक युग में यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—"इसलिए यह यों है।" आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग में परीक्षा की और दर्शन-युग में श्रद्धा की अत्यन्त उपेक्षा नहीं हुई। हो भी नहीं सकती। इस बात की सूचना के लिए ही यहां श्रद्धा और परीक्षा के आगे प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम में प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। जहां हमें आज्ञारुचि एवं संक्षेपरुचि का दर्शन होता है, वहां विस्ताररुचि भी उपलब्ध होती है। इन रुचियों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि दर्शन-युग या आगम-युग अमुक-अमुक समय नहीं किन्तु व्यक्तियों की योग्यता है। दार्शनिक युग अर्थात् विस्तार-रुचि की योग्यतावाला व्यक्ति; आगम-युग अर्थात् आज्ञारुचि या संक्षेपरुचिवाला व्यक्ति। प्रकारान्तर से देखें तो दार्शनिक युग यानी विस्तार-रुचि, आगमिक युग यानी आज्ञारुचि। दर्शन के हेतु बतलाते हुए वैदिक ग्रन्थकारों ने लिखा है—"श्रौत वाक्य सुनना, युक्ति द्वारा उनका मनन करना, मनन के बाद सतत-चिन्तन करना—ये सब दर्शन के हेतु हैं।"[2] विस्तार-रुचि की व्याख्या में जैन सूत्र कहते हैं—"द्रव्यों के सब पर्याय प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाण और नैगम आदि नय (समीक्षक दृष्टियों) से जो जानता है, वह विस्तार-रुचि है।"[3] इसलिए

---

१. आयारो, १।११८; ४।१ आदि-आदि—
से बेमि।

२. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं, एते दर्शनहेतवः॥

३. उत्तरज्झयणाणि २८।२४ :
दव्वाणसव्वभावो, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धो।
सव्वाहि नयविहीहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो॥

यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम में दर्शन है और दर्शन में आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशद-बुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्ततः यों मान लेना भी संगत नहीं होता। चाहे कितना ही अल्पबुद्धि व्यक्ति हो, कुछ न कुछ तो उसमें परीक्षा का भाव होगा ही। दूसरी ओर विशद-बुद्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दों में श्रद्धा और युक्ति—इन दोनों के समन्वय से ही दृष्टि में पूर्णता आती है, अन्यथा सत्यदर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—इन्द्रिय विषय और अतीन्द्रिय विषय। ऐन्द्रियिक पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए आगम—ये दोनों मिल हमारी सत्योन्मुख-दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।"[1] यहां हमें अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ में लेना होगा, अन्यथा विषय की संगति नहीं होती, क्योंकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहां कि युक्ति कोई काम नहीं करती। हमारी दृष्टि के दो अंगों का आकार भावों की द्विविधता है। ज्ञेयत्व की अपेक्षा पदार्थ दो भागों में विभक्त होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है—स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य है। अभव्य जीव मोक्ष नहीं जाते किन्तु क्यों नहीं जाते, इसका युक्ति के द्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। सामान्य युक्ति में भी कहा जाता है—'स्वभावे तार्किका भग्नाः'—स्वभाव के सामने कोई प्रश्न नहीं होता। अग्नि जलती है, आकाश नहीं, यहां तर्क के लिए स्थान नहीं है।

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमें सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी सम्पूर्ण दृष्टि के लिए उपदेश और तर्कपूर्ण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता बतलायी है[2]। जहां श्रद्धा या तर्क का अतिरंजन होता है, वहां ऐकान्तिकता आ जाती है। उससे अभिनिवेश, आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि

---

१. आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये॥

२. शुक्ररहस्य, ३।१३ :
श्रवणं तु गुरोः पूर्वं, मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्, पूर्णबोधस्य कारणम्॥

"जो हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष में आगमिक है, वही स्वसिद्धान्त का जानकार है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधकहै।

आगम—तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा ऋषि या एक ही प्रकार के आगम होते तो आगमों को तर्क की कसौटी पर चढ़ने की घड़ी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि। किसकी बात मानें, किसकी नहीं, यह प्रश्न लोगों के सामने आया। धार्मिक मतवादों के इस पारस्परिक संघर्ष में दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय में ३६३ मतवादों का उल्लेख मिलता है। बाद में उनकी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तों की सचाई बनाये रखना कठिन हो गया। तब प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने तत्त्वों को व्यवस्थित करने के लिए युक्ति का सहारा लिया। 'विज्ञानमय आत्मा का श्रद्धा ही सिर है'[1]—यह सूत्र 'वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है' इससे जुड़ गया[2]। 'जो द्विज धर्म के मूल श्रुति और स्मृति का तर्कशास्त्र के सहारे अपमान करता है वह नास्तिक और वेदनिन्दक है। साधुजनों को उसे समाज से निकाल देना चाहिए[3]।' इसका स्थान गौण होता चला गया और 'जो तर्क से वेदार्थ का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं" इसका स्थान प्रमुख हो चला। आगमों की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारों ओर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'—यह उक्ति गूंजने लगी। वही धर्म सत्य माना जाने लगा, जो कष, छेद और ताप सह सके। परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति या अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नहीं रहा, वहां व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पड़ी—'युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।'

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई। 'हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त है, इसलिए सत्य है'—इसका प्राधान्य हो गया।

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् :
तस्य श्रद्धैव शिरः।

२. वैशेषिक दर्शन:
बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे।

३. मनुस्मृति, २।११ :
योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

तर्क का दुरुपयोग

ज्यों-ज्यों धार्मिकों में मत-विस्तार की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद, जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया[1]। वाद को तो प्रायः सभी दर्शनों में स्थान मिला[2]। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई, भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और शिष्य के बीच होनेवाली तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में वाद फिर भी विशुद्ध रहा। किन्तु जहां दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहां वाद अधर्मवाद से भी अधिक विकृत बन जाता। मण्डन मिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है[3]। आचार्य सिद्धसेन ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्कवाद के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस् और वाद की दिशाएं भिन्न हैं।"[4]

भारत में पारस्परिक विरोध बढ़ने में शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है। 'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्"—युधिष्ठिर के ये उद्‌गार तर्क की अस्थिरता और मतवादों की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं। मध्यस्थवृत्तिवाले आचार्य जहां तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहां शुष्क तर्कवाद के विरोधी भी थे।[5]

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करने के पूर्व हमें उन पर दृष्टि डालनी होगी,

---

१. न्यायसूत्र, १।१:
प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्प-वितण्डा-
हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः।

२. धर्मवादाष्टक,
विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया।
प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षणः।

३. शंकर दिग्विजय।

४. वादद्वात्रिंशिका, ७:
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्-संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥

५. योगदृष्टि समुच्चय, १४३-१४५:
यत्नानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभि।
अभियुक्ततरैरन्यै - रन्यथैवोपपद्यते॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः॥
न चैतदेव यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः॥

जो सत्य के दो रूप हमें इस विवरण से मिलते हैं—

१. आगम को प्रमाण माननेवालों के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह तथा जो सर्वज्ञकथित और युक्ति द्वारा समर्थित है वह सत्य है।

२. आगम को प्रमाण न माननेवालों के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है वही सत्य है।

किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहां तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करनेवालों के लिए चिन्तनीय हैं। हम तर्क की ऐकान्तिकता को दूर कर दें तो वह सत्य-संधानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु हैं। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए ह, आत्मवंचना या दूसरों को जाल में फंसाने के लिए नहीं, इसलिए दर्शन का क्षेत्र सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दों में 'सत्य ही लोक में सारभूत है'[1]। उपनिषद्कार के शब्दों में 'सत्य ही ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य हैं।'[2] 'आत्महितेच्छु पुरुष असत्य चाहे वह कहीं हो, को छोड़, सत्य को ग्रहण करे।'[3] कवि भोजयति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है।

दर्शन का मूल

तार्किक विचार-पद्धति, तत्त्वज्ञान, विचारप्रयोजकज्ञान अथवा परीक्षा-विधि का नाम दर्शन है। उसका मूल उद्‌गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाए, वह (विचार) दर्शन बन जाता है—जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन, धर्म-दर्शन आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले विचार' के अर्थ में हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

---

१. प्रश्नव्याकरण, २ :
सच्चं लोगम्मि सारभूयं।

२. केन उपनिषद् (चतुर्थ खण्ड ८) :
सत्यमायतनम्।

३. द्रव्यानुयोग तर्कणा:
एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः।
तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वयं स्वीयहिताभिलापिन्।

आगे चलकर वृहस्पति के लोकायत मत और अजितकेश-कम्बली के उच्छेद-वाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद जैसी नास्तिक विचारधाराएं सामने आयीं। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही सम्बद्ध नहीं रहा। व्यापक सन्दर्भ में दर्शन की परिभाषा हुई—

दर्शन अर्थात् विश्व की मीमांसा, अस्तित्व या नास्तित्व का विचार अथवा सत्य-शोध का साधन।

पाश्चात्य दार्शनिकों की, विशेषतः कार्ल मार्क्स की, विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिकों ने जगत् को समझने की चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाए।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनों के तत्त्वों का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने में दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिकों ने समाज पर कुछ भी विचार नहीं किया, यह तो नहीं, किन्तु धर्म-कर्म की भूमिका से हटकर उन्होंने समाज को नहीं तोला। उन्होंने अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा नहीं की, फिर भी उनका अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस रहा।

कहा भी है—

'यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥'

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नहीं रुके, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नहीं सूझी। उनका पक्ष प्रायः खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिकों का दर्शन समाज से आगे चलता है। उसका लक्ष्य है शरीरमुक्ति—पूर्ण स्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिकों का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपभोग में कोई खामी न रहे, इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ में चला, अब उसमें नहीं रहा।

हरिभद्र सूरि ने वैकल्पिक दशा में चार्वाक मत को छह दर्शनों में स्थान दिया है[१]। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आंखें मूंदने जैसा है।

दर्शन की धाराएं

दर्शनों की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एकमात्र

---

१. समाजवाद।

आत्मविचार सम्बन्धी नहीं रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलने वाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' संज्ञा रखकर चलें तो विषय के प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।

धर्म-दर्शन का उत्स आप्तवाणी (आगम) है। ठीक भी है। आधार-शून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे? सामने कोई तत्त्व नहीं तब किसकी परीक्षा करे? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वों की व्याख्या से शुरू होता है। सांख्य या जैन दर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी लें सब में स्वाभिमत तत्त्वों की ही परीक्षा है। उन्होंने अमुक-अमुक संख्याबद्ध तत्त्व क्यों माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नहीं, क्योंकि वह सत्यद्रष्टा तपस्वियों के साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नहीं, उनकी संख्या संगत है या नहीं, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिकों ने ठीक यही किया है। इसीलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है। वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप में व्यक्त करते हैं। ऋषियों के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—"अब हमारा ऋषि कौन होगा? तब देवताओं ने उन्हें तर्क नामक ऋषि प्रदान किया।[2] संक्षेप में सार इतना ही है कि ऋषियों के समय में आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव में उन्हीं की वाणी के आधार पर दर्शनशास्त्र का विकास हुआ।

जैन दर्शन की आस्तिकता

जैन दर्शन परम अस्तिवादी है। इसका प्रमाण है—अस्तिवाद के चार अंगों की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—'आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रिया वाद।'[3] भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं हैं, ऐसी संज्ञा मत रखो। किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो।"[4]

श्रद्धा और युक्ति का समन्वय

यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धालु के लिए जितना आप्तवचन है, उतना ही एक

---

१. षट्खंडागम, पृ० ७८-९।
२. निरुक्त २।१२:
मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषि भवतीति। तेभ्यं एवं तर्क-ऋषि प्रायच्छन्।
३. आयारो, १।५
—से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई।
४. सूयगडो, २।५।१२-१६।

बुद्धिवादी के लिए युक्तिवचन। इसीलिए आगम-साहित्य में अनेक स्थानों पर इसे 'नैयायिक' (न्याय-संगत) कहा गया है[1]। जैन साहित्य में मुनि-वाणी को— 'नियोगपर्यनुयोगानर्हम्' (मुनेर्वचः) नहीं कहा जाता। उसके लिए कसौटी भी मान्य है। भगवान् महावीर ने जहां श्रद्धावान् को 'मेधावी' कहा है, वहां 'मतिमन्! देख, विचार'[2]—इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने-समझने का अवसर भी दिया है। यह संकेत उत्तरवर्ती आचार्यों की वाणी में यों पुनरावर्तित हुआ—'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।'

मोक्ष-दर्शन

'एयं पासगस्स दंसणं'—यह द्रष्टा का दर्शन है।

सही अर्थ में जैन दर्शन कोई वादविवाद लेकर नहीं चलता। वह आत्ममुक्ति का मार्ग है, अपने आपकी खोज और अपने आपको पाने का रास्ता है[3]। इसका मूल मंत्र है—'सत्य की एषणा करो,'[4] 'सत्य को ग्रहण करो,'[5] 'सत्य में धैर्य रखो,'[6] 'सत्य ही लोक में सारभूत है'[7]।

जैन दर्शन का आरम्भ

यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ माना जाता है। यूनानी दार्शनिक अफलातूं प्लेटो का प्रसिद्ध वाक्य है—"दर्शन का उद्भव आश्चर्य से होता है।" पश्चिमी दर्शन का उद्गम संशय से हुआ—ऐसी मान्यता है। भारतीय दर्शन का स्रोत है—दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा[8]।

---

१. सूयगडो, २।७
२. आयारो, ३।१२; ३।८०
 मइमं पास···सड्ढी आणाए मेहावी।
३. सूयगडो २।७; उत्तरज्झयणाणि २८।२,३।
४. उत्तरज्झयणाणि ६।२ :
 अप्पणा सच्चमेसिज्जा।
५. आयारो, ३।६५
 पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।
६. वही, ३।४०:
 सच्चम्मि धिइं कुव्वहा।
७. प्रश्नव्याकरण २ संवरद्वार :
 सच्चं लोगम्मि सारभूयं।
८. (क) सांख्यकारिका १ :
 दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। 'यह संसार अध्रुव और दुःखबहुल है। वह कौन-सा कर्म है, जिसे स्वीकार कर मैं दुर्गति से बचूं, दुःख-परम्परा से मुक्ति पा सकूं।'[1] इस चिन्तन का फल है—आत्मवाद। "आत्मा की अचेतन प्रभावित दशा ही दुःख है।'[2] 'आत्मा की शुद्ध दशा ही सुख है।'[3]

कर्मवाद इसी शोध का परिणाम है। "सुचीर्ण का फल सत् होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल असत्।"[4]

'आत्मा पर नियंत्रण कर, यही दुःख-मुक्ति का उपाय है।"[5]

इस दुःख-निवृत्ति के उपाय ने क्रियावाद को जन्म दिया। इनकी शोध के साथ-साथ दूसरे अनेक तत्त्वों का विकास हुआ।

आश्चर्य और संशय भी दर्शन-विकास के निमित्त वनते हैं। जैन सूत्रों में भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम के प्रश्नोत्तर प्रचुर मात्रा में हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे, उनके कई कारण वताए हैं। उनमें दो कारण ये हैं—संशय और कुतूहल। गौतम को जब संशय और कुतूहल[6] हुआ तब वे भगवान् महावीर के पास आए और उनसे समाधान मांगा। भगवान् महावीर महावीर ने उनके प्रश्नों को समाहित किया। ये प्रश्नोत्तर जैन तत्त्वज्ञान की अमूल्य निधि हैं।

(ख) योगसूत्र २।१५-१६ :
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः, हेयं दुःखमनागतम्।
(ग) बुद्धचरित
महात्मा बुद्ध ने कपिलवस्तु राजधानी से बाहर निकलकर प्रतिज्ञा की—"जननमरणयोर-दृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।"

१. उत्तरज्झयणाणि ८।१ :
अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराये।
किं नाम होज्जतं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा॥

२. भगवती ७।८ :
पावेकम्मे जेय कडे, जेय कज्जइ, जेय कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे।

३. वही, ७।८ :
जे निज्जिण्णे से सुहे।

४. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ६ :
सुचिण्णकम्मा सुचिण्णफला, दुचिण्णकम्मा दुचिण्णफला।
(ख) बृहदारण्यक उपनिषद् ३।२।१३ :
पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा, पापः पोपेनेति।

५. आयारो, ३।६४ :
पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खापमोक्खसि।

६. भगवती १।१ :
जाय संसए, जाय कोउहल्ले।

जैन दर्शन का ध्येय

जैन दर्शन का ध्येय है—आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ स्वतन्त्र आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अनुभव करना है।

प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा, ये सर्वथा भिन्न सत्तात्मक तत्त्व नहीं हैं। अशुद्ध दशा में जो आत्मा होती है, वही शुद्ध दशा में परमात्मा बन जाती है। अशुद्ध दशा में आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत होते हैं, वे शुद्ध दशा में पूर्ण विकसित हो जाते हैं।

'सत्य की शोध' यह भी जैन दर्शन का ध्येय है किन्तु केवल सत्य की शोध ही नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सत्य सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा में परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है। मार्क्स ने जो कहा—"दार्शनिकों ने जगत् को विविध प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है किन्तु उसे बदलने का नहीं" यह सर्वांग सुन्दर नहीं है। परिवर्तन के प्रति दो दृष्टि-बिन्दु हैं—बाह्य और आन्तरिक। भारतीय दर्शन आन्तरिक परिवर्तन को मुख्य मानकर चले हैं। उनका अभिमत यह रहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन होने पर बाहरी परिवर्तन अपने आप हो जाता है। अभ्युदय उनका साध्य नहीं, वह केवल जीवन-निर्वाह का साधन मात्र रहा है। मार्क्स जैसे व्यक्ति, जो केवल बाहरी परिवर्तन को ही साध्य मानकर चले, का परिवर्तन सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। जैन दृष्टि के अनुसार बाहरी परिवर्तन से क्वचित् आन्तरिक परिवर्तन सुलभ हो सकता है किन्तु उससे आत्म-मुक्ति का द्वार नहीं खुलता, इसलिए वह मोक्ष के लिए मूल्यवान् नहीं है।

पलायनवाद

कुछ पश्चिमी विचारकों ने भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया है कि वह पलायनवादी है। कुछ वैदिक विद्वानों ने श्रमण दर्शन (जैन और बौद्ध) को इस आरोप से समारोपित किया है कि वह पलायनवादी है। मैं इस असमंजस में हूं कि इस आरोप को अस्वीकार करूं या स्वीकार? आरोप लगानेवालों का अपना दृष्टिकोण है और वह निराधार नहीं है। जीवन की तुला के दो पलड़े हैं। पश्चिमी विचारकों ने वर्तमान के पलड़े को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए भविष्य के पलड़े को अधिक मूल्य देनेवाले भारतीय दर्शन उनकी दृष्टि में पलायनवादी हैं। वैदिक विद्वानों ने गृहस्थाश्रम को अधिक मूल्य दिया है, इसलिए संन्यास को अधिक महत्त्व देनेवाले श्रमण दर्शन उनकी दृष्टि में पलायनवादी हैं।

पलायन के दो कोण हैं—निराशा और उत्कर्ष की उपलब्धि का प्रयत्न। भारतीय दर्शन निराशावादी नहीं है। वर्तमान जीवन के प्रति उनमें उत्कट आस्था है। इसके साक्ष्य हैं वे वैदिक सूक्त, जिनमें वर्तमान कामना की वेदी पर बैठा हुआ दसों उंगलियों से समृद्धि को बटोर रहा है। वैदिक ऋषि के लिए संसार असार नहीं है। उसके मन में चिरायु होने की कामना है। वह गाता है—'जीवेम शरदः शतम्'—हम सौ वर्ष तक जीएं। वह जीवन को मंगलमय जीना चाहता है, इसलिए उसकी कामना है—"श्रृणुयाम शरदः शतं, ब्रुवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतम्'—हम जीवन के अंतिम क्षण तक सुनते रहें, बोलते रहें और पराक्रम की शिखा को प्रदीप्त करते रहें। उसकी सफलता की प्रार्थना का स्वर बहुत विराट् है। वह कहता है—"मह्यं नमन्तां प्रदिशा चतस्रः'—मेरे लिए सभी दिशाएं झुक जाएं। इसकी भाषा असीम है। वह अल्प से तोष का अनुभव नहीं करता। उसका स्वर आशातीत है—"इषन्निषाण, अमुं मेइषाण सर्वं लोकं इषाण'—मेरे लिए यदि कोई कामना करते हो तो यही करो कि यह समूचा लोक मेरे वश में आ जाए, यह समूचा लोक मुझे मिल जाए।

वैदिक दर्शन के आशावादी मंच पर मैं श्रमण दर्शन को प्रस्तुत नहीं करूंगा; क्योंकि उसमें कामना का स्वर मुखर नहीं है। उसका स्वर देशातीत और कालातीत अस्तित्व को अनावृत करने की दिशा में मुखर है। वह जीवन के प्रति निराश नहीं है, किन्तु जीवन-विकास की अंतिम रेखा तक पहुंचने के लिए समर्पित है। उसका अंतिम लक्ष्य है—मोक्ष। उसका अंतिम लक्ष्य है—निर्वाण।

मोक्ष जीवन की वह अवस्था है, जहां सब बन्धन निर्बंध हो जाते हैं—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक और धार्मिक सब बन्धनों से मुक्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता।

निर्वाण जीवन की वह अवस्था है जहां दैहिक, वाचिक और मानसिक सब दोष निःशेष हो जाते हैं। जहां समग्र वासनाओं और क्लेशों की शान्ति, निरपेक्ष शान्ति प्राप्त होती है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के लिए उठा हुआ पग निराशावादी नहीं हो सकता। द्वितीय महायुद्ध के मध्य मित्रराष्ट्रों की सेना पीछे हटती जा रही थी। दर्शक उसे निराश और पराजय मान रहे थे। रणविशेषज्ञ उसे अपनी रणनीति बता रहे थे। विजय के क्षणों ने इसी बात की पुष्टि की कि वह उनकी रणनीति थी।

हमारा समूचा जीवन समरांगण है। हम जीवन-समर में आगे भी बढ़ते हैं और पीछे भी हटते हैं। पीछे हटना निराशा नहीं है, पलायन नहीं है, वह हमारी समरनीति है। 'संसार असार है'—श्रमण दर्शन ने यह उद्घोषणा की है। यह निराशा का स्वर नहीं है किन्तु भौतिकता के निर्बाध आक्रमण के सामने उनकी सामरिक व्यूह-रचना है। यह उनका पलायन नहीं है, किन्तु इन्द्रियों के उच्छृङ्खल निमंत्रण

के सामने उन्युक्त विद्रोह है।

श्रमण दार्शनिक गाता है—"जीवन की आशंसा मत करो, मृत्यु की आशंसा मत करो। वह जीवन आशंसनीय नहीं है, जो भौतिकता से आक्रान्त और ऐन्द्रियक उच्छृङ्खलता से संत्रस्त है।"

वह मृत्यु अभिलषणीय नहीं है, जो निराशा से अभिभूत और जीवन-निर्वाह की अक्षमता से संकुल है।'

'तुम वैसा जीवन जीओ, जिसमें चेतना का प्रतिबिम्ब और स्वतन्त्रता की प्रतिध्वनि हो। तुम वैसी मृत्यु से मरो, जिसकी खिड़की से जीवन की सफलता झांक रही हो और जिसे चैतसिक प्रसन्नता आप्लावित कर रही हो।'

२

विश्व-दर्शन

विश्व और दर्शन

प्रत्येक क्रिया के पीछे कर्ता का कर्तव्य होता है। यह तर्कशास्त्र का सामान्य नियम है कि कर्ता के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। व्याकरणशास्त्र के अनुसार सब कारकों में पहला कारक कर्ता होता है। कर्म, साधन आदि कारक उसके होने पर ही होते हैं, उसके अभाव में नहीं होते। व्याकरणाचार्यों ने इसी प्रधानता के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की—कर्ता स्वतन्त्र होता है और कर्म आदि कारक उसके अधीन होते हैं।

कर्ता, क्रिया और उसका परिणाम यह एक घटनाक्रम है। कुछ घटनाओं में ये तीनों हमारे सामने होते हैं। इसलिए वहां कर्तृत्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। वे घटनाएं हमारे सामने कर्तृत्व का प्रयत्न उपस्थित करती हैं, जहां परिणाम हमारे सामने होता है, किन्तु उसका कर्ता हमारे सामने नहीं होता। इसका उदाहरण हमारा विश्व है, जिसमें हम रहते हैं और जिसे निरन्तर अपनी आंखों में तैरता-डूबता देखते हैं। यह विशाल भूखण्ड किसके कुशल और सशक्त हाथों की कृति है? ये उत्तुंग शिखर वाले पर्वत किसके हाथों द्वारा निष्पन्न हुए हैं? यह आकाश किसके कौशल का परिचय दे रहा है? ये असंख्य नीहारिकाएं किसके कर्तृत्व का गीता गा रही हैं? इस चमकते हुए सूर्य और शान्ति बरसाते हुए चांद का आदि कौन है? ये भूखण्ड को आवेष्टित किए हुए समुद्र किसकी सृष्टि हैं? प्रकृति के कण-कण के भाग्यविधाता इस मनुष्य का भाग्यविधाता कौन है? ये प्रश्न शाश्वत प्रश्न हैं। ये आदिकाल से ही मनुष्य के मन में कुतूहल उत्पन्न किए हुए हैं। उन्हीं का समाधान पाने के लिए मनुष्य ने दर्शन की रेखाएं खींची हैं।

क्या हमने इन प्रश्नों का समाधान पा लिया? क्या हमारे दर्शन इन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हैं? इस प्रश्न का उत्तर हां में नहीं मिल रहा है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि हमने आलोच्य प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयत्न

किया है। हमारे दर्शन इस दिशा में आगे बढ़े हैं। किन्तु वह समाधान अंतिम है, वह समाधान सार्वजनिक है, यह कहना कठिन है।

विश्व का वर्गीकरण

अरस्तू ने विश्व का वर्गीकरण दस पदार्थों में किया। वे ये हैं :

(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) परिमाण, (४) सम्बन्ध, (५) दिशा, (६) काल, (७) आसन, (८) स्थिति, (९) कर्म, (१०) परिणाम।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छह तत्त्वों में विश्व का वर्गीकरण करते हैं।

जैन-दृष्टि से विश्व छह द्रव्यों में वर्गीकृत है। ये द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। काल के सिवाय शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेश-समूह—अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा, परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता। इसलिए वे अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डों की कल्पना की जाए तो वे असंख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य हैं। उसका शुद्ध रूप परमाणु है। वह अविभागी है। परमाणुओं में संयोजन-वियोजन स्वभाव होता है। अतः उनके स्कन्ध बनते हैं और उनका विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नहीं होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी हैं। वह धर्म द्रव्यों की तरह एक व्यक्ति नहीं, किन्तु अनन्त व्यक्तिक है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु मिले हुए होते हैं, वह स्कन्ध उतने प्रदेशों का होता है। द्व्यणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्तप्रदेशी होता है। जीव भी अनन्त व्यक्ति है। किन्तु प्रत्येक जीव असंख्य-प्रदेशी है। काल न प्रदेश है और न परमाणु। वह औपचारिक द्रव्य है। प्रदेश नहीं, इसलिए उसके अस्तिकाय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। काल वास्तविक वस्तु नहीं तब द्रव्य क्यों? इसका समाधान यह है कि वह द्रव्य की भांति उपयोगी है—व्यवहार प्रवर्तक है, इसलिए उसे द्रव्य की कोटि में रखा गया है। वह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। पांच अस्तिकाय का जो वर्तमान-रूप परिणमन है, वह नैश्चयिक है, ज्योतिष की गति के आधार पर होने वाला व्यावहारिक। अथवा वर्तमान का एक समय नैश्चयिक और भूत, भविष्य व्यावहारिक। बीता हुआ समय चला जाता है और आनेवाला समय उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ये दोनों अविद्यमान होने के कारण व्यावहारिक या औपचारिक हैं। क्षण, मुहूर्त्त, दिन-रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि सब भेद व्यावहारिक काल के होते हैं। दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। आकाश के काल्पनिक खण्ड का नाम दिग् है।

द्रव्य

भूत और भविष्य का संकलन करनेवाला (जोड़नेवाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नहीं रहता। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक वार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि वह वस्तु उससे पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। वह एक ही अवस्था में रहती आयी है या रहेगी—ऐसा नहीं होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नहीं मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी उसके मौलिक रूप और शक्ति का नाश नहीं होता।

दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है जिसमें गुण और पर्याय होते हैं। द्रव्य-शब्द की उत्पत्ति करते हुए कहा है—'अद्रुवत्, द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्'—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अवस्थाएं उसी में उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रह सकता। द्रव्य की ये दो परिभाषाएं की जा सकती हैं—

१. पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।

२. जो सत् है वह द्रव्य है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य में परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है, फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रति समय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व-परिणाम और उत्तर-परिणाम में जो समानता है वही द्रव्य है। उस रूप में द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वह अनुस्यूत रूप वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है, जैसे माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रति समय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामी-नित्य है।

परिणामी नित्यत्ववाद

परिणाम की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है:

"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥
सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः ।
द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्यवनयस्य ?" ॥ २ ॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है । यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है । सर्वथा व्यवस्थित रहना या सर्वथा नष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नहीं है । वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होनेवाला परिणाम है । द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है । इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा जिसका कथंचित् रूपान्तर होता है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है । पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है । इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है । दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक वन जाता है, जिसको हम दूसरे शब्दों में परिणामी-नित्य या कथंचित्-नित्य कहते हैं ।

आगम की भाषा में जो गुण का आश्रय और अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है । इनमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक । दोनों में समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना ।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी—गुण और क्रमभावी—पर्याय । वौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य । पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद । जैन-दर्शन इन दोनों का समन्वय कर 'परिणामी नित्यत्ववाद' स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी । इस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता । उत्पाद और विनाश के वीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—'यह वही है' का अनुभव नहीं हो सकता । यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती । इसलिए 'परिणामी नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है ।

द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापन सन् १७८९ में Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था । संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है कि इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है, उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती । न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है । साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका

रूपान्तर में परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणतः नाश हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता, वायुमण्डल के ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित होता है। यूं ही शक्कर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप में परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहां कहीं कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। घर में अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहने वाली कड़ाही में जंग लग जाता है, यह क्या है ? यहां भी जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ अपितु धातु की ऊपरी सतह, जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के संयोग से लोहे के ऑक्सी-हाइड्रेट के रूप में परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में बदल देता है। शक्ति परिमाण में परिवर्तन नहीं, गुण की अपेक्षा परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, सिर्फ ये एक-दूसरे में परिवर्तित होते हैं। जैन दर्शन में मातृपदिका का सिद्धान्त भी यही है।[1]

उत्पादध्रुवविनाशैः, परिणामः क्षणे-क्षणे।
द्रव्याणामविरोधश्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते ॥[2]

उत्पाद, ध्रुव और व्यय—द्रव्यों का यह त्रिविध लक्षण परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है—इन शब्दों में और "जिसे द्रव्य का नाश हों जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणमन मात्र है" इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तु-दृष्ट्या संसार में जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटता है और न कोई बढ़ता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि में सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओं से पट या ध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनों सापेक्ष हैं—(१) ध्रुव द्रव्य की, (२) पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। सूक्ष्म-दृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष-उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष-नाश का हेतु है। स्थूल-दृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश का हेतु है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामी नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्या-नित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामी

---

१. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।
२. द्रव्यानुयोग तर्कणा, ६।२

नित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामी-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया है।[1]

धर्म और अधर्म

जैन साहित्य में जहां धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में होता है, वहां दो द्रव्यों—धर्म—गतितत्व, अधर्म—स्थितितत्त्व के अर्थ में भी होता है। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति नहीं मानी है। वैज्ञानिकों में सब से पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन ने भी गति-तत्त्व की स्थापना करते हुए कहा है—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होताहै।" वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है।[2]

---

१. (क) पातञ्जल योग :

द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्णपिण्डः।···आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

(ख) मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ६१९ :

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्राप्तिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥२॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं, तेन सामान्यनित्यता ॥३॥

२. Hollywood R. and T. Instruction Lesson No. 2

WHAT IS ETHER ?

I am qute sure that you have heard of ETHER before now, but please do not confuse it with the liquid Ether used by surgeons, to render a paitent unconscious for an operation. If you should ask me just what the Ether is, that is, the ether that conveys electromagnetic-waves. I would answer that. I can not accurately describe it. Neither can anyone else.

जहां वैज्ञानिक अध्यापक छात्रों को इसका अर्थ समझाते हैं, वहां ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यों के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका में शब्द की गति होने में यह अभौतिक ईथर ही सहायक बनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सब धर्म की सहायता से प्रवृत्त

The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body and that through it electromagnetic-waves can be propagated.

But let us see from a practical standpoint the nature of the thing called 'ETHER'. We are all quite familiar with the existence of solids, liquids and gases. Now, suppose that inside a glass-vassel there are no solids, liquids or gases; that all of these things have been removed including the air as well.

If I were to ask you to describe the condition that now exists within the glass-vassel, you would promptly reply that nothing exists within it, that a 'Vaccum' has been created. But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'ETHER' nothing else.

So, we may say that Ether is a 'something that is not a solid, nor liquid, nor gaseous, nor anything else which can be observed by us physically. Therefore, we say that an absolute 'Vaccum' or a void does not exist any where, for we know that an absolute vaccum can not be created for Ether can not be removed.

Well, you might say, if we don't know what Ether is, how do we know it exists ?

We get our knowledge of Ether from experiments; by observing results and deducing facts. For example, if within the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of anykind reaches our ears. Therefore, we deduce that in the absence of air, sound does not exist

होते हैं। गति शब्द केवल सांकेतिक है[1]। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म-अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनपयुक्त नहीं होगा। वह इस प्रकार है :

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	एक और व्यापक	लोक प्रमाण	अनादि-अनन्त	अमूर्त	गति सहायक
अधर्म	,,	,,	,,	,,	स्थिति सहायक

धर्म-अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियां हैं— गतिस्थितिनिमित्तक द्रव्य और लोक-अलोक की विभाजक शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त—इन दो कारणों की आवश्यकता

and thus, that sound must be due to vibration in the air.

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void of air. We find that radio-signal's are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air. So we are right in deducing that elctromagnetic-waves, or Radio waves, do not depend upon air for their propagation that they are propagated through or by means of 'Something' which remained inside the glass enclosure after the air had been exhausted. This 'something' has been named 'ETHER.'

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the same time within the earth; and in the seemingly impossible small space which exists beetwen the atoms of all matter. That is to say, Ether is everywhere; and that electromagnetic wave can be prorpagated everywhere.

१. भगवती, १३।४।४८१

होती है। विश्व में जीव और पुद्गल दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनों स्वयं हैं। निमित्त कारण किसे मानें ? यह प्रश्न सामने आता है, तब हमें ऐसे द्रव्यों की आवश्यकता होती है, जो गति एवं स्थिति में सहायक बन सकें। हवा स्वयं गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है, इसलिए हमें ऐसी शक्तियों की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो, अलोक में न हो।[1] इस यौक्तिक आधार पर हमें धर्म-अधर्म की आवश्यकता का सहज बोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डाले, तब भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरि ने इसका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती।"[2]

लोक है इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्कशास्त्र का नियम है कि "जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है।"[3]

जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है और जहां केवल आकाश ही आकाश होता है, वह अलोक है। अलोक में जीव, पुद्गल नहीं होते। इसका कारण वहां धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव है। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। "आकाश लोक और अलोक दोनों में तुल्य है,[5] इसी

---

१. प्रज्ञापना, पद १, वृत्ति :
   धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।
   नालोकः कश्चित् स्यान्न च सम्मतमेतदर्थाणाम्।।१।।
   तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम्।
   एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात्।।२।।

२. वही,
   लोकालोकव्यवस्थानुपपत्तेः।

३. न्यायावतारः।
   यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः स स सविपक्षः। यथा घटोऽघट विपक्षकः। यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः।

४. लोकप्रकाश, २२८
   अलोकाभ्रन्तु भावाद्यैर्भावैः पञ्चभिरुज्झितम्।
   अनेनैव विशेषेण लोकाभ्रात् पृथगीरितम्।

५. तम्हा धम्मा धम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।
   इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ।।

लिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

गौतम ने पूछा—"भगवन्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलतीं? आंख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है[1]।"

गौतम—"भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?"

भगवान्—"गौतम! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्द बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व ही है[2]।"

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हें द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं।[3]

आकाश और दिक्

धर्म और अधर्म का अस्तित्व जैन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन द्वारा स्वीकृत नहीं है। आकाश और दिक् के बारे में भी अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नहीं मानते।

कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यों में से एक माना है।[4]

न्याय और वैशेषिक जिसका गुण शब्द है उसे आकाश और जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है उसे दिक् मानते हैं। न्यायकारिकावली के अनुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की बुद्धि का जो हेतु है वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद से उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं[5]।

---

१. भगवती १३।४

२. वही, १३।४

३. निश्चयद्वात्रिंशिका, २४ :
प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माधर्मयोः फलम्॥

४. वैशेषिक, सूत्र २।२।१०

५. न्यायकारिकावली, ४६, ४७ :
दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि, प्राच्यादि व्यपदेशभाक्।

कणाद सूत्र (२।२।१३) के अनुसार इनका भेद कार्य-विशेष से होता है। यदि वह शब्द की निष्पत्ति का कारण बनता है तो आकाश कहलाता है और यदि वह बाह्य-जगत् के अर्थों के देशस्थ होने का कारण बनता है तो दिक् कहलाता है।

अभिधम्म के अनुसार आकाश एक धातु है। आकाश-धातु का कार्य रूप-परिच्छेद (ध्ऊर्व, अधः और तिर्यक् रूपों का विभाग) करना है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसी का काल्पनिक विभाग है। आकाश का गुण शब्द नहीं है। शब्द-पुद्‌गलों के संघात और भेद का कार्य है। आकाश का गुण अवगाहन है, वह स्वयं अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यों का आलम्वन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ हैं किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश-प्रतिष्ठ होते हैं। इसीलिए उसे सव द्रव्यों का भाजन कहते हैं।[1]

गौतम ने पूछा—"भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?"

भगवान् ने कहा—गौतम! आकाश नहीं होता तो—ये जीव कहां होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहां व्याप्त होते? काल कहां वरतता? पुद्‌गल का रंगमंच कहां बनता? यह विश्व निराधार ही होता[2]।

द्रव्य-दृष्टि—आकाश अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है।

क्षेत्र-दृष्टि—आकाश अनन्त विस्तार वाला है—लोक-अलोकमय है।

काल-दृष्टि—आकाश अनादि-अनन्त है।

भाव-दृष्टि—आकाश अमूर्त है।

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशों से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्य प्रदेशात्मक वन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक-देशात्मक होती हैं। ऊर्ध्व और अधः दिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों से होता है, फिर उनमें वृद्धि नहीं होती[3]। यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाएं हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हें ताप-दिशा कहा जाता है[4]।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।९
२. भगवती, १३।४
३. आचारांग निर्युक्ति, ४२, ४४
४. वही, ४७, ४८

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुंह किये होता है वह पूर्व, उसके पृष्ठ भाग पश्चिम, दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है।[1]

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तुवृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय है। जहां इसके जीव-अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहां इसे द्रव्य भी कहा गया है। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—'उपकारकं द्रव्यम्।' वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण यह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादिरूप काल जीव-अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं की पर्याय है।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं[2]। वैदिक दर्शनों में भी काल के सम्बन्ध में—नैश्चियक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं[3]। योग, सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।[4]

कालवाद का आधार

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पांच हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व[5]। न्याय-दर्शन के अनुसार परत्व और अपरत्व आदि काल के लिंग हैं[6]। वैशेषिक—पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं।[7]

---

१. आचारांग निर्युक्ति, ५१
२. द्रव्यसंग्रहः, २२
३. (क) न्यायकारिकावली, ४५ :
   जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
   (ख) वैशेषिकदर्शन, २।२।६-१०
४. सांख्यकौमुदी, ३३
५ तत्त्वार्थसूत्र, ५।२२
६. न्यायकारिका, ४६ :
   परापरत्वधिर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः।
७. वैशेषिकसूत्र, २।२।६

एक-एक समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल के सदा होते हैं। यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।[1]

विज्ञान की दृष्टि में आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार—आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन दिशाओं—लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई में माना जाता था। आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में माना।

वस्तु का रेखागणित (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नहीं हैं।

ज्यों-ज्यों काल वीतता है त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश-सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तु-धर्म हैं।[2]

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हैं। ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध रूप में हैं, इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कन्ध हैं। इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक हैं। ये अविभागी हैं। पुद्गल विभागी हैं। उसके स्कन्ध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग हैं। परमाणु उसका अविभाज्य भाग है। दो परमाणु मिलते हैं—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। जितने परमाणु मिलते हैं उतने प्रदेशों का स्कन्ध बन जाता है। प्रदेश का अर्थ है पदार्थ के परमाणु जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धों के परमाणु जितने विभाग किये जाएं तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्य होते हैं। इसलिए आकाश को अनन्त-प्रदेशी और शेष तीनों को असंख्यप्रदेशी कहा है। देश बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं बताया जा सकता।

---

१. प्रवचनसारोद्धार, गाथा १४३ :
एगम्हि संति समये, संभव ठिइणास सण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकाल, एसहि कालाणुसब्भावो।

२. मानव की कहानी, पृ० १२२५ का संक्षेप।

अस्तिकाय के स्कन्ध, देश और प्रदेश इस प्रकार हैं :

	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असंख्य
अधर्म	एक	अनियत	असंख्य
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल	अनन्त (द्विप्रदेशी यावत् अनन्त-प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असंख्य

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्-प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का स्कन्ध या तिर्यक्-प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। कालशक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेशवाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पांचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। और ऊर्ध्व-प्रचय काल की अपेक्षा से होता है। उनके प्रदेश समूह होता है, इसलिए वे फैलते हैं और काल के निमित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का प्रचय जो है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायुनिर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल।[1]

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल-सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुनिर्वृत्ति-काल और उसके अन्त को मरण-काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखनेवाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही हैं। शेष तीनों इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-

---

१. ठाणं, ४।१३४

काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक में ही होता है, इसलिए मनुष्य-लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय-काल जीव-अजीव का पर्याय है, वह लोक-अलोक व्यापी है। उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धा-काल के हैं।[1] इसका सर्वसूक्ष्म भाग समय कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमलपत्र-भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है।

(क) एक-दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तों को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पत्ते साथ ही छिंद गए, किन्तु यह होता नहीं। जिस समय पहला पत्ता छिदा उस समय दूसरा नहीं। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमशः होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साड़ी को इतनी शीघ्रता से फाड़ डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला, किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नहीं फटते तब तक नीचे के तन्तु नहीं फट सकते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। प्रत्येक तन्तु में अनेक रूएं होते हैं। उनमें भी ऊपर का रूआं पहले छिदता है, तब कहीं उसके नीचे का रूआं छिदता है। अनन्त परमाणुओं के मिलन का नाम संघात है। अनन्त संघातों का एक समुदय और अनन्त समुदयों की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियों के संगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआं बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रूएं के छेदन में जितना समय लगता है उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग (हिस्सा) समय कहलाता है।

अविभाज्य काल	—एक समय
असंख्य समय	—एक आवलिका
२५६ आवलिका	—एक क्षुल्लक भव (सबसे छोटी आयु)
२२२३ $\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका	—एक उच्छ्वास-निःश्वास
४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास	—एक प्राण

---

१. भगवती, ११।११

७ प्राण	—एक स्तोक
७ स्तोक	—एक लव
३८½ लव	—एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव	—दो घड़ी। अथवा,
	—६५५३६ क्षुल्लक भव। या,
	—१६७७७२१६ आवलिका अथवा
	—३७७३ प्राण अथवा
	—एक मुहूर्त्त (४८ मिनट)
३० मुहूर्त्त	—एक दिन-दात (अहोरात्रि)
१५ दिन	—एक पक्ष
२ पक्ष	—एक मास
२ मास	—एक ऋतु
३ ऋतु	—एक अयन
२ अयन	—एक साल
५ साल	—एक युग
७० क्रोड़ाक्रोड़ ५६ लाख क्रोड़ वर्ष	—एक पूर्व
असंख्य वर्ष	—एक पल्योपम[1]
१० क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	—एक सागर
२० क्रोड़ाक्रोड़ सागर	—एक काल-चक्र
अनन्त काल-चक्र	—एक पुद्गल परावर्तन

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत, प्रत्युत्पन्न-वर्तमान और अनागत कहा जाता है।

पुद्गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में पुद्गल संज्ञा दी है। बौद्ध-दर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान—चेतना-सन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रों में भी

१. पल्योपम—संख्या से ऊपर का काल—असंख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआं है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को, जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असंख्य खंड कर खाम-खाम करके भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश-खण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआं खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहते हैं।

अभेदोपचार से पुद्गल युक्त आत्मा को पुद्गल कहा है।[1] किन्तु मुख्यतया पुद्गल का अर्थ है मूर्त्तिक द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं, अवयवी हैं, फिर भी इन सबकी स्थिति एक-सी नहीं। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमें संयोग और विभाग नहीं होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारों के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म, अधर्म के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते है। पुद्गल अखंड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप है विश्वव्यापी अचित महास्कन्ध।[2] इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-बड़ा, सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया इनको पौद्गलिक मानना जैन-तत्त्व-ज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचायक है।

तत्त्व-संख्या में परमाणु की स्वतन्त्र गणना नहीं है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बतलाए हैं :

१. परमाणु-पुद्गल।

२. नो परमाणु-पुद्गल-द्वयणुक आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विषय में जैन-तत्त्ववेत्ताओं ने जो विवेचना और विश्लेषणा दी है, उसमें उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कई पश्चिमी विद्वानों का ख़याल है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नहीं। यूनान में परमाणुवाद का जन्मदाता डिमोक्रिट्स हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद बहुतांश में भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिट्स के मतानुसार आत्म सूक्ष्मा परमाणुओं का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नहीं है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। विद्वानों ने माना है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैन दर्शन को मिलना चाहिए।[3] उपनिषद् में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्', किन्तु परमाणु-

---

१. भगवती, ८।१०।३६१ :
जीवेणं ! पोग्गली, पोग्गले ? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि।

२. अचित्त-महास्कन्ध—केवली समुद्घात के पांचवें समय में आत्मा से छूटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, उनको अचित्त-महास्कन्ध कहते हैं।

३. दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृ० १२९

वाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पायी जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई० पू० के जैन-सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है।[1] आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु के उपलक्षणों में संदेह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम + अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन-सूत्र-अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है :[2]

१. सूक्ष्म परमाणु।

२. व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदय से बनता है।[3] वस्तु-वृत्त्या वह स्वयं परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के बीस गुण हैं :

स्पर्श—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु, और कर्कश।

रस—आम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

---

१. भगवती, ५।७

२. अनुयोगद्वार (प्रमाणद्वार)
परमाणु दुविहे पन्नते, तंजहा—सुहुमेय ववहारियेय।

३. वही,
अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमिति समागयेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निफ्फज्जंति।

यद्यपि संस्थान—परिमंडल, वृत्त, त्र्यंश, चतुरंश आदि पुद्‌गल में ही होता है, फिर भी वह उसका गुण नहीं है।[1]

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य-रूप में निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय-दृष्टि से वैसा नहीं है। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं।[2] एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अनन्त गुण वाला परमाणु एक गुण वाला। एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन-दृष्टि-सम्मत है।

एक गुण वाला पुद्‌गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल तक रह सकता है।[3] द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु पुद्‌गलों के लिए यही नियम है। बाद में उनमें परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण विषयक नियम गन्ध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, फिर भी अमूर्त नहीं है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा) तो परमाणु को जानते ही हैं, अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी (जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है) परमाणु को जान भी सकता है, और नहीं भी। अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान वाला योगी) उसे जान सकता है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नहीं जान सकता।[4]

परमाणु-समुदय—स्कन्ध और पारमाणविक जगत्

यह दृश्य जगत्—पौद्‌गलिक जगत् परमाणु-संघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्‌गल में संघातक और विघातक—ये दोनों

---

१. भगवती, २५।३

२. ठाणं, ४।१३५ : चउविहे पोग्गलपरिणामे पन्नते, तंजहा—वण्णपरिणामे, गंधपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे।

३. भगवती, ५।७

४. वही, १८।८

शक्तियां हैं। पुद्गल शब्द में ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का मेल है।[1] परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन और मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयोग से भी। कारण कि पुद्गल की अवस्थाएं सादि-सान्त होती हैं; अनादि-अनन्त नहीं। पुद्गल में अगर वियोजक शक्ति नहीं होती तो सब अणुओं का एक पिण्ड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं कर पाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणुसमुदयजन्य है और साफ कहा जाए तो अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु-पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणु मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव में दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतुःप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं:

१. एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध।
२. दो द्विप्रदेशी स्कन्ध।
३. दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।
४. चारों पृथक्-पृथक् परमाणु।

पुदगल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।[2] द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप में अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अचरम है। यानी परमाणु संघात रूप में परिणत होकर भी पुनः परमाणु बन जाता है। इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम नहीं है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चरम भी होता है और अचरम भी।[3]

---

१. ठाणं, २।२२१-२२५:
दोहिं ठाणेहिं पोग्गला साहन्नंति, सयवा पोग्गला साहन्नंति, परेण वा पोग्गला साहन्नंति, एवं भिज्जंति, परिसडंति, परिवडंति विद्धंसंति।
२. भगवती, १४।४
३. वही, १४।४

पुद्गल की द्विविधा परिणत

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है :

१. सूक्ष्म,

२. वादर।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति में रहता है, तब तक इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श बादर परिणाम वाले चार स्कन्धों में ही होते हैं। गुरु-लघु और मृदु-कठिन—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की निवृत्ति के साथ-साथ जहां स्थूल परिणति होती है, वहां चार स्पर्श भी बढ़ जाते हैं।

पुद्गल के प्रकार

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है[१] :

१. स्कन्ध—परमाणु-प्रचय।

२. स्कन्ध-देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग।

३. स्कन्ध-प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश।

४. परमाणु—स्कन्ध से पृथक् निरंश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु में सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव और अपृथग्भाव का अन्तर है।

पुद्गल कब से और कब तक ?

प्रवाह की अपेक्षा स्कन्ध और परमाणु अनादि-अपर्यवसित है। कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा यह सादि-सपर्यवसान भी है। जैसे— परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते हैं।

परमाणु परमाणु के रूप में, स्कन्ध-स्कन्ध के रूप में रहें तो कम-से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं।[२] बाद में तो उन्हें

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३६।१०

२. भगवती, ५।८

बदलना ही पड़ता है। यह इनकी काल-सापेक्ष स्थिति है। क्षेत्र-सापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध के एक क्षेत्र में रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु के स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर परमाणु बनने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल लगता है।[1] और द्व्यणुकादि स्कन्धों के परमाणुरूप में अथवा द्व्यणुकादि स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर मूल रूप में आने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश में थे और किसी कारणवश वहां से चल पड़े, फिर उसी आकाश-प्रदेश में उत्कृष्टतः अनन्त काल के बाद और जघन्यतः एक समय के बाद ही आ पाते हैं।[2] परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नहीं है। वे एक, दो, संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में रह सकते हैं। यावत् समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं ? समूचे लोक में फैल जानेवाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

स्कन्ध—द्रव्य की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं।[3] जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, वह तत्परिमाणप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है।

क्षेत्र की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है, वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा एक गुण वाला स्कन्ध अप्रदेशी और अधिक गुणवाला सप्रदेशी होता है।

परमाणु

द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा परमाणु अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

---

१. भगवती, ५।८
२. वही, ५।८
३. वही, ५।८

परिणमन के तीन हेतु

परिणमन की अपेक्षा पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं[1] :

१. वैस्रसिक

२. प्रायोगिक।

३. मिश्र।

स्वभावत: जिनका परिणमन होता है वे वैस्रसिक, जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नहीं छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—

१. प्रायोगिक परिणाम—जीवच्छरीर।

२. मिश्र परिणाम—मृत शरीर।

३. वैस्रसिक परिणाम—उल्कापात।

इनका रूपान्तर असंख्य काल के बाद अवश्य ही होता है।

पुद्गल द्रव्य में एक ग्रहण नाम का गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थों में किसी दूसरे पदार्थ से जा मिलने की शक्ति नहीं है। पुद्गल का आपस में मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ संलग्न होता है। जीव-सम्बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप में आगे उल्लेख किया जाएगा।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग में जितने पदार्थ आते हैं, वे सब पौद्गलिक ही होते हैं, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर में प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि वे मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, साग-सब्जी और त्रस कायिक जीवों के शरीर या शरीरमुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं, जो विस्रसा-परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप में सम्बद्ध होकर प्राणियों के स्थूल शरीर के रूप में परिणत अथवा उससे मुक्त होते हैं। वैशेषिकों की तरह जैन-दर्शन में पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथग् लक्षण वाले नहीं हैं। इन सबमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये सभी गुण रहते हैं।

---

१. भगवती, ८।१

पुद्गल की गति

परमाणु स्वयं गतिशील है। वह एक क्षण में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जो असंख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं, मात्र सहायक है। गति का उपादान परमाणु स्वयं है। धर्मास्तिकाय तो उसका निमित्तमात्र है।[1]

परमाणु सैज (सकम्प) भी होता है[2] और अनेज (अकम्प) भी। कदाचित् वह चंचल होता है, कदाचित् नहीं। उसमें न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्व्यणु-स्कन्ध में कदाचित् कम्पन, कदाचित् अकम्पन होता है। वे द्व्यंश होते हैं, इसलिए उनमें देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध में कम्प-अकम्प की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है। सिर्फ देश-कम्प के एकवचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों का भेद होता है। जैसे एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है; देशों (दो) में कम्प नहीं होता। देशों (दो) में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता।

चतुःप्रदेशी स्कन्ध में देश में कम्प, देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों (दो) में अकम्प, देशों (दो) में अकम्प और देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों में अकम्प होता है।

पांच प्रदेश यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की भी यही स्थिति है।

पुद्गल के आकार-प्रकार

परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश होते हैं।

द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

समसंख्यक परमाणु-स्कन्धों की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है और विषम-संख्यक परमाणु स्कन्धों की स्थिति त्रिप्रदेशी स्कन्ध की तरह।

पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बतलाई गई है :[4]

१. द्रव्य-स्थानायु

---

१. भगवती, १६।८
२. वही, ५।७
३. वही, ५।७
४. वही, ५।७

२. क्षेत्र-स्थानायु
३. अवगाहन-स्थानायु
४. भाव-स्थानायु

१. परमाणु परमाणुरूप में और स्कन्ध स्कन्धरूप में अवस्थित हैं, वह द्रव्य-स्थानायु है।
२. जिस आकाश-प्रदेश में परमाणु या स्कन्ध अवस्थित रहते हैं, उसका नाम है क्षेत्र-स्थानायु।
३. परमाणु और स्कन्ध का नियत परिमाण में जो अवगाहन होता है, वह है अवगाहन-स्थानायु।

क्षेत्र और अवगाहन में इतना अन्तर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश प्रदेशों से है। वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाढ होता है तथा अवगाहन का सम्बन्ध पुद्गल द्रव्य से है। उनका अमुक परिमाण-क्षेत्र में प्रसरण होता है।

४. परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की परिणति को भाव-स्थानायु कहा जाता है।

परमाणुओं का श्रेणी-विभाग

परमाणुओं की आठ मुख्य वर्गणाएं हैं:

१. औदारिक वर्गणा—स्थूल पुद्गल—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर-निर्माण योग्य पुद्गल-समूह।
२. वैक्रिय वर्गणा—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएं करने में समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।
३. आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।
४. तैजस वर्गणा—विद्युत्-परमाणु-समूह।
५. कार्मण वर्गणा—जीवों की सत्-असत् क्रिया के प्रतिफल में बननेवाला पुद्गल-समूह।
६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह।
७. वचन वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।
८. मन वर्गणा—चिन्तन में सहायक बननेवाला पुद्गल-समूह।

इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अति-प्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन होता है।

वर्गणा का वर्गणान्तर के रूप में परिवर्तन होना भी जैन-दृष्टि-सम्मत है।

पहली चार वर्गणाएं अष्टस्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्गणाएं चतुःस्पर्शी—सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं।

गुरु, लघु, मृदु, कठिन—ये चार स्पर्श नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतुः-स्पर्शी और अष्टस्पर्शी दोनों प्रकार की होती हैं।[1]

परमाणु-स्कन्ध की अवस्था

परमाणु स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं, तब उनकी दस अवस्थाएं (कार्य) उपलब्ध होती हैं :[2]

१. शब्द
२. बन्ध
३. सौक्ष्म्य
४. स्थौल्य
५. संस्थान
६. भेद
७. तम
८. छाया
९. आतप
१०. उद्योत

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं :

१. प्रायोगिक—जीव के प्रयोग से होनेवाले।
२. मिश्र—जीव के प्रयत्न और स्वभाव—दोनों के संयोग से होनेवाले।
३. वैस्रसिक—जीव के स्वभाव से होनेवाले।

शब्द

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति, शीघ्रगति, लोक-व्यापित्व, स्थायित्व आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है।[3] तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है[4]। यह विवेचन उस समय का है जबकि 'रेडियो', 'वायरलेस' आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र में लोकव्यापी बन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

---

१. भगवती, २।१
२. उत्तरज्झयणाणि, २८।१२
३. देखें—प्रज्ञापना, पद ११।
४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

शब्द पुद्गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा-शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर-रहित), नो-भाषा-शब्द (आतोद्य शब्द और नो-आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद हैं।

वक्ता बोलने के पूर्व भाषा-परमाणुओं को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और अन्त में उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मंद है तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर 'जल-तरंग-न्याय' से असंख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर दूसरे असंख्य स्कन्धों को ग्रहण करते-करते अति सूक्ष्म काल में लोकान्त तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों—आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियां वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊंची और नीची—छहों दिशाओं में हैं।

हम शब्द की सम-श्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द-द्रव्यों और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यों को सुनते हैं।

यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं।[1]

बन्ध

अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है, उसे बन्ध कहा जाता है। संयोग में केवल अन्तर-रहित अवस्थान होता है किन्तु बन्ध में एकत्व होता है।

बन्ध के दो प्रकार हैं :

१. वैस्रसिक—स्वभाव-जन्य बन्ध।
२. प्रायोगिक—प्रयोग-जन्य बन्ध।

वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि—दोनों प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्गलों का होता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं वह सादि बन्ध है। उसकी प्रक्रिया यह है :

स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता। चिकने और रूखे परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है।

विशेष नियम यह है :

१. जघन्य अंश वाले चिकने और रूखे परमाणु मिलकर स्कन्ध नहीं बना

---

१. प्रज्ञापना, पद ११।

सकते।

२. समान अंश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हों—केवल चिकने हों या केवल रूखे हों—मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

३. स्निग्धता या रूक्षता दो अंश या तीन अंश आदि अधिक हों तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया में श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में कुछ मतभेद है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

१. जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है।

२. सदृश परमाणुओं में तीन-चार आदि अंश अधिक होने पर भी स्कन्ध होना माना जाता है।

३. दो अंश आदि अधिक हों तो बन्ध होता है—यह सदृश परमाणुओं के लिए ही है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार :

१. एक जघन्य अंश वाले परमाणु का दूसरे अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता।

२. सदृश परमाणुओं में केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है।

३. दो अंश अधिक होने का विधान सदृश-सदृश की तरह असदृश-असदृश परमाणुओं के लिए भी है[२]।

श्वेताम्बर-ग्रन्थ तत्त्वार्थ भाषानुसारिणी टीका के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य जघन्य	नहीं	नहीं
२. जघन्य ऐकाधिक	नहीं	है
३. जघन्य द्व्याधिक	है	है
४. जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है
५. जघन्येतर समजघन्येतर	नहीं	नहीं
६. जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७. जघन्येतर द्व्याधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर अधिक जघन्येतर	है	है

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५।३४, ३५
२. वही, ५।३५

दिगम्बर-ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य जघन्य	नहीं	नहीं
२. जघन्य एकाधिक	नहीं	नहीं
३. जघन्य द्वयाधिक	नहीं	नहीं
४. जघन्य त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५. जघन्येतर समजघन्येतर	नहीं	नहीं
६. जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७. जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

वन्ध-काल में अधिक अंश वाले परमाणु हीन-अंश वाले परमाणुओं को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूखा परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने में मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्ध को अपने में मिला लेता है। कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश-रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु समांश-स्निग्ध परमाणुओं को भी अपने-अपने रूप में परिणत कर लेते हैं।[1]

दिगम्बर-परम्परा को यह समांश-परिणति मान्य नहीं है।[2]

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्म हैं और अचित्त-महास्कन्ध स्थूल हैं। इनके मध्यवर्त्ती सौक्ष्म्य और स्थौल्य आपेक्षिक हैं—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागों में विभक्त करते हैं :

१. बादर-बादर—पत्थर आदि जो विभक्त होकर स्वयं न जुड़े।
२. बादर—प्रवाही पदार्थ जो विभक्त होकर स्वयं मिल जाएं।
३. सूक्ष्म-बादर—धूम आदि जो स्थूल भासित होने पर भी अविभाज्य हैं।
४. बादर-सूक्ष्म—रस आदि जो सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रिय-गम्य हैं।
५. सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा आदि जो इन्द्रियातीत हैं।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५।३६
२. वही, ५।३६।

६. सूक्ष्म-सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा से भी अत्यन्त सूक्ष्म-स्कन्ध।

छाया

यह अपारदर्शक और पारदर्शक—दोनों प्रकार की होती है।

आतप

यह उष्ण प्रकाश का ताप-किरण है। यह स्वयं ठंडा होता है किन्तु इसकी प्रभा गरम होती है।

उद्योत

यह शीत प्रकाश का ताप-किरण है। यह स्वयं ठंडा होता है और इसकी प्रभा भी ठंडी होती है।

अग्नि आतप से भिन्न है। यह स्वयं गरम होती है और इसकी प्रभा भी गरम होती है।

प्रतिबिम्ब

गौतम ने पूछा—भगवन्! कांच में देखनेवाला व्यक्ति क्या कांच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है? वह क्या देखता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! काच में देखने वाला व्यक्ति कांच को नहीं देखता—वह स्पष्ट है। अपने शरीर को भी नहीं देखता—वह उसमें नहीं है। वह अपने रीर का प्रतिबिम्ब देखता है[1]।

प्रतिबि -प्रक्रिया और उसका दर्शन

पौद लिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होनेवाली सभी वस्तुएं स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुएं चयापचय धर्मक (घट-बढ़ जानेवाली) होती हैं। इनमें से रश्मियां निकलती हैं—वस्तु आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं और वे भास्कर या अभास्कर वस्तुओं में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। अभास्कर वस्तु में पड़नेवाली छाया दिन में श्याम और रात को काली होती है। भास्कर वस्तुओं में पड़नेवाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है।[2] आदर्श

---

१. प्रज्ञापना, पद १५

२. वही, पद १५, वृत्ति—

भासा उ दिवा छाया, अभासुरगतानिसितु कालाभा।
साचेव भासुरगया, सदेहवन्ना मुणेयव्वो॥
जे ग्रादरिसं तत्तो, देहावयवा हवंति संकंता।
तेसिं तत्थुवलद्धी पगासयोगा न इयरेसिं॥

में जो शरीर के अवयव संक्रान्त होते हैं वे प्रकाश के द्वारा वहां दृष्टिगत होते हैं। इसलिए आदर्शद्रष्टा व्यक्ति आदर्श में न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपना प्रतिबिम्ब देखता है।

प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—ये छह जीव की मुख्य क्रियाएं हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल वोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रियां, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण में मन-वर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतियां बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियां बाहर निकलती रहती हैं और नई-नई आकृतियां बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियां आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्य काल तक परिवर्तित नहीं भी होतीं। इन मन-वर्गणा के स्कन्धों का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएं पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन-सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु की संयोगकृत दशाओं का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानांग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-षट्त्रिंशिका' आदि परमाणुविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणुविषयक स्वतन्त्र अन्वेषणा का मूर्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के विचित्र वर्णन इनमें भरे पड़े हैं। भारतीय वैज्ञानिक जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

एक अद्रव्य—नेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यों की दृष्टि से सब द्रव्यों की स्थिति एक नहीं है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं। धर्म-अधर्म समूचे लोक में व्याप्त है। आकाश लोक-अलोक दोनों में व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक-द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य सांख्य-सम्मत प्रकृति की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं।[1] जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं,

१. सांख्यकौमुदी, १—अजामेकाम्।

अनन्त हैं। काल के भी समय अनन्त हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक या अनन्त।[2] कई ग्रन्थकारों ने काल के असंख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नहीं। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य मानें तब तो द्रव्यसंख्या में विरोध आता है और यदि उन्हें एक समुदय के रूप में मानें तो अस्तिकाय की संख्या में विरोध आता है। इसलिए कालाणु असंख्य हैं और वे समूचे लोकाकाश में फैले हुए हैं, यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

सादृश्य-वैसदृश्य

विशेष गुण की अपेक्षा पांचों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश हैं। अचैतन्य की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरु-लघुत्व की अपेक्षा सभी द्रव्य सदृश हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५।४०: सोऽनन्तसमयः।

२. उत्तरज्झयणाणि, २८।८:

धम्मं अहम्मं आगासं, दव्वं एक्केक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पोग्गल जन्तवो।

३

लोकवाद

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान् महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुके थे। वह मृदु-मार्दव सम्पन्न अनगार भगवान् के पास रहता; ध्यान, संयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की बात है वह भगवान् के पास आया, वन्दना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए बोला—

"भन्ते ! पहले लोक हुआ और फिर अलोक ? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक ?"

भगवान्—रोह ! लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादिकाल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नहीं है।

रोह—भन्ते ! पहले अजीव हुए और फिर जीव ? अथवा पहले जीव हुए और फिर अजीव ?

भगवान्—रोह ! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत हैं, इनमें भी पौर्वापर्य नहीं है।

रोह—(१) भन्ते ! पहले भव्य हुए और फिर अभव्य ? अथवा पहले अभव्य हुए और फिर भव्य ?

२. भन्ते ! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई और फिर असिद्धि (संसार) ? अथवा पहले असिद्धि और फिर सिद्धि ?

३. भन्ते ! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए और फिर असिद्ध (संसारी) ? अथवा पहले असिद्ध हुए और फिर सिद्ध ?

भगवान्—रोह ! ये सभी शाश्वत भाव हैं।

रोह—भन्ते ! पहले मुर्गी हुई और फिर अंडा हुआ ? अथवा पहले अंडा हुआ और फिर मुर्गी ?

भगवान्—अंडा किससे पैदा हुआ ?

रोह— भन्ते ! मुर्गी से।

भगवान्—रोह ! मुर्गी किससे पैदा हुई ?

रोह—भन्ते ! अण्डे से।

भगवान्—इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी हैं और पीछे भी हैं। दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नहीं है।[1]

लोक-अलोक

जहां हम रह रहे हैं वह क्या है ? यह जिज्ञासा सहज ही हो आती है। उत्तर होता है—लोक है। लोक अलोक के बिना नहीं होता, इसलिए अलोक भी है। अलोक से हमारा कोई लगाव नहीं। वह सिर्फ आकाश ही आकाश है।[2] इसके अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं है। हमारी क्रिया की अभिव्यक्ति, गति, स्थिति और परिणति पदार्थ-सापेक्ष है। ये वहीं होती हैं, जहां आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छहों द्रव्य की सहस्थिति है, वह लोक है।[3] पंचास्तिकायों का जो सहावस्थान है वह लोक है।[4] संक्षेप में जीव और अजीव की सहस्थिति है, वह लोक है।[5]

लोक-अलोक का विभाजक-तत्त्व

लोक-अलोक का स्वरूप समझने के बाद हमें उनके विभाजक-तत्त्व की समीक्षा करनी होगी। उनका विभाग शाश्वत है। इसलिए विभाजक-तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं होता। शाश्वतिक पदार्थ इन छहों द्रव्यों के अतिरिक्त और हैं नहीं। आकाश स्वयं विभाज्यमान है, इसलिए वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। काल परिणमन का हेतु है। उसमें आकाश को दिग्रूप करने की क्षमता नहीं। व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता। नैश्चयिक काल लोक-अलोक—दोनों में मिलता है। काल वास्तविक तत्त्व नहीं है। व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र

१. भगवती, १।६
२. जैन सिद्धान्त दीपिका, १।१३
३. वही, १।८
४. भगवती, १३।४
५. उत्तरज्झयणाणि, ३६।२

की गतिक्रिया से होनेवाला समय-विभाग है। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिणाम वाले तत्त्व हैं। लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए। इसलिए ये भी उसके लिए योग्य नहीं बनते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। बस ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश-खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त बनते हैं। ये जहां तक हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति होती है। उससे आगे उन्हें गति, स्थिति का सहाय्य नहीं मिलता, इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते। गति के विना स्थिति का प्रश्न ही क्या ? इससे उनकी नियामकता और अधिक पुष्ट हो जाती है।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म और अधर्म ससीम हैं—चौदह रज्जू परिमाण परिमित हैं। इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त—असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। भौतिक विज्ञान के उद्भट पंडित अलबर्ट आइन्स्टीन ने लोक-अलोक का जो स्वरूप माना है, वह जैन-दृष्टि से पूर्ण सामंजस्य रखता है। उन्होंने लिखा है कि—"लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के वाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का (द्रव्य का) अभाव है, जो गति में सहायक होता है।

स्कन्धक संन्यासी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि क्षेत्र—लोक सान्त है (सीमित है)। धर्मास्तिकाय, जो गति में सहायक होता है, वह लोक-प्रमाण है। इसीलिए लोक के वाहर कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता।

लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकारवाला है। तीन शरावों में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोलवाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता है। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और

मध्य लोक।[1] लोक चौदह रज्जू लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात रज्जू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जू से अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक—इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न आकृतियां बनती हैं।[2] धर्म और अधर्म कहीं विस्तृत है और कहीं संकुचित। वे नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त हैं अतः अधोलोक का आकार औंधे किये हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उसका आकार विना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए ऊर्ध्व लोक का आकार ऊर्ध्व-मुख मृदंग जैसा होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं, इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात रज्जू की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक।[3] द्रव्य-लोक पंचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सांत है।[4] लोक की परिधि असंख्य योजन कोड़ाकोड़ी की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सांत हैं।[5]

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो० आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाशवर्ष माना है। "एक प्रकाशवर्ष उस दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड से हिसाव से एक वर्ष में तय करती है।"

भगवान् महावीर ने देवताओं की 'शीघ्रगति'[6] की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे—छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊंची और नीची) में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हज़ार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा···उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके वाद हज़ार वर्ष की आयु वाले उसके वेटे-पोते हुए।

---

१. भगवती, ११।१०
२. वही, ११।६
३. वही, ११।१०
४. वही, २।१
५. वही, २।१
६. एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़ा है—एक लाख योजन की ऊंचाई में खड़ा है। नीचे चारों दिशाओं में चार दिक्-कुमारिकाएं हाथ में बलिपिण्ड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिण्ड को एक साथ फेंकती हैं। उस समय वह देवता दौड़ता है। चारों बलिपिण्डों को ज़मीन पर गिरने से पहले हाथ में ले लेता है। इस गति का नाम 'शीघ्रगति' है।

इस प्रकार सात पीढ़ियां बीत गईं। उनके नाम, गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुंचे। हां, वे चलते-चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात् गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो।[1]

लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में सदा रहेगा—इसलिए काल-लोक अनन्त है। लोक में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की पर्याएं अनन्त हैं तथा बादर-स्कन्धों की गुरु-लघु पर्याएं, सूक्ष्म स्कन्धों और अमूर्त द्रव्यों की अगुरु-लघु पर्याएं अनन्त हैं। इसलिए भाव-लोक अनन्त है।

लोक-अलोक का पौर्वापर्य

आर्य रोह ने पूछा—भगवन् ! पहले लोक और फिर अलोक बना ? अथवा पहले अलोक और फिर लोक बना ?

भगवान् ने कहा—रोह ! ये दोनों शाश्वत हैं। इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं है।[2]

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—भंते ! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं :

१. वायु आकाश पर टिकी हुई है।
२. समुद्र वायु पर टिका हुआ है।
३. पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।
४. त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।
५. अजीव जीव के आश्रित हैं।
६. सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।
७. अजीव जीवों द्वारा संगृहीत है।
८. जीव कर्म-संगृहीत हैं।[3]

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधार-आधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव

---

१. भगवती, २।१ : कालतो लोए अणंते, भावतो लोए अणंते।
२. भगवती, १।६
३. वही, १।६

(पुद्गल) में आधार-आधेय भाव और संग्राह्य-सग्राहक भाव—ये दोनों हैं। जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव उसका आधेय।

जीव अजीव (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का संग्राहक है। कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बंधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएं हैं, वे जीव और पुद्गल के संयोग से होती हैं। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, वह सब इन्हीं की संयोग-दशा का परिणाम है। जीव और पुद्गल के सिवाय दूसरे द्रव्यों का आपस में संग्राह्य-संग्राहक भाव नहीं है।

लोक-स्थिति में जीव और पुद्गल का संग्राह्य-संग्राहक भाव माना गया है। यह परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ है—उत्पाद और विनाश।

प्रस्तुत विषय की चर्चा उपनिषद् में भी मिलती है :

गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—याज्ञवल्क्य ! यह विश्व जल में ओत-प्रोत है, परन्तु जल किसमें ओत-प्रोत है ?

—वायु में, गार्गी ?

—वायु किसमें ओत-प्रोत है ?

—अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष गन्धर्व-लोक में, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक में, नक्षत्र-लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत है।

—ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्य ?

—यह अति-प्रश्न है, गार्गी ! तू यह प्रश्न मत कर अन्यथा तेरा सिर कटकर गिर पड़ेगा।[1]

सृष्टिवाद

सापेक्षदृष्टि के अनुसार विश्व अनादि-अनन्त और सादि-सान्त है, द्रव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा सादि-सान्त। लोक में दो द्रव्य हैं—चेतन और अचेतन। दोनों अनादि हैं, शाश्वत हैं। इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-आनुपूर्वी) सम्बन्ध नहीं है। पहले जीव और बाद में अजीव अथवा पहले अजीव और बाद में जीव—ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। अण्डा मुर्गी से पैदा होता है और मुर्गी अण्डे से पैदा होती है। बीज वृक्ष से पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३।६।१

है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी, अनुक्रम सम्बन्ध से रहित शाश्वतभाव हैं। इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नहीं निकाला जा सकता। यह ध्रुव अंश की चर्चा है। परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी। स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों में प्रतिक्षण होता है। वैभाविक परिवर्तन कर्मवद्ध जीव और पुद्गल-स्कन्धों में ही होता है। हमारा दृश्य जगत् वही है।

विश्व के बारे में दर्शन की दो मुख्य धाराएं हैं—अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन और अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। वे अचेतन या चेतन में से किसी एक के अस्तित्व को ही वास्तिवक मानते हैं।

सृष्टि के विषय में अद्वैतवाद की तीन मुख्य शाखाएं हैं :

१. जड़ाद्वैतवाद

२. चैतन्याद्वैतवाद

३. जड़-चैतन्याद्वैतवाद

जड़ाद्वैतवाद के अनुसार चेतन तत्त्व की उत्पत्ति अचेतन तत्त्व से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रम-विकासवादी वैज्ञानिक इसी अभिमत के समर्थक हैं।

चैतन्याद्वैत के अनुसार सृष्टि का आदि-कारण ब्रह्म है। वैदिक ऋषि कहता है—

"असत्, अभाव, शून्य में निरस्त समस्त समाज औपधिक नाम-रूप-रहित अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सत्‌भाव या प्रत्यक्ष माया का प्रपंच प्रतिष्ठित है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष माया के प्रपंच में सारी सृष्टि (भव्य) के उपादान-भूत पृथिव्यादि पंच महाभूत निहित हैं, इसी से उत्पन्न होते हैं। वे ही पांचों महाभूत समस्त कार्यों में विद्यमान रहते हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं महाभूतों में—पीपल के बीज में पीपल के वृक्ष की तरह वर्तमान रहती है।"[१]

'ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है।' उसने सोचा—'किस प्रकार मैं इन लोगों में पैठूं ?' तब वह नाम और रूप से इन लोगों में पैठा।[२]

जड़चैतन्याद्वैत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति चेतन और अचेतन—इन दोनों गुणों में मिश्रित पदार्थ से हुई है।

जड़ाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये दोनों 'कारण के अनुरूप कार्य होता

---

१. अथर्ववेद, १७।१।२६:
असति सत् प्रतिष्ठितम्—सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं ह भव्य आहितं, भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्।

२. शतपथ ब्राह्मण, १।१।२।३:
तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद रूपेण चैव नाम्ना च।

है'—इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। पहले में जड़ से चैतन्य, दूसरे में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मान्य है।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होने के तथ्य को ये स्वीकार करते हैं। इस अभिमत के अनुसार जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम सृष्टि है।

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दर्शन सृष्टि-पक्ष में आरम्भवादी हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है, उनके संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए यह 'आरम्भवाद' कहलाता है।

सांख्य और योग परिणामवादी हैं। उनके अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास होता है। उससे ही सृष्टि होती है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। परिणामवाद के दो रूप होते हैं—गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणामवाद। पहला सांख्यदर्शन तथा माध्वाचार्य का सिद्धान्त है। दूसरा सिद्धान्त रामानुजाचार्य का है। वे प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। फिर भी इन सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्म ही अंश विशेष में प्रकृति रूप से परिणत होता है और वही जगत् बनता है।

जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नहीं हैं। वे परिवर्तनवादी हैं।

बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की प्रक्रिया 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' है। यह सही अर्थ में अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सन्तति-प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्‌गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्‌गल की सांयोगिक अवस्थाओं के बिना नहीं होता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। 'घास में घी है'—यह ओघ शक्ति है। 'दूध में घी है'—यह समुचित शक्ति है। ओघ शक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नहीं। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है। कारण की समग्रता बनती है

और कार्य उत्पन्न हो जाता है।[1]

जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी में समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति है जो चेतन और अचेतन-पुद्‌गल के विविध-जातीय संयोग से स्वयं प्रकट होती है।

जैन दर्शन जगत् के बारे में वैदिक ऋषि की भांति संदिग्ध भी नहीं है। वैदिक ऋषि कहता है—उस समय प्रलय दशा में असत् भी नहीं था। सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे।

प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहां से सृष्टि हुई यह कौन जानता है?

ये नाना सृष्टियां कहां से हुईं, किसने सृष्टियां कीं और किसने नहीं कीं—ये सब वे ही जाने, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है वे भी यह सब न जानते हों।[1]

जैन दर्शन के अनुसार चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि नहीं होती। दोनों अनादि अनन्त हैं।

---

१. द्रव्यानुयोगतर्कणा, २।६-१० :
गुणपर्याययोः शक्तिर्मात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः।
किं च दुग्धादि भावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा॥
प्राक् पुद्‌गलपरावर्ते, धर्मशक्ति र्यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्तिः समुचितांगिनाम्॥
कार्यभेदाच्छक्तिभेदो, व्यवहारेण दृश्यते।
युक्निश्चय नयादेकमनेकैः कार्यकारणैः॥
स्वस्वजात्यादि भूयस्यो गुणपर्यायव्यक्तयः।

१. ऋग्वेद, १०।१२९, नासदीय सूक्त :
"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।"
"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः॥
अर्वाग् देव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद मत आवभूव।"
"इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्तसो अंग वेद यदि वा न वेद॥"

विभिन्न दर्शन और दृश्य-जगत् का कारण :

वाद	दृश्य जगत् का कारण क्या है ?
जड़ाद्वैतवाद	जड़पदार्थ
जड़चैतन्याद्वैतवाद	जड़-चैतन्ययुक्त पदार्थ
चैतन्याद्वैतवाद (विवर्तवाद)	ब्रह्म
आरम्भवाद	परमाणु-क्रिया
परिणामवाद	प्रकृति
प्रतीत्यसमुत्पादवाद	अव्याकृत (कहा नहीं जा सकता)
सापेक्ष सादि-सान्तवाद	जीव और पुद्गल की वैभाविक पर्याय ।

परिवर्तन और विकास

जीव और अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल) की समष्टि विश्व है । जीव और पुद्गल के संयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम है—सृष्टि ।

जीव और पुद्गल में दो प्रकार की अवस्थाएं मिलती हैं--स्वभाव और विभाव या विकार ।

परिवर्तन का निमित्त काल बनता है । परिवर्तन का उपादान स्वयं द्रव्य होता है । धर्म, अधर्म और आकाश में स्वभाव-परिवर्तन होता है । जीव और पुद्गल में काल के निमित्त से ही जो परिवर्तन होता है वह स्वभाव-परिवर्तन कहलाता है । जीव के निमित्त से पुद्गल में और पुद्गल के निमित्त से जीव में जो परिवर्तन होता है, उसे कहते हैं—विभाव-परिवर्तन । स्थूल-दृष्टि से हमें दो पदार्थ दीखते हैं, एक सजीव और दूसरा निर्जीव । दूसरे शब्दों में—जीवत्-शरीर और निर्जीव-शरीर या जीवमुक्त-शरीर । आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृश्य है । पुद्गल मूर्त होने के कारण दृश्य अवश्य हैं पर अचेतन हैं । आत्मा और पुद्गल दोनों के संयोग से जीवत्-शरीर बनता है । पुद्गल के सहयोग के कारण जीव के ज्ञान को क्रियात्मक रूप मिलता है और जीव के सहयोग के कारण पुद्गल की ज्ञानात्मक प्रवृत्तियां होती हैं । सब जीव चेतनायुक्त होते हैं । किन्तु चेतना की प्रवृत्ति उन्हीं की दीख पड़ती है जो शरीर-सहित होते हैं । सब पुद्गल रूप-सहित हैं, फिर भी चर्मचक्षु द्वारा वे ही दृश्य हैं, जो जीवयुक्त या जीवमुक्त शरीर हैं । पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—जीव-सहित और जीव-रहित । शस्त्र-अहत सजीव और शस्त्र-हत निर्जीव होते हैं । जीव और स्थूल शरीर के वियोग के निमित्त शस्त्र कहलाते हैं । शस्त्र के द्वारा जीव शरीर से अलग होते हैं । जीव के चले जाने पर जो शरीर या शरीर के पुद्गल

स्कन्ध होते हैं—वे जीवमुक्त शरीर कहलाते हैं। खनिज पदार्थ पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर हैं। पानी अप्कायिक जीवों का शरीर है। अग्नि तैजसकायिक, हवा वायु-कायिक, तृण-लता-वृक्ष आदि वनस्पतिकायिक और शेष सब त्रसकायिक जीवों के शरीर हैं।

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि-प्रवाह वाला है। वह जब तक नहीं टूटत तब तक पुद्गल जीव पर और जीव पुद्गल पर अपना-अपना प्रभाव डालते रहते हैं। वस्तुवृत्त्या जीव पर प्रभाव डालने वाला कार्मण शरीर है। यह जीव के विकारी परिवर्तन का आन्तरिक कारण है। इसे बाह्य स्थितियां प्रभावित करती हैं। कार्मण-शरीर कार्मण वर्गणा से बनता है। ये वर्गणाएं सबसे अधिक सूक्ष्म होती हैं। वर्गणा का अर्थ है एक जाति के पुद्गल-स्कन्धों का समूह। ऐसी वर्गणाएं असंख्य हैं। प्रत्यक्ष उपयोग की दृष्टि से वे आठ मानी जाती हैं :

१. औदारिक-वर्गणा
२. वैक्रिय वर्गणा
३. आहारक वर्गणा
४. तैजस वर्गणा
५. कार्मण वर्गणा
६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा
७. भाषा वर्गणा
८. मन वर्गणा

पहली पांच वर्गणाओं से पांच प्रकार के शरीरों का निर्माण होता है। शेष तीन वर्गणाओं से श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाएं होती हैं। ये वर्गणाएं समूचे लोक में व्याप्त हैं। जब तक इनका व्यवस्थित संगठन नहीं बनता, तब तक ये स्वानुकूल प्रवृत्ति के योग्य रहती हैं किन्तु उसे कर नहीं सकतीं। इनका व्यवस्थित संगठन करनेवाले प्राणी हैं। प्राणि अनादिकाल से कार्मण वर्गणाओं से आवेष्टित हैं। प्राणी का निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है।[1] निगोद अनादि-वनस्पति है। उसके एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यह जीवों का अक्षय कोष है और सबका मूल स्थान है। निगोद के जीव एकेन्द्रिय होते हैं। जो जीव निगोद को छोड़ दूसरी काय में नहीं गए वे 'अव्यवहार-राशि' कहलाते हैं[2] और निगोद से बाहर निकले जीव 'व्यवहार-राशि'[3]। अव्यवहार-राशि का तात्पर्य

---

१. लोकप्रकाश, ४।३२ :
अनन्तानामसुमतामेकसूक्ष्मनिगोदिनाम् ।
साधारणं शरीरं यत्, स 'निगोद' इति स्मृतः ।।

२, वही, ४।६६ :
कदापि ये न निर्याता बहिः सूक्ष्मनिगोदतः ।
अव्यावहारिकास्ते स्यु र्दरीजातमृताइव ।

३. वही, ४।६४,६५ :
सूक्ष्मान्निगोदतोऽनादेर्निर्गता एकशोपि ये ।
पृथिव्यादिव्यवहारञ्च, प्राप्तास्ते व्यावहारिकाः ।
सूक्ष्मानादिनिगोदेषु, यान्ति यद्यपि ते पुनः ।
ते प्राप्तव्यवहारत्वात्, तथापि व्यवहारिणः ।

यह है कि उन जीवों ने अनादि-वनस्पति के सिवाय और कोई व्यवहार नहीं पाया। स्त्यानर्द्धि-निद्रा (घोरतम निद्रा) के उदय से ये जीव अव्यक्त-चेतना (जघन्यतम चैतन्य-शक्ति) वाले होते हैं। इनमें विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। अव्यवहार-राशि से वाहर निकलकर प्राणी विकास की योग्यता को अनुकूल सामग्री पा अभिव्यक्त करता है। विकास की अन्तिम स्थिति है—शरीर का अत्यन्त वियोग या आत्मा की बन्धन-मुक्तदशा। यह प्रयत्न-साध्य है। निगोदीय जघन्यता स्वभाव-सिद्ध है।

स्थूल शरीर मृत्यु से छूट जाता है, पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटते। इसलिए फिर प्राणी को स्थूल-शरीर बनाना पड़ता है। किन्तु जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर छूट जाते हैं, तब फिर शरीर नहीं वनता।

आत्मा की अविकसित दशा में उस पर कषाय का लेप रहता है। इससे उसमें स्व-पर की मिथ्या कल्पना बनती है। स्व में पर की दृष्टि और पर में स्व की दृष्टि का नाम है—मिथ्या-दृष्टि। पुद्गल पर है, विजातीय है, बाह्य है। उसमें स्व की भावना, आसक्ति या अनुराग पैदा होता है अथवा घृणा की भावना वनती है। ये दोनों आत्मा के आवेग या प्रकम्पन हैं अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा में कम्पन्न पैदा करती है। इनसे कार्मण वर्गणाएं संगठित हो आत्मा के साथ चिपक जाती हैं। आत्मा को हर समय अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाएं आवेष्टित किए रहती हैं। नई कर्म-वर्गणाएं पहले की कर्म-वर्गणाओं से रासायनिक क्रिया द्वारा घुल-मिलकर एकमेक बन जाती हैं। सब कर्म-वर्गणाओं की योग्यता समान नहीं होती। कई चिकनी होती हैं, कई तीव्र रसवाली और कई मन्द रस वाली; इसलिए कई छूकर रह जाती हैं, कई गाढ़ बन्धन में बंध जाती हैं। कर्म-वर्गणाएं बनते ही अपना प्रभाव नहीं डालतीं। आत्मा का आवेष्टन बनने के वाद जो उन्हें नई बनावट या नई शक्ति मिलती है, उसका परिपाक होने पर वे फल देने या प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं।

प्रज्ञापना (पद ३५) में दो प्रकार की वेदना बताई हैं :

१. आभ्युपगमिकी—अभ्युपगम-सिद्धान्त के कारण जो कष्ट सहा जाता है वह आभ्युपगमिकी वेदना है।

२. औपक्रमिकी—कर्म का उदय होने पर अथवा उदीरणा द्वारा कर्म के उदय में आने पर जो कष्टानुभूति होती है, वह औपक्रमिकी वेदना है।

उदीरणा जीव अपने आप करता है अथवा इष्ट-अनिष्ट पुद्गल सामग्री से अथवा दूसरे व्यक्ति के द्वारा भी वह हो जाती है। आयुर्वेद के पुरुषार्थ का यही निमित्त है।

वेदना चार प्रकार से भोगी जाती है :

द्रव्य से—जल-वायु के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के संयोग से।

क्षेत्र से—शीत-उष्ण आदिअनुकूल-प्रतिकूल स्थान के संयोग से।

काल से—गर्मी में हैजा, सर्दी में बुखार, निमोनिया अथवा अशुभ ग्रहों के उदय से।

भाव से—असात-वेदनीय के उदय से।

वेदना का मूल असात-वेदनीय का उदय है। जहां भाव से वेदना है वहीं द्रव्य, क्षेत्र और काल उसके (वेदना के) निमित्त बनते हैं। भाव-वेदना के अभाव में द्रव्यादि कोई असर नहीं डाल सकते। कर्म-वर्गणाएं पौद्गलिक हैं, अतएव पुद्गल-सामग्री उसके विपाक या परिपाक में निमित्त बनती है।

धन के पास धन आता है—यह नियम कर्म-वर्गणाओं पर भी लागू होता है। कर्म के पास कर्म आता है। शुद्ध या मुक्त आत्मा के कर्म नहीं लगता। कर्म से बंधी आत्मा का कषाय-लेप तीव्र होता जाता है। तीव्र कषाय तीव्र कम्पन पैदा करता है और उसके द्वारा अधिक कर्म-वर्गणाएं खींची जाती हैं।

इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्रकम्पन भी जैसा तीव्र या मन्द होता है, वैसी ही प्रचुर या न्यून मात्रा में उनके द्वारा कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण होता है। प्रवृत्ति सत् और असत् दोनों प्रकार की होती है। सत् से सत् कर्म-वर्गणाएं और असत् से असत् कर्म-वर्गणाएं आकृष्ट होती हैं। यही संसार, जन्म-मृत्यु या भव-परम्परा है। इस दशा में आत्मा विकारी रहता है। इसलिए उस पर अनगिनत वस्तुओं और वस्तु-स्थितियों का असर होता रहता है। असर जो होता है, उसका कारण आत्मा की अपनी विकृत दशा है। विकारी दशा छूटने पर शुद्ध आत्मा पर कोई वस्तु प्रभाव नहीं डाल सकती। यह अनुभवसिद्ध बात है—असमभावी व्यक्ति, जिसमें राग-द्वेष का प्राचुर्य होता है, को पग-पग पर सुख-दुःख सताते हैं। उसे कोई भी व्यक्ति थोड़े में प्रसन्न और थोड़े में अप्रसन्न बना देता है। दूसरे की चेष्टाएं उसे बदलने में भारी निमित्त बनती हैं। समभावी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नहीं होती। कारण यही है कि उसकी आत्मा में विकार की मात्रा कम है या उसने ज्ञान द्वारा उसे उपशान्त कर रखा है। पूर्ण विकास होने पर आत्मा पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है, इसलिए पर वस्तु का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। शरीर नहीं रहता तब उसके माध्यम से होनेवाली संवेदना भी नहीं रहती। आत्मा सहजवृत्त्या अप्रकम्प है। उसमें कम्पन शरीर-संयोग से होता है। अशरीर होने पर वह नहीं होता।

शुद्ध आत्मा के स्वरूप की पहचान के लिए आठ मुख्य तत्त्व हैं :

१. अनन्त-ज्ञान	५. सहज-आनन्द
२. अनन्त-दर्शन	६. अटल-अवगाह
३. क्षायक-सम्यक्त्व	७. अमूर्तिकपन
४. लब्धि	८. अगुरु-लघु-भाव

मुक्त आत्मा का ज्ञान-दर्शन अबाध होता है। उन्हें जानने में बाहरी पदार्थ

रुकावट नहीं डाल सकते। उनकी आत्म-रुचि यथार्थ होती है। उसमें कोई विपर्यास नहीं होता। उनकी लब्धि—आत्मशक्ति भी अवाध होती है। वे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति से रहित होती हैं। वे बाह्य पदार्थों को जानती हैं किन्तु शरीर के द्वारा होनेवाली उसकी अनुभूति उन्हें नहीं होती। उनमें न जन्म-मृत्यु की पर्याय होती है, न रूप और न गुरु-लघु-भाव।

आत्मा की अनुद्बुद्ध-दशा में कर्म-वर्गणाएं इन आत्म-शक्तियों को दबाए रहती हैं—इन्हें पूर्ण विकसित नहीं होने देतीं। भव-स्थिति पकने पर कर्म-वर्गणाएं घिसती-घिसती बलहीन हो जाती हैं। तब आत्मा में कुछ सहज बुद्धि जागती है। यहीं से आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। तब से दृष्टि यथार्थ बनती है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह आत्म-जागरण का पहला सोपान है। इसमें आत्मा अपने रूप को 'स्व' और बाह्य वस्तुओं को 'पर' जान ही नहीं लेती किन्तु उसकी सहज श्रद्धा भी वैसी ही बन जाती है। इसीलिए इस दशा वाली आत्मा को अन्तर् आत्मा, सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं। इनसे पहले की दशा में वह बहिर् आत्मा, मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाती है।

इस जागरण के बाद आत्मा अपनी मुक्ति के लिए आगे बढ़ती है। सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के सहारे वह सम्यग् चारित्र का बल बढ़ाती है। ज्यों-ज्यों चरित्र का बल बढ़ता है त्यों-त्यों कर्म-वर्गणाओं का आकर्षण कम होता जाता है। सत् प्रवृत्ति या अहिंसात्मक प्रवृत्ति से पहले बंधी कर्म-वर्गणाएं शिथिल हो जाती हैं। चलते-चलते ऐसी विशुद्धि बढ़ती है कि आत्मा शरीर-दशा में भी निरावरण बन जाती है। ज्ञान, दर्शन, वीतराग-भाव और शक्ति का पूर्ण या बाधाहीन या बाह्य-वस्तुओं से अप्रभावित विकास हो जाता है। इस दशा में भव या शेष आयुष्य को टिकाए रखने वाली चार वर्गणाएं—भवोपग्राही वर्गणाएं बाकी रहती हैं। जीवन के अन्त में ये भी टूट जाती हैं। आत्मा पूर्ण मुक्त या बाहरी प्रभावों से सर्वथा रहित हो जाती है। बन्धनमुक्त तुम्बा जैसे पानी पर तैरने लग जाता है वैसे ही बन्धन-मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाती है। मुक्त आत्मा में वैभाविक परिवर्तन नहीं होता, स्वाभाविक परिवर्तन अवश्य होता है। वह वस्तुमात्र का अवश्यम्भावी धर्म है।

परिवर्तन और विकास की मर्यादा

सत्य की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से ही हो सकती है। परिवर्तन विश्व-व्यवस्था का एक अंग है। किन्तु विश्व-व्यवस्था पर उसका पूर्ण नियन्त्रण नहीं है। विश्व के अंचल में शाश्वत तत्त्व भी विद्यमान हैं।

कुछ कार्य प्रवृत्ति-जनित हैं, कुछ नैसर्गिक हैं। इस बहुरूपी व्यवस्था के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए जैन दर्शन ने कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, उनका

ज्ञान बहुत उपयोगी है।

असम्भाव्य-कार्य[1]

१. अजीव को जीव नहीं बनाया जा सकता।
२. जीव को अजीव नहीं बनाया जा सकता।
३. एक साथ दो भाषा नहीं बोली जा सकतीं।
४. अपने किये कर्मों के फलों को इच्छा-अधीन नहीं किया जा सकता।
५. परमाणु नहीं तोड़ा जा सकता।
६. अलोक में नहीं जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वों का साक्षात्कार नहीं कर सकता[2] :

१. धर्म (गति-तत्त्व)
२. अधर्म (स्थिति-तत्त्व)
३. आकाश
४. शरीर-रहित जीव
५. परमाणु
६. शब्द

पारमार्थिक सत्ता

१. ज्ञाता का सतत अस्तित्व[3]।
२. ज्ञेय का स्वतन्त्र अस्तित्व वस्तु-ज्ञान पर निर्भर नहीं है[4]।
३. ज्ञाता और ज्ञेय में योग्य सम्बन्ध।

---

१. ठाणं, ६।५।
२. वही, ६।४।
३. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक १९ :
न चास्थिराणां भिन्नकालतयाऽन्योन्याऽसम्बद्धानाञ्च तेषां वाच्यवाचकभावो युज्यते।
४. तुलना—बाह्य जगत् वास्तविक नहीं है, उसका अस्तित्व केवल हमारे मन के भीतर या किसी अलौकिक शक्ति के मन के भीतर है, यह आदर्शवाद कहलाता है। आदर्शवाद के कई प्रकार हैं। परन्तु एक बात वे सभी कहते हैं, वह यह कि मूल वास्तविकता मन है। वह चाहे मानव-मन हो या अपौरुषेय-मन और वस्तुतः यदि उसमें वास्तविकता का कोई अंश है तो भी वह गौण है। एंग्लस के शब्दों में मार्क्सवादियों की दृष्टि में—"भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण प्रकृति को ठीक उसी रूप में देखता है, जिस रूप में वह सचमुच पायी जाती है।" बाह्यजगत् वास्तविक है। हमारे भीतर उसकी चेतना है या नहीं—इस बात से उसकी चेतना स्वतन्त्र है। उसकी गति और विकास हमारे या किसी और के मन द्वारा संचालित नहीं होते। (मार्क्सवाद क्या है ? ५,६८,६९ ले० एनिल बर्न्स)

४. वाणी में ज्ञान का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब—विचारों या लक्ष्यों की अभिव्यक्ति का यथार्थ साधन।

५. ज्ञेय (संवेद्य या विषय) और ज्ञातृ (संवित् या विषयी) के समकालीन अस्तित्व, स्वतन्त्र-अस्तित्व तथा पारस्परिक सम्बन्ध के कारण उनका विषय-विषयीभाव।

चार सिद्धान्त

१. पदार्थमात्र परिवर्तनशील है।

२. सत् का सर्वथा नाश और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता।

३. जीव और पुद्गल में गति-शक्ति होती है।

४. व्यवस्था वस्तु का मूलभूत स्वभाव है।

इनकी जड़वाद के चार सिद्धान्तों से तुलना कीजिए।

(क) ज्ञाता और ज्ञेय नित्य परिवर्तनशील हैं।

(ख) सद् वस्तु का सम्पूर्ण नाश नहीं होता—पूर्ण अभाव में से सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

(ग) प्रत्येक वस्तु में स्वभाव-सिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तन-शक्ति अवश्य रहती है।

(घ) रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तु का मूल-भूत स्वभाव है।[1]

समस्या और समाधान

लोक शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न? जीवों में जो भेद है, वह कर्मकृत है या अन्यकृत? कर्म का कर्ता और भोक्ता स्वयं जीव है या अन्य कोई? अनेक समस्याएं हैं, जो मनुष्य को संदिग्ध किये रहती हैं।

१. लोक शाश्वत है तो विनाश और परिवर्तन कैसे? यदि वह आशाश्वत है तो भेद—अतीत, अनागत, नवीन, पुरातन आदि-आदि कैसे?

२. आत्मा शाश्वत है तो मृत्यु कैसे? यदि अशाश्वत है तो विभिन्न चैतन्य-सन्तानों की एकात्मकता कैसे?

३. आत्मा शरीर से भिन्न है तो शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति कैसे? यदि वह शरीर से अभिन्न है तो शरीर और आत्मा—ये दो पदार्थ क्यों?

४. जीवों की विचित्रता कर्म-कृत है तो साम्यवाद कैसे? यदि वह अन्यकृत

---

१. जड़वाद, पृ० ६०-६४

है तो कर्मवाद क्यों ?

५. कर्म का कर्त्ता और भोक्ता यदि जीव ही है तो बुरे कर्म और उसके फल का उपभोग कैसे ? यदि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं है तो कर्म और कर्म-फल से उसका सम्बन्ध कैसे ? इन सबका समाधान करने के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है। एकान्तदृष्टि के एकांगी विचारों से इनका विरोध नहीं मिट सकता।

इन समस्याओं का समाधान जैन दार्शनिकों ने इस प्रकार किया है :

१. लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल में वह एकरूप नहीं रहता, इसलिए वह अशाश्वत भी है। जो एकान्ततः शाश्वत होता है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है। जो एकान्ततः अशाश्वत होता है, उसमें अन्वयी सम्बन्ध नहीं हो सकता। पहले क्षण में होनेवाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए तो फिर 'वर्तमान' के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नहीं घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल में टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यों कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो तो अतीत और अनागत के भेद का कोई आधार ही नहीं रहता। इसलिए विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा 'लोक शाश्वत है' यह माने विना भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती।

२. आत्मा के लिए भी यही वात है। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनों है :

(१) द्रव्यत्व की दृष्टि से शाश्वत है—

आत्मा पूर्व और उत्तर सभी क्षणों में रहता है, अन्वयी है, चैतन्य पर्यायों का संकलनकर्त्ता है।

(२) पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है—

विभिन्न रूपों में—एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उसका परिणमन होता है।

३. आत्मा शरीर से भिन्न भी है, अभिन्न भी। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और संयोग एवं उपकार की दृष्टि से अभिन्न। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है और शरीर का स्वरूप जड़, इसलिए ये दोनों भिन्न हैं। संसारावस्था में आत्मा और शरीर का दूध-पानी की तरह, लोह अग्नि-पिंड की तरह एकात्म्य संयोग होता है, इसलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन और कर्म का विपाक होता है।

४. एक जीव की स्थिति दूसरे जीव से भिन्न है। उसका कारण कर्म अवश्य है, किन्तु केवल कर्म ही नहीं। उसके अतिरिक्त कील, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि अनेक तत्त्व हैं। कर्म दो प्रकार का होता है—सोपक्रम और निरूपक्रम अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष। फल-काल में कई कर्म वाहरी स्थितियों की अपेक्षा नहीं रखते और कई रखते हैं, कई कर्म विपाक के अनुकूल सामग्री मिलने पर फल देते हैं और

कई उसके बिना भी। कर्मोदय अनेकविध होता है, इसलिए कर्मवाद का साम्यवाद से विरोध नहीं है। कर्मोदय की सामग्री समान होने पर प्राणियों की स्थिति बहुत कुछ समान हो सकती है, होती भी है। जैन सूत्रों में कल्पातीत देवताओं की समान स्थिति का जो वर्णन है, वह आज के इस साम्यवाद से कहीं अधिक रोमांचकारी है। कल्पातीत देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, अनुभाव, सुख समान होता है, उनमें न कोई स्वामी होता है और न कोई सेवक और न कोई पुरोहित, वे सब अहमिन्द्र— स्वयं इन्द्र हैं। अनेक देशों में तथा समूचे भू-भाग में भी यदि खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज समान हो जाएं, स्वामी-सेवक का भेद-भाव मिट जाए, राज्य-सत्ता जैसी कोई केन्द्रित शक्ति न रहे तो उससे कर्मवाद की स्थिति में कोई आंच नहीं आती। रोटी की सुलभता से ही विषमता नहीं मिटती। प्राणियों में विविध प्रकार की गति जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग सम्बन्धी विसदृशता है। उसका कारण उनके अपने विचित्र कर्म ही हैं। एक पशु है तो एक मनुष्य, एक दो इन्द्रियवाला कृमि है तो एक पांच इन्द्रियवाला मनुष्य! यह विषमता क्यों? इसका कारण स्वोपार्जित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

मुक्त आत्माएं कर्म की कर्त्ता, भोक्ता कुछ भी नहीं हैं। बद्ध आत्माएं कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। उनके कर्म का प्रवाह अनादि है और वह कर्म-मूल नष्ट न होने तक चलता रहता है। आत्मा स्वयं कर्त्ता-भोक्ता होकर भी जिन कर्मों का फल अनिष्ट हो, वैसे कर्म क्यों करे और कर भी ले तो उनका अनिष्ट फल स्वयं क्यों भोगे? इस प्रश्न के मूल में ही भूल है। आत्मा में कर्तृत्व शक्ति है, उसी से वह कर्म नहीं करती, किन्तु उसके पीछे राग-द्वेष, स्वत्व-परत्व की प्रवल प्रेरणा होती है। पूर्वकर्म-जनित वेग से आत्मा पूर्णतया दबती नहीं तो सब जगह उसे टाल भी नहीं सकती। एक बुरा कर्म आगे के लिए भी आत्मा में बुरी प्रेरणा छोड़ देता है। भोक्तृत्व शक्ति की भी यही बात है। आत्मा में बुरा फल भोगने की चाह नहीं होती पर बुरा या भला फल चाह के अनुसार नहीं मिलता वह पहले की क्रिया के अनुसार मिलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—यह स्वाभाविक बात है। विष खानेवाला यह न चाहे कि मैं मरूं, फिर भी उसकी मौत टल नहीं सकती। कारण कि विष की क्रिया उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है, वह उसे खाने की क्रिया पर निर्भर है।

४

विश्व : विकास और ह्रास

अनादि-अनन्त

जीवन-प्रवाह के बारे में अनेक धारणाएं हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सान्त। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनन्त माननेवालों को उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ—ये समस्याएं उन्हें सताती हैं जो असत् से सत् की की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादा को स्वीकार करनेवाले असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते। नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नहीं चाहिए अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है।[1]

विश्व-स्थिति के मूल सूत्र

विश्व-स्थिति की आधारभूत दस बातें हैं :[2]

१. पुनर्जन्म—जीव मरकर बार-बार जन्म लेते हैं।

२. कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बांधते हैं।

३. मोहनीय-कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

४. जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

---

१. भगवती, ५।८

२. ठाणं, १०।१

५. त्रस-स्थावर-अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएं या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएं या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएं।

६. लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

७. लोकालोक-अन्योन्याऽप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

८. लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव है और जितने क्षेत्र में जीव है, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

९. लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

१०. अलोक-गति-कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आबद्ध पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। एकान्तनित्य-स्थिति में न विकास हो सकता है और न ह्रास। परिणामी-नित्यत्व के अनुसार ये दोनों हो सकते हैं। डार्विन के मतानुसार यह विश्व क्रमशः विकास की ओर बढ़ रहा है। जैन-दृष्टि इसे स्वीकार नहीं करती। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में होता है। जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा। यहां पहुंचने पर फिर ह्रास नहीं होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाएं हैं, उनमें आठवीं (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुंचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनों चलते हैं। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाएं ये हैं :

१. अव्यवहार राशि······साधारण-वनस्पति।

२. व्यवहार राशि······प्रत्येक-वनस्पति।

(क) एकेन्द्रिय······साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु।

(ख) द्वीन्द्रिय।

(ग) त्रीन्द्रिय।
(घ) चतुरिन्द्रिय।
(ङ) पंचेन्द्रिय······अमनस्क, समनस्क।

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमशः पार करके आगे बढ़ता है, यह बात नहीं। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियों की योग्यता का क्रम है, उत्क्रान्ति का क्रम नहीं। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवों की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियों के समन्वय पर निर्भर है।

दार्शनिकों का 'ध्ययेवाद' भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिकों का 'विकासवाद' अतीत को। ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है। किन्तु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा है। आत्मा स्वतः स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढ़ने के लिए बाध्य नहीं, स्वतन्त्र है। ध्येय को उचित रीति समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' ने यह सर्वसामान्य नियम नहीं है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेष सामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्हीं का विकास हुआ है तो किन्हीं का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नई आकृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपों को अपनी गोद में समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतन्त्रता मान्य नहीं हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से बाहर वाली शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नहीं साध सकती।

पुद्गल की शक्तियों का विकास और ह्रास—ये दोनों सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नहीं है। शक्ति की दृष्टि से एक पौद्गलिक स्कन्ध में अनन्त-गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है, और फिर वे बिखरकर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नहीं होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है। उसमें चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास-ह्रास में बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आन्तरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत संश्लेष होता है, इसलिए आन्तरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते हैं—आत्म-जनित और शरीर-जनित।

आत्म-जनित आन्तरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पांच हैं।[1] उनमें दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाएं शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। शुभ वर्गणाओं के उदय से पौद्‌गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओं के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्‌गल-संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नहीं है।

विकास और ह्रास के कारण

विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आन्तरिक प्रेरणा या आन्तरिक स्थिति या आन्तरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। डार्विन का सिद्धान्त बाहरी स्थिति को अनुचित महत्त्व देता है। बाहरी स्थितियां केवल आन्तरिक वृत्तियों को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नहीं करतीं। चेतन में योग्यता होती हैं, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

१. अन्तरंग योग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
२. अन्तरंग अयोग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
३. अन्तरंग योग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
४. अन्तरंग अयोग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रत्येक प्राणी में दस संज्ञाएं और जीवन-सुख की आकांक्षाएं होती हैं। उसमें तीन एषणाएं भी होती हैं :

१. प्राणैषणा—मैं जीवित रहूं।
२. पुत्तैषणा—मेरी सन्तति चले।
३. वित्तैषणा—मैं धनी बनूं।

अर्थ और काम की इस आन्तरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियों के प्रहार से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियों का विकास होता है। यह एक जीवनगत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढ़ी को अनायास मिल जाता है। किन्तु उद्‌भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक जो विकास है, वह पहली पीढ़ी के विकास की देन नहीं है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतन्त्र गति है। उद्‌भिद्-जगत से भिन्न जातियां उसकी शाखाएं नहीं किन्तु स्वतन्त्र हैं। उद्‌भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के

---

१. ठाणं ५।२४

माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नहीं, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमें दोनों विचार एक रेखा पर हैं। किन्तु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के मतानुसार विकास जाति का होता है और जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति का। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नहीं जाता। आन्तरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

प्राणि-विभाग

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं—(१) अण्डज, (२) पोतज, (३) जरायुज, (४) रसज, (५) संस्वेदज ,(६) सम्मूर्च्छिम, (७) उद्भिद्, (८) उपपातज।

१. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—सांप, केंचुआ, मच्छ, कबूतर, हंस, काक, मोर आदि जन्तु।

२. पोतज—जो जीव खुले अंग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुली आदि।

३. जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एवं मांस से लथड़ा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊंट, घोड़ा, मृग, सिंह, रीछ, कुत्ता, बिल्ली आदि।

४. रसज—मद्य आदि में जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।

५. संस्वेदज—संस्वेद में उत्पन्न होनेवाले संस्वेदज कहलाते हैं। जैसे—जूं आदि।

६. सम्मूर्च्छिम—किसी संयोग की प्रधानतया अपेक्षा नहीं रखते हुए यत्र-कुत्र जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। जैसे—चींटी, मक्खी आदि।

७. उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलनेवाले प्राणी उद्भिद् कहलाते है। जैसे—टिड्डी आदि।

८. उपपातज—शय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारक आदि।

उत्पत्ति-स्थान

'सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियों में

उत्पन्न होते हैं और वहीं स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में रहते हैं, शरीर में वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते है। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं।"[1]

प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख हैं और उनके कुल एक करोड़ साढ़े सत्तानवे लाख (१,९७,५०,०००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर एक ही योनि है और उसमें कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं।

स्थान	उत्पत्ति	कुल
१. पृथ्वीकाय	७ लाख	१२ लाख
२. अप्काय	७ लाख	७ लाख
३. तेजस्काय	७ लाख	७ लाख
४. वायुकाय	७ लाख	७ लाख
५. वनस्पतिकाय	२४ लाख	२८ लाख
६. द्वीन्द्रिय	२ लाख	७ लाख
७. त्रीन्द्रिय	२ लाख	८ लाख
८. चतुरिन्द्रिय	२ लाख	९ लाख
९. तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय	४ लाख	जलचर—१२।। लाख खेचर—१२ लाख स्थलचर—१० लाख उर-परिसर्प—९ लाख भुज-परिसर्प—९ लाख
१०. मनुष्य	१४ लाख	१२ लाख
११. नारक	४ लाख	२५ लाख
१२. देव	४ लाख	२६ लाख

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं भिन्नता का होना असम्भव नहीं।

१. सुयगडो, २।३।६२: "सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा, णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मठीइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति।"

अस्थावर-जगत्

उक्त प्राणी-विभाग जन्म-प्रक्रिया की ष्टि से है। गति की दृष्टि से प्राणी दो भागों में विभक्त होते हैं—स्थावर और त्रस। त्रस जीवों में गति, आगति, भाषा, इच्छा व्यक्तीकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नहीं है। जैन सूत्र वताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पांचों स्थावर-काय सजीव हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—हमें जितने पुद्गल दीखते हैं, ये सब जीवत्-शरीर या जीव-मुक्त शरीर हैं। जिन पुद्गल-स्कन्धों को जीव अपने शरीर-रूप में परिणत कर लेते हैं, उन्हीं को हम देख सकते हैं, दूसरों को नहीं। पांच स्थावर के रूप में परिणत पुद्गल दृश्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे सजीव हैं। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल में सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ में सजीव ही होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्म-रहित हो जाता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव वन जाते हैं।

इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुलनात्मक युक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

१. मनुष्य-शरीर में समानजातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में भी समानजातीय अंकुर पैदा होते हैं इसलिए वह सजीव है।

२. अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है, पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है। मूत्र आदि तरल पदार्थ शस्त्र-परिणत होते हैं, इसलिए वे निर्जीव होते हैं।

३. जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला ताप जीव-संयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-संयोगी है। आहार के भाव और अभाव में होनेवाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनों का जीवन वायु-सापेक्ष है। वायु के विना मनुष्य नहीं जीता, वैसे अग्नि भी नहीं जीती। मनुष्य में जैसे प्राणवायु का ग्रहण और विषवायु का उत्सर्ग होता है, वैसे अग्नि में भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भांति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-संयोगी है। सूर्य, 'आतप' नाम कर्मोदययुक्त पृथ्वी-कायिक जीवों का शरीर-पिण्ड है।

४. वायु में व्यक्त-प्राणी की भांति अनियमित स्वप्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल पुद्गल-स्कन्धों में अनिय-

मित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वयं नहीं।

ये चार जीव-निकाय हैं। इनमें से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं। मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, पानी की एक बूंद, अग्नि का एक कण, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पिण्ड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति-सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नहीं बनता। हम इनके पिण्डीभूत असंख्य शरीरों को ही देख सकते हैं।

५. वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायों से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आए हैं और वैज्ञानिक जगत् में भी इनके चैतन्य सम्बन्धी विविध परीक्षण हुए हैं। बेतार की तरंगों (wireless waves) के बारे में अन्वेषण करते समय जगदीशचन्द्र वसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणु पर भी अधिक दबाव पड़ने से रुकावट आती है और उन्हें फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानबीन के बाद बताया कि धान्य आदि पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे से मस्त होते हैं और मरते हैं। अन्त में उन्होंने यह प्रमाणित किया कि संसार के सभी पदार्थ सचेतन हैं।[१]

वेदान्त की भाषा में सभी पदार्थों में एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है।

जैन की भाषा में समूचा संसार अनन्त जीवों से व्याप्त है। एक अणुमात्र प्रदेश भी जीवों से खाली नहीं है।[२]

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य-शरीर जाति (जन्म)-धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है। जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक तथा वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य-शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर आहार करनेवाला है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर में भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमनयुक्त है अर्थात् रोगों के सम्पर्क से पाण्डुत्व, वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से कान्ति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार

---

१. Response in the living and non-living.

२. उत्तरज्झयणाणि, ३६।७८ :
सुहमा सव्वलोगम्मि, लोगदेसे य बायरा।

के रोगों से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा-विहीन हो जाता है और औषधि के संयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अतः वनस्पति चेतनायुक्त है।

वनस्पति के जीवों में अव्यक्त रूप से दस संज्ञाएं होती हैं। संज्ञा का अर्थ है—अनुभव। दस संज्ञाएं ये हैं—

आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान-संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ-संज्ञा ओघ-संज्ञा एवं लोक-संज्ञा। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आसपास होनेवाले वृक्षों का सार खींच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती हैं, इसलिए वनस्पति में भय-संज्ञा होती है। 'कुरूवक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात से प्रमुदित हो जाता हैं, इसलिए वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताएं अपने तन्तुओं से वृक्ष को बींट लेती है, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिदती' नाम की बेल मान से झरने लग जाती है। लताएं अपने फलों को माया से ढांक लेती हैं। विल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा है।

वृक्षों में जलादि सींचते हैं, वह फलादि के रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास का सद्भाव है। स्नायविक धड़कनों के बिना रस का प्रसार नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य-शरीर में उच्छ्वास से रक्त का प्रसार होता है और मृत-शरीर में उच्छ्वास नहीं होता, अतः रक्त का प्रसार भी नहीं होता, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास है। इस प्रकार अनेक युक्तियों से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध की गई है।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, वह साधारण-शरीरी, अनन्त-काय या सूक्ष्म-निगोद है। एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

संघीय-जीवन

साधारण-वनस्पति का जीवन संघ-बद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गंवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवों के सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण पृथक्-पृथक् होते हैं।

उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नहीं होता। उनके साम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया है कि — "साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपभोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं।[1]" उनके आहार-विहार, उच्छ्वास-निश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं।[2] साधारण जीवों का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीरी मनुष्यों के कृत्रिम संघों में ऐसी साधारणता कभी नहीं आती। साधारण जीवों का स्वाभाविक संघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्गलिक वस्तुएं ही करती हैं। सांधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो-जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने से छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं।

सुई की नोक टिके उतने 'लक्ष्यपाक' तेल में एक लाख औषधियों की अस्तिता होती है। सब औषधियों के परमाणु उसमें मिले हुए होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान में देखिए—

रसायनशास्त्र के पंडित कहते हैं कि आल्पीन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकड़े में १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति-शरीर जीवमय होता है।

साधारण-वनस्पति जीवों का परिमाण

लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश-प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक में नहीं समायेंगे, दो-चार में भी

---

१ प्रज्ञापना, पद १:

एक्कस्स उ जं गहणं, बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहूयाणं गहणं, समासओ तं पि एयस्स॥

२. वही, पद १:

(क) साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।
साहारण जीवाणं, साहारण लक्खणं एयं॥
(ख) समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीरनिव्वत्ती।
समयं आणुगाहण, समयं उस्सासनिस्सासं॥

नहीं। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे।[1] इस काल्पनिक संख्या से उनका परिमाण समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति संकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक में समा रहे हैं।

प्रत्येक-वनस्पति

प्रत्येक-वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने शरीर का निर्माण स्वयं करता है। उनमें पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय में असंख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक वीज में एक जीव होता है। उसके आश्रय में पत्न, पुष्प और फूल के असंख्य जीव उपजते हैं। वीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव संघातरूप में रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसों के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक-रूप बन जाते हैं। तब भी उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक-वनस्पति के शरीरों की भी यही वात है। शरीर की संघात-दशा में भी उनकी सत्ता स्वतन्त्र रहती है।"[2]

प्रत्येक-वनस्पति जीवों का परिमाण

साधारण-वनस्पति जीवों की भांति प्रत्येक-वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असंख्य लोक बन जाएं। यह लोक असंख्य आकाश-प्रदेश वाला है, ऐसे असंख्य लोकों के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने प्रत्येक-शरीरी वनस्पति जीव हैं।[3]

क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र

डार्विन का सिद्धान्त चार मान्यताओं पर आधारित है—

१. पितृ नियम—समान में से समान संतति की उत्पत्ति।

---

१. प्रज्ञापना, पद १ :
लोगागासपएसे, निगोयजीव ठवेहि एक्केकं।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोया अणंताओ॥

२. वही, पद १ :
(क) जह सगलसरिसवाणं, सिलेसमिस्साणवट्टिया वट्टी।
पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया॥
(ख) जहवा तिलपप्पडिया, बहूहिं तिलेहिं संहता संति।
पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया॥

३. वही, पद १ :
लोगागासपएसे, परित्त जीवं ठवेहि एक्केकं।
एवं मविज्जमाणा, हवन्ति लोया असंखेज्जा॥

२. परिवर्तन का नियम—निश्चित दशा में सदा परिवर्तन होता है किन्तु वह उसके विरुद्ध नहीं होता। वह (परिवर्तन) सदा आगे बढ़ता है, पीछे नहीं हटता। उससे उन्नति होती है, अवनति नहीं होती।

३. अधिक उत्पत्ति का नियम—यह जीवन-संग्राम का नियम है। अधिक होते हैं, वहां परस्पर संघर्ष होते हैं। यह अस्तित्व को बनाये रखने की लड़ाई है।

४. योग्य-विजय—अस्तित्व की लड़ाई में जो योग्य होता है विजय उसी के हाथ में आती है। स्वाभाविक चुनाव में योग्य को ही अवसर मिलता है।

प्रकारान्तर से इसका वर्गीकरण यों भी हो सकता है—

१. स्वतः परिवर्तन।

२. वंश-परम्परा द्वारा अगली पीढ़ी में परिवर्तन।

३. जीवन-संघर्ष में योग्यतम का शेष रहना।

इसके अनुसार पिता-माता के अर्जित गुण सन्तान में संक्रान्त होते हैं। वे ही गुण वंशानुक्रम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे उपस्थित होकर सुदीर्घ काल में सुस्पष्ट आकार धारण करके एक जाति से अभिनव जाति उत्पन्न कर देते हैं।

डार्विन के मतानुसार पिता-माता के प्रत्येक अंग से सूक्ष्मकला या अवयव निकलकर शुक्र और शोणित में संचित होते हैं। शुक्र और शोणित से सन्तान का शरीर बनता है। अतएव पिता-माता के उपार्जित गुण सन्तान में संक्रान्त होते हैं।

इसमें सत्यांश है, किन्तु वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण नहीं। एक सन्तति में स्वतः बुद्धिगम्य कारणों के बिना भी परिवर्तन होता है। उस पर माता-पिता का भी प्रभाव पड़ता है। जीवन-संग्राम में योग्यतम विजयी होता है, यह सच है किन्तु यह उससे अधिक सच है कि परिवर्तन की भी एक सीमा है। वह समानजातीय होता है, विजातीय नहीं। द्रव्य की सत्ता का अतिक्रम नहीं होता, मौलिक गुणों का नाश नहीं होता।

विकास या नई जाति उत्पन्न होने का अर्थ है कि स्थितियों में परिवर्तन हो, वह हो सकता है। किन्तु तिर्यञ्च पशु, पक्षी या जल-जन्तु आदि से मनुष्य-जाति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्राणियों की मौलिक जातियां पांच हैं। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नहीं, स्वतन्त्र हैं। पांच जातियां योग्यता की दृष्टि से क्रमशः विकसित हैं। किन्तु पूर्व-योग्यता से उत्तर-योग्यता सृष्ट या विकसित हुई, ऐसा नहीं। पंचेन्द्रिय प्राणी की देह से पंचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पंचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना, यह गर्भज प्राणियों की निश्चित मर्यादा है।

विकासवाद जाति-विकास नहीं, किन्तु जाति-विपर्यास मानता है। उसके

अनुसार इस विश्व में कुछ विशुद्ध तप्त पदार्थ चारों ओर भरे पड़े थे, जिनकी गति और उष्णता में क्रमशः कमी होते हुए, बाद में उनमें से सर्व ग्रहों और हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार जैसे-जैसे हमारी यह पृथ्वी ठंडी होने लगी, वैसे-वैसे इस वायु-जलादि की उत्पत्ति हुई और उसके बाद वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उद्भिद्-राज्य हुआ। उससे जीव-राज्य हुआ। जीव-राज्य का विकासक्रम इस प्रकार माना जाता है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बन्दर और मनुष्य हुए।

डार्विन के इस विलम्बित 'क्रम-विकास-प्रसर्पणवाद' को विख्यात प्राणी-तत्त्ववेत्ता डी० व्राइस ने सान्ध्य—प्रिमरोज (इस पेड़ का थोड़ा-सा चारा हालैण्ड से लाया जाकर अन्य देशों की मिट्टी में लगाया गया। इससे अकस्मात् दो नई श्रेणियों का उदय हुआ) के उदाहरण से असिद्ध ठहराकर 'प्लुतसञ्चारवाद' को मान्य ठहराया है, जिसका अर्थ है कि एक जाति से दूसरी उपजाति का जन्म आकस्मिक होता है, क्रमिक नहीं।

विज्ञान का सृष्टि-क्रम असत् से सत् (उत्पादवाद या अहेतुकवाद) है। यह विश्व कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ, इसका आनुमानिक कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। डार्विन ने सिर्फ शारीरिक विवर्तन के आधार पर क्रम-विकास का सिद्धान्त स्थिर किया। शारीरिक विवर्तन में वर्ण-भेद, संहनन[1]-भेद, संस्थान[2]-भेद, लम्बाई-चौड़ाई का तारतम्य, ऐसे-ऐसे और भी सूक्ष्म-स्थूल-भेद हो सकते हैं। ये पहले भी हुआ करते थे और आज भी होते हैं। ये देश, काल, परिस्थिति के भेद से किसी विशेष प्रयोग के बिना भी हो सकते हैं और विशेष प्रयोग के द्वारा भी। १७९१ ई० में भेड़ों के झुण्ड में अकस्मात् एक नई जाति उत्पन्न हो गई। उन्हें आजकल 'अनेकन' भेड़ कहा जाता है। यह जाति-मर्यादा के अनुकूल परिवर्तन है जो यदा-तदा, यत्किंचित् सामग्री से हुआ करता है। प्रायोगिक परिवर्तन के नित-नए उदाहरण विज्ञान जगत् प्रस्तुत करता ही रहता है।

अभिनव जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक जाति में अनेक व्यक्ति प्राप्त भिन्नताओं की बहुलता के आधार पर स्वीकृत हुआ है। उत्पत्ति-स्थान और कुल-कोटि की भिन्नता से प्रत्येक जाति में भेद-बाहुल्य होता है। उन अवान्तर

---

१. संहनन का अर्थ है 'अस्थि-रचना'। अस्थि-रचना छह प्रकार की होती है, अतः संहनन के छह भेद हैं—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और सेवार्त।

२. संस्थान का अर्थ है आकृति-रचना। यों तो जितने प्राणी हैं उतनी ही आकृतियां हैं, लेकिन उनके वर्गीकरण से छह ही प्रकार होते हैं। यथा—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डक।

भेदों के आधार पर मौलिक जाति की सृष्टि नहीं होती। एक जाति उससे मौलिक भेद वाली जाति को जन्म देने में समर्थ नहीं होती। जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है, वह उसी जाति में प्राप्त गुणों का विकास कर सकता है। जाति के विभाजक नियमों का अतिक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव स्वार्जित कर्म-पुद्गलों की प्रेरणा से जिस जाति में जन्म लेता है, उसी (जाति) के आधार पर उसके शरीर-संहनन, संस्थान, ज्ञान आदि का निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

बाहरी स्थितियों का प्राणियों पर प्रभाव होता है। किन्तु उनकी आनुवंशिकता में वे परिवर्तन नहीं ला सकतीं। प्रो० डार्लिंगटन के अनुसार—"जीवों की बाहरी परिस्थितियां प्रत्यक्ष रूप से उनके विकास-क्रम को पूर्णतया निश्चित नहीं करतीं। इससे यह साबित हुआ कि मार्क्स ने अपने और डार्विन के मतों में जो समानान्तरता पायी थी, वह बहुत स्थायी और दूरगामी नहीं थी। विभिन्न स्वभावों वाले मानव प्राणियों के शरीर में बाह्य और आन्तरिक भौतिक प्रभेद मौजूद होते हैं। उसके भीतर के भौतिक-प्रभेद के आधार को ही आनुवंशिक या जन्मजात कहा जाता है। इस भौतिक आन्तरिक प्रभेद के आधारों का भेद ही व्यक्तियों, जातियों और वर्गों के भेदों का कारण होता है। ये सब भेद बाहरी अवयवों में होनेवाले परिवर्तनों का ही परिणाम हैं। इन्हें जीवधारी देह के पहलुओं के सिवाय बाहरी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। आनुवंशिकता के इस असर को अच्छे भोजन, शिक्षा अथवा सरकार के किसी भी कार्य से चाहे वह कितना ही उदार या क्रूर क्यों न हो, सुधार या उन्नत करना कठिन है। आनुवंशिकता के प्रभाव को इस नए आविष्कार के बाद 'जेनेटिक्स का विज्ञान' कहा गया।[१]

हमें दो श्रेणी के प्राणी दिखाई देते हैं। एक श्रेणी के गर्भज हैं, जो माता-पिता के शोणित, रज और शुक्र बिन्दु के मेल से उत्पन्न होते हैं। दूसरी श्रेणी के सम्मूर्च्छिम हैं जो गर्भाधान के बिना स्व-अनुकूल सामग्री के सान्निध्य मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं। इन दोनों (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय) की दो जातियां हैं—

(१) तिर्यञ्च, (२) मनुष्य।[२]

तिर्यञ्च जाति के मुख्य प्रकार तीन हैं—

---

१. विज्ञान और कम्युनिज्म—प्रो० सी० डी० डार्लिंगटन

२. मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि-स्थान में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय जीव संमूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं। (देखें—प्रज्ञापना, पद १)

१. जलचर—मत्स्य आदि।

२. स्थलचर—गाय, भैंस आदि।

(क) उरपरिसृप—रेंगने वाले प्राणी—सांप आदि।

(ख) भुजपरिसृप—भुजा के बल पर चलनेवाले प्राणी—नेवला आदि इसी की उपशाखाएं हैं।

३. खेचर—पक्षी।

सम्मूर्च्छित जीवों का जाति-विभाग गर्भ-व्युत्क्रान्त जीवों के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और संवद्ध नहीं होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवों की न्यूनाधिकता के आधार पर जातिविकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नहीं। सेव के वृक्ष की लगभग दो हज़ार जातियां मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देश की मिट्टी में बोया हुआ वीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों के रूप में परिणत होता है। उनके फूलों और फलों में वर्ण, गन्ध, रस आदि का अन्तर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृक्षों में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देश में मनुष्य का रंग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश में श्याम। यह परिवर्तन मौलिक नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। मौलिक परिवर्तन प्रयोगसिद्ध नहीं हैं। इसलिए जातिगत औपचारिक परिवर्तन के आधार पर क्रम-विकास की धारणा अधिक मूल्यवान नहीं बन सकती।

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या वाहरी स्थितियों के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके वदलने पर ह्रास या पूर्व-गति भी होती है।

इस दिशा में सबसे आश्चर्यजनक प्रयोग हैं म्यूनिख की जन्तुशाला के डाइरेक्टर श्री हिंजहेक के, जिन्होंने विकासवाद की गाड़ी ही आगे से पीछे की ओर ढकेल दी है और ऐसे घोड़े पैदा किये हैं, जैसे कि पन्द्रह हज़ार वर्ष पूर्व होते थे! प्रागैतिहासिक युग के इन घोड़ों को इतिहासकार 'टरपन' कहते हैं।[1]

---

१. 'टरपन' जाति के पशु जगत् के प्राचीनतम पशुओं में से हैं। पाषाणयुगीन गुफाओं में उनके कितने ही चित्र आज भी उपलब्ध हैं—कद में नाटा-ठिगना, भूरे बाल, पैर पर धारियां और चूहे सा-मुंह। यह पशु वड़ा ताकतवर तथा भयानक होता था। अपनी जंगली अवस्था में तो अकसर इनके झुण्ड चरते-चरते यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंच जाते थे। अठारहवीं सदी तक तो इस जाति के पशुओं का पता चलता है, किन्तु उसके बाद यह पूरी जाति ही जैसे हमेशा के लिए तिरोहित-सी हो गई।

सन् १९२८ में पुरातत्त्व का शोध-छात्र हिंजहेक जब खोह-युगीन मानव के भित्ति-चित्र

इससे जाना जाता है कि शरीर, संहनन, संस्थान और रंग का परिवर्तन होता है। उससे एक जाति के अनेक रूप बन जाते हैं, किन्तु मूलभूत जाति नहीं बदलती।

दो जाति के प्राणियों के संगम से तीसरी एक नई जाति पैदा होती है। उस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियिक और मानसिक शक्ति का भेद उनमें नहीं होता। जाति-भेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास। इन्द्रियां, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ में 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। आकृति-भेद की समस्या जाति-भेद में मौलिक नहीं है।

प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का और ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके जो निमित्त हैं उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो मान लें— शरीर और बुद्धि। ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयुक्त एक रूप होता है। प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितियां स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियों को।

देखकर वापस लौटा तो उसके मन में यह प्रश्न उठा कि क्या हम वर्तमान घोड़े की नस्ल को विकास के उल्टे क्रम पर बदलते हुए 'टरपन' की जाति में परिवर्तित नहीं कर सकते। प्रश्न क्या था, मानो एक चुनौती थी। उसने तुरन्त ही 'टरपन' जाति के पशुओं के अस्थिपंजर तथा गुफा-चित्रों का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। कई वर्ष तक वह इधर-उधर 'टरपन' सम्बन्धी सही जानकारी प्राप्त करने के लिए ही मारा-मारा फिरता रहा। आखिर पन्द्रह वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद उसने यह पता लगा लिया कि 'टरपन' एशिया के जंगली घोड़ों और आइसलैंड के पालतू घोड़ों के बहुत निकट का जन्तु रहा होगा। अतः उसने इन्हीं के संक्रमण द्वारा नई नस्ल पैदा करना शुरू किया। उसे अपने प्रयोग में सफलता भी मिली। इस परीक्षण की पांचवीं पीढ़ी का पशु बिलकुल प्रागैतिहासिक युग के 'टरपन' के समान था और इस नयी नस्ल के सतरह जानवर उसने अभी तक पैदा कर लिए हैं। —नव०, जून १९५३

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओं का संगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओं का।

१. आनुवंशिक समानता का कारण है—वर्गणा का साम्य। जन्म के आरम्भ-काल में जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाएं मातृ-पितृ सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। सन्तान के शरीर में मांस, रक्त और मस्तुलुंग (भेजा)—ये तीन अंग माता के और हाड़, मज्जा और केश-दाढ़ी-रोम-नख—ये तीन अंग पिता के होते हैं।[1] वर्गणाओं का साम्य होने पर भी आन्तरिक योग्यता समान नहीं होती। इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती हैं। यही कारण है कि माता-पिता के गुण-दोषों का सन्तान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना बुद्धि पर नहीं पड़ता।

२. वातावरण भी पौद्गलिक होता है। पुद्गल पुद्गल पर असर डालते हैं। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओं के अनुकूल वातावरण की वर्गणाएं होती हैं, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा में प्रतिकूल। आत्मिक-शक्ति विशेष जागृत हो तो इसमें अपवाद भी हो सकता है। मानसिक-शक्ति वर्गणाओं में परिवर्तन ला सकती है। कहा भी है—

"चित्तायतं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्।"

—यह धातुबद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है। इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओं को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाएं शरीर पर भी बुरा असर नहीं डाल सकतीं।

३. खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न-भिन्न वर्गणाएं हैं। वर्गणाओं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नहीं किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाएं हैं। अलग-अलग परिस्थिति में एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पड़ता है।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवों पर असर होता है। शरीर के अवयव इन्द्रिय, मन और भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव की प्रवृत्ति के ये

---

१. भगवती, १।७

भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाएं आन्तरिक योग्यता को सुधार या बिगाड़ नहीं सकतीं और न बढ़ा-घटा भी सकतीं। किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओं में सुधार या बिगाड़ ला सकती हैं। यह स्थिति दोनों प्रकार की वर्गणाओं के बलाबल पर निर्भर है।

४. ग्रह-उपग्रह से जो रश्मियां निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओं के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रंगों के शीशों द्वारा सूर्य-रश्मियों को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं। संगठित दशा में हमें तत्काल उनका असर मालूम पड़ता है। असंगठित दशा और सूक्ष्म रूप में उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड़ नहीं सकते।

ज्योतिर्विद्या में उल्का की और योग-विद्या में विविध रंगों की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियों के प्रभाव से होती है।

यह बाहरी असर है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों का भी अपने पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चंचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चंचलता से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसीलिए आत्म-विकास में मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति का बड़ा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट-चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाएं गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा में अनुकूल वर्गणाएं अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाएं समूचे लोक में भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

५

जीवन-निर्माण

संसार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा का नाम संसार है। संसार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग, द्वेष हैं। जीव की असंयममय प्रवृत्ति रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। उसे समझा जा सके या नहीं, यह दूसरी बात है। जीव के फंसानेवाला दूसरा कोई नहीं। जीव भी कर्मजाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वांछा से रच लेता है। कर्म व्यक्तिरूप से अनादि नहीं है, प्रवाहरूप से अनादि है। कर्म का प्रवाह कब से चला, इसकी आदि नहीं है। जब से जीव है तब से कर्म है। दोनों अनादि हैं। अनादि का आरम्भ न होता है और न बताया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा सब कर्मों की निश्चित अवधि होती है। परिपाक-काल के बाद वे जीव से विलग हो जाते हैं। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। आत्म-संयम से नए कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीर्ण हो जाते हैं; नए कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधकों की है। आत्म-साधना से विमुख रहनेवाले नए-नए कर्मों का संचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह में बहना पड़ता है।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। तैजस शरीर तैजस परमाणुओं से बना हुआ विद्युत्-शरीर है। इससे स्थूल शरीर में सक्रियता, पाचन, दीप्ति और तेज बना रहता है। कार्मण शरीर सुख-दुख के निमित्त बननेवाले कर्म-अणुओं के समूह से बनता है। यही शेष सब शरीरों का जन्म-मरण की परम्परा का मूल

कारण होता है। इससे छुटकारा पाए बिना जीव अपनी असली दशा में नहीं पहुंच पाता।

गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे में छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ' हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के बाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनों के बारे में विवाद है। गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनों तक चलता है। इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के आरम्भ का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसीलिए प्रारम्भिक दशा का प्रतिनिधि शब्द और चुनना पड़ा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है। जन्म की प्रणाली सब प्राणियों की एक नहीं है। भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न ढंग से जन्म लेते हैं। एक बच्चा मां के पेट में जन्म लेता है और पौधा मिट्टी में। बच्चे की जन्म-प्रक्रिया पौधे की जन्म-प्रक्रिया से भिन्न है। बच्चा स्त्री और पुरुष के रज तथा वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है। पौधा बीज से पैदा हो जाता है। इस प्रक्रिया-भेद के आधार पर जैन आगम के दो विभाग करते हैं—गर्भ और सम्मूर्छन। स्त्री-पुरुष के संयोग से होनेवाले जन्म को गर्भ और उनके संयोग-निरपेक्ष जन्म को सम्मूर्छन कहा जाता है। साधारणतया उत्पत्ति और अभिव्यक्ति के लिए गर्भ शब्द का प्रयोग सब जीवों के लिए होता है। स्थानांग में बादलों के गर्भ बतलाए हैं।[1] किन्तु जन्म-भेद की प्रक्रिया के प्रसंग में 'गर्भ' का उक्त विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। चैतन्य-विकास की दृष्टि से भी 'गर्भ' को विशेष अर्थ में रूढ़ करना आवश्यक है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और माता-पिता के संयोग-निरपेक्ष जन्म पानेवाले प्राणी-वर्गों में मानसिक विकास नहीं होता। माता-पिता के संयोग से जन्म पानेवाले जीवों में मानसिक विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीव की जन्म-प्रक्रिया 'गर्भ' और अमनस्क जीवों की जन्म-प्रक्रिया 'सम्मूर्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म-विभाग के आधार पर चैतन्य-विकास का सिद्धान्त स्थिर होता है—गर्भज समनस्क और सम्मूर्छन अमनस्क।

---

१. ठाणं, ४।६४१ :
चत्तारि दगगब्भा पण्णत्ता, तंजहा—हेमगा, अब्भसंथडा, सीतोसिणा, पंचरूविया।

गर्भज जीवों के मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च—ये दो वर्ग हैं। मनुष्य गर्भज ही होते हैं। तिर्यञ्च गर्भज भी होते हैं और सम्मूर्छन भी।

मानुषी गर्भ के चार विकल्प हैं—स्त्री, पुरुष, नपुंसक और विम्ब। ओज की मात्रा अधिक, वीर्य की मात्रा अल्प, तब स्त्री होती है। ओज अल्प और वीर्य अधिक, तब पुरुष होता है। दोनों के तुल्य होने पर नपुंसक होता है। वायु के दोष से ओज गर्भाशय में स्थिर हो जाता है, उसका नाम 'विम्ब' है।[1] वह गर्भ नहीं, किन्तु गर्भ का आकार होता है। वह आर्त्तव की निर्जीव परिणति होती है। ये निर्जीव विम्ब जैसे मनुष्य जाति में होते हैं, वैसे ही पशु-पक्षी जाति में भी होते हैं। निर्जीव अण्डे जो आजकल प्रचुर मात्रा में पैदा किये जाते हैं, की यही प्रक्रिया हो सकती है।

गर्भाधान की कृत्रिम पद्धति

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का संयोग है। कृत्रिम रीति से भी गर्भाधान हो सकता है। 'स्थानांग' में उसके पांच कारण बतलाए हैं।[2] उन सब का सार कृत्रिम रीति से वीर्य-प्रक्षेप है। गर्भाधान के लिए मुख्य बात वीर्य और आर्त्तव के संयोग की है। उसकी विधि स्वाभाविक और कृत्रिम—दोनों प्रकार की हो सकती है।

गर्भ की स्थिति

तिर्यञ्च की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष की है।[3] मनुष्य की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।[4] काय-भवस्थ की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष की है।[5] गर्भ में बारह वर्ष बिता मर जाता है और फिर जन्म ले और बारह वर्ष वहां रहता है—इस प्रकार काय-भवस्थ अधिक से अधिक चौबीस वर्ष तक गर्भ में रह जाता है।[6]

योनिभूत वीर्य की स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त की होती है।

---

१. स्थानांग वृत्ति, पत्र २७३ :
स्त्रियां ओजसा समायोगो वातवशेन तत् स्थिरीभवनलक्षणः स्त्र्योजः समायोगस्तस्मिन् सति विम्बं तत्र गर्भाशये प्रजायते।

२. ठाणं, ५।१०३

३. भगवती, २।५

४. वही, २।५

५. वही, २।५

६ वही, २।५, वृत्ति

गर्भ-संख्या

एक स्त्री के गर्भ में एक-दो यावत् नौ लाख तक जीव उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु वे सब निष्पन्न नहीं होते। अधिकांश निष्पन्न हुए बिना ही मर जाते हैं।[1]

गर्भ-प्रवेश की स्थिति

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन्-इन्द्रिय ?

भगवान् बोले—गौतम! स-इन्द्रिय भी होता है और अन्-इन्द्रिय भी।

गौतम ने फिर पूछा—यह कैसे, भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—द्रव्य इन्द्रिय की अपेक्षा वह अन्-इन्द्रिय होता है और भाव-इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।[2]

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक) की अपेक्षा अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा स-शरीर होता है।[3]

गर्भ में प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है। गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार मां के आहार का ही सार-अंश होता है। उसके कवल-आहार नहीं होता। वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास-निःश्वास भी सर्वात्मना होते हैं। उसके आहार, परिणमन, उच्छ्वास-निःश्वास बार-बार होते हैं।[4]

बाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ में रहे हुए जीव पर बाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। किसी-किसी गर्भगत जीव में वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप बनाने की सामर्थ्य) होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बना उससे लड़ता है। उसमें अर्थ, राज्य-भोग और काम की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त बन जाता है। उसका धर्मानुराग तीव्र हो जाता है।[5]

एक तीसरे प्रकार का जन्म है। उसका नाम है—उपपात। स्वर्ग और नरक में उत्पन्न होनेवाले जीव उपपात जन्मवाले होते हैं। वे निश्चित जन्मकक्षों में

---

१. भगवती, २।५
२. वही, १।७
३. वही, १।७
४. वही, १।७
५. वही, १।७

उत्पन्न होते हैं और अन्तर्-मुहूर्त्त में युवा बन जाते हैं।

जन्म के प्रारम्भ में

तीन प्रकार से पैदा होनेवाले प्राणी अपने जन्म-स्थानों में आते ही सबसे पहले आहार लेते हैं। वे स्व-प्रायोग्य पुद्‌गलों का आकर्षण और संग्रह करते हैं। सम्मूर्च्छनज प्राणी उत्पत्ति-क्षेत्र के पुद्‌गलों का आहार करते हैं। गर्भज प्राणी का प्रथम आहार रज-वीर्य के अणुओं का होता है। देवता अपने-अपने स्थान के पुद्‌गलों का संग्रह करते हैं। इसके अनन्तर ही उत्पन्न प्राणी पौद्‌गलिक शक्तियों का क्रमिक निर्माण करते हैं। वे छह हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास, भाषा और मन। इन्हें पर्याप्ति कहते हैं। कम से कम चार पर्याप्तियां प्रत्येक प्राणी में होती हैं।

जन्म

लोक शाश्वत है, संसार अनादि है, जीव नित्य है। कर्म की बहुलता है, जन्म-मृत्यु की बहुलता हैं, इसीलिए एक परमाणु मात्र भी लोक में ऐसा स्थान नहीं, जहां जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नहीं, जहां जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हों।

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नहीं रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवों का उत्पत्ति-क्रम एक-सा नहीं होता। अनेक जातियां हैं, अनेक योनियां हैं और अनेक कुल हैं। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाएं अनेक नहीं हैं। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अतएव जन्म के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत नहीं होता और जो गर्भ धारण नहीं करते, उन जीवों की उत्पत्ति को 'सम्मूर्च्छन' कहते हैं। कई चतुरिन्द्रिय तक के सब जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले होते हैं। कई तिर्यञ्च—पंचेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने-वाले पञ्चेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्च्छनज होते हैं। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनके जन्म का नाम 'गर्भ' है। अण्डज, पोतज और जरायुज पंचेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते हैं। जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत होता है, उनका जन्म 'उपपात' कहलाता है। देव और नारक उपपात जन्मा होते हैं। नारकों के लिए कुम्भी (छोटे मुंह की कुण्डें) और देवता के लिए शय्याएं नियत होती हैं। प्राणी सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

प्राण और पर्याप्ति

आहार, चिन्तन, जल्पन, आदि सब क्रियाएं प्राण और पर्याप्ति—इन दोनोंके सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने में प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन-पर्याप्ति और मन-प्राण—ये परस्पर सापेक्ष हैं। इससे हमें यह निश्चय होता है कि प्राणियों की शरीर के माध्यम से होनेवाली जितनी क्रियाएं हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक-शक्ति दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती हैं।

प्राण-शक्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण-शक्तियां दस हैं—

१. स्पर्शन-इन्द्रिय-प्राण।
२. रसन-इन्द्रिय-प्राण।
३. घ्राण-इन्द्रिय-प्राण।
४. चक्षु-इन्द्रिय-प्राण।
५. श्रोत्र-इन्द्रिय-प्राण।
६. मन-प्राण
७. वचन-प्राण।
८. काय-प्राण।
९. श्वासोच्छ्वास-प्राण।
१०. आयुष्य-प्राण।

प्राण-शक्तियां सब जीवों में समान नहीं होतीं। फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी में होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय, इन जीवन-शक्तियों में जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियों की रचना करता है। उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी में जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियों का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना में प्राणी को अन्तर्-

मुहूर्त्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण में ही प्रारम्भ हो जाती है पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सवों की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त्त से पहले नहीं होती। स्वयोग्य पर्याप्तियों की परिसमाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते हैं और उसके वाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहां इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों की पूर्ण रचना किए विना कोई प्राणी नहीं मरता।

जीवों के चौदह भेद और उनका आधार

जीवों के निम्नोक्त चौदह भेद हैं—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त

पर्याप्त और अपर्याप्त की संक्षिप्त चर्चा करने के बाद अब हमें यह देखना चाहिए कि जीवों के इन चौदह भेदों का मूल आधार क्या है? पर्याप्त और अपर्याप्त —दोनो जीवों की अवस्थाएं हैं। जीवों की जो श्रेणियां की गई हैं उन्हीं के आधार पर ये चौदह भेद बनते हैं। इनमें एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय सूक्ष्म और बादर ऐसा भेद-करण और किसी का नहीं है। क्योंकि एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नहीं होते। सूक्ष्म की कोटि में हम उन जीवों को परिगणित करते हैं, जो समूचे लोक में जमे हुए होते हैं; जिन्हें अग्नि जला नहीं सकती; तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र छेद नहीं सकते; जो अपनी आयु से जीते हैं और अपनी मौत से मरते हैं, और जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जाते।[1] प्राचीन शास्त्रों में 'सर्वं जीवमयं जगत्' इस सिद्धान्त की स्थापना हुई, वह इन्हीं जीवों को ध्यान में रखकर हुई है। कई भारतीय दार्शनिक परम ब्रह्म को जगत्-व्यापक मानते हैं, कई आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं और जैन-दृष्टि के अनुसार इन सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक व्याप्त है। सबका तात्पर्य यही है कि चेतन-सत्ता लोक के सब भोगों में है। कई कृमि, कीट सूक्ष्म कहे जाते हैं किन्तु वस्तुतः वे स्थूल हैं। वे आंखों से देखे जा सकते हैं। साधारणतया न देखे जाएं तो सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्रों से देखे जा सकते हैं। अतएव

---

१. प्रज्ञापना, पद १:
सुहुमा आणागेज्झा चक्खुफासं न ते यंति।

उनमें सूक्ष्म जीवों की कोई श्रेणी नहीं। वादर एकेन्द्रिय के एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं वनता। हमें जो एकेन्द्रिय शरीर दीखते हैं, वे असंख्य जीवों के, असंख्य शरीरों के पिण्ड होते हैं। सचित्त मिट्टी का एक छोटा-सा रज-कण, पानी की एक बूंद या अग्नि की एक चिनगारी—ये एक जीव के शरीर नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक में अपनी-अपनी जाति के असंख्य जीव होते हैं और उनके असंख्य शरीर पिण्डीभूत हुए रहते हैं तथा उस दशा में दृष्टि के विषय भी वनते हैं। इसलिए वे वादर हैं। साधारण वनस्पति के एक, दो, तीन या चार जीवों का शरीर नहीं दीखता क्योंकि उनमें से एक-एक जीव में शरीर-निष्पादन की शक्ति नहीं होती। वे अनन्त जीव मिलकर एक शरीर का निर्माण करते हैं। इसलिए अनन्त जीवों के शरीर स्थूल परिणतिमान होने के कारण दृष्टि-गोचर होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म—अपर्याप्त और पर्याप्त, वादर—अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। इसके वाद चतुरिन्द्रिय तक के सब जीवों के दो-दो भेद होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के चार विभाग हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीवों की सूक्ष्म और वादर—ये दो प्रमुख श्रेणियां हैं, वैसे पंचेन्द्रिय जीव समनस्क और अमनस्क—इन दो भागों में वंटे हुए हैं। चार-इन्द्रिय तक के सव जीव अमनस्क होते हैं। इसलिए मन की लब्धि या अनुपलब्धि के आधार पर उनका कोई विभाजन नहीं होता। सम्मूर्च्छनज पंचेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता। गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय जीव समनस्क होते हैं। अतएव असंज्ञी-पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, संज्ञी-पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। संसार के प्राणी मात्र इन चौदह वर्गों में समा जाते हैं। इस वर्गीकरण से हमें जीवों के क्रमिक विकास का भी पता चलता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से दो इन्द्रिय वाले जीव, दो इन्द्रिय वालों से तीन इन्द्रिय वाले जीव—यों क्रमशः पूर्व-श्रेणी के जीवों से उत्तर-श्रेणी के जीव अधिक विकसित हैं।

इन्द्रिय-ज्ञान और पांच जातियां

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है। इसलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्‌गलिक इन्द्रियों की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आंख फूट जाती है, फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नहीं होता। उसकी दर्शन-शक्ति कहीं नहीं जाती किन्तु आंख के अभाव में उसका उपयोग नहीं होता। आंख में विकार होता है, दीखना बन्द हो जाता है। उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है। यह पौद्‌गलिक इन्द्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है। कई प्राणियों में सहायक इन्द्रियों के बिना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव में नहीं होता। वनस्पति में रसन आदि पांचों इन्द्रियों

के चिह्न मिलते हैं।[1] उनमें भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इन्द्रिय का सद्भाव नहीं होता, इसलिए वे एकेन्द्रिय ही कहलाते हैं। उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि इन्द्रिय ज्ञान चेतन-इन्द्रिय और जड़-इन्द्रिय दोनों के सहयोग से होता है। फिर भी जहां तक ज्ञान का सम्बन्ध है—उसमें चेतन-इन्द्रिय की प्रधानता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियों की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—ये पांच जातियां बनने में दोनों प्रकार की इन्द्रियां कारण हैं। फिर भी यहां द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है। एकेन्द्रिय में अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इन्द्रियों के अभाव में पंचेन्द्रिय नहीं कहलाते।

मानस-ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी

इन्द्रिय के बाद मन का स्थान है। यह भी परोक्ष है। पौद्गलिक मन के बिना इसका उपयोग नहीं होता। इन्द्रिय ज्ञान से इसका स्थान ऊंचा है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत। वह सब विषयों को ग्रहण करता है। इन्द्रिय-ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानव-ज्ञान त्रैकालिक। इन्द्रिय-ज्ञान में तर्क-वितर्क नहीं होता। मानस-ज्ञान आलोचनात्मक होता है।[2]

मानस प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है। कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेन्द्रिय का उपयोग नहीं होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर मानस-शक्ति का उपयोग नहीं होता। मानस-ज्ञान गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय प्राणियों के ही होता है। इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागों में बंट जाते हैं—संज्ञी और असंज्ञी या समनस्क और अमनस्क। द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में आत्म-रक्षा की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट-निवृत्ति, आहार-भय आदि संज्ञाएं, संकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति, गति, आदि-चेष्टाएं होती हैं—ये मन के कार्य हैं। तब फिर वे असंज्ञी क्यों? बात सही है। इष्ट-प्रवृत्ति और अनिष्ट-निवृत्ति का संज्ञान मानस-ज्ञान की परिधि का है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उससे कोई प्राणी संज्ञी नहीं बनता। एक कौड़ी भी धन है पर उससे कोई धनी नहीं कहलाता। संज्ञी वही होते हैं जिनमें दीर्घकालिकी संज्ञा मिले; जो भूत, वर्तमान

---

१. विशेषावश्यक भाष्य गाथा, १०३, वृत्ति—
एकेन्द्रियाणां तावच्छोत्रादिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यते एव। वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात्।

२. अत्थाणंतरचारि, नियतं चित्तं तिकालविसयं तु।
अत्थेय पडुपण्णे, विणियोगं इंदियं लहई॥
अर्थान्तरचारी सर्वार्थग्राही, नियत, त्रैकालिक और संप्रधारणात्मक ज्ञान मन है। वर्तमान, प्रतिनियत अर्थग्राही ज्ञान इन्द्रिय है:

और भविष्य की ज्ञान-शृंखला को जोड़ सके।[1]

इन्द्रिय और मन

पूर्व पंक्तियों में इन्द्रिय और मन का संक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे उन्हीं का स्वरूप स्पष्ट होता है। संज्ञी और असंज्ञी के इन्द्रिय और मन का क्रम स्पष्ट नहीं होता। असंज्ञी संज्ञी के इन्द्रिय-ज्ञान में कुछ तरतम रहता है या नहीं ? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं ? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असंज्ञी के केवल इन्द्रिय-ज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस—दोनों ज्ञान होते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा दोनों के लिए एक है। किसी रंग को देखकर संज्ञी और असंज्ञी चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रंग है। इन्द्रिय-ज्ञान में भी अपार तरतम होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे वहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रंग है, इससे आगे नहीं जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात् यह ऐसा क्यों ? इससे क्या लाभ ? यह स्थायी है या अस्थायी ? कैसे वना ? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाएं मन का कार्य है। असंज्ञी के ऐसी जिज्ञासाएं नहीं होतीं। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय-ज्ञान में प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे वढ़ने की क्षमता नहीं होती। संज्ञी जीवों में इन्द्रिय और मन दोनों का उपयोग होता है। मन-इन्द्रिय-ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध-अवस्थाओं को जानता है। मन का मनन या चिन्तन स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनका ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए संज्ञी-ज्ञान में इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले नौ समनस्क जीवन की घटनावलियां जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व-परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती, इसकी कारण-मीमांसा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढ़ो, जाइं सरइ न अप्पणो ॥"

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ़ हो जाता है; इसलिए

---

१. नंदी, सूत्र ४१

साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती।

एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति में पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसीलिए ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।[1]

अतीन्द्रियज्ञान-योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए इसे पौद्गलिक साधनों—शारीरिक अवयवों के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। यह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानों से सुनते हैं, आंखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य (निरपेक्ष) तक पहुंच नहीं होती। उसका विषय केवल व्यावहारिक सत्य (सापेक्ष सत्य) होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इन्द्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठंडी होगी। जिसका तापमान हमारी उष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति-स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी ज्ञप्ति में देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नहीं आता। इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

---

१. भगवती, १/१

६

आत्मवाद

दो प्रवाह : आत्मवाद और अनात्मवाद

ज्ञान का अंश यत्किंचित् मात्रा में प्राणी-मात्र में मिलता है। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी हैं। उनमें बौद्धिक विकास अधिक होता है। बुद्धि का काम है—सोचना, समझना, तत्त्व का अन्वेषण करना। उन्होंने सोचा, समझा, तत्त्व का अन्वेषण किया। उसमें से दो विचार-प्रवाह निकले—क्रियावाद और अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करनेवाले 'क्रियावादी' और इन पर विश्वास नहीं करनेवाले 'अक्रियावादी' कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने संयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियों ने—'शारीरिक कष्टों को समभाव से सहना महाफल है', 'आत्महित कष्ट सहने से सधता है'—ऐसे वाक्यों की रचना की और अक्रियावादियों के मन्तव्य के आधार पर—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्'—जैसी युक्तियों का सृजन हुआ।

क्रियावादी वर्ग ने कहा—'जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापस नहीं आता। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं। इसलिए धर्म करने में एक क्षण भी प्रमाद मत करो। क्योंकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूंद के समान क्षणभंगुर है। यदि इस जीवन को व्यर्थ गंवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। कर्मों के विपाक बड़े निबिड़ होते हैं। अतः समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो ? ऐसा सद्-विवेक बार-बार नहीं मिलता। बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रियां शक्तिहीन न बनें तब तक धर्म का आचरण कर लो। नहीं तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राज-

मार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जानेवाला गाड़ीवान् रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है।'

अक्रियावादियों ने कहा—'यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुख को पाने की दौड़ में लगे हुए हैं। ये कामभोग हाथ में आये हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं। जो पीछे होनेवाला है न जाने कब क्या होगा? परलोक किसने देखा है—कौन जानता है कि परलोक है या नहीं? जन-समूह का एक बड़ा भाग सांसारिक सुखों का उपभोग करने में व्यस्त है, तब फिर हम क्यों न करें? जो दूसरों को होगा वही हमको भी होगा। हे प्रिये! चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं, खूब खा-पी, आनन्द कर, जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नहीं है। कुछ लोग परलोक के दुःखों का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखों से विमुख किए देते हैं। पर यह अतात्त्विक है।'

क्रियावाद की विचारधारा में वस्तु-स्थिति स्पष्ट हुई। लोगों ने संयम सीखा। त्याग-तपस्या को जीवन में उतारा।

अक्रियावाद की विचार-प्रणाली से वस्तु-स्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखों की ओर मुड़े।

क्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल होता है। शुभ कर्मों का फल अच्छा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एवं पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं।[1] पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है।"

फलस्वरूप लोगों में धर्मरुचि पैदा हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प-परिग्रह का महत्त्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा।

अक्रियावादियों ने कहा—'सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता। शुभ कर्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल नहीं होते। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता।[2]'

फलस्वरूप लोगों में सन्देह बढ़ा। भौतिक लालसा प्रबल हुई। महा-इच्छा, महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर्-दृष्टि 'अपने किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं'—इस पर लगी रहती है।[3] वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा, इस जन्म

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध, ६ : सुचिण्णा कम्मा सुच्चिण्णा फला भवन्ति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, सफले कल्लाणपावए पच्चायंति जीवा···

२. वही, ६ : णो सुच्चिण्णा कम्मा सुच्चिण्णा फला भवन्ति, णो दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, अफले कल्लाणपावए णो पच्चायंति जीवा···

३. उत्तरज्झयणाणि, ४।३ : कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

में नहीं तो अगले जन्म में। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नहीं। इसलिए यथासम्भव पाप-कर्म से बचा जाए, यही श्रेयस् है। अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबराता नहीं, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु को वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि बिन्दु 'हत्थागया इमे कामा'—ये काम हाथ में आए हुए हैं—जैसी भावना पर टिका हुआ होता है। वह सोचता है कि इन भोग-साधनों का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना-जाना नहीं है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवों की सार्थक और निरर्थक हिंसा से सकुचाता नहीं। वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मों को स्मरण कर पछताता है। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मान्तिक रोग और मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक कांप उठते हैं। वे नास्तिकता को तिलांजलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्तकाल में अक्रियावादी को यह सन्देह होने लगता है—"मैंने सुना कि नरक है? जो दुराचारी जीवों की गति है, जहां क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवों को प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। यह कहीं सच तो नहीं है? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी?" इस प्रकार वह संकल्प-विकल्प की दशा में मरता है।

क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि आत्मा के अस्तित्व में सन्देह मत करो। वह अमूर्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नहीं है। वह अमूर्त है इसलिए नित्य है। अमूर्त पदार्थ मात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरान्त भी स्वकृत अज्ञान आदि दोषों के बन्धन में बंधा हुआ है। वह बन्धन ही संसार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। इस जगत् में केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पांच महाभूत ही हैं। इनके समुदाय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है। भूतों का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी और तिलों से तैल पैदा होता है, वैसे ही पंच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती।

इस प्रकार दोनों प्रवाहों से जो धाराएं निकलती हैं, वे हमारे सामने हैं। हमें इनको अथ से इति तक परखना चाहिए क्योंकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का खयाल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं

होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसा-बहुल विचारधारा में वह चले हैं। जीवन की क्षणभंगुरता को बिसार कर महारम्भ-और महापरिग्रह में फंसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार में यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी है और कौन अक्रियावादी ? अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नहीं। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें, आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा में क्रियावादी हैं, सही अर्थ में नहीं। भविष्य को सोचने का अर्थ वर्तमान से आंखें मूंद लेना नहीं है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय-वासनाओं में फंसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राण-घात से भी अधिक भयंकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—"हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परन्तु उसमें समायी हुई अपने को प्रदर्शित करनेवाली एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता। भौतिक और पारभौतिक संज्ञाओं के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

आत्मा क्यों ?

अक्रियावादी कहते हैं—'जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए ?' क्रियावादी कहते हैं—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो-चार पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इन्द्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है, चिन्तन करता है। मूर्त के माध्यम से वह अमूर्त वस्तुओं को भी जानता है। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितान्त अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है।[1] वह अरूपी सत्ता है।[2]

---

१. आयारो, ५।१३९
२. वही, ५।१३७

अरूपी तत्त्व इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इन्द्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन-कब जान सकता है ? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ, जो रूपी हैं, वे सभी कोरी इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानने से कोई तथ्य नहीं निकलता।

सार की भाषा में अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं।

अध्यात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं इसलिए वह नहीं, यह मानना तर्क-बाधित है क्योंकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

भारतीय दर्शन में आत्मा के साधक तर्क

किसी भी भारतीय व्यक्ति को आम के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु के विषय में सन्देह नहीं होता। जिन देशों में आम नहीं होता, उन देशों की जनता के लिए आम परोक्ष है। परोक्ष वस्तु के विषय में या तो हमारा ज्ञान ही नहीं होता, यदि सुन या पढ़कर ज्ञान होता है तो वह साधक-बाधक तर्कों की कसौटी से कसा हुआ होता है। साधक प्रमाण वलवान् होते हैं तो हम परोक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। और बाधक प्रमाण वलवान् होते हैं तो हम उसके अस्तित्व को नकार देते हैं।

भारत में जैसे आम प्रत्यक्ष है, वैसे ही आत्मा प्रत्यक्ष होती तो भारतीय दर्शन का विकास आठ आना ही हुआ होता। आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। उसका चिन्तन, मन्थन, मनन और दर्शन भारत में इतना हुआ है कि आत्मवाद भारतीय दर्शन का प्रधान अंग वन गया। यहां अनात्मवादी भी रहे हैं, किन्तु आत्मवादियों की तुलना में आटे में नमक जितने ही रहे हैं। अनात्मवादियों की संख्या भले कम रही हो, उनके तर्क कम नहीं रहे हैं। उन्होंने समय-समय पर आत्मा के वाधक-तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनके विपक्ष में आत्मवादियों द्वारा आत्मा के साधक-तर्क प्रस्तुत किए गए। संक्षेप में उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. स्व-संवेदन

अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। 'मैं हूं', 'मैं सुखी हूं', 'मैं दुःखी हूं'—यह अनुभव शरीर को नहीं होता, किन्तु उसे होता है जो शरीर से भिन्न है। शंकराचार्य के शब्दों में—सर्वोप्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति'

—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूं'। यह विश्वास किसी को नहीं होता कि 'मैं नहीं हूं।'

२. अत्यन्ताभाव

इस तार्किक नियम के अनुसार चेतन और अचेतन में त्रैकालिक विरोध है। जैन-आचार्यों के शब्दों में 'न कभी ऐसा हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए।'

३. उपादान कारण

इस तार्किक नियम के अनुसार जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है, वह उसी रूप में परिणत होती है। अचेतन के उपादान चेतन में नहीं बदल सकते।

४. सत्-प्रतिपक्ष

जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं है उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन नहीं मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन—अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध ही नहीं होता।

५. बाधक-प्रमाण का अभाव

अनात्मवादी—आत्मा नहीं है, क्योंकि उसका कोई साधक प्रमाण नहीं मिलता।

आत्मवादी—आत्मा है क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं मिलता।

६. सत् का निषेध

जीव यदि न हो तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता। असत् का निषेध नहीं होता। जिसका निषेध होता है, वह अस्तित्व में अवश्य होता है।

निषेध चार प्रकार के हैं—

१. संयोग,
२. समवाय,
३. सामान्य,
४. विशेष।

'मोहन घर में नहीं है' यह संयोग-प्रतिषेध है। इसका अर्थ] यह नहीं कि मोहन है ही नहीं, किन्तु 'वह घर में नहीं है'—यह 'गृह-संयोग' का प्रतिषेध है। 'खरगोश के सींग नहीं होते'—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सींग भी। इनका प्रतिषेध नहीं है। यहां केवल 'खरगोश के सींग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चांद नहीं है' इसमें चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है। 'मोती घड़े-जितने बड़े नहीं हैं'—इसमें मुक्ता का अभाव नहीं, किन्तु 'घड़े जितने बड़े'—यह जो विशेषण है उसका प्रतिषेध है।

आत्मा नहीं है, इसमें आत्मा का निषेध नहीं, किन्तु उसका किसी के साथ होने वाले संयोग का निषेध है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य

यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होने मात्र से आत्मा का अस्तित्व नकारा जाए तो प्रत्येक सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तु के अस्तित्व का अस्वीकार करना होगा। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से मूर्त तत्त्व का ग्रहण होता है। आत्मा अमूर्त तत्त्व है, इसलिए इन्द्रियां उसे नहीं जान पातीं। इससे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का वैकल्य सिद्ध होता है, आत्मा का अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

८. गुण द्वारा गुणी का ग्रहण

चैतन्य गुण है और चेतन गुणी। चैतन्य प्रत्यक्ष है, चेतन प्रत्यक्ष नहीं है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। भौंहारे में बैठा आदमी प्रकाश को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है।

९. विशेष गुण द्वारा स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध

वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। स्वतन्त्र पदार्थ वही होता है, जिसमें ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले जो किसी दूसरे पदार्थ में न मिले।

आत्मा में चैतन्य नामक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में व्याप्त नहीं है, इसलिए आत्मा का दूसरे सभी पदार्थों से स्वतन्त्र अस्तित्व है।

१०. संशय

जो यह सोचता है कि 'मैं नहीं हूं' वही जीव है। अचेतन को अपने अस्तित्व के विषय में कभी संशय नहीं होता। 'यह है या नहीं' ऐसी ईहा या विकल्प चेतन के ही होता है। सामने जो लम्बा-चौड़ा पदार्थ दीख रहा है, 'वह खंभा है या आदमी,' यह विकल्प सचेतन व्यक्ति के ही मन में उठता है।

११. द्रव्य की त्रैकालिकता

जो पहले-पीछे नहीं है, वह मध्य में नहीं हो सकता। जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वह यदि पहले न हो और पीछे भी न हो तो वर्तमान में भी नहीं हो सकता।

१२. संकलनात्मक ज्ञान

इन्द्रियों का अपना-अपना निश्चित विषय होता है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जान सकती। इन्द्रियां ही ज्ञाता हों, उनका प्रवर्तक आत्मा-ज्ञाता न हो तो सब इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। फिर मैं स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द को जानता हूं, इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान किसे होगा ? ककड़ी को चवाते समय स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द—इन पांचों को जान रहा हूं, ऐसा ज्ञान होता है।

१३. स्मृति

इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयों की स्मृति रहती है। आंख से कोई वस्तु देखी, कान से कोई वस्तु सुनी, संयोगवश आंख फूट गई और कान का पर्दा फट गया, फिर भी दृष्ट और श्रुत की स्मृति रहती है।

संकलनात्मक ज्ञान और स्मृति—ये मन के कार्य हैं। मन आत्मा के बिना चालित नहीं होता। आत्मा के अभाव में इन्द्रिय और मन—दोनों निष्क्रिय हो जाते हैं। अतः दोनों के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है।

१४. ज्ञेय और ज्ञाता का पृथक्त्व

ज्ञेय, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक है, इन्द्रियां ग्रहण के साधन हैं और पदार्थ ग्राह्य है। लोहार सण्डासी से लोहपिण्ड को पकड़ता है। लोहपिण्ड ग्राह्य है, सण्डासी ग्रहण का साधन है और लोहार ग्राहक है। ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो तो सण्डासी लोहपिण्ड को नहीं पकड़ सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रिय और मन अपने विषय को ग्रहण नहीं कर पाते।

१५. पूर्व-संस्कार की स्मृति

इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने बहुमुखी तर्कों द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म का समर्थन किया है।

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है। वह लम्बा नहीं है। छोटा नहीं है, टेढ़ा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नहीं है, मंडलाकार नहीं है! वह हल्का नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं है।[1] वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। कल्पना से उसका माप किया जाए तो वह असंख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय

---

१. आयारो, ५।१२६-१३९

असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है।

वह अरूप है, इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं।

वह एकान्ततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[1] और तर्क द्वारा गम्य नहीं है।[2]

जैन-दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

१. जीव स्वरूपतः अनादि-अनन्त और नित्य-अनित्य—

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य और पर्याय-नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

२. संसारी जीव और शरीर का अभेद—

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गंजी से आदमी भिन्न नहीं होता, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं।

३. जीव का परिमाण—

जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर में होता है वह कुन्थु के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार—दोनों दशाओं में प्रदेश-संख्या, अवयव-संख्या समान रहती है।

५. आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से—

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।

४. आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त की दृष्टि से—

जैसे आकाश अमूर्त है फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

६. जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध—

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है।

७. जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से—

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव

---

१ आयारो, ५।१२८ : अपयस्स पयं णत्थि।

२. वही ५।१२२-१२४

भी तीनों कालों में अविनाशी-अवस्थित होता है।

८. जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से—

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्याएं बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

९. जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से—

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

१०. जीव और सूर्य की तुलना—भवानुयायित्व की दृष्टि से—

जैसे दिन में सूर्य यहां प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र में चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नहीं वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

११. जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण—

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दीखता, फिर भी वह घ्राण के द्वारा ग्रहण होती है, वैसे ही जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञानगुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भंभा, मृदंग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

१२. जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण—

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नहीं दीखता, फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना-चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

१३. जीव के कर्म का परिणमन—

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातु के रूप में परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं।

१४. जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध—

जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव भी संवर-तपस्या आदि उपायों के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

(१५) जीव और कर्म के सम्बन्ध में पौर्वापर्य नहीं—

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है। दोनों अनादि-सहगत हैं।

भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होनेवाला, कर्त्ता और भोक्ता, स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करनेवाला और उनका फल भोगनेवाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहूं आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि यह कहूं कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूं।"[1]

नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है और आत्मा नहीं है यह भी कहा है। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने आत्मा क्या है, कहां से आया है और कहां जाएगा—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा, "तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहां से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बुद्ध का यह 'मध्यम-मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध मन को भौतिक तत्त्वों से अलग स्वीकार करते हैं।

---

१. माध्यमकारिका, १८/१० :
अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षणः॥

२. माध्यमकारिका, १८।६ :
आत्मेत्यपि प्रज्ञापित-मनात्मत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा नचानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम्॥

नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं, जैसे—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने॥"

सांख्य जीव को कर्त्ता नहीं मानते, फल-भोक्ता मानते हैं। उनके मतानुसार कर्तृ-शक्ति प्रकृति है।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उसके अनुसार—'एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः'—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि-उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी[1] और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मा-नैक्यवादी है।[2]

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण[3], मन से भिन्न[4], विभु—व्यापक[5] और अपरिणामी है।[6] वह वाणी द्वारा अगम्य है।[7] उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा वताया है।[8] वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संघ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न वाहर है।[9]

---

१. वैशेपिक सूत्र, ३।२।१६।
२. वही, ३।२।२० : व्यवस्थातो नाना ।
३. कठोपनिषद्, २।१५।१८ : न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।
४. (क) वही, २।३।७।८० :
इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है। मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्त्व, महत्तत्व से अव्यक्त, और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। वह व्यापक तथा अलिङ्ग है।
(ख) वही, १।३।१०, ११ : पुरुष से पर (श्रेष्ठ या उत्कृष्ट) और कोई कुछ नहीं है। वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है।
५. ईशा-उपनिपद् :
ईशावास्यमिदं सर्वं। यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
६. गीता, २।२५।
७. तैत्तिरीय उपनिषद्, २।४।
८. वृहदारण्यक उपनिषद्, ४।५।१५ : स एस नेति नेति।
९ वृहदारण्यक उपनिषद्, ३।८।८ :
अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाश-मसङ्गमरसमगन्धम-चक्षुष्कमश्रोत्रमवागऽमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तरमवाह्यम्।

संक्षेप में—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं, चेतना का प्रवाहमात्र है।

न्याय वैशेषिक—आत्मा स्थायी किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नहीं। गहरी नींद में वह चेतनाविहीन हो जाती है।

वैशेषिक—मोक्ष में आत्मा की चेतना नष्ट हो जाती है।

सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त्त है।

मीमांसक—आत्मा में अवस्था-भेद-कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन-युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नींद या मूर्च्छा में चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष में चेतना का सहज उपयोग होता है। चेतना की आवृत-दशा में उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत-दशा में वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन-दृष्टि से तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द-वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न-रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है।[1] इस अन्न रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके सिर आदि अंगोपांग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है। किन्तु उसकी भांति अंगोपांग वाला नहीं है।[2] पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है।[3] इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है।[4]

इस मनोमय शरीर की तुलना मनःपर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है।[5]

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २।१।१।
२. वही, २।२।१।
३. वही, २।२।१।
४. वही, २।३।१।
५. वही, २।४।१।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है।[1] इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राणी और अप्राणी में क्या भेद है? यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आंदोलित नहीं करता। प्राण प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव[2]	अजीव[3]
१. प्रजनन-शक्ति (संतति-उत्पादन)	प्रजनन-शक्ति नहीं।
२. वृद्धि	वृद्धि नहीं।[4]

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २।५।१।

२. पंचास्तिकाय, १२६, १३० :

ण हि इन्दियाणि जीवा, काया पुण छप्पयारपण्णंति।
जं हवदि-तेसु णाणं, जीवोत्तिय तं परूवन्ति॥
जाणादि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुखं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥

३. वही,

सुह दुःख जाणणा वा, हिदपरियम्मं च अहिद भीसत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अजीव॥

४. हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० ४१, ५० :

(क) कृत्रिम उद्भिज अपने आप बढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढ़ती और इसकी बढ़ती में गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है।

इसके विपरीत···जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया का ही परिणाम है।

(ख) सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नहीं बढ़ते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के संपृक्त घोल में रखे जाने पर नहीं बढ़ता? यही बात पत्थरों और कुछ चट्टानों के बारे में भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बड़े आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे-धीरे बढ़ते हुए देखते हैं और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है।

३. आहार-ग्रहण।[1] स्वरूप में परिणमन विसर्जन···	नहीं
४. जागरण, नींद, परिश्रम विश्राम	नहीं
५. आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	नहीं
६. भय-त्रास[2]	नहीं

भाषा अजीव में नहीं होती किन्तु सब जीवों में भी नहीं होती—त्रस जीवों में

लेकिन इन दोनों प्रकार के बढ़ाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड़ या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढ़कर पूरे डीलडौल के हो जाते हैं। अतएव पशुओं और पौधों का बढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से।

१-२ हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० ४२ :

प्राणी सजीव और अजीव दोनों प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उसमें पहुंचकर सजीव कोष्ठों का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय 'क्लोरोफिल' को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणत करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

—लज्जावती की पत्तियां स्पर्श करते ही मूर्च्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहंगों में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौंक पड़ता है। परन्तु खेत की मेड़, वाटिका के फव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है, क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओं की जड़ में एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लज्जावती, हरिण, विहंग, बालक अथवा अन्य जीवों में उपस्थित हैं, परन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त, अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है।

होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती—इसलिए यह जीव का व्यापक लक्षण नहीं बनता।

गति जीव और अजीव दोनों में होती है किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं।

अजीव के चार प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश और काल गतिशील नहीं हैं, केवल पुद्गल गतिशील हैं। उसके दोनों रूप परमाणु और स्कन्ध (परमाणु समुदय) गतिशील हैं। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल-स्कन्ध-प्रयोग के बिना गति नहीं करते। सूक्ष्म-स्कन्ध स्थूल-प्रयत्न के विना भी गति करते हैं। इसलिए उनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पष्ट पुद्गल स्कन्धों में कम्पन, प्रकम्पन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उद्दीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर विभंग-अज्ञानी (पारद्रष्टा मिथ्यादृष्टि) को 'ये सब जीव हैं'—ऐसा भ्रम हो जाता है।

अजीव में जीव या अणु में कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, बल, वीर्य हैं। वे शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल में गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती।[1]

जीवन के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय-जन्म, वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-संरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमित तिर्यग्-गति—ये जीवों के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है, लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकती। किसी हद तक अपना नियंत्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टारपिडो में स्वयं-चालक शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं। ऐसा कोई यन्त्र नहीं जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के बिना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग्-गति कर सके। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन-वेग से दौड़

---

१. हिन्दी विश्वभारती, खण्ड १, पृ० १३८ :
सोडियम धातु के टुकड़े पानी में तैरकुआ कीड़ों की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

सकती है पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। चींटी में चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नहीं है। ये लक्षण जीवधारियों की अपनी विशेषताएं हैं। जड़ में ये नहीं मिलतीं।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र में उसका न्यूनाधिक मात्रा में सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों के अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब में एक-सी नहीं होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रों में कहा है—'केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवां भाग तो सब जीवों के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।'

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है।[1]

यह आत्मा प्रदेश-मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है।[2]

यह आत्मा शरीर-व्यापी है।[3]

यह आत्मा सर्व-व्यापी है।[4]

हृदय-कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है।[5]

जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त है। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य-प्रदेशी हैं। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ५।६।१ : यथा व्रीहि र्वा यवो वा।
२. छान्दोग्य उपनिषद्, ५।१८।१ : प्रदेशमात्रम्।
३. कौषीतकी उपनिषद्, ३५।४।२० : एष प्रज्ञात्मा इदं-शरीरमनुप्रविष्टः।
४. मुण्डक उपनिषद्, १।१।६ : सर्वंगतम्।
५. छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१४।३।

के समान विराट् है।[1] 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आंशिक व्यापकता होती है।[2]

प्रदेश-संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये चार समतुल्य हैं। अवगाह की दृष्टि से सम नहीं हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियां होती हैं, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नहीं होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और विकोच जीवों की स्वभाव-प्रक्रिया नहीं है—वे कार्मण शरीर-सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बंधे हुए होते हैं, इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त-दशा में संकोच-विकोच नहीं, वहां चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल-शरीर-व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव-सहित हो जाएगी और अवयव-सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घड़ा अवयव-सहित है, अतः अनित्य है। इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव-सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है,

---

१. भगवती, २।१० : जीवत्थिकाए—लोए, लोयमेत्ते, लोयप्पमाणे।
२. वही, ६।६।१७।

वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य और अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादिक कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद दृष्टि से सावयवता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है।

बद्ध और मुक्त

आत्मा दो भागों में विभक्त है—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका आतमीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएं होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एवं शरीर-जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नहीं होते। वे आत्म-रूप हो जाते हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊंचे लोक के चरम भाग में होता है। वे मुक्त होते ही वहां पहुंच जाते हैं। आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। बन्धन के कारण ही वह तिरछा या नीचे जाता है। ऊपर जाने के बाद वह फिर कभी नीचे नहीं आता। वहां से अलोक में भी नहीं जा सकता। वहां गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) का अभाव है। दूसरी श्रेणी की जो संसारी आत्माएं हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओं से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है तथापि उनके स्वरूप में पूर्ण समता होती है। संसारी जीवों में भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से आवृत रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों में बंट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव। जीवों के ये छह निकाय, शारीरिक परमाणुओं की भिन्नता के अनुसार रचे गए हैं। सब जीवों के शरीर एक-से नहीं होते। किन्हीं जीवों का शरीर पृथ्वी होता है तो किन्हीं का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओं के शरीर बनते हैं। इनमें पहले पांच निकाय 'स्थावर' कहलाते हैं। त्रस जीव इधर-उधर घूमते हैं, शब्द करते हैं, चलते-फिरते हैं, संकुचित होते हैं, फैल जाते हैं, इसलिए उनकी चेतना में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में ये बातें नहीं होतीं अतः उनकी चेतनता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जीव-परिमाण

जीवों के दो प्रकार हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अनन्त हैं। संसारी जीवों के छह निकाय हैं। उनका परिमाण निम्न प्रकार है—

१. पृथ्वीकाय—असंख्य जीव
२. अप्काय—असंख्य जीव
३. तेजस्काय—असंख्य जीव
३. वायुकाय—असंख्य जीव
५. वनस्पतिकाय—अनन्त जीव
६. त्रसकाय—असंख्य जीव

त्रसकाय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पांच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव आधार विना नहीं रह सकते। इसलिए वे लोक के थोड़े भाग में हैं।

एक-एक काय में कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है—

एक हरे आंवले के समान मिट्टी के ढेले में जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाय तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समाते।[1]

पानी की एक बूंद में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बूद्वीप में नहीं समाते।[2]

एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे भी जम्बूद्वीप में नहीं समाते।[3]

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समाते।[4]

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारों का हमारे

---

१. अद्दाऽमलगपमाणे पुढवीकाए, हवंति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जंबूदीवे न माइंति॥
२. एगम्मि दगबिन्दुम्मि, जे जिणवरेहिं पण्णत्ता।
ते जइ सरिसवमित्ता, जम्बूदीवे न माइंति॥
३. वरट्टितन्दुलमित्ता तेऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्थपलिक्ख पमाणा, जम्बूदीवे न माइंति॥
४ जे लिंवपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जम्बूदीवे न माइंति॥

शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध हैं ?—इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं—

१. एकपाक्षिक-क्रियावाद (भूत चैतन्यवाद)।

२. मनोदैहिक-सहचरवाद।

३. अन्योन्याश्रयवाद।

भूत चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है। मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है, वैसे ही चेतना (आत्मा) मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक संक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—'चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है।' इसमें द्व्यर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रियाशब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, तब पाचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का विचार करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। ये दोनों घटनाएं सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाएं नहीं, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतनाहीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतनाहीन से चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए पादरी बटलर ने लिखा है—"आप हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारुद की भांति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान-शून्य हैं, फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यान्त्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यान्त्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएं उत्पन्न हो सकती हैं ? क्या फांसों के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित

डिफरेनशियल केल्कुलस (Differential Calculus) निकल सकता है ?···आप मनुष्य की जिज्ञासा का—परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यान्त्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई ?—सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते ।[1]

पाचन और श्वासोश्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों क्रियाएं स्वयं अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नहीं। शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों के कारण माननेवालों के दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हूं—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनों को पैदा करनेवाले हैं" इत्यादि प्रयोग नहीं किये जा सकते।

'मनोदैहिक-सहचरवाद' के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारों पर एवं मानसिक व्यापारों का शारीरिक क्रियाओं पर असर होता है। जैसे—

१. मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक शक्ति दुर्बल हो जाती है।

२. मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है। साधारणतया पुरुषों का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस तक का और स्त्रियों

---

1. "Take your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the branch is formed. Imagine them separate and senseless, observe then runnig together and forming all imaginable combinations. This as a purely mechanical process is seeable by the mind. But can you see or aream or in any way imagine how out of that mechanical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise ? Are you likely to create Homer out of the rattling of dice or 'Differential Calculus' out of the clash of Billiard ball ?...You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomena of consciousness."

का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इनमें कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवादरूप असाधारण मानसिक शक्ति वालों का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

३. ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियों से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

४. दिमाग पर आघात होने से स्मरण-शक्ति क्षीण हो जाती है।

५. दिमाग का एक विशेष-भाग मानसिक शक्ति के साथ सम्बन्धित है, उसकी क्षति से मानस-शक्ति में हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

१. निरन्तर चिन्ता एवं दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है।

२. सुख-दुख का शरीर पर प्रभाव होता है।

३. उदासीन-वृत्ति एवं चिन्ता से पाचन-शक्ति मन्द हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विषाक्त वन जाता है।

इन घटनाओं के अवलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुंच गए। दोनों शक्तियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके सामने एक उलझन अब तक भी मौजूद है। दो विसदृश पदार्थों के वीच कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसे? इसका वे अभी समाधान नहीं कर पाए हैं।

दो विसदृश पदार्थों (अरूप और सरूप) का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा में दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन में यों किया गया है। संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। सूक्ष्म-शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त जीव मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नहीं उठता। सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहां पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता—पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए संसार-दशा में जीव कथञ्चित् मूर्त भी है।

उनका अमूर्त रूप विदेहदशा में प्रकट होता है। यह स्थिति वनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्वन्ध नहीं रहता। किन्तु संसार-दशा में जीव और पुद्गल का कथंचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्वन्ध होना असम्भव नहीं। 'अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नहीं हो सकता'—यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है, यह उचित है। इनमें क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्वन्ध नहीं हो सकता।

अरूप (ब्रह्म) का सरूप (जगत्) के साथ सम्वन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त के लिए एक जटिल समस्या है। संगति से असंगति (ब्रह्म से जगत्) और असंगति से फिर संगति की ओर गति क्यों होती है ? यह उसे और अधिक जटिल वना देती है।

अमूर्त आत्मा का मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है। किन्तु वस्तुवृत्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नहीं हो सकता। संसारी आत्माएं अरूप नहीं होतीं। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है किन्तु संसार दशा में उसकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त-दशा में वनती है। उसके वाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातों से कोई लगाव नहीं होता।

विज्ञान और आत्मा

वहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक है। दूसरे शब्दों में मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। पावलोफ ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क (सेरेब्रम) के करोड़ों सेलों (Cells) की क्रिया है। वर्गसां जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को 'पावलोफ' मस्तिष्क के सेलों (Cells) की क्रिया वतलाता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट में जिस प्रकार प्रतिबिम्व खींचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में अतीत के चित्र प्रतिबिम्बित रहते हैं। जव उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है तव वे जागृत हो जाते हैं, निम्नस्तर से ऊपरीस्तर में आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्वों से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोगों के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की वहुमुखी चेष्टाएं की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने में उसका अधिकार सम्पन्न नहीं होता। मन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार का होता है।

मनन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान—

अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड़ करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं।[1] भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। इसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति में परिवर्तन पाया जाए, अर्ध-स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या में उलझे हुए हैं। वे कहते हैं मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है। ऐसा होने पर उसके विचित्रगुण-चेतन-क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नए गुण देखे जाते हैं, जो पहले भौतिक-तत्त्वों में मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है कि उसे बिलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए।[2]

इन पंक्तियों से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय में ही नहीं, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे में भी अभी कितना संदिग्ध है। मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बों का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट की भांति वर्तमान के चित्रों को खींच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे स्मृति का साधन भले ही माना जाए किन्तु उस स्थिति में वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। उसमें केवल घटनाएं अंकित हो सकती हैं, पर उनके पीछे छिपे हुए कारण स्वतंत्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने बिना नहीं जाने जा सकते। 'यह क्यों? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह नहीं हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा'—ज्ञान की इत्यादि क्रियाएं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट की चित्रावली में नियमन होता है। प्रतिबिम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी नहीं होता। यह नियमन मानव-मन पर लागू नहीं होता। वह अतीत की धारणाओं के आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है, भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टान्त की भी मानस-क्रिया में संगति नहीं होती।

तर्कशास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अंकित प्रतिबिम्बों के परिणाम नहीं। अदृष्ट-पूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतन्त्र मानस की तर्कणा के कार्य हैं, किसी दृष्ट-वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं। इसलिए हमें स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही होगा। हम प्रत्यक्ष में आनेवाली चेतना की विशिष्ट

---

१. सूत्रकृतांग वृत्ति. १।८।

२. विज्ञान की रूपरेखा, पृ० ३६७।

क्रियाओं की किसी भी तरह अवहेलना नहीं कर सकते । इसके अतिरिक्त भौतिकवादी बर्गसां की आत्म-साधक युक्ति को—'चेतन और अचेतन का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?'—इस प्रश्न के द्वारा व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। वर्गसां के सिद्धान्त की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि—वर्गसां जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वों से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु साबित करना चाहते हैं। ऐसा साबित करने में उनकी सबसे जबरदस्त युक्ति है 'स्मृति' । मस्तिष्क शरीर का अंग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान में लाने का वाहन नहीं बन सकता । इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते हैं। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है, यह आसान समस्या नहीं है। चेतन और अचेतन इतने विरुद्ध द्रव्यों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना तेल में पानी मिलाने जैसा है। इसलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूंढ़ा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नहीं हो सकती ।

सज्जीवतच्छरीरवादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिकों की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की श्वास ली है, उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिकों ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। संसार-दशा में आत्मा और शरीर—ये दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते। गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदाभेद बतलाया है—"आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी । शरीर रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी ।[1] शरीर और आत्मा का क्षीर-नरवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत् तादात्म्य होता है। यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमें जीव और शरीर का कथंचित् अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं[2] तथा इसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण भी मिलते हैं।[3] शरीर से आत्मा का कथंचित्-भेद होता है।[4] इसलिए उसको अवर्ण, अगंध, अरस और

---

१. भगवती, १३।७।४९५ :
आया भंते । काये अन्ने काये ! गोयमा आया काये वि अन्ने वि काये । रूवि भन्ते ! काये अरूवि काये ? गोयमा ! रूवि पि काये अरूवि पि काये । एवं [illegible] पुच्छा-गोयमा ! सचित्ते वि काये अचित्ते वि काये ।

२ वही, १४।४।५१४

३. वही, १७।२।

४. सूत्रकृतांग, १।१।१८, वृत्ति—
भूतेभ्यः कथचिदन्य एव शरीरेण सह अन्योन्यानुवेधादनन्योपि ।

अस्पर्श कहा जाता है। आत्मा और शरीर का भेदाभेद-स्वरूप जानने के पश्चात् ''अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है—यह प्रश्न कोई मूल्य नहीं रखता। विश्ववर्त्ती चेतन या अचेतन सभी पदार्थ परिणामी-नित्य हैं। ऐकान्तिक रूप से कोई भी पदार्थ मरणधर्मा या अमर नहीं। आत्मा स्वयं नित्य भी है और अनित्य भी, सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव नहीं होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध होती है। स्वरूपस्थ होने के बाद वह विशुद्ध चेतनावान् और सर्वथा अमूर्त बनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ से सम्बन्ध नहीं होता। वद्ध आत्मा स्थूल-शरीर-मुक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहती है। स्थूल शरीर में वह प्रवेश नहीं करती किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वयं उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु अनादिकालीन प्रवाह में वह शरीर-पर्यायात्मक एक कड़ी और जुड़ जाती है। उसमें कोई विरोध नहीं आता। संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बंधा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप में स्थित नहीं, अतएव अमूर्त होने पर भी उसका मूर्त कर्म (अचेतन द्रव्य) के साथ सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं होती।

आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग

वैज्ञानिकों ने १०२ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्तिमान् हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किये हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यों पर ही किए हैं। अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं वनता। उस पर प्रयोग भी नहीं किए जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसीलिए आज के वैज्ञानिक, भौतिक साधन-सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नहीं लगा सके। किन्तु भौतिक साधनों से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता तो उसका नास्तित्व भी नहीं जाना जाता। शरीर पर किये गए विविध प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। रूस के जीव-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् पावलोफ ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया।[1] उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएं स्तब्ध हो गईं। वह अपने मालिक और खाद्य तक को नहीं पहचान पाता। फिर भी वह मरा नहीं। इन्जेक्शनों द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी में कुछ भी चैतन्य नहीं रहता।

१. पावलोफ के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाएं शारीरिक प्रवृत्ति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृत्ति अभिन्न ही नहीं किन्तु अभिन्न ही है।

इस पर हमें अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं। यहां सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नहीं, किन्तु वह मानस प्रवृत्तियों के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाएं रुक गईं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित भी नहीं रह पाता। खाद्य का स्वीकरण, रक्तसंचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी में ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। वह केवल मानस-प्रवृत्ति वाले प्राणी के ही होता है। वनस्पति भी आत्मा है। उनमें चेतना है, हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृतियां हैं। पर उनके दिमाग नहीं होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसमें स्वानुभूति होती है, सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिलें या न मिलें। वाणी-विहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नहीं होता, यह मानना यौक्तिक नहीं। उसके पास बोलने का साधन नहीं, इसलिए वह अपना कष्ट कह नहीं सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नहीं करेगा ? विकासशील प्राणी मूक होने पर भी अंग-संचालन-क्रिया से पीड़ा जता सकते हैं। जिनमें यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी तरह भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अंग-संचालन होते दीखना, चेष्टाओं को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नहीं हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रस-जातिगत आत्माओं के होते हैं। स्थावर जातिगत आत्माओं में ये स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। इससे उनकी चेतनता और सुख-दुःखानुभूति का लोप थोड़े ही किया जा सकता है। स्थावर जीवों की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रों में लिखा है कि—जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एवं रोग-ग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवा पुरुष तलवार एवं खडग् से ३२-३२ बार छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवों को उन पर प्रहार करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव में वे बता नहीं सकते। मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही ठहरा। इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। खैर। जो कुछ हो, इस विषय पर हमें इतना-सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी चेतन सत्ता है। वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले कौशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल में शारीरिक अवयवों के परीक्षण द्वारा आत्म-प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए। किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा।

आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसी ही असम्भव चेष्टाएं करते रहेंगे तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत यदि वे चेतना का आनुमानिक एवं स्वसंवेदनात्मक अन्वेषण करें तो इस गुत्थी को अधिक सरलता से सुलझा सकते हैं।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करनेवाले दार्शनिक चेतना तत्त्व को अनादि-अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड' की धारणा भी यही है कि जीवन का आरम्भ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् में भी इस विचार की दो धाराएं हैं।

१. वैज्ञानिक लुई पाश्चर और टिंजल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते।

रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिनस्काया, अणु-वैज्ञानिक डॉ० डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालों को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?'—यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि-जीव किन अवस्थाओं में, कब और कैसे उत्पन्न हुआ—यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पाश्चर और हिंडाल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते। यह परीक्षण यों है।

'…एक कांच के गोले में उन्होंने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज़ रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था में रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाए, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था में किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नहीं होती, उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख देने पर कुछ दिनों में ही उनमें कीड़े, मकोड़े या क्षुद्राकार बीजाणु दिखाई देने लगते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा में रहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ में जाकर उपस्थित होते हैं।'

स्टैनले मिलर ने डॉ० यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितियां थीं, वे ही उत्पन्न कर दीं। एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की। उसमें तीन प्रकार के प्रोटीन मिले परन्तु एक भी प्रोटीन जीवित नहीं मिला। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का

गुणात्मक परिवर्तन है। पानी, पानी है। परन्तु उसका तापमान थोड़ा बढ़ा दिया जाए तो एक निश्चित बिन्दु पर पहुंचने के बाद वह भाप बन जाता है। (ताप के इस बिन्दु पर यह होता है, यह वायुमण्डल के दबाव के साथ बदलता रहता है) यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह बर्फ़ बन जाता है। जैसे भाप और बर्फ़ का पूर्व-रूप पानी है, उसका भाप या बर्फ़ के रूप में परिणमन होने पर—गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नहीं रहता। वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका? इसका कोई सामधान नहीं मिलता। "पानी को गर्म कीजिए तो बहुत समय तक वह पानी ही बना रहेगा। उसमें पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेंगे, केवल उसकी गर्मी बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार पानी को ठण्डा कीजिए तो एक हद तक वह पानी ही बना रहता है लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है। परन्तु एक बिन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है। शीत या उष्ण बिन्दु पर पहुंचते ही पानी के गुण एकदम बदल जाते हैं। पानी, पानी नहीं रहता बल्कि भाप या बर्फ़ बन जाता है।"

जैसे निश्चित बिन्दु पर पहुंचने पर पानी भाप या बर्फ़ बनता है वैसे भौतिकता का कौन-सा निश्चित बिन्दु है जहां पहुंचकर भौतिकता चेतना के रूप में परिवर्तित होती है। मस्तिष्क के घटक तत्त्व हैं—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, फासफोरस आदि-आदि। इनमें से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सबके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वों की कितनी मात्रा बनने पर वह पैदा होती है—इसका कोई ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। चेतना भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से पैदा होती है। या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तब तक वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं बन सकता जब तक भौतिकता के उस चरम-बिन्दु की, जहां पहुंचकर यह चेतना के रूप में परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आंख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञात विषय की स्मृति रहती है, इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व-ज्ञान विकृत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है—वह आत्मा है। इस पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय बिगड़ जाने पर जो पूर्व-ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण है मस्तिष्क, आत्मा नहीं। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तब तक स्मृति है। उसके बिगड़ जाने पर स्मृति नहीं होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है।" उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता

नहीं।' यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रियां बाहरी वस्तुओं को जानने के साधन हैं, वैसे मस्तिष्क इन्द्रियज्ञान विषयक चिन्तन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नहीं होती। फिर भी पागल व्यक्ति में चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधनों की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल हो जाती है, नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाएं होती हैं। वे यह बताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर के अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी स्वीकार नहीं करते। 'तन्दुल-वेयालिय' के अनुसार इस शरीर में १६० ऊर्ध्वगामिनी और रसहारिणी शिराएं हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुंचती हैं। वे स्वस्थ होती हैं, तब तक आंख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है।[1] भारतीय आयुर्वेद के मत में भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है—

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां, शिरस्तदभिधीयते ॥—चरक

मस्तिष्क चैतन्य सहायक धमनियों का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नहीं होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं

कृत्रिम मस्तिष्क, जिनका बड़े गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नहीं है। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र हैं। उनकी मानव.मस्तिष्क से तुलना नहीं की जा सकती। वास्तव में ये मानव-मस्तिष्क की भांति सक्रिय और बुद्धियुक्त नहीं होते। ये केवल शीघ्र और तेजी से काम करनेवाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ में यह मानव-मस्तिष्क का एक शतांश भी नहीं। मानव-मस्तिष्क चार भागों में बंटा हुआ है—

१. दीर्घ-मस्तिष्क—जो संवेदना, विचार-शक्ति और स्मरणशक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।

---

१. तन्दुलवैयालिय—इमम्मि सरीरए सठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं उड्ढगामिणीणं सिरं उपगयाणं जा उ रसहरणिओत्ति णुच्चइ। जासिं णं निरुवघाएणं चक्खूसोयघाणजिहाबलं भवइ।

२. लघु-मस्तिष्क ।

३. सेतु ।

४. सुषुम्ना ।

यान्त्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का क्षुद्रतम अंश है ।

यांत्रिक-मस्तिष्क का गणन-यंत्र लगभग मोटर में लगे मीटर की तरह होता है, जिसमें मोटर के चलने की दूरी मीलों में अंकित होती चलती है । इस गणन-यंत्र का कार्य एक और शून्य अंक को जोड़ना अथवा एकत्र करना है । यदि गणन-यंत्र से इन अंकों को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड़-घटाव की दो क्रियाओं पर ही सारा गणित आधारित है ।

प्रदेश और जीवकोष

आत्मा असंख्य-प्रदेशी है । एक, दो, तीन प्रदेश जीव नहीं होते । परिपूर्ण असंख्य प्रदेश के समुदय का नाम जीव है । वह असंख्य जीवकोषों का पिण्ड नहीं है । वैज्ञानिक असंख्य सेल्स (Cells)—जीवकोषों के द्वारा प्राणी-शरीर और चेतन का निर्माण होना बतलाते हैं । वे शरीर तक सीमित हैं । शरीर अस्थायी है—एक पौद्‌गलिक अवस्था है । उसका निर्माण होता है और वह रूपी है, इसलिए अंगोपांग देखे जा सकते हैं । उनका विश्लेषण किया जा सकता है । आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है । वह उत्पन्न नहीं होता और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नहीं जाता । अतएव जीव-कोषों के द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है । प्रदेश भी आत्मा के घटक नहीं हैं । वे स्वयं आत्मरूप हैं । आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमें उनका आरोप किया गया है । यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमें संगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नहीं रहता । वास्तविक प्रदेश केवल पौद्‌गलिक स्कन्धों में मिलते हैं । अतएव उनमें संघात या भेद होता रहता है । आत्मा अखण्ड द्रव्य है । उसमें संघात-विघात कभी नहीं होते और न उसके एक-दो-तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं । आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाण वाली हैं । एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है । उसके बिना पट पूरा नहीं बनता । परन्तु एक तन्तु पट नहीं कहा जाता । एक रूप में समुदित तन्तुओं का नाम पट है । वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नहीं कहा जाता । असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है ।

अस्तित्व-सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से । जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता के साध्य का

अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नहीं मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। हां, यह निश्चित है कि इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। फिर भी आत्मा के अस्तित्व में यह बाधक नहीं, क्योंकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने में समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आंख घट, पट आदि को देख सकती है, पर जिस समय उचित सामीप्य एवं प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती हैं। आत्मा अपौद्गलिक (अभौतिक) पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियों द्वारा आत्मा को न जान सकना नहीं कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव मानें तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ़-सी आ जाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह संदेह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसीलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि सन्देह किया जाता है, तब आत्मवादियों को वह हेतु भी अनात्मवादियों के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाएं कि 'आत्मा नहीं है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—धूम को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है इसका कारण यही है कि धुआं अग्नि का तथा आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उनके बिना वे निश्चितरूपेण नहीं होते। चेतना भूत-समुदाय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नहीं माना जा सकता क्योंकि भूत जड़ है। भूत और चेतना में अत्यन्ताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी होगा। इसलिए हमें आत्मा की जड़ वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड़ पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह संगत नहीं। विकास अपने धर्म के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नहीं कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। इसलिए जड़त्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी

महाशक्तियों को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्तिसंगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों में न मिलनेवाला गुण जिसमें मिले, वह स्वतन्त्र द्रव्य होता है। सामान्यगुण जो कई द्रव्यों में मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नहीं होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कहीं नहीं मिलता। अतएव आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है और उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सत्—दोनों घटित होते हैं। पदार्थ वही है जो प्रति क्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है जो सत् हो यानी पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ, भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा में जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत में बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं एवं मनुष्य, पशु आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। आत्मा में रूप, आकार एवं वजन नहीं, फिर वह द्रव्य ही क्या ? यह निराधार शंका है। क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण हैं। सब पदार्थों में उनका होना आवश्यक नहीं होता।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा ? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा ? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त होने पर कुछ भी नहीं है। पांच भूतों से प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं।[1] पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है।[2]

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव में ऊंची-नीची, तिरछी-लम्बी और

---

१. आयारो, १२।६
२. भगवती, २।५

छोटी-बड़ी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं।[1] इसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान में जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय में सभी क्रियावादी एकमत हैं। भगवान् महावीर के शब्दों में—"क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देनेवाले हैं।[2] गीता कहती है—जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद नए शरीर को धारण करते हैं।"[3] यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है।"[4] महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभनेवाले कांटे को पूर्वजन्म में किए हुए प्राणीवध का विपाक बताया।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है।[5] नव-शिशु स्तन-पान करने लगता है। यह पूर्वजन्म में किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता है।[6] जिस प्रकार युवक का शरीर बालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, जैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होनेवाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा —देही है।[7]

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःखपूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व अनुभव-युक्त है। जीवन का मोह और मृत्यु का भय पूर्वबद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पूर्वजन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियां नहीं मिलतीं। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने विविध युक्तियों से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नहीं हैं।

प्राचीन दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नए-नए वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और

---

१. ठाणं, ६।४०
२. दसवेआलियं, ८।३९
३. गीता, २।२२
४. वही, ८।२६
५. न्यायसूत्र, ३।१।११
६. वही, ३।१।१२
७. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा—
बाल सरीरं देहं तरपुव्वं इंदिया इमत्ताओ।
जुवदेहो बालादिव स जस्स देहो स देहित्ति

अनेक बार जन्म लेगी।"[1]

नवीन दार्शनिक शोपनहार के शब्दों में पुनर्जन्म निसंदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे में पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्टरूपेण प्रतीत हो जाता है।"[2]

पुनर्जन्म की अवहेलना करनेवाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं :

१. यदि हमारा पूर्वभव होता तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ तो स्मृतियां होतीं ?

२. यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते ?

पहली शंका का हम अपने बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियां हमें स्मरण नहीं आतीं तो क्या इसका अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नहीं थी ? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं होतीं, तो भी अपने बचपन में किसी को सन्देह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं ? पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जागृत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति ज्ञान' (पूर्वजन्म-स्मरण) हो जाता है, वह अनेक जन्मों की घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शंका एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके दो कारण हैं—

१. वह अमूर्त है, दृष्टिगोचर नहीं होता।

२. वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता।

नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं देखा जाता। इससे उसका अभाव थोड़े ही माना जा सकता है ? अन्धकार में कुछ नहीं दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहां कुछ भी नहीं है ? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता।

---

1. The soul always weaves her garment a-new—"The soul has a natural strength which will hold out and be born many times.
2. I have also remarked that it is atonce obvious to every one who hears of it (rebirth) for the first time.

अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनिया में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त-असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नहीं होता, तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है ? परिवर्तन। प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है किन्तु न तो वह सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यन्त नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीवका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं। यह एक ध्रुव-सत्य है कि सत्ता से असत्ता एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़नेवाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर-जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों में एकरूप रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की शृंखला जुड़ती है। शरीरशास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं—सब अवयव नए बन जाते हैं। इस सर्वांगीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा ?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है। अन्तर-काल में स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मृत्यु-स्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहां आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा में होता है, वहां गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्व-शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व-शरीर-जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नए जन्म-स्थान में पहुंच जाता है। वक्रगति में घुमाव करने पड़ते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह-जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं। इसका तर्क-संगत कारण लोक-संस्थान है। सामान्यतः यह लोक ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्—इन तीन

भागों में तथा जीवोत्पत्ति की अपेक्षा त्रस-नाड़ी और स्थावर-नाड़ी, इन दो भागों में विभक्त है।

द्विसामयिक गति—

ऊर्ध्वलोक की पूर्व दिशा से अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन्न होनेवाले जीव की गति एकवक्रा द्विसामयिकी होती है। पहले समय में समश्रेणी में गमन करता हुआ जीव अधोलोक में जाता है और दूसरे समय में तिर्यग्वर्ती अपने उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुंच जाता है।

त्रिसामयिक गति—

ऊर्ध्व दिशावर्ती अग्निकोण से अधोदिशावर्ती वायव्य कोण में उत्पन्न होनेवाले जीव की गति द्विवक्रा त्रिसामयिकी होती है। पहले समय में जीव समश्रेणी गति से नीचे आता है, दूसरे समय में तिरछा चलकर पश्चिम दिशा में और तीसरे समय में तिरछा चलकर वायव्य कोण में अपने जन्मस्थान पर पहुंच जाता है।

स्थावर-नाड़ी गत अधोलोक की विदिशा के इस पार से उस पार की स्थावर-नाड़ी गत ऊर्ध्वलोक की दिशा में पैदा होनेवाले जीव की 'त्रिवक्रा चतुःसामयिकी' गति होती है। एक समय अधोवर्ती विदिशा से दिशा में पहुंचने में, दूसरा समय त्रस-नाड़ी में प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रस-नाड़ी से निकल उस पार स्थावर नाड़ी गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुंचने में लगता है। आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती, किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

जन्म-व्युत्क्रम और इन्द्रिय—

आत्मा का एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होना संक्रान्तिकाल है। उसमें आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति कैसी रहती हैं, इस पर हमें कुछ विचार करना है। अन्तराल-गति में आत्मा के स्थूल-शरीर नहीं होता। उसके अभाव में आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियां भी नहीं होतीं। वैसी स्थिति में जीव का जीवत्व कैसे टिका रहे? कम से कम एक इन्द्रिय की ज्ञानमात्रा तो प्राणी के लिए अनिवार्य है। जिसमें यह नहीं होती, वह प्राणी भी नहीं होता। इस समस्या को शास्त्रकारों ने स्याद्वाद के आधार पर सुलझाया है।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! एक जन्म से दूसरे जन्म में व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय?

भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा जीव अन-इन्द्रिय व्युत्क्रान्त होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।'[1]

१. भगवती, १।७।

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियां नहीं होतीं। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है। किन्तु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय-शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यतावाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियां नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय-आदि जातियों में क्रमश: रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र की रचना होती है। दोनों प्रकार की इन्द्रियों के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नहीं, किन्तु संचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम से होती है।[1] उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है—

जीवप्रभव शरीर,
शरीरप्रभव वीर्य,
वीर्यप्रभव योग (मन, वाणी और कर्म)।[2]

वीर्य दो प्रकार का होता है—लब्धि-वीर्य और करणवीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते हैं। करण-वीर्य क्रियात्मक शक्ति है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है।[3]

जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का संग्रह या स्वीकरण करता है। वह पौद्गलिक कर्म का संग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृंखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वयं का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियंत्रित नहीं किन्तु क्रिया-नियंत्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलों का संचय कर जीव भारी बन जाते हैं।[4] इनकी

---

१. भगवती २।१०।
२. वही, १।३:
से णं भंते ! जोए किं पवहे ?...गोयमा ! वीरियप्पवहे। से णं भंते ! वीरिए किं पवहे ? गोयमा ! सरीरप्पवहे। से णं भंते ! सरीरे किं पवहे ? गोयमा ! जीवप्पवहे !
३. वही, १।८।
४ वही, १।६।

विरक्ति करनेवाला जीव कर्म-पुद्गलों का संचय नहीं करता, इसलिए वह भारी नहीं बनता।[1]

जीव कर्म के भार से जितना अधिक भारी होता है, वह उतनी ही अधिक निम्नगति में उत्पन्न होता है[2] और हल्का ऊर्ध्वगति में।[3] गुरुकर्मा जीव इच्छा न होने पर भी अधोगति में जायेगा। कर्म-पुद्गलों को, उसे कहां ले जाना है, यह ज्ञान नहीं होता। किन्तु पर भव-योग्य आयुष्य कर्म-पुद्गलों का जो संग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानी वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओं की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नहीं करते।[4] वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते हैं, उसी स्थान पर जीव को घसीट ले जाते हैं।[5] उन पुद्गलों की गति उनकी रासायनिक क्रिया (रस-बंध या अनुभाव-बंध) के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार एक जन्म से दूसरे जन्म में गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

---

१ भगवती, १।६।

२ वही, ६।३२।

३. वही, ६।३२।

४. भगवती ५,३ :
एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदइ—इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा।

५. वही, ५।३; २५।८ ।

७

कर्मवाद

कर्म

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जगत् की विभक्ति[1], विचित्रता[2] और साधन-तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है[3]। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश' और न्यायवैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं[4]। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है[5]। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है[6]। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार

---

१. भगवती, १२।५ :
कम्मओणं भंते ! जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।
कम्मओणं जीवे णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई ॥

२. अभिधर्म कोष, ४।१ :
कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्।

३ विशेषावश्यक भाष्य,
जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं कज्जतणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊय सो कम्म।

४. जैन सिद्धान्त दीपिका, ४।१ :
आत्मप्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म।

५. न्यायसूत्र, ४।१ :
ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्।

६ सांख्यसूत्र, ५।२५ :
अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्।

पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य-कारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है।

जैन-दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। बंधने के बाद उनका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःखरूप तथा आवरणरूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार प्रकार हैं।

उदीरणा—कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक-दूसरे के रूप में बदलना, आदि-आदि अवस्थाएं जैनों के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक हैं।

बन्ध के कारण क्या हैं ? बंधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित ? कर्म जिस रूप में बंधते हैं उसी रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा ? धर्म करनेवाला दुःखी और अधर्म करनेवाला सुखी कैसे ? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारों ने विस्तृत विवेचन किया है।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

पदार्थ के असंयुक्त रूप में शक्ति का तारतम्य नहीं होता। दूसरे पदार्थ से संयुक्त होने पर ही उसकी शक्ति न्यून या अधिक बनती है। दूसरा पदार्थ शक्ति का बाधक होता है, वह न्यून हो जाती है। बाधा हटती है, वह प्रकट हो जाती है। संयोग-दशा में यह ह्रास-विकास का क्रम चलता ही रहता है। असंयोग-दशा में पदार्थ का सहज रूप प्रकट हो जाता है, फिर उसमें ह्रास या विकास कुछ भी नहीं होता।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (असंयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नहीं। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है। वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है। शुद्धि की

मात्ना कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म-पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुच कर्म-संघटना तक ही है। उससे कर्म-संघटना प्रभावित होती है, फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है, यह एकांगी-दृष्टिकोण मिथ्या है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ होता है, यह सापेक्ष-दृष्टिकोण सत्य है।

वर्तमान के जैन मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म की उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियां हैं, वे सब कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वह संयोग कृत होता है तब विभाव रूप होता है और यदि दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहां संस्कार या वासनारूप मानते हैं, वहां जैन-दर्शन

उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं बनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे बने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है, गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

वेड़ी से मनुष्य बंधता है। सुरापान से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये वेड़ी आदि बाहरी बन्धन अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म-स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे बननेवाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन; जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उसको भोगनेवाली इन्द्रियां मूर्त हैं। उनसे होनेवाला सुख-दुःख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त हैं।[१]

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश-रूप हो जाता है।[२]

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन में कर्म-शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति

१, २. पंचास्तिकाय, १४१, १४२ :

जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णिययं।
जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि···
मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्ति विरहिदो, गाहिद तेतेदि उग्गहदि···

के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण या जीव और कर्म-परमाणुओं का ऐकीभाव) होता है।

कर्म के हेतुओं को भाव-कर्म या 'मल' और कर्म-पुद्गलों को द्रव्य-कर्म या 'रज' कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव-कर्म तीव्र होता है।[1]

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएं कथंचित् मूर्त हैं अर्थात् निश्चयदृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वे संसार-दशा में मूर्त होती हैं। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्ममुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्मबद्ध आत्मा के ही कर्म बंधते हैं—उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यों का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

बन्ध के हेतु

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है?

भगवान्—गौतम! बांधता है।

गौतम—भगवन्! वह किन कारणों से बांधता है?

भगवान्—गौतम! उसके दो हेतु हैं—प्रमाद और योग।

गौतम—भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्— योग से।

गौतम—योग किससे उत्पन्न होता है?

---

१. प्रवचनसार, वृत्ति, पृ० ४५५ :
जीवपरिपाकहेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल-कम्म-निमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ॥

भगवान्—वीर्य से।

गौतम—वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—शरीर से।

गौतम—शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।[1]

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा-मोहनीय) का वन्ध करता है। स्थानांग और प्रज्ञापना में कर्मवन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण वतलाए हैं।[2]

वंध

माकंदिक-पुत्र ने पूछा—"भगवन्! भाव-वंध कितने प्रकार का है?"

भगवान् ने कहा—"माकंदिक-पुत्र! भाव-वंध दो प्रकार का है—

१. मूल-प्रकृति-वंध।

२. उत्तर-प्रकृति-वंध।"[3]

वंध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चार प्रकार की है—

१. प्रकृति।

२. स्थिति।

३. अनुभाग।

४. प्रदेश।

१. प्रदेश

वन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण।[5] ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं। यह प्रदेश-बंध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

२. प्रकृति

वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बंध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियां (स्वभाव) आठ हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयुष्य,

---

१. भगवती, १।२।३४।

२. (क) ठाणं, ४।९२।

(ख) प्रज्ञापना, २३।१।२९०।

३. भगवती, १८।३।

४. समावाओ, ४।५।

५. स्थानांगवृत्ति, पत्र ३९५ : बन्धनं—निर्मापणम्।

६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।[1]

संक्षिप्त-विभाग—

१. ज्ञानावरण	(क) देशज्ञानावरण	(ख) सर्व-ज्ञानावरण
२. दर्शनावरण	(क) देश-दर्शनावरण	(ख) सर्व-दर्शनावरण
३. वेदनीय	(क) सात-वेदनीय	(ख) असात-वेदनीय
४. मोहनीय	(क) दर्शन-मोहनीय	(ख) चारित्र-मोहनीय
५. आयुष्य	(क) अद्धायु	(ख) भवायु
६. नाम	(क) शुभ-नाम	(ख) अशुभ-नाम
७. गोत्र	(क) उच्च-गोत्र	(ख) नीच-गोत्र
८. अन्तराय	(क) प्रत्युत्पन्न-विनाशी	(ख) पिहित आगामीपथ[2]

३. स्थिति

यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है। यह स्थिति-बंध है।

४. अनुभाग

यह फलदान-शक्ति की व्यवस्था है। इसके अनुसार उन पुद्गलों में रस की तीव्रता और मंदता का निर्माण होता है। यह अनुभाग-बंध है।

बंध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं। आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश-बंध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस-शक्ति वाला पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण में बंट जाता है। यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश-बंध है। बंध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव-निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इसका अन्तिम विभाग है।

कर्म : स्वरूप और कार्य

इनमें चार कोटि की पुद्गल-वर्गणाएं चेतना और आत्म-शक्ति की आवारक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। चेतना के दो रूप हैं—

१. ज्ञान—जानना, वस्तु-स्वरूप का विमर्श करना।

२. दर्शन—साक्षात् करना, वस्तु का स्वरूप-ग्रहण।

---

१. प्रज्ञापना पद, २३।

२. कर्मों के विस्तृत विभाग के लिए देखें—परिशिष्ट ३।

ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्‌गल क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं।

आत्मा को विकृत बनानेवाले पुद्‌गलों की संज्ञा 'मोहनीय' है।

आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करनेवाले पुद्‌गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घात्य-कर्म हैं।

वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघात्य-कर्म हैं।

घात्य कर्म के क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारों कर्म अशुभ ही होते हैं। इसके आंशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आंशिक मात्रा में उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय से आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है।

वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। अशुभ-कर्म अनिष्ट-संयोग और शुभ-कर्म इष्ट-संयोग के निमित्त बनते हैं। इन दोनों का जो संगम है, वह संसार है। पुण्य-परमाणु सुख-सुविधा के निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति नहीं होती। ये पुण्य और पाप—दोनों बन्धन हैं। मुक्ति इन दोनों के क्षय से होती है।

वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—सात-वेदनीय और असात-वेदनीय। ये क्रमशः सुखानुभूति और दुःखानुभूति के निमित्त बनते हैं। इनका क्षय होने पर अनन्त आत्मिक आनन्द का उदय होता है।

नाम-कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेयवचन, यशस्वी और विशाल व्यक्तित्व वाला होता है तथा अशुभ नाम के उदय से इसके विपरीत होता है। इनके क्षय होने पर आत्मा अपने नैसर्गिक भाव—अमूर्तिक-भाव में स्थित हो जाता है। गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये क्रमशः उच्चता और नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अगुरु-लघु—पूर्ण-सम बन जाता है।

आयुष्य के दो प्रकार हैं—शुभ आयु, अशुभ आयु। ये क्रमशः सुखी जीवन और दुःखी जीवन के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन जाता है।

ये चारों भवोपग्राही कर्म हैं। इनके परमाणुओं का वियोग मुक्ति होने के समय एक साथ होता है।

बंध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका ब्रह्म जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्‌गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो

सामर्थ्य पैदा होती है, उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है, किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक शक्ति-जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म-योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया को बंध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बंध आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बंध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं, दोनों में से एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय-काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है।[1]

कर्म कौन बांधता है ?

अकर्म के कर्म का बंध नहीं होता। पूर्व-कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मों का बंध करता है।[2]

मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है।[3]

---

१. (क) भगवती, ८।९।
(ख) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ८१ :
मणवयकायजोया जीवपएसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएणजुत्ता विजुदा विय आसवा होंति॥
२. प्रज्ञापना, २३।१।२९२।
३. भगवती, ९।

मोह-रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर-नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का वंध करता है।[1]

नए बंधन का हेतु पूर्व-वंधन न हो तो अवद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बंधे विना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि वंधा हुआ ही वंधता है, नए सिरे से नहीं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! दु:खी जीव दु:ख से स्पृष्ट होता है या अदु:खी जीव दु:ख ने स्पृष्ट होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! दु:खी जीव दु:ख से स्पृष्ट होता है, अदु:खी जीव दु:ख से स्पृष्ट नहीं होता। दु:ख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना और निर्जरा दु:खी जीव करता है, अदु:खी जीव नहीं करता।[2]

गौतम ने पूछा—भगवन्! कर्म कौन बांधता है? संयत, असंयत अथवा संयतासंयत?

भगवान् ने कहा—गौतम! असंयत, संयतासंयत और संयत—ये सब कर्म वंध करते हैं। दसवें गुण-स्थान तक के अधिकारी पुण्य और पाप दोनों का वंध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक के अधिकारी केवल पुण्य का वंध करते हैं।[3]

कर्म-बंध कैसे?

गौतम—भगवन्! जीव कर्म-वंध कैसे करता है?

भगवान्—गौतम! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का वंध होता है।[4]

कर्म-वंध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ।

फल-विपाक

एक समय की बात है। भगवान् राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में समवसृत थे। उस समय कालोदायी अनगार भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर

---

१. भगवती, ६।
२. वही, ७।१।२६६।
३. वही, ६।३।
४. प्रज्ञापना, २३।१।२८६।

बोले—भगवन् ! जीवों के किये हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! होता है।

कालोदायी—भगवन् ! यह कैसे होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व) अठारह प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नहीं होता। कालोदायी! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपातभद्र और परिणाम-विरस होते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।

कालोदायी—भगवन् । जीवों के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! होता है।

कालोदायी—भगवन् ! कैसे होता है ?

भगवान्—कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परि-पक्व), अठारह प्रकार के व्यजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपातभद्र नहीं लगता, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है। वह परिणाम भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती किन्तु परिणाम-भद्र होती है। कालोदायी ! इस प्रकार कल्याण कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।[1]

कर्म के उदय से क्या होता है ?

१. ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता, जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता। जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नहीं जानता । उसका ज्ञान आवृत हो जाता है। इसके अनुभाव दस हैं—श्रोत्रावरण, श्रोत्र-विज्ञानावरण, नेत्रावरण, नेत्र-विज्ञानावरण, घ्राणावरण, घ्राण-विज्ञानावरण, रसावरण, रस-विज्ञानावरण, स्पर्शावरण, स्पर्श-विज्ञानावरण।

२. दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य-विषय को नहीं देखता, देखने का इच्छुक होने पर भी नहीं देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। इसके अनुभाव नौ हैं—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षु-

---

१. भगवती, ७।१०

दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण।

३. क—सातवेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनः सुखता, वाक्-सुखता, काय-सुखता।

(ख) असातवेदनीय कर्म के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ स्पर्श, मनोदुःखता, वाक्-दुःखता, काय-दुःखता।

४. मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव पांच हैं—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

५. आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु।

६. क—शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान—कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम, इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता।

ख—अशुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—अनिष्ट शब्द, अनिष्ट रूप, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट रस, अनिष्ट स्पर्श, अनिष्ट गति, अनिष्ट स्थिति, अनिष्ट लावण्य, अनिष्ट यशोः-कीर्ति, अनिष्ट उत्थान—कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रम, अनिष्ट स्वरता, हीन स्वरता, दीन स्वरता, अमनोज्ञ स्वरता।

७. क—उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपो-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता, ऐश्वर्य-विशिष्टता।

ख—नीच-गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विहीनता, कुल-विहीनता, बल-विहीनता रूप-विहीनता, तपो-विहीनता, श्रुत-विहीनता, लाभ-विहीनता, ऐश्वर्य-विहीनता।

८. अन्तराय कर्म के उदय से वर्तमान लब्ध वस्तु का विनाश और लभ्य वस्तु के आगामी-पथ का अवरोध होता है। इसके अनुभाव पांच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह

प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन-दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है, कर्म परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता फिर भी आत्मा का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खानेवाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान शक्ति के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता।

उदय

उदय का अर्थ है—काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है—यह उसका अनुदय है। दूसरी की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बंधे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक[1] (कर्म-पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रकट होने लगते हैं, वह उदय है।

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है—

१. प्राप्त-काल कर्म का उदय।

२. अप्राप्त-काल कर्म का उदय।

कर्म का बंध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। कर्म की यह अवस्था अबाधा कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान-मात्र होता है किन्तु उसका कर्तृत्व प्रकट नहीं होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान काल है। अबाधा का अर्थ है—अन्तर। बंध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है।[2]

अबाधाकाल के द्वारा स्थिति के दो भाग होते हैं—

१. अवस्थानकाल

२. अनुभव या निषेक-काल।

---

१. भगवती, ६।३।२३६ वृत्ति—कर्म-निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेषः।

२. वही, वृत्ति—बाधा—कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा—कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम्।

अवाधा काल के समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अवाधाकाल पूरा होने पर होता है। जितना अवाधाकाल होता है, उतना अनुभव-काल से अवस्थान-काल अधिक होता है। अवाधा-काल को छोड़कर विचार किया जाए तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये दोनों समकाल मर्यादा वाले होते हैं। चिरकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तपस्या के द्वारा विफल वना थोड़े समय में भोग लिए जाते हैं। आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारम्भ होता है। वह प्राप्त काल उदय है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय में आये तो आकस्मिक घटनाओं की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना के द्वारा कर्म की उदीरणा या अप्राप्त काल उदय होता है। इसलिए आकस्मिक घटनाएं भी सिद्धान्त के प्रति सन्देह पैदा नहीं करतीं। तपस्या की सफलता का भी यही हेतु है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय—

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी। सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है।[1] इसी प्रकार हास्य,[2] भय, वेद (विकार) और कषाय के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है।[3]

अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक उदय—नरक गति में असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक-उदय—मोहकर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक-उदय है।

भवहेतुक-उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सबके होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नरक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतुक-विपाक-उदय है।

गति-स्थित और भय के निमित्त से कई कर्मों का अपने आप विपाक-उदय हो आता है।

---

१. ठाणं, ४।७६—वृत्ति पत्र १८२—अपतिट्ठिए—आक्रोशादिकारणनिरपेक्षः केवलं क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठितः।

२. वही, ४।

३. वही, ४।७५-७६

दूसरों द्वारा उदय में आनेवाले कर्म के हेतु

पुद्‌गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्‌गल-हेतुक-विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्‌गलों का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्‌गल-परिणाम के द्वारा होनेवाला उदय—भोजन किया, वह पचा नहीं, अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ, यह असात-वेदनीय का विपाक-उदय है।

मदिरा पी, उन्माद छा गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्‌गल परिणमन हेतुक-विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है।[1] अगर ये हेतु नहीं मिलते तो उन कर्मों का विपाक-रूप में उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है प्रदेश-उदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म-बन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! किये हुए पाप-कर्म भोगे बिना नहीं छूटते, क्या यह सच है?

भगवान्—हां, गौतम! यह सच है।

गौतम—कैसे, भगवन्?

भगवान्—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—प्रदेश-कर्म और अनुभाग-कर्म। जो प्रदेश-कर्म हैं वे नियमतः (अवश्य ही) भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते।[2]

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं।

क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म-परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभकर्म

---

१. प्रज्ञापना, २३।१।२९३।

२. भगवती, १।४।४० वृत्ति—
प्रदेशाः कर्मपुद्‌गला : जीव प्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म।
अनुभागः तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानता विषयः रसः तद्रूपं कर्म अनुभाग-कर्म।

परमाणु आत्मा से आ चिपकते है। पुण्य और पाप—दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है।[1]

स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय-दृष्टि से ये दोनों हेय हैं।[2]

पुण्य की हेयता के बारे में जैन-परम्परा एकमत है। उसकी उपादेयता में विचार-भेद भी है। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्परा-हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं।[3] कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नहीं मानते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करनेवाली विचारधारा को पर-समय माना है।[4]

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है। इसलिए हमें वह नहीं चाहिए।"[5]

टीकाकार के अनुसार यह क्रम उन्हीं के लिए है, जो पुण्य की आकांक्षा-(निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म-शुद्धि के लिए तप तपने वालों के अवांछित पुण्य का आकर्षण होता है।[6] उनके लिए यह क्रम नहीं है—वह उन्हें बुद्धि-विनाश की ओर नहीं ले जाता।[7]

पुण्य काम्य नहीं है। योगीन्दु के शब्दों में—"वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुःख-परम्परा की ओर ढकेल दे। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन के विमुख होकर पुण्य

---

१. परमात्मप्रकाश, २।५३।
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २।५३।
३. वही, २।११।
४. पंचास्तिकाय, १६४-१६६, १७५।
५. परमात्मप्रकाश, २।६० :
पुण्णेण होई विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ॥
६. वही, टीका, पृ० २०१, २०२
इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगा-कांक्षारूपनिदानबन्ध-परिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति, बुद्धिविनाशश्च करोति न च पुनः सम्यक्त्वादि गुणसहितम्।
७. वही, २।६०

चाहे—वह अच्छा नहीं है।"[1]

आत्म-साधना के क्षेत्र में पुण्य की सीधी उपादेयता नहीं है, इस दृष्टि से पूर्ण सामंजस्य है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), प्रायश्चित्त को पुण्यबन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है।[2]

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है।"[3] आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो।"[4] यही बात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।"[5] क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार भ्रमण के हेतु है। भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है।"[6] "जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है।"[7] गीता भी यही कहती है—"बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है।"[8] अभयदेव सूरि ने आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप को संसार-भ्रमण का हेतु कहा है। आचार्य भिक्षु ने इसे इस प्रकार समझाया है—"पुण्य से भोग मिलते हैं। जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।"[9]

इसका निगमन यह है कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनों का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक

---

१. परमात्मप्रकाश २।५७, ५८
२. समयसार, ३० मोक्षाधिकार।
३. नवपदार्थ चौपई, ७२
४. दसवेआलियं, ६।४
५. वेदान्त सार, पृ० ४
मोक्षार्थी न प्रवर्तते तत्र काम्यनिषिद्धयोः···
काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि—नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।
६ उत्तरज्झयणाणि, २१।२४
७. वही, १०।१५
८ गीता, २।५०
९ नवपदार्थ चौपई, ६०
जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांछ्या काम ने भोग।
संसार बधै कामभोग स्यूं, पामै जन्म-मरण ने सोग॥

अभ्युदय धर्म का आनुसंगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलनेवाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नहीं है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनों पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ में बात यह नहीं है। सामाजिक व्यक्ति अभ्युदय की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं। यह सच है कि भारतीय एकान्त-भौतिकता से बहुत बचे हैं। उन्होंने प्रेय और श्रेय को एक नहीं माना।[1] अभ्युदय को ही सब कुछ मानने वाले भौतिकवादियों ने युग को कितना जटिल बना दिया, इसे कौन अनुभव नहीं करता।

मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ। किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

कोरा पुण्य

कई आचार्य पाप-कर्म का विकर्षण किए बिना ही पुण्य-कर्म का आकर्षण होना मानते हैं। किन्तु यह चिन्तनीय है। प्रवृत्ति मात्र में आकर्षण और विकर्षण दोनों होते हैं। श्वेताम्बर आगमों में इसका पूर्ण समर्थन मिलता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! श्रमण को वंदन करने से क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! श्रमण को वंदन करनेवाला नीच-गोत्र कर्म को खपाता है और उच्च-गोत्र-कर्म का बन्ध करता है।[2] यहां एक शुभ प्रवृत्ति से पाप-कर्म का क्षय और पुण्य-कर्म का बन्ध—इन दोनों कार्यों की निष्पत्ति मानी गई है। तर्क-दृष्टि से भी यह मान्यता अधिक संगत लगती है।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक-दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नहीं होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है[3] और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल

---

१ कठोपनिषद्, १।२।१ :
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

२. उत्तरज्झयणाणि, २९।१०

३. वत्थुसहावो धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो॥

है।[1] दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा का पर्याय है और पुण्य पुद्गल का पर्याय है।

दूसरी बात—निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है।[2]

तीसरी बात—धर्म आत्म-शुद्धि—(आत्म-मुक्ति) का साधन है[3] और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है।[4]

अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे सत्प्रवृत्ति रूप धर्म के साहचर्य से पुण्य की उत्पत्ति होती है, वैसे अधर्म और पाप के साहचर्य से पाप की उत्पत्ति होती है। पुण्य-पाप फल हैं। जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटनेवाले पुद्गल हैं और ये दोनों धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं।

जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म या अधर्म, सत् या असत्। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय—परिणाम पर निर्भर है।[5] शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है।[6] अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-परिग्रह, योग-ऋजुता आदि-आदि पुण्य-बन्ध के हेतु हैं।[7] ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभभावयुक्त जीव को पाप कहा है।[8] अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, वह पुण्य

---

१. प्रशमरतिप्रकरण, गाथा २१९ :
पुद्गलकर्म शुभं यत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।

२. भगवती, १।७ वृत्ति :
धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म।

३. जैन सिद्धान्त दीपिका, ८।३ :
आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः।

४. समयसार, गाथा १४६ :
सोवण्णियं पि णिमलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्म॥

५. प्रज्ञापना पद २२, वृत्ति—
पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्।

६. सूत्रकृतांग २।५।१७, वृत्ति—
योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः।

७. भगवती, ८।२

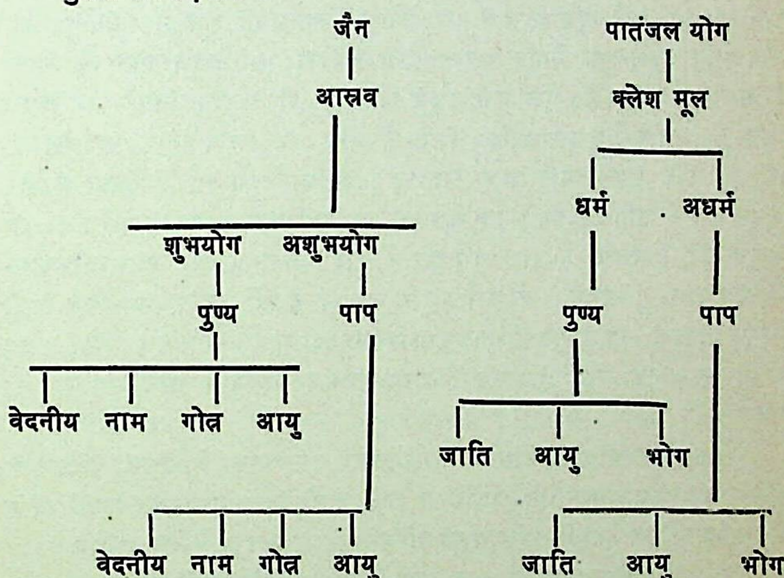
८. द्रव्यसंग्रह, ३८

है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

कहीं-कहीं पुण्य-हेतुक सत्प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा गया है। यह कारण में कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष-दृष्टिकोण है।

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है। जैसे—धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होने पर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—सुखद और दुःखद। जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद और जिनका हेतु पाप होता है, वे दुःखद होते हैं।[1]

तुलना के लिए देखें—



पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवन्ध्य कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

---

१. पातञ्जलयोग, २।१४ :
सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
ते आह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

कर्म की वन्धन और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होतीं तो कर्मों का वन्ध होता और वेदना के वाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता। कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

१. अपवर्तन के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

२. उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

३. उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के वाद तीव्र भाव से उदय में आनेवाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय में आ जाते हैं।

४. एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में वंधता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में वंधता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला है। कर्म के वंध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (वध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का वन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्ववद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को वध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—१. प्रकृति-संक्रम, २. स्थिति-संक्रम, ३. अनुभाव-संक्रम, ४. प्रदेश-संक्रम।[1]

प्रकृति-संक्रम से पहले वंधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में वदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और संक्रमण—ये चारों उदयावलिका (उदय क्षण) के वहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता

---

१. ठाणं, ४।२९७।

है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नहीं होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—वन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। "कर्म ग्रहण करने में जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमादवश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है।"[1] इच्छा से गिरना नहीं चाहता, फिर भी गिर जाता है, इसलिए गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है और उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फलस्वरूप होनेवाले अजीर्ण से नहीं वच सकता। कर्म-फल भोगने में जीव स्वतन्त्र नहीं है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतन्त्र भी होते हैं। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है।[2] जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तव वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की वहुलता होती है, तव जीव उनसे दव जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—

१. निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता।

२. दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

दूसरे शब्दों में—१. निरूपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नहीं होता, इसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। २. सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों वातें हैं—जहां जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहां वह उस कर्म के अधीन होता है और जहां जीव प्रवल धृति, मनोवल, शरीरवल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहां कर्म उसके अधीन होता है। उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय में ला, तोड़ डालना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सव इस स्थिति में हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ नहीं रहता। पहले वंधे हुए कर्मों की स्थिति और

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, १/३ :
कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्खं दु रुहइ सवसो, विगलसपरवसो तत्तो॥

२. गणधरवाद, २/२५ :
कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति वलियाइ।
जीवस्स य कम्मस य, पुव्व विरुद्धाई वैराइ॥

फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातंजल योगभाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियां बताई हैं। उनमें कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा न ट हो जाते हैं। एक गति यह है।[1] इसी को जैन-दृष्टि में उदीरणा कहा है।

उदीरणा

गौतम ने पूछा—

भगवन्! जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है?

जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है?

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है?

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है?

भगवान् ने कहा—

गौतम! जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता।

जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता।

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य की उदीरणा करता है।

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत-कर्म की उदीरणा नहीं करता।[2]

१. उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की फिर से उदीरणा करे तो उस उदीरणा की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२. जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं ही होने वाली है, उन अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती।

३. जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर पश्चात्कृत), वे सामर्थ्यहीन बन गए, इसलिए उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

४. जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-योग्य) हैं, उन्हीं की उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु

कर्म के स्वाभाविक उदय में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध-

---

१. पाजलयोग, २/१३ : भाष्य—
कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः।

२. भगवती, १।३।३५।

स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्‌गल अपने आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हें स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है। इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्‌गलों की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अवल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्‌गलों की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नहीं करता।"[1]

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। करण का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—

१. शारीरिक व्यापार।
२. वाचिक व्यापार।
३. मानसिक व्यापार।

उत्थान आदि इन्हीं के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय-रहित योग शुभ और आस्रव-चतुष्टय-सहित योग अशुभ। शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है।[2]

वेदना

गौतम—भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवम्भूत वेदना (जैसे कर्म बांधा वैसे ही) भोगते हैं—यह कैसे है?

भगवान्—गौतम! अन्ययूथिक जो एकान्त कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूं—कुछ जीव एवम्भूत-वेदना भोगते हैं और कुछ अन-एवम्भूत वेदना भी भोगते हैं।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

भगवान्—गौतम! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवम्भूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना

---

१. भगवती, १।३।३५।
२. वही, १।३।३५।

भोगते हैं वे अन-एवम्भूत वेदना भोगते हैं।[1]

उस काल और उस समय की बात है। भगवान् राजगृह के (ईशानकोणवर्ती) गुणशीलक नाम के चैत्य (व्यन्तरायतन) में समवसृत हुए। परिषद् एकत्रित हुई। भगवान् ने धर्म-देशना की। परिषद् चली गई।

उस समय भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को श्रद्धा, संशय या कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे भगवान् के पास आए। वन्दना-नमस्कार कर न अति दूर और न अति निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले—भगवन्! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्गलों का भेद और उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव कर्म-पुद्गल की अपेक्षा अणु और बाह्य (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्गलों का भेद और उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति और निकाचन करते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्गलों का ग्रहण अतीत काल में करते हैं? वर्तमान काल में करते हैं? अनागत काल में करते हैं?

भगवन् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण पुद्गलों का ग्रहण अतीत काल में नहीं करते, वर्तमान काल में करते हैं, अनागत काल में नहीं करते।

गौतम ने पूछा—भगवन्! नैरयिक जीव अतीत में ग्रहण किए हुए तैजस और कार्मण पुद्गलों की उदीरणा करते हैं? वर्तमान में ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं? ग्रहण-समय-पुरस्कृत—वर्तमान से अगले समय में ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! वे अतीत काल में ग्रहण किए हुए पुद्गलों की उदीरणा करते हैं। वे न वर्तमान काल में ग्रहण किए जानेवाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण-समय-पुरस्कृत पुद्गलों की उदीरणा करते हैं।

इसी प्रकार वेदना और निर्जरा भी अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की होती है।

निर्जरा

संयोग का अंतिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनों भिन्न हैं। वियोग में आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका संयोग होता है तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

---

१. भगवती, ५/५।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म वन जाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के वाद वे अकर्म वन जाते हैं। अकर्म वनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के वाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है।[1]

कोई फल डाली पर पककर टूटता है, और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनों की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्वा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म-परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी-निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ-प्रयत्न है। वह धर्म है। धर्म-हेतुक निर्जरा नव-तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष इसी का उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा-भेद है, स्वरूप-भेद नहीं। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय।[2] अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनों को भी निर्जरा कहा जाता है। इसके वारह प्रकार इसी दृष्टि के आधार पर किये गये हैं। इसके सकाम और अकाम—इन दो भेदों का आधार भी वही दृष्टि है।[3] वस्तुतः सकाम और अकाम तप होता है, निर्जरा नहीं। निर्जरा आत्म-शुद्धि है। उसमें मात्रा का तारतम्य होता है, किन्तु स्वरूप का भेद नहीं होता।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म-परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

कर्म-सम्वन्ध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रवल होता

---

१. भगवती, ७।३।
२. जैनसिद्धान्तदीपिका, ५।१६।
३. वही, ५।१७।

है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मन्द होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मन्द हो जाती है।

जैसे-जैसे कषाय मन्द होता है, वैसे-वैसे निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बंध शिथिल होता जाता है। वीतराग के केवल दो समय की स्थिति का बंध होता है। पहले क्षण में कर्म-परमाणु उसके साथ सम्वन्ध करते हैं, दूसरे क्षण में भोग लिए जाते हैं और तीसरे क्षण में वे उससे बिछुड़ जाते हैं।

चौदहवीं भूमिका में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तियां रुक जाती हैं। वहां केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बंध नहीं होता। अबन्ध-दशा में आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाता है।[1]

मुक्त होनेवाले साधक एक ही श्रेणी के नहीं होते। स्थूल-दृष्टि से उनकी चार श्रेणियां प्रतिपादित हैं—

१. प्रथम श्रेणी के साधनों के कर्म का भार अल्प होता है। उनका साधना-काल दीर्घ हो सकता है। पर उनके लिए कठोर तप करना आवश्यक नहीं होता और न उन्हें असह्य कष्ट सहना होता है। वे सहज जीवन बिता मुक्त हो जाते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में भरत चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।

२. दूसरी श्रेणी के साधकों के कर्म का भार अल्पतर होता है। उनका साधना-काल भी अल्पतर होता है। वे अत्यल्प तप और अत्यल्प कष्ट का अनुभव कर सहज भाव से मुक्त हो जाते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में भगवान् ऋषभ की माता मरूदेवा का नाम उल्लेखनीय है।

३. तीसरी श्रेणी के साधकों के कर्म-भार महान् होता है। उनका साधना-काल अल्प होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट का अनुभव कर मुक्त होते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में वासुदेव कृष्ण के भाई गजसुकुमार का नाम उल्लेखनीय है।

४. चौथी श्रेणी के साधकों के कर्म-भार महत्तर होता है। उनका साधना-काल दीर्घतर होता है। वे घोर तप और घोर कष्ट सहन कर मुक्त होते हैं।

इस श्रेणी के साधकों में सनत्कुमार चक्रवर्ती का नाम उल्लेखनीय है।[2]

---

१. तुलना—द्वे शरीरस्य प्रकती—व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तायाः कर्म-समाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षयः। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति—इति उपपन्नोऽपवर्गः।

—न्याय वा० ३।२।६८

२. तुलना के लिए देखें—अंगुत्तर निकाय, भाग २, पृ० १७१

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता, ऐसी दशा में अनादि-कालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ?यह ठीक है, किन्तु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है । अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह लागू नहीं भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि-सहित होते हैं । कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, अचेतनस्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका अचेतन (पुद्गल) के साथ गहरा संसर्ग रहता है, इसीलिए अचेतन द्रव्य से उत्पन्न परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता । जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी लेश्या कहलाते हैं । लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण पौद्गलिक लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है; जैसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि-आदि।

पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं।

खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन' यह उक्ति निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक-दूसरे की क्रिया का एक-दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता। 'जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है—इस सिद्धान्त से उक्त विषय की पुष्टि होती है।[1] व्यावहारिक जगत में भी यही बात पाते हैं। प्राकृतिक

---

१ प्रज्ञापना (लेश्या पद):
"जल्लेसाइं दव्वाइं आदिअन्ति तल्लेसे परिणामे भवइ"।

चिकित्सा-प्रणाली में मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है।

पौद्गलिक विचार (द्रव्यलेश्या) के साथ चैतसिक विचार (भावलेश्या) का गहरा सम्बन्ध है। चैतसिक विचार के अनुरूप पौद्गलिक विचार होते हैं अथवा पौद्गलिक विचार के अनुरूप चैतसिक विचार होते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। चैतसिक विचार की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह के उदय से या उसके विलय से।[1] औदयिक चैतसिक विचार अप्रशस्त होते हैं और विलयजनित चैतसिक विचार प्रशस्त होते हैं।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसाय वाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं।[2]

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म लेश्याएं और तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म लेश्याएं हैं।[3]

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय होने का मूल कारण मोह का अभाव या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। केवल पौद्गलिक विचारों के अनुरूप ही चैतसिक विचार नहीं बनते। मोह का भाव-अभाव तथा पौद्गलिक विचार—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं।

---

१. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ३४।
२. प्रज्ञापना, १७।४:
तओ दुग्गइगामिणिओ, तओ सुगइगामिणिओ।
३. उत्तरज्झयणाणि, ३४।५६,५७।

पौद्गलिक विचारों (द्रव्य लेश्याओं) के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण का विवरण इस प्रकार है—

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्तगुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्तगुण कर्कश।
नील	नीलम के समान नीला	सोंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगलु-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्तगुण मधुर	सुरभि-कुसम की गन्ध से अनन्तगुण इष्ट गन्ध	मक्खन से अनन्तगुण सुकुमार।[1]
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्तगुण मिष्ट		
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त-गुण मिष्ट		

१. विशेष जानकारी के लिए देखें—प्रज्ञापना पद १७ और उत्तराध्ययन सूत्र का ३४वां अध्ययन।

जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएं वतलाई गई हैं। पातंजलयोग में वर्णित कर्म की कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातियां भाव-लेश्या की श्रेणी में आती हैं।[1] सांख्यदर्शन[2] तथा श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] में रजः सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। यह द्रव्य लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमोगुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्मों का संयोग और वियोग : आध्यात्मिक विकास और ह्रास

इस विश्व में जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नहीं होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नहीं है। वस्तुएं तीन प्रकार की हैं—

१. अचेतन और अमूर्त—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

२. अचेतन और मूर्त—पुद्गल।

३. चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओं का होना—परिणमन स्वाभाविक ही होता है और वह सतत प्रवहमान रहता है।

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है। उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य संसार है, वह सब या तो जीवत्-शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव में स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनों में समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके संस्थान—आकार का होता है। वह चेतनाशील नहीं, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गलकृत जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाएं और अनुभूतियां बनती हैं। वह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय बन जाता है।

---

१. पातञ्जल योग ४।७

२. सांख्यकौमुदी, पृ० २००

३. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४।५

८

स्यादवाद

स्याद्‌वाद

जैन दर्शन के चिन्तन की शैली का नाम अनेकान्त-दृष्टि और प्रतिपादन की शैली का नाम स्याद्‌वाद है। जानना ज्ञान का काम है, बोलना वाणी का। ज्ञान की शक्ति अपरिमित है, वाणी की परिमित। ज्ञेय अनन्त, ज्ञान अनन्त, किन्तु वाणी अनन्त नहीं, इसलिए नहीं कि एक क्षण में अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयों को जान सकता है, किन्तु वाणी के द्वारा कह नहीं सकता।

एक तत्त्व (परमार्थ सत्य) अभिन्न अनन्त सत्यों की समष्टि होता है।

एक शब्द एक क्षण में एक सत्य को बता सकता है। इस आधार पर वस्तु के दो रूप होते हैं—

१. अनभिलाप्य—अवाच्य।

२. अभिलाप्य—वाच्य।

अनभिलाप्य का अनन्तवां भाग अभिलाप्य होता है और अभिलाप्य का अनन्तवां भाग वाणी का विषय बनता है।[1]

प्रज्ञापनीय भावों का निरूपण वाणी के द्वारा होता है। वह श्रोता के ज्ञान का साधन बनता है। यहां एक समस्या उत्पन्न होती है—हम जानें कुछ और ही और कहें कुछ और ही अथवा सुनें कुछ और ही और जानें कुछ और ही, यह कैसे ठीक हो सकता है?

इसका उत्तर जैनाचार्य स्यात् शब्द के द्वारा देते हैं। 'मनुष्य स्यात् है'—इस शब्दावली में सत्ता धर्म की अभिव्यक्ति है। मनुष्य केवल 'अस्ति-धर्म' मात्र नहीं है। उसमें 'नास्ति-धर्म' भी है। 'स्यात्' शब्द यह बताता है कि अभिव्यक्त सत्यांश

---

१. विशेषावश्यक भाष्य गाथा, ३४१:
पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो तु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो॥

को ही पूर्ण सत्य मत समझो। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही सत्य है। ज्ञान अपने आप में सत्य ही है। उसके सत्य और असत्य—ये दो रूप प्रमेय के सम्बन्ध से बनते हैं। प्रमेय का यथार्थग्राही ज्ञान सत्य और अयथार्थग्राही ज्ञान असत्य होता है। जैसे प्रमेय-सापेक्ष ज्ञान सत्य या असत्य बनता है, वैसे ही वचन भी प्रमेय-सापेक्ष होकर सत्य या असत्य बनता है। शब्द न सत्य है और न असत्य। वक्ता दिन को दिन कहता है, तब वह यथार्थ होने के कारण सत्य होता है और यदि रात को दिन कहे तब वही अयथार्थ होने के कारण असत्य बन जाता है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनन्तधर्मात्मकता को ओझल नहीं करते। इस स्थिति को संभालनेवाला 'स्यात्' शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाए रखता है। इसीलिए इसे प्रमाण-वाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

स्याद्वाद : स्वरूप, समालोचना और समीक्षा

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैन-दर्शन में इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में भी होता है। स्याद्वाद अर्थात्—अनेकान्तात्मक वाक्य।

स्याद्वाद की नींव है अपेक्षा। अपेक्षा वहां होती है, जहां वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दीखे। विरोध वहां होता है, जहां निश्चय होता है। दोनों संशयशील हों, उस दशा में विरोध नहीं होता।

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ-ग्रहण के लिए अनेकान्त-दृष्टि है। स्याद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधी धर्मयुगलों का विरोध मिटानेवाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, किन्तु जिस रूप से सत् है, उसी रूप से असत् नहीं है। स्व-रूप की दृष्टि से सत् है और पर-रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य संशयरूप हो ही नहीं सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचिद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नों का समाधान किया है। उसे आगम युग का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक युग में उसी का विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल रूप नहीं बदला। परिव्राजक स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने बताया—एक जीव—

द्रव्य-दृष्टि से सान्त है,
क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है,

काल-दृष्टि से अनन्त है,

भाव-दृष्टि से अनन्त है।[1]

इसमें द्रव्य-दृष्टि के द्वारा जीव की स्वतन्त्र सत्ता का निर्देश किया गया है। योजना करते-करते जीव अनन्त बनते हैं, किन्तु अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से जीव एक-एक हैं—सान्त हैं।

दूसरी बात—अनन्त गुणों के समुदय से एक गुणी बनता है। गुणों से गुणी अभिन्न होता है। इसलिए अनन्त गुण होने पर भी गुणी अनन्त नहीं होता, एक या सान्त होता है। जीव असंख्य प्रदेश वाला है या आकाश के असंख्य प्रदेशों में अवगाह पाता है, इसलिए क्षेत्र-दृष्टि से भी वह अनन्त नहीं है, सर्वत्र व्याप्त नहीं है। वह काल-दृष्टि से अनन्त है—वह सदा था, है और रहेगा। वह ज्ञान, दर्शन और अगुरुलघु पर्यायों की दृष्टि से अनन्त है। भगवान् महावीर की उत्तर-पद्धति में ये चार दृष्टियां मिलती हैं, वैसे ही अर्पित-अनर्पित दृष्टि या व्याख्या पद्धति और मिलती हैं, जिसके द्वारा स्याद्वाद विरोध मिटाने में समर्थ होता है।[2] जमाली को उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—"जीव शाश्वत है। वह कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा—ऐसा नहीं होता। वह था, है और होगा, इसलिए वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। जीव अशाश्वत है—वह नैरयिक होकर तिर्यञ्च हो जाता है, तिर्यञ्च होकर मनुष्य और मनुष्य होकर देव। यह अवस्था-चक्र बदलता रहता है। इस दृष्टि से जीव अशाश्वत है।"

विविध अवस्थाओं में परिवर्तित होने के उपरान्त भी उसकी जीवरूपता नष्ट नहीं होती। इस दृष्टि से वह शाश्वत है। इस प्रतिपादन का आधार द्रव्य और पर्याय—ये दो दृष्टियां हैं।

भगवान् ने गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—

गौतम ! जीव स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत।

द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत।

ये दोनों धर्म वस्तु में प्रतिपल समस्थितिक रहते हैं, किन्तु अर्पित मुख्य और अनर्पित गौण होता है।

'जीव शाश्वत है'—इसमें शाश्वत धर्म मुख्य है और अशाश्वत धर्म गौण।

'जीव अशाश्वत है' इसमें अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण।

यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत और अशाश्वत का काल भिन्न नहीं होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं—यह अर्पितानर्पित व्याख्या है। पदार्थ

---

१. भगवती, २।१।९०।

२. ठाणं, १०।४६।

का नियम न शाश्वतवाद है और न उच्छेदवाद। ये दोनों उसके सतत सहचारी धर्म हैं। भगवान् महावीर ने इन दोनों समन्वित धर्मों के आधार पर जात्यन्तरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—"पदार्थ न शाश्वत है और न अशाश्वत। वह 'स्यात् शाश्वत' है—अव्युच्छित्तिनय की दृष्टि से, और 'स्यात् अशाश्वत' है—व्युच्छित्तिनय की दृष्टि से। वह उभयात्मक है, फिर भी जिस दृष्टि (द्रव्य-दृष्टि) से शाश्वत है उससे शाश्वत ही है और जिस दृष्टि (पर्याय-दृष्टि) से अशाश्वत है उस दृष्टि से अशाश्वत ही है। जिस दृष्टि से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नहीं है और जिस दृष्टि से अशाश्वत है उसी दृष्टि से शाश्वत नहीं है। एक ही पदार्थ एक ही काल में शाश्वत और अशाश्वत—इस विरोधी धर्मयुगल का आधार है, इसलिए वह अनेकधर्मात्मक है। ऐसे अनन्तविरोधी धर्मयुगलों का वह आधार है, इसलिए अनन्तधर्मात्मक है।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, इसलिए विसदृश भी है और सदृश भी है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से विसदृश होता है, इसलिए कि उनके सब गुण समान नहीं होते। वे दोनों सदृश भी होते हैं—इसलिए कि उनके अनेक गुण समान भी होते हैं।

चेतन गुण की दृष्टि से जीव पुद्गल से भिन्न है तो अस्तित्व और प्रमेयत्व गुण की अपेक्षा वह पुद्गल से अभिन्न भी है। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न किन्तु भिन्नाभिन्न है। वह विशेष गुण की दृष्टि से भिन्न है और सामान्य गुण की दृष्टि से अभिन्न।[1] भगवती सूत्र हमें बताता है—"जीव पुद्गल भी है और पुद्गली भी है।"[2] शरीर आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न भी है।[3] शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है, सचित्त भी है और अचित्त भी है।[4]

जीव की पुद्गल संज्ञा है, इसलिए वह पुद्गल है। वह पौद्गलिक इन्द्रिय सहित है, पुद्गल का उपभोक्ता है, इसलिए पुद्गली है अथवा जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक भाव है। संसारी दशा में जीव के निमित्त से पुद्गल की परिणति होती है और पुद्गल के निमित्त से जीव की परिणति होती है, इसलिए पुद्गली है।

शरीर आत्मा की पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का साधन बनता है;

---

१ अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक २५ :
स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व ! सुधोद्गतोद्गारपरंपरेयम्॥

२. भगवती, ८।१०।

३. वही, १३।७।

४. वही, १३।७।

इसलिए वह उससे अभिन्न है। आत्मा चेतन है। काय अचेतन है। वह पुनर्भवी है, काय एकभवी है। इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा वह रूपी है और सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा वह अरूपी है।

शरीर आत्मा से कथंचित् अपृथक् भी है, इस दृष्टि से जीवित शरीर चेतन है। वह पृथक् भी है इस दृष्टि से अचेतन मृत शरीर अचेतन होता ही है।

यह पृथ्वी स्यात् है, स्यात् नहीं है और स्यात् अवक्तव्य है।[1] वस्तु स्व-दृष्टि से है, पर-दृष्टि से नहीं है, इसलिए वह सत्-असत् उभयरूप है। एक काल में एक धर्म की अपेक्षा वस्तु वक्तव्य है और एक काल में अनेक धर्मों की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। इसलिए वह उभयरूप है। जिस रूप में सत् है, उस रूप में सत् ही है और जिस रूप में असत् है, उस रूप में असत् ही है। वक्तव्य-अवक्तव्य का भी यही रूप वनता है।

इस आगम-पद्धति के आधार पर दार्शनिक युग में स्याद्वाद का रूपचतुष्टय वना—

१. वस्तु स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है।
२. वस्तु स्यात् सामान्य है, स्यात् विशेष है।
३. वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है।
४. वस्तु स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है।

उक्त चर्चा में कहीं भी 'स्यात्' शब्द संदेह के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। फिर भी शांकरभाष्य से लेकर आज तक के आलोचना साहित्य में स्याद्वाद को 'अनिर्धारितरूप-ज्ञान' या 'संशयवाद' कहा गया है।

शंकराचार्य की युक्ति के अनुसार—"स्याद्वाद की पद्धति से जैन-सम्मत सात पदार्थों की संख्या और स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता। वे वैसे ही हैं या वैसे नहीं हैं, यह निश्चय हुए विना उनकी प्रामाणिकता चली जाती है।"[2]

यह आलोचना मूल-स्पर्शी नहीं है। डॉ० एस० के० वेलवालकर ने लिखा है—'शंकराचार्य ने अपनी व्याख्या में पुरातन जैन-दृष्टि का प्रतिपादन किया है, और इसलिए उनका प्रतिपादन जान-बूझकर मिथ्याप्ररूपण नहीं कहा जा सकता। जैन-धर्म का जैनेतर साहित्य में सबसे प्राचीन उल्लेख बादरायण के वेदान्त सूत्र में मिलता है, जिस पर शंकराचार्य की टीका है। हमें इस बात को स्वीकार करने में कोई कारण नज़र नहीं आता कि जैन-धर्म की पुरातन बात को यह द्योतित करता है। यह बात जैन-धर्म की सबसे दुर्बल और सदोष रही है···हां,

१. भगवती, १२।१०।
२. ब्रह्मसूत्र, (शांकरभाष्य) २।२।३३:
य एते सप्त पदार्था निर्धारिता एतावंत एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा'तथा स्युः इतरथा हि तथा वा स्युरितरथा वेत्यनिर्धारितरूपज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्।

आगामी काल में स्याद्वाद का दूसरा रूप हो गया, जो हमारे आलोचकों के समक्ष है और अब उस पर विशेष विचार करने की किसी को आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।[1]

(समीक्षा)…अगर हमारा झुकाव व्यक्तिवाद की ओर नहीं है तो हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि शंकराचार्य ने स्याद्वाद का जिस रूप में खण्डन किया है, उसका वह रूप जैन-दर्शन में कभी भी नहीं रहा है। बादरायण के 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' सूत्र में जैन-दर्शन द्वारा एक पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों के स्वीकार की बात मिलती है, संशय की नहीं। फिर भी शंकराचार्य ने स्याद्वाद का संशयवाद की भित्ति पर निराकरण किया, वह जैन-दर्शन की मान्य दृष्टि को हृदयंगम किये बिना किया—यह कहते हुए हमारी तटस्थ बुद्धि में कोई कम्पन नहीं होता।

डॉ० देवराज ने लिखा है—'स्याद्वाद का वाच्यार्थ है—'शायदवाद'। 'अंग्रेजी में इसे प्रोबेबिलिज्म (Probabilism) कह सकते हैं। अपने अतिरंजित रूप में स्याद्वाद संदेहवाद का भाई है। वास्तव में जैनियों को भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्व दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर मौन धारण करना था। जिसके आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धान्त हो, उसके मुख से स्याद्वाद की दुहाई शोभा नहीं देती।"[2]

(समीक्षा)…महात्मा बुद्ध की भांति भगवान् महावीर के तात्त्विक प्रश्नों पर मौन रखने की सम्मति देते हुए भी विद्वान् लेखक यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर के आत्मा आदि विषयक सिद्धान्त निश्चित हैं। उन्हें आपत्ति इस पर है—एक ओर निश्चित सिद्धान्त और दूसरी ओर स्याद्वाद—वे इन दोनों को एक साथ देखना नहीं चाहते। यह ठीक भी है। निश्चित सिद्धान्त के लिए अनिश्चय-वाद की दुहाई शोभा नहीं देती। किन्तु जैन-दृष्टि ऐसी नहीं है। वह पदार्थ के अनेक विरोधी धर्मों को निश्चित किन्तु अनेक बिन्दुओं द्वारा ग्रहण करती है। आश्चर्य की बात यह है कि आलोचक विद्वान् स्याद्वाद की अनेक-विरोधी धर्म-ग्राहक स्थिति देखते हैं, वैसे उसकी निश्चित अपेक्षा को नहीं देखते। यदि दोनों पहलू समदृष्टि से देखे जाते तो स्याद्वाद को संशयवाद कहने का मौका ही नहीं मिलता। विद्वान् लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तक—'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' में 'स्यात्' का अर्थ 'कदाचित्' किया है।[3] इसमें कोई संदेह नहीं—'स्यात्' का अर्थ

---

१. Article on the 'Under Current of Jainism' in Jain Sahitya Sansodhak, 1920, Vol. I, p. 23.

२. दर्शन का इतिहास, पृ० १३५।

३. वही, पृ० ६४-६५

'संशय' भी होता है और 'कदाचित्' भी। किन्तु 'स्याद्वाद', जो अनेकान्त दृष्टि का प्रतिनिधि है, में 'स्यात्' को कथंचित् या अपेक्षा के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। स्याद्वाद का अर्थ है—कथंचित्वाद या अपेक्षावाद। आलोचकों की दृष्टि स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' का संशय और कदाचित् अर्थ करने की ओर दौड़ती है तो कथंचित् और अपेक्षा की ओर क्यों नहीं दौड़ती ?

अपेक्षा-दृष्टि से विरोध होना एक बात है और अपेक्षा-दृष्टि को संशय-दृष्टि या कदाचित् दृष्टि दिखाकर विरोध करना दूसरी बात।

हां, जैन-आगम में कदाचित् के अर्थ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] किन्तु वह स्याद्वाद नहीं; उसकी संज्ञा 'भजना' है। भजना 'नियम' की प्रतिपक्षी है। दो धर्मी या धर्मों का साहचर्य निश्चित होता है, वह नियम है। और वह कभी होता है, कभी नहीं होता—यह भजना है।

व्याप्य के होने पर व्यापक के, कार्य के होने पर कारण के, उत्तरवर्ती के होने पर पूर्ववर्ती के और सहभावी रूप में एक के होने पर दूसरे के होने का नियम होता है। व्यापक में व्याप्य की, कारण में कार्य की, पूर्ववर्ती में उत्तरवर्ती की और संयोग की भजना (विकल्प) होती है। इसलिए स्याद्वाद संशय और भजना (कदाचिद्वाद) दोनों से पृथक् है। इनकी आकृति-रचना भी एक-सी नहीं है। जैसे—

१. भजना—

अग्नि कदाचित् सधूम होती है अग्नि कदाचित् निर्धूम होती है	निष्कर्ष—अमुक संयोग दशा में सधूम, अन्यथा निर्धूम।

२. संशय—

पदार्थ नित्य है या पदार्थ अनित्य है	निष्कर्ष—कुछ पता नहीं।

३. स्याद्वाद—

पदार्थ नित्य भी है, पदार्थ अनित्य भी है।	निष्कर्ष—पदार्थ नित्यानित्य है।

भजना अनेकों की एकत्र स्थिति या अ-स्थिति बताती है। इसलिए वह साहचर्य का विकल्प है।

---

१. (क) भगवती, ८।१० :
जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि, सिय नत्थि। जस्स पुण अंतराइयं तस्स आउयं नियमं अत्थि।
(ख) भगवती, १२।१०

संशय एक-रूप पदार्थ में अनेक-रूपों की कल्पना करता है। इसलिए वह अनिर्णायक विकल्प है।

स्याद्वाद अनेक धर्मात्मक पदार्थों में अनेक धर्मों की निश्चित स्थिति बताता है। वह निर्णायक विकल्प है।

भजना कालोपक्ष है, जैसे—वह वहां कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता। संशय दोषपूर्ण सामग्री-सापेक्ष है। पदार्थ का स्वरूप निश्चित होता है किन्तु दोषपूर्ण सामग्री से आत्मा का संशय ज्ञान अनिश्चित बन जाता है। स्याद्वाद पदार्थगत और ज्ञानगत—उभय है। पदार्थ का स्वरूप भी अनेकान्तात्मक है और हमारे ज्ञान में भी वह अनेकान्तात्मक प्रतिभासित होता है।

डॉ० बलदेव उपाध्याय ने स्याद्वाद को संशयवाद का रूपान्तर नहीं माना है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन उन्हें अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण लगता है। वे लिखते हैं—"यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन-दर्शन ने वस्तु-विशेष के विषय में होनेवाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जाएगा। यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परम-तत्त्व तक अवश्य ही पहुंच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२-२-३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है।[1]

(समीक्षा)…स्याद्वाद का एकीकरण वेदान्त के दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल नहीं, इसीलिए वह उपाध्यायजी को त्रुटिपूर्ण लगता हो तब तो दूसरी बात है अन्यथा हमें कहना होगा कि स्याद्वाद में वह त्रुटि नहीं जो दिखाई गई है। अनेकान्त दृष्टि को पर-संग्रह की दृष्टि से 'विश्वमेकम्' तक का एकीकरण मान्य है। किन्तु यही दृष्टि सर्वतोभद्र सत्य है, यह बात मान्य नहीं है। महा सत्ता की दृष्टि से सबका एकीकरण हो सकता है, सब दृष्टियों से नहीं। चैतन्य की दृष्टि से चेतन और अचेतन की मूल सत्ता एक नहीं हो सकती। यदि अचेतन का उपादान या मूल स्रोत चेतन बन सकता है तब 'अचेतन चेतन का उपादान या आदिस्रोत बनता है'—यह भूतवादी धारणा असम्भव नहीं मानी जा सकती।

अनेकान्त के अनुसार एक परम तत्त्व ही परमार्थ सत्य नहीं है। चेतन-अचेतन—द्वयात्मक जगत् परमार्थ सत्य है।

विद्वान् लेखक ने अनेकान्त को आपाततः उपादेय और मनोरंजक बताते हुए

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० १७३।

मूलभूत तत्त्व का स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ बताया है और इसी कारण वह परमार्थ के वीचोवीच तत्त्व-विचार को "कतिपय क्षण के लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्राम-गृह से वढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।"[1]

(समीक्षा)...अनेकान्त-दृष्टि—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः' नहीं है, जो कि मूलभूत तत्त्व वना डाले। वह यथार्थ वस्तु को यथार्थतया जाननेवाली दृष्टि है। वस्तुवृत्या मूलभूत तत्त्व ही दो हैं। यदि अचेतन तत्त्व चेतन की भांति मूल तत्त्व नहीं होता—परमब्रह्म की ही माया या रूपान्तर होता तो अनेकान्तभाव को वहां तक पहुंचने में कोई आपत्ति नहीं होती। किन्तु बात ऐसी नहीं है, तब अनेकान्त-दृष्टि सर्व-दृष्टि से परम तत्त्व की एकात्मक सत्ता कैसे स्वीकार करे ?

डॉ० देवराज ने स्याद्वाद की समीक्षा करते हुए लिखा है—"विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा विभिन्न अपेक्षाओं से किये गए एक पदार्थ के विभिन्न वर्णनों में सामंजस्य या किसी प्रकार की एकता कैसे स्थापित की जाये, यह जैन दर्शन नहीं वतलाता। प्रत्येक सत् पदार्थ में ध्रुवता या स्थिरता रहती है, और प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद और व्यय वाला अथवा परिवर्तनशील है, इन दो तथ्यों पर जैन दर्शन अलग-अलग और समान गौरव देता है। क्या इन दोनों सत्यों को किसी प्रकार एक करके, एक सामंजस्य के रूप में नहीं देखा जा सकता ? तत्त्व मीमांसा (Ontology) में ही नहीं सत्य-मीमांसा (Theory of Truth) में भी जैन-दर्शन अनेकवादी है। विशिष्ट सत्य एक सामान्य सत्य के अंश या अंग नहीं हैं। परमाणुओं की भांति उनका भी अलग-अलग अस्तित्व है। सत्य एक नहीं अनेक हैं, यहीं पर 'संगतिवाद' और 'अनेकान्तवाद' में भेद है। अनेक सत्यवादी होने के कारण ही जैन दर्शन सापेक्ष सत्यों से निरपेक्ष सत्य तक पहुंचने का रास्ता नहीं बना पाता। वह यह मानता प्रतीत होता है कि पूर्ण सत्य अपूर्ण सत्यों का योगमात्र है, उनकी समष्टि नहीं।[2]

(समीक्षा)...जैन-दर्शन ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय को पृथक्-पृथक् सत्य नहीं मानता। सत्य के दो रूप नहीं हैं। पदार्थ की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता ही सत्य है। यह दो सत्यों का योग नहीं, किन्तु एक ही सत्य के अनेक अभिन्न रूप हैं। तात्पर्य यह है कि न भेद सत्य है और न अभेद सत्य है—भेदाभेद सत्य है। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं मिलते, पर्याय के बिना द्रव्य नहीं मिलता, जात्यन्तर मिलता है—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ मिलता है, इसलिए भेद-अन्वित अभेद भी सत्य है

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० १७३
२. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ६६-६७

और अभेद-अन्वित भेद भी सत्य है। एक शब्द में भेदाभेद सत्य है।[1]

सत्य की मीमांसा में पूर्ण या अपूर्ण यह भेद नहीं होता। यह भेद हमारी प्रतिपादन पद्धति का है। सत्य स्वरूप-दृष्टि से अविभाज्य है। ध्रौव्य से उत्पाद-व्यय तथा उत्पाद-व्यय से ध्रौव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। अनन्त धर्मों की एकरूपता नहीं, इस दृष्टि से कथंचित् विभाज्य भी है। इसी स्थिति के कारण वह शब्द या वर्णन का विषय बनता है। यही सापेक्ष सत्यता है। पदार्थ निरपेक्ष सत्य है। उसके लिए सापेक्ष सत्यता की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। सापेक्ष सत्यता, एक पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों की स्थिति से हमारे ज्ञान में जो विरोध की छाया पड़ती है उसको मिटाने के लिए है। जैन-दर्शन जितना अनेकवादी है, उतना ही एकवादी है। वह सर्वथा एकवादी या अनेकवादी नहीं है। वेदान्त जैसे व्यवहार में अनेकवादी और परमार्थ में एकवादी है, वैसे जैन एक या अनेकवादी नहीं है। जैन दृष्टि के अनुसार एकता और अनेकता दोनों वास्तविक हैं। अनन्त धर्मों की अपृथक्-भाव सत्ता समन्वित सत्य है। यह सत्य की एकता है। ऐसे सत्य अनन्त हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। वे किसी एक सामान्य सत्य के अंश या प्रतिबिम्ब नहीं हैं। वेदान्त की विश्व-विषयक कल्पना की जैन की एक-पदार्थ-विषयक कल्पना से तुलना होती है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि जैन दर्शन एक पदार्थ के बारे में वैसे एकवादी है जैसे वेदान्त विश्व के बारे में। अनन्त सत्यों का समीकरण या वर्गीकरण एक में या दो में किया जा सकता है, किन्तु वे एक नहीं किये जा सकते। अस्तित्व (है) की दृष्टि से समूचा विश्व एक और स्वरूप की दृष्टि से समूचा विश्व दो (चेतन, अचेतन) रूप है। यह निश्चित है कि अनन्त पदार्थों में व्यक्तिगत एकता न होने पर भी विशेष-गुणगत समानता और सामान्यगुणगत एकता है। अनन्त चेतन-व्यक्तियों में चैतन्य गुण-कृत समानता और अनन्त अचेतन व्यक्तियों में अचेतन-गुण-कृत समानता है। वस्तुत्व गुण की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनों एक हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न है। सर्वथा अभिन्न नहीं है, इसलिए पदार्थों की नानात्मक सत्ता है और सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए एकात्मक सत्ता है। विशेष गुण की दृष्टि से पदार्थ निरपेक्ष है। सामान्य गुण की

---

१ उत्पादादि सिद्धी, २१-२३ :

न हि द्रव्यातिरेकेण, पर्यायाः सन्ति केचन।
द्रव्यमेव ततः सत्यम्, भ्रान्तिरन्या तु चित्रवत्॥
पर्यायव्यतिरेकेण, द्रव्यं नास्तीह किंचन।
भेद एव ततः सत्यो, भ्रान्तिस्तद् ध्रौव्यकल्पना॥
नाभेदमेव पश्यामो, भेदं नापि च केवलम्।
जात्यन्तरं तु पश्याम-स्तेनानेकान्त साधनम्॥

दृष्टि से पदार्थ सापेक्ष है। पदार्थों की एकता और अनेकता स्वयंसिद्ध या सांयोगिक है, इसलिए वह सदा रही है और रहेगी। इसलिए हमारा वैसा ज्ञान कभी सत्य नहीं हो सकता, जो अनेक को अवास्तविक मानकर एक को वास्तविक माने अथवा एक को अवास्तविक मानकर अनेक को वास्तविक माने।

जैन दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य 'जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ"[1]—जो एक को जानता है वह सबको जानता है, अद्वैत का बहुत बड़ा पोषक है। किन्तु यह अद्वैत ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व गुण की दृष्टि से है। जो ज्ञान एक ज्ञेय की अनन्त पर्यायों को जानता है, वह ज्ञेय मात्र को जानता है। जो एक ज्ञेय को सर्वरूप से नहीं जानता, वह सब ज्ञेयों को भी नहीं जानता। यही बात एक प्राचीन श्लोक बताता है—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः, सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।"

एक को जान लेने पर सबको जान लेने की बात अथवा सबको जान लेने पर एक को जान लेने की बात सर्वथा अद्वैत में तात्त्विक नहीं है। कारण कि उनमें एक ही तात्त्विक है, सब तात्त्विक नहीं। अनेकान्त-सम्मत ज्ञेय-दृष्टि से जो अद्वैत है, उसी में—'एक और सब—दोनों तात्विक हैं, इसलिए जो एक को जानता है, वही सबको और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है'—इसका पूर्ण सामंजस्य है।

तर्कशास्त्र के लेखक गुलावराय ने स्याद्वाद को अनिश्चय-सत्य मानकर एक काल्पनिक भय की रेखा खींची है। जैसे—"जैनों के अनेकान्तवाद ने एक प्रकार से मनुष्य की दृष्टि को विस्तृत कर दिया है, किन्तु व्यवहार में हमको निश्चयता के आधार पर ही चलना पड़ता है। यदि हम पैर बढ़ाने से पूर्व पृथ्वी की दृढ़ता के 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' के फेर में पड़ जाएं तो चलना ही कठिन हो जाएगा।"[2]

(समीक्षा)...लेखक ने सही लिखा है। अनिश्चय-दशा में वैसा ही बनता है। किन्तु विद्वान् लेखक को यह आशंका स्याद्वाद को संशयवाद समझने के कारण हुई है। इसलिए स्याद्वाद का सही रूप जानने के साथ-साथ यह अपने आप मिट जाती है—'शायद घड़ा है, शायद घड़ा नहीं है'—इससे दृष्टि का विस्तार नहीं होता प्रत्युत जाननेवाला कुछ जान ही नहीं पाता। दृष्टि का विस्तार तब होता है, जब हम अनन्त दृष्टिबिन्दु-ग्राह्य सत्य को एकदृष्टि-ग्राह्य ही न मानें। सत्य की एक रेखा को भी हम निश्चयपूर्वक न माप सकें, यह दृष्टि का विस्तार नहीं, उसकी बुराई है।

---

१. आयारो, ३।७४।
२. तर्क मीमांसा, (तीसरा भाग), पृ० २०८

डॉ० सर राधाकृष्णन् ने स्याद्वाद को अर्धसत्य बताते हुए लिखा है—"स्याद्वाद हमें अर्ध-सत्यों के पास लाकर पटक देता है। निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्यों का योग पूर्ण सत्य नहीं हो सकता।[1]

(समीक्षा)...इस पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि स्याद्वाद पूर्णसत्य को देश-काल की परिधि से मिथ्यारूप बनने से बचानेवाला है। सत् की अनन्त पर्यायें हैं, वे अनन्तसत्य हैं। वे विभक्त नहीं होतीं, इसलिए सत् अनन्त सत्यों का योग नहीं होता, किन्तु उन (अनन्त सत्यों) की विरोधात्मक सत्ता को मिटाने वाला होता है। दूसरी बात अनिश्चित सत्य स्याद्वाद को छूते ही नहीं। स्याद्वाद प्रमाण की कोटि में है। अनिश्चित अप्रमाण है। यह सही है—पूर्ण सत्य शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, इसीलिए 'स्यात्' को संकेत बनाना पड़ा। स्याद्वाद निरुपचरित अखण्ड सत्य को कहने का दावा नहीं करता। वह हमें सापेक्ष सत्य की दिशा में ले जाता है।

राहुलजी स्याद्वाद को संजय के विक्षेपवाद का अनुकरण बताते हुए लिखते हैं—"आधुनिक जैन-दर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है, संजय-वेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इनकार करते हुए उस इनकार को चार प्रकार कहा है—

१. है......नहीं कह सकता।

२. नहीं है... नहीं कह सकता।

३. है भी और नहीं भी...नहीं कह सकता।

४. न है और न नहीं है...नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

१. है.........हो सकता है (स्याद्-अस्ति)

२. नहीं है............नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)

३. है भी और नहीं भी...हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।
(स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (वक्तव्य) हैं ?

इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४. 'स्याद्' (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ? नहीं 'स्याद्' अवक्तव्य है।

५. 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६. 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

---

1. Indian Philosophy, Vol. 1, pp. 305-306।

७. 'स्याद् अस्ति च नास्ति च'—क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अवक्तव्य है।

दोनों के मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर-दोनों) को अलग-अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियां बनाईं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को छोड़कर 'स्याद्' भी वक्तव्य है, यह सातवां भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि संजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग—परलोक, देवता, कर्म-फल मुक्त पुरुष जैसे परोक्ष विषयों पर करता था। जैन संजय की युक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओं पर भी लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घट की सत्ता के बारे में जैन दर्शन से यदि प्रश्न पूछा जाए तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

१. घट यहां है ?—हो सकता है। (स्याद् अस्ति)

२. घट यहां नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है। (स्यान्नास्ति)

३. क्या यहां घट है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च)

४. हो सकता है (स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ? नहीं, 'स्याद्' यह अवक्तव्य है।

५. 'घट यहां हो सकता है' (स्याद् अस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, 'घट यहां हो सकता है', यह नहीं कहा जा सकता।

६. 'घट यहां नहीं हो सकता' (स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहां नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता।

७. 'घट यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है'—क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। यह नहीं कहा जा सकता—

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (वाद) की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उसकी चतुर्भङ्ग को न्याय की सप्तभंगी में परिणत कर दिया।[1]

(समीक्षा)···संजय के अनिश्चयवाद का स्याद्वाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

फिर भी पिसा आटा बार-बार पीसा जा रहा है। संजय का वाद न सद्भाव बताता है और न असद्भाव।[2] अनेकान्त विधि और प्रतिषेध—दोनों का निश्चय-पूर्वक प्रतिपादन करता है। अनेकान्त सिर्फ अनेकान्त ही नहीं, वह एकान्त भी है। प्रमाण-दृष्टि को मुख्य मानने पर अनेकान्त फलता है और नय-दृष्टि को मुख्य

---

१. दर्शन दिग्दर्शन, अध्याय १५, पृ० ४९८

२. अष्टसहस्री, पृ० १२९

एकान्त ।[1] एकान्त भी स्याद्वाद के अंकुश से परे नहीं हो सकता। एकान्त असत्-एकान्त न बन जाय - 'यह भी है' को छोड़कर 'यही है' का रूप न ले ले, इसलिए वह जरूरी भी है।

भगवान् महावीर का युग दर्शन-प्रणयन का युग था। आत्मा, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष है या नहीं—इन प्रश्नों की गूंज थी। सामान्य विषय भी बहुत चर्चे जाते थे। प्रत्येक दर्शन-प्रणेता की अपने-अपने ढंग की उत्तरशैली थी। महात्मा बुद्ध मध्यम प्रतिपदावाद या विभज्यवाद के द्वारा समझाते थे। संजय वेलट्ठिपुत्त विक्षेपवाद या अनिश्चयवाद की भाषा में बोलते थे। भगवान् महावीर का प्रतिपादन स्याद्वाद के सहारे होता था। इन्हें एक-दूसरे का बीज मानना आग्रह से अधिक और कुछ नहीं लगता।

संजय की उत्तर-प्रणाली को अनेकान्तवादी कहना अनेकान्तवाद के प्रति घोर अन्याय है। भगवान् महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि 'मैं समझता होऊं कि अमुक है तो आपको बतलाऊं।' वे निर्णय की भाषा में बोलते। उनके अनेकान्त में अनन्त धर्मों को परखनेवाली अनन्त दृष्टियां और अनन्त वाणी के विकल्प हैं। किन्तु याद रखिए, वे सब निर्णायक हैं। संजय के भ्रमवाद की भांति लोगों को भूलभुलैया में डालनेवाले नहीं हैं। अनन्त धर्मों के लिए अनन्त दृष्टिकोणों और कुछ भी निर्णय न करनेवाले दृष्टिकोणों को एक कोटि में रखने का आग्रह धूप-छांह को मिलाने जैसा है। इसे 'हां' और 'नहीं' का भेद नहीं कहा जा सकता। यह मौलिक भेद है। 'अस्तीति न भणामि'—'है' नहीं कह सकता और 'नास्तीति च न भणामि'—'नहीं है' नहीं कह सकता। संजय की इस संशयशीलता के विरुद्ध अनेकान्त कहता है—'स्यात् अस्ति'—अमुक अपेक्षा से यह है ही। 'स्यात् नास्ति'—अमुक अपेक्षा से यह नहीं ही है।

'घट यहां हो सकता है'—यह स्याद्वाद की उत्तर-पद्धति नहीं है। उसके अनुसार 'घट है—अपनी अपेक्षा से निश्चित है' यह रूप होगा।

ब्रह्मसूत्रकार व्यास और भाष्यकार शंकराचार्य से लेकर आज तक स्याद्वाद के बारे में जो दोष बताए गये हैं, उनकी संख्या लगभग आठ होती है, जैसे—

१. विरोध	५. व्यतिकर
२. वैयधिकरण्य	६. संशय
३. अनवस्था	७. अप्रतिपत्ति
४. संकर	८. अभाव

---

१. स्वयंभूस्तोत्र (अरजिन स्तुति) १८:
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः, प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाप्रमाणंते, तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

१. ठंड और गर्मी में विरोध है, वैसे ही 'है' और 'नहीं' में विरोध है।[1] 'जो वस्तु है, वही नहीं है'—यह विरोध है।

२. जो वस्तु 'है' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, वही 'नहीं' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बनने की स्थिति में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। भिन्न निमित्तों से प्रवर्तित दो शब्द एक वस्तु में रहें, तब सामानाधिकरण्य होता है।[2] सत् वस्तु में असत् की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं मिलता, इसलिए सत् और असत् का अधिकरण एक वस्तु नहीं हो सकती।

३. पदार्थ में सात भंग जोड़े जाते हैं, वैसे ही 'अस्ति' भंग में भी सात-भंग जोड़े जा सकते हैं—अस्ति भंग में जुड़ी सप्त-भंगी में अस्ति-भंग होगा, उसमें फिर सप्त-भंगी होगी। इस प्रकार सप्त-भंगी का कहीं अन्त न आएगा।

४. 'है' और 'नहीं' दोनों एक स्थान में रहेंगे तो जिस रूप में 'है' है उसी रूप में 'नहीं' होगा—यह संकर दोष आएगा।

५. जिस रूप से 'है' है, उसी रूप से 'नहीं' हो जाएगा और जिस रूप से 'नहीं' है उसी रूप से 'है' हो जाएगा। विषय अलग-अलग नहीं रह सकेंगे।

६, ७, ८. संशय से पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होगी और प्रतिपत्ति हुए विना पदार्थ का अभाव होगा।

जैन आचार्यों ने इनका उत्तर दिया है। सचमुच स्याद्वाद में ये दोष नहीं आते। यह कल्पना उसका सही रूप न समझने का परिणाम है। इसके पीछे एक तथ्य है। मध्ययुग में अजैन विद्वानों को जैन-ग्रन्थ पढ़ने में झिझक थी। क्यों थी पता नहीं, पर थी अवश्य। जैन आचार्य खुले दिल से अन्य दर्शन के ग्रन्थ पढ़ते थे। अजैन ग्रन्थों पर उनके द्वारा लिखी गई टीकाएं इसका स्पष्ट प्रमाण हैं।

स्याद्वाद का निराकरण करते समय पूर्वपक्ष यथार्थ नहीं रखा गया। स्याद्वाद में विरोध तब आता, जब कि एक ही दृष्टि से वह दो धर्मों को स्वीकार करता। पर बात ऐसी नहीं है। जैन-आगम पर दृष्टि डालिए। भगवान् महावीर से पूछा गया कि—भगवन् ! जीव मरकर दूसरे जन्म में जाता है, तब शरीर-सहित जाता है या शरीर-रहित ?"[3] 'भगवान् कहते हैं—'स्यात् शरीर-सहित और स्यात् शरीर-रहित।' उत्तर में विरोध लगता है पर अपेक्षा दृष्टि के सामने आते ही वह मिट जाता है।

शरीर दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। शरीर मोक्ष-दशा से पहले

---

१. ब्रह्मसूत्र, २।२।३३, (शांकरभाष्य)

२. नील-कमल—यह सामानाधिकरण्य है। कमल में नील गुण के निमित्त से 'नील' शब्द की और कमल-जाति के निमित्त से 'कमल' शब्द की प्रवृत्ति होती है।

३. भगवती, २।१ :
सिय ससरीरी निक्खमई सिय असरीरी निक्खमई।

नहीं छूटते, इस अपेक्षा से परभव-गामी जीव शरीर-सहित जाता है। स्थूल शरीर एक जन्म-सम्बन्ध होते हैं, इस दृष्टि से वह अ-शरीर जाता है। एक ही प्राणी की स-शरीर और अ-शरीर गति विरोधी लगती है किन्तु अपेक्षा समझने पर वह वैसी नहीं लगती।

विरोध तीन प्रकार के हैं—१. वध्य-घातक-भाव २. सहानवस्थान, ३. प्रतिवन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव।

पहला विरोध वलवान् और दुर्वल के बीच होता है। वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म तुल्यहेतुक और तुल्यवली हैं, इसलिए वे एक-दूसरे को बांध नहीं सकते।

दूसरा विरोध वस्तु की क्रमिक पर्यायों में होता है। वाल्य और यौवन क्रमिक हैं, इसलिए वे एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व क्रमिक नहीं हैं, इसलिए इनमें यह विरोध भी नहीं आता।

आम डंठल से वंधा रहता है, तव तक गुरु होने पर भी नीचे नहीं गिरता। इनमें 'प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धक भाव' होता है। अस्तित्व-नास्तित्व के प्रयोजन का प्रतिवन्धक नहीं है। अस्ति-काल में ही पर की अपेक्षा नास्ति-वुद्धि और नास्तिकाल में ही स्व की अपेक्षा अस्ति-वुद्धि होती है, इसलिए इनमें प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धक भाव भी नहीं है। अपेक्षा-भेद से इनमें विरोध नहीं रहता।

स्याद्वाद विरोध लाता नहीं किन्तु अविरोधी धर्मों में जो विरोध लगता है, उसे मिटाता है।[1]

१. जिस रूप से वस्तु सत् है, उसी रूप से वस्तु असत् मानी जाए तो विरोध आता है।[2] जैन-दर्शन यह नहीं मानता। वस्तु को स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् मानता है। शंकराचार्य और भास्कराचार्य ने जो एक ही वस्तु को एक ही रूप से सत्-असत् मानने का विरोध किया है, वह जैन-दर्शन पर लागू नहीं होता।[3]

पंडित अम्वादासजी शास्त्री ने स्याद्वाद में दीखनेवाले विरोध को आपाततः सन्देह वताते हुए लिखा है—'यहां पर आपाततः प्रत्येक व्यक्ति को यह शंका हो सकती है कि इस प्रकार परस्पर-विरोधी धर्म एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं और

---

१. न्यायखण्डन खाद्य, श्लोक ४२ :
नह्ययं क्वचन नानाविरुद्धधर्मप्रतिपादकः स्याद्वादः किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोधद्योतकस्यात्पद-समभिव्याहृतवाक्यविशेषः।

२, प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ५ :
यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैव असत्त्वं, येनैव च असत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेयेत तदा स्याद् विरोधः।

३. ब्रह्मसूत्र, २।२।३३ (शांकरभाष्य)

इसी से वेदान्त सूत्र में व्यासजी ने एक स्थान पर लिखा है—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' —अर्थात् एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध नित्यानित्यत्वादि नहीं रह सकते। परन्तु जैनाचार्यों ने स्याद्वाद-सिद्धान्त से इन परस्पर-विरोधी धर्मों का एक स्थान में भी रहना सिद्ध किया है और वह युक्तियुक्त भी है, क्योंकि वे विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से एक वस्तु में रहते हैं, न कि एक ही अपेक्षा से।"[1]

प्रो० फणिभूषण अधिकारी (अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय) के शब्दों में—'विद्वान् शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अन्य योग्यतावाले पुरुषों में क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् को सर्वथा अक्षम्य ही कहूंगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के, जिसके लिए अनादर से 'विवसन-समय' अर्थात् नग्न लोगों का सिद्धान्त ऐसा नाम वे रखते हैं, दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।'

२. वस्तु के 'सत्' अंश से उसमें 'है' शब्द की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही उसके असत् अंश से उसमें 'नहीं शब्द की प्रवृत्ति होने का निमित्त बनता है। 'है' और 'नहीं' ये दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न धर्मों द्वारा प्रवर्तित होते हैं। इसलिए वैयधिकरण्य दोष भी स्याद्वाद को नहीं छूता।

३. किसी वस्तु में अनन्त विकल्प होते हैं, इसीलिए अनवस्था-दोष[2] नहीं बनता। यह दोष तब बने, जब कि कल्पनाएं अप्रामाणिक हों। सप्तभंगियां प्रमाण-सिद्ध हैं। इसलिए एक पदार्थ में अनन्त-सप्तभंगी होने पर भी यह दोष नहीं आता। धर्म में धर्म की कल्पना होती ही नहीं। अस्तित्व धर्म है, उसमें दूसरे धर्म की कल्पना ही नहीं होती, तब अनवस्था कैसे ?

४. वस्तु जिस रूप से 'अस्ति' है, उसी रूप से 'नास्ति' नहीं है। इसलिए संकर-दोष[3] भी नहीं आएगा।

५. अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व रूप

---

१. मेरी जीवन-गाथा

२. अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था अथवा अव्यवस्थितपरम्परोपाधीनानिष्टप्रसंगः अनवस्था।
—अप्रामाणिक कल्पनाओं से अनन्त पदार्थों की परिकल्पना करने से कहीं विश्राम नहीं मिलता। ऐसी अवस्था को 'अनवस्था दोष, कहा जाता है।
—(अथवा) अव्यवस्थित परम्परा के कारण जो अनिष्ट प्रसंग उत्पन्न होता है, उसे 'अनवस्था दोष' कहा जाता है।

३. सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः संकरः।
—वस्तु में रहे हुए सभी धर्मों की एक साथ प्राप्ति को 'संकर-दोष' कहा जाता है।

में। किन्तु अस्तित्व नास्तित्व रूप में और नास्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत नहीं होता।[1] 'है' 'नहीं' नहीं बनता और 'नहीं' 'है' नहीं बनता, इसलिए व्यतिकरदोष भी नहीं आनेवाला है।[2]

६. स्याद्वाद में अनेक धर्मों का निश्चय रहता है, इसलिए वह संशय भी नहीं है। प्रो० आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव के शब्दों में—'महावीर के सिद्धान्त में बताये गए स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है किन्तु वह एक दृष्टिबिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए, यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण रूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैन-धर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।'

७-८. संशय नहीं तब निश्चित ज्ञान का अभाव—अप्रतिपत्ति नहीं होगी। अप्रतिपत्ति के बिना वस्तु का अभाव भी नहीं होगा।

विकलादेश और सकलादेश

वस्तु-प्रधान ज्ञान सकलादेश और गुण-प्रधान ज्ञान विकलादेश होता है। इसके सम्बन्ध में तीन मान्यताएं हैं। पहली के अनुसार सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सकलादेश और विकलादेश दोनों होता है।

दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक भंग विकलादेश होता है और सम्मिलित सातों भंग सकलादेश कहलाते हैं।

तीसरी मान्यता के अनुसार पहला, दूसरा और चौथा भंग विकलादेश और शेष सब सकलादेश होते हैं।

द्रव्य-नय की मुख्यता और पर्याय-नय की अमुख्यता से गुणों की अभेदवृत्ति बनती है। इससे स्याद्वाद सकलादेश या प्रमाणवाक्य बनता है।

पर्याय-नय की मुख्यता और द्रव्य-नय की अमुख्यता से गुणों की भेदवृत्ति बनती है। उससे स्याद्वाद-विकलादेश या नय-वाक्य बनता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। अनन्त धर्म वाली वस्तु के अखण्ड रूप का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य सकलादेश होता है। वाक्य में यह शक्ति अभेद-वृत्ति की मुख्यता और अभेद का उपचार—इन दो कारणों से आती है। अनन्त धर्मों को अभिन्न बनानेवाले आठ कारण हैं—

---

१. भगवती, १।३।१२३

२. परस्परविषयगमनं व्यतिकरः।

—एक विषय का दूसरे विषय में संक्रमण होना 'व्यतिकर-दोष' है।

१. काल	५. उपकार
२. आत्म-रूप	६. गुणी-देश
३. अर्थ-आधार	७. संसर्ग
४. सम्बन्ध	८. शब्द

वस्तु और गुण-धर्मों के सम्बन्ध की जानकारी के लिए इनका प्रयोग किया जाता है।

हम वस्तु के अनन्त गुणों को एक-एक कर बताएं और फिर उन्हें एक धागे में पिरोएं, यह हमारा अनन्त जीवन हो तब बनने की बात है। बिखेरने के बाद समेटने की बात ठीक बैठती नहीं, इसलिए एक ऐसा द्वार खोलें या एक ऐसी प्रकाश-रेखा डालें, जिसमें से या जिसके द्वारा समूची वस्तु दीख जाय। यह युक्ति हमें भगवान् महावीर ने सुझाई। वह है, उनकी वाणी में 'सिय' शब्द। उसी का संस्कृत अनुवाद होता है 'स्यात्'। कोई एक धर्म 'स्यात्' से जुड़ता है और वह बाकी के सब धर्मों को अपने में मिला लेता है। 'स्यात् जीव है'—यहां हम 'है' इसके द्वारा जीव की अस्तिता बताते हैं और 'है' स्यात् से जुड़कर आया है, इसलिए यह अखण्ड रूप में नहीं, किन्तु अखण्ड बनकर आया है। एक धर्म में अनेक धर्मों की अभिन्नता वास्तविक नहीं होती, इसलिए यह अभेद एक धर्म की मुख्यता या उपचार से होता है।

१. जिस समय वस्तु में 'है' है, उस समय अन्य धर्म भी हैं, इसलिए काल की दृष्टि से 'है' और बाकी के सब धर्म अभिन्न हैं।

२. 'है' धर्म जैसे वस्तु का आत्मरूप है, वैसे अन्य धर्म भी उसके आत्मरूप हैं। इस आत्मरूप की दृष्टि से प्रतिपाद्य धर्म का अप्रतिपाद्य धर्मों से अभेद है।

३. जो अर्थ 'है' का आधार है, वही अन्य धर्मों का है। जिसमें एक है, उसी में सब हैं—इस अर्थदृष्टि या आधारभूत द्रव्य की दृष्टि से सब धर्म एक हैं—समानाधिकरण हैं।

४. वस्तु के साथ 'है' का जो अविष्वग्भाव या अपृथग्भाव सम्बन्ध है, वही अन्य धर्मों का है—इस तादात्म्य सम्बन्ध की दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

५. जैसे वस्तु के स्वरूप-निर्माण में 'है' अपना योग देता है, वैसे ही दूसरे धर्मों का भी उसके स्वरूप-निर्माण में योग है। इस योग या उपचार की दृष्टि से भी सबमें अभेद है। पके हुए आम में मिठास और पीलापन का उपचार भिन्न नहीं होता। यही स्थिति शेष सब धर्मों की है।

६. जो वस्तु सम्बन्धी क्षेत्र 'है' का होता है, वही अन्य धर्मों का होता है—इस गुणी-देश की दृष्टि से भी सब धर्मों में भेद नहीं है। उदाहरणस्वरूप आम के जिस भाग में मिठास है, उसी में पीलापन है। इस प्रकार वस्तु के देश—भाग की दृष्टि से वे दोनों एकरूप हैं।

७. वस्त्वात्मा का 'है' के साथ जो संसर्ग होता है, वही अन्य धर्मों के साथ होता है—इस संसर्ग की दृष्टि से भी सब धर्म भिन्न नहीं हैं। आम का मिठास के साथ होनेवाला सम्बन्ध उसके पीलेपन के साथ होनेवाले सम्बन्ध से भिन्न नहीं होता। इसलिए वे दोनों अभिन्न हैं। धर्म और धर्मी भिन्नाभिन्न होते हैं। अविष्वग्भाव सम्बन्ध में अभेद प्रधान होता है और भेद गौण।

८. जो 'है' शब्द अस्तित्व धर्म वाली वस्तु का वाचक है, वह शेष अनन्त धर्म वाली वस्तु का भी वाचक है—इस शब्द-दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

काल आदि की दृष्टि से भिन्न धर्मों का अभेद-उपचार

१. समकाल एक में अनेक गुण हों, यह सम्भव नहीं। यदि हों तो उनका आश्रय भिन्न होगा।

२. अनेकविध गुणों का आत्मरूप एक हो, यह सम्भव नहीं, यदि हो तो उन गुणों में भेद नहीं माना जाएगा।

३. अनेक गुणों के आश्रयभूत अर्थ अनेक होंगे, यह न हो तो एक अनेक गुणों का आश्रय कैसे बने ?

४. अनेक सम्बन्धियों का एक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

५. अनेक गुणों के उपकार अनेक होंगे—एक नहीं हो सकता।

६. गुणी का क्षेत्र—प्रत्येक भाग प्रतिगुण के लिए भिन्न होना चाहिए नहीं तो दूसरे गुणी के गुणों का भी इस गुणी-देश से भेद नहीं हो सकेगा।

७. संसर्ग प्रतिसंसर्गी का भिन्न होगा।

८. प्रत्येक विषय के शब्द पृथक् होंगे। सब गुणों को एक शब्द बता सके तो सब अर्थ एक शब्द के वाच्य बन जाएंगे और दूसरे शब्दों का कोई अर्थ नहीं होगा।

त्रिभंगी या सप्तभंगी

अपनी सत्ता का स्वीकार और पर-सत्ता का अस्वीकार ही वस्तु का वस्तुत्व है।[1] यह स्वीकार और अस्वीकार दोनों एकाश्रयी होते हैं। वस्तु में 'स्व' की सत्ता की भांति 'पर' की असत्ता नहीं हो तो उसका स्वरूप ही नहीं बन सकता। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने आवश्यक हैं। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है।'[2] स्व की अपेक्षा वह आत्मा (अस्तित्व) है, पर की अपेक्षा वह आत्मा नहीं है, युगपत् दोनों की अपेक्षा वह अवक्तव्य है। ये तीन विकल्प हैं, इनके संयोग से चार विकल्प और बनते हैं—

---

१. स्वपरसत्ताव्युदासोपादानापायं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।
२. भगवती, १२।१०

४. स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति—रत्नप्रभा पृथ्वी स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा नहीं है—यह दो अंशों की क्रमिक विवक्षा है।

५. स्यात्-अस्ति, स्यात्-अवक्तव्य—स्व की अपेक्षा है, युगपत् स्व पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

६. स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—पर की अपेक्षा नहीं है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

७. स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—एक अंश स्व-की अपेक्षा है, एक अंश पर की अपेक्षा नहीं है, युगपत् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभंगी

सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन (१) इसलिए—अस्ति।

असत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन (२) इसलिए—नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन (३) इसलिए—अस्ति-नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता (४) इसलिए—अवक्तव्य।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता—सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (५) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता—असत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (६) इसलिए—अवक्तव्य-नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता के साथ उभय धर्म की प्रधानता से क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (७) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति-नास्ति।

सप्तभंगी ही क्यों ?

वस्तु का प्रतिपादन क्रम और यौगपद्य, इन दो पद्धतियों से होता है। वस्तु में 'अस्ति' धर्म भी होता है और 'नास्ति' धर्म भी।

१-२. 'वस्तु है'—यह अस्तिधर्म का प्रतिपादन है। 'वस्तु नहीं है'—यह नास्ति धर्म का प्रतिपादन है। यह क्रमिक प्रतिपादन है। अस्ति और नास्ति एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए युगपत् अनेक धर्म-प्रतिपादन की अपेक्षा पदार्थ अवक्तव्य है। यह युगपत् प्रतिपादन है।

३. क्रम-पद्धति में जैसे एक काल में एक शब्द से एक गुण के द्वारा समस्त वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है, वैसे एक काल में एक शब्द से दो प्रतियोगी गुणों

के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसलिए युगपत् एक शब्द से समस्त वस्तु के प्रतिपादन की विवक्षा होती है, तब वह अवक्तव्य बन जाती है।

वस्तु-प्रतिपादन के ये मौलिक विकल्प तीन ही हैं। अपुनरुक्त रूप में इनके चार विकल्प और हो सकते हैं, इसलिए सात विकल्प बनते हैं। बाद के भंगों में पुनरुक्ति आ जाती है। उनसे कोई नया बोध नहीं मिलता, इसलिए उन्हें प्रमाण में स्थान नहीं मिलता। इसका फलित रूप यह है कि वस्तु के अनन्त धर्मों पर अनन्त सप्तभंगियां होती हैं किन्तु एक धर्म पर सात से अधिक भंग नहीं बनते।

४. अपुनरुक्त-विकल्प—सत् द्रव्यांश होता है और असत् पर्यायांश। द्रव्यांश की अपेक्षा वस्तु सत् है और अभाव रूप पर्यायांश की अपेक्षा वस्तु असत् है। एक साथ दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। क्रम-विवक्षा में उभयात्मक है।

५-६-७. अवक्तव्य का सद्भाव की प्रधानता से प्रतिपादन हो तब पांचवां, असद्भाव की प्रधानता से हो तब छठा और क्रमशः दोनों की प्रधानता से हो तब सातवां भंग बनता है।

प्रथम तीन असांयोगिक विकल्पों में विवक्षित धर्मों के द्वारा अखण्ड वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए ये सकलादेशी हैं। शेष चारों का विषय देशावच्छिन्न धर्मी होता है, इसलिए वे विकलादेशी हैं।[1]

एक विद्यार्थी में योग्यता, अयोग्यता, सक्रियता और निष्क्रियता — ये चार धर्म मान सात भंगों की परीक्षा करने पर इनकी व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। इनमें दो गुण सद्भावरूप हैं और दो उनके प्रतियोगी।

किसी व्यक्ति ने अध्यापक से पूछा—'अमुक विद्यार्थी पढ़ने में कैसा है ?'

अध्यापक ने कहा—'बड़ा योग्य है।'

१. यहां पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म उसके अन्दर छिप गए—गौण बन गए।

दूसरे ने पूछा—'विद्यार्थी नम्रता में कैसा है ?'

अध्यापक ने कहा—'बड़ा अयोग्य है।'

२. यहां उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म गौण बन गए ?

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा—'वह पढ़ने में और विनय-व्यवहार में कैसा है ?'

अध्यापक ने कहा—'क्या कहें यह बड़ा विचित्र है। इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

---

१. नय रहस्य, पृ० २१ :
अत्र च सकलधर्मविषयत्वात् त्रयो भंगा अविकलादेशाः, चत्वारश्च देशावच्छिन्नधर्मिविषयत्वात् विकलादेशाः।

३. यह विचार उस समय निकलता है, जब उसकी पढ़ाई और उच्छृंखलता, ये दोनों एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं। और कभी-कभी ऐसा भी उत्तर होता है, 'भाई ! अच्छा ही है, पढ़ने में योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार में योग्य नहीं है।'

पांचवां उत्तर—'योग्य है, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

छठा उत्तर— 'योग्य नहीं है, फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

सातवां उत्तर—'योग्य भी है, नहीं भी। अरे, क्या पूछते हो, बड़ा विचित्र लड़का है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।'

उत्तर देनेवाले की भिन्न-भिन्न मनःस्थितियां होती हैं। कभी उसके सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनों और कभी क्रमशः। कभी योग्यता का बखान होते-होते योग्यता-अयोग्यता दोनों प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाता है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनों प्रधान बनती हैं और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनों का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनों पर एक साथ दृष्टि दौड़ते ही 'कुछ कहा नहीं जा सकता' – ऐसी वाणी निकल पड़ती है।

जीव की सक्रियता और निष्क्रियता पर स्याद्-अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य का प्रयोग—

मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। एकान्त निश्चयवादी के अनुसार जीव निष्क्रिय और अजीव सक्रिय है। सांख्य दर्शन की भाषा में पुरुष निष्क्रिय और प्रकृति सक्रिय है। एकान्त व्यवहारवादी के अनुसार जीव सक्रिय है और अजीव निष्क्रिय। विज्ञान की भाषा में जीव सक्रिय और अजीव निष्क्रिय है। स्याद्वाद की दृष्टि से जीव सक्रिय भी है, निष्क्रिय भी है और अवाच्य भी।

लब्धि-वीर्य या शक्ति की अपेक्षा से जीव की निष्क्रियता सत्य है; करण-वीर्य या क्रिया की अपेक्षा से जीव की सक्रियता सत्य है; उभय धर्मों की अपेक्षा से अवक्तव्यता सत्य है।

गुण-समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य के प्रदेशों—अवयवों को क्षेत्र कहते हैं। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार द्रव्य का आधार भी क्षेत्र कहलाता है। द्रव्य के परिणमन को काल कहते हैं। जिस द्रव्य का जो परिणमन है, वही उसका काल है। घड़ी, मुहूर्त आदि काल व्यावहारिक कल्पना है। द्रव्य के गुण—शक्ति-परिणमन को भाव कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का द्रव्यादि चतुष्टय भिन्न-भिन्न रहता है। एक जैसे, एक क्षेत्र में रहे हुए, एक साथ बने, एक रूप-रंग वाले सौ घड़ों में सादृश्य हो सकता

है, एकता नहीं। एक घड़े के मिट्टी के परमाणु दूसरे घड़े के मिट्टी के परमाणुओं से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार अवगाह, परिणमन और गुण भी एक नहीं होते।

वस्तु के प्रत्येक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से अनन्त त्रिभंगियां या सप्तभंगियां होती हैं किन्तु उसके एक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से त्रिभंगी या सप्तभंगी ही होती है।

वस्तु के विषय सात हैं, इसलिए सात प्रकार के सन्देह, सात प्रकार के सन्देह हैं इसलिए सात प्रकार की जिज्ञासा, सात प्रकार की जिज्ञासा से सात प्रकार के पर्यनुयोग और सात प्रकार के पर्यनुयोग से सात प्रकार के विकल्प बनते हैं।[1]

अहिंसा-विकास में अनेकान्तदृष्टि का योग

जैन धर्म का नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आंखों के सामने आ जाती है। अहिंसा की अर्थात्मा जैन शब्द के साथ इस प्रकार घुली-मिली हुई है कि इनका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोक-भाषा में यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

धर्म मात्र अहिंसा को आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं मिलता, जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन धर्म के साथ अहिंसा का ऐसा तादात्म्य क्यों? यहां विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धाराएं मिलती हैं। स्थूल रूप में सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हों, वैसी बात नहीं, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त-दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यांशों का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

---

१. अन्ययोगव्यच्छेदिका, श्लोक २३ :
अपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदितसप्तभंगमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम्॥

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं; जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही अपेक्षाएं हैं। जितनी अपेक्षाएं हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस यहीं से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता है—अनेकान्त या सत्-एकान्त-दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त-दृष्टि—हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराएं चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस अवस्था में था ? उसके आस-पास की परिस्थितियां कैसी थीं ? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था ? विवक्षा में किसका प्राधान्य था ? उसका उद्देश्य क्या था ? वह किस साध्य को लिए चलता था ? उसकी अन्य निरूपण-पद्धतियां कैसी थीं ? तत्कालीन सामयिक स्थितियां कैसी थीं ? आदि-आदि अनेक छोटे-बड़े बाट मिल-कर एक-एक शब्द को सत्य की तराजू में तोलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एकमात्र साधन है—शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप में सत्य या असत्य कुछ भी नहीं है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आप में सही या झूठ, कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है ?

इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वंश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशों को ठुकराकर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।"

'दूसरों के प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को समझने की भी चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है—बौद्धिक अहिंसा।'

भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, इसे जीवन-व्यवहार में भी उतारा। चण्डकौशिक सांप ने भगवान् के डंक मारे, तब उन्होंने सोचा—"यह अज्ञानी है, इसीलिए मुझे काट रहा है, इस दशा में मैं इस पर क्रोध

कैसे करूं ?" संगम ने भगवान् को कष्ट दिये, तब उन्होंने सोचा—"यह मोह-व्याक्षिप्त है, इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है। मैं मोह-व्याक्षिप्त नहीं हूं, इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नहीं।"

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तों को समान दृष्टि से देखा, इसलिए देखा कि उनकी विश्वमैत्री की अपेक्षा दोनों समकक्ष मित्र थे।

चण्डकौशिक अपनी उग्रता की अपेक्षा भगवान् का शत्रु माना जा सकता है किन्तु भगवान् की मैत्री की अपेक्षा वह उनका शत्रु नहीं माना जा सकता। इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होने की आवश्यकता है।

स्कन्दक संन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—विश्व सान्त भी है, अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्र में उपयुज्य है। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टि से बहुत सरलता से सुलझाये जा सकते हैं, किन्तु कलह का क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक अखाड़े संघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकान्त दृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाए तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। जो कहीं भय या द्वैधीभाव बढ़ता है, उसका कारण ऐकान्तिक आग्रह ही है। एक रोगी कहे, मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है, उस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को एकाएक झेंपना नहीं चाहिए। उसे सोचना चाहिए—"कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती।" उसकी लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी के लिए अमृत होता है। परिस्थिति के परिवर्तन में जहर जिसके लिए जहर होता है, उसी के लिए अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद पूंजीवाद को बुरा लगता है और पूंजीवाद साम्यवाद को, इसमें ऐकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में जैन धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है।

तत्त्व और आचार पर अनेकान्तदृष्टि

एकान्तवाद आग्रह या संकिलष्ट मनोदशा का परिणाम है, इसलिए वह हिंसा है। अनेकान्त दृष्टि में आग्रह या संक्लिेश नहीं होता, इसलिए वह अहिंसा है। साधक को उसी का प्रयोग करना चाहिए।

एकान्तदृष्टि से व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उसका स्वीकार अनाचार है। अनेकान्तदृष्टि से व्यवहार का भी लोप नहीं होता, इसलिए उसका स्वीकार आचार है। इनके अनेक स्थानों का वर्णन करते हुए सूत्रकृतांग में बताया है—

१. पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है—यह मानना अनाचार है। पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य—यह मानना आचार है।

२. शास्ता—तीर्थंकर, उनके शिष्य या भव्य, इनका सर्वथा उच्छेद हो

जाएगा—संसार भव्य जीवन शून्य हो जाएगा, या मोक्ष होता ही नहीं—यह मानना अनाचार है। भवस्थ केवली मुक्त होते हैं, इसलिए वे शाश्वत नहीं हैं और प्रवाह की अपेक्षा केवली सदा रहते हैं, इसलिए शाश्वत भी हैं—यह मानना आचार है।

३. सब जीव विसदृश ही हैं या सदृश ही हैं—यह मानना अनाचार है। चैतन्य, अमूर्तत्व आदि की दृष्टि से प्राणी आपस में समान भी हैं और कर्म, गति, जाति, विकास आदि की दृष्टि से विलक्षण भी हैं—यह मानना आचार है।

४. सब जीव कर्म की गांठ से बंधे हुए ही रहेंगे अथवा सब छूट जाएंगे—यह मानना अनाचार है। काल, लब्धि, वीर्य, पराक्रम आदि सामग्री पानेवाले मुक्त होंगे भी और नहीं पानेवाले नहीं भी होंगे—यह मानना आचार है।

५. छोटे और बड़े जीवों को मारने में पाप सरीखा होता है अथवा सरीखा नहीं होता—यह मानना अनाचार है। हिंसा में बंध की दृष्टि से सादृश्य भी है और बंध की मन्दता, तीव्रता की दृष्टि से असादृश्य भी—यह मानना आचार है।

६. आधाकर्म आहार खाने से मुनि कर्म से लिप्त होते ही हैं या नहीं ही होते—यह मानना अनाचार है। जान-बूझकर आधाकर्म आहार खाने से लिप्त होते हैं और शुद्ध नीति से व्यवहार में शुद्ध जानकर लिया हुआ आधाकर्म आहार खाने से लिप्त नहीं भी होते—यह मानना आचार है।

७. स्थूल और सूक्ष्म शरीर अभिन्न ही हैं, या भिन्न ही हैं—यह मानना अनाचार है। इन शरीरों की घटक वर्गणाएं भिन्न हैं, इस दृष्टि से ये भिन्न भी हैं और एक देश-काल में उपलब्ध होते हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं—यह मानना आचार है।

८. सर्वत्र वीर्य है, सब सब जगह है, सर्व सर्वात्मक हैं, कारण में कार्य का सर्वथा सद्भाव है या सब में सबकी शक्ति नहीं है—कारण में कार्य का सर्वथा अभाव है—यह मानना अनाचार है। अस्तित्व आदि सामान्य धर्मों की अपेक्षा पदार्थ एक सर्वात्मक भी है और कार्य-विशेष गुण आदि की अपेक्षा अ-सर्वात्मक—भिन्न भी है। कारण में कार्य का सद्भाव भी है और असद्भाव भी—यह मानना आचार है।

९. कोई पुरुष कल्याणवान् ही है या पापी ही है—यह नहीं कहना चाहिए। एकान्ततः कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् या पापी नहीं होता।

१०. जगत् दुःख रूप ही है—यह नहीं कहना चाहिए। मध्यस्थदृष्टि वाले इस जगत् में परम सुखी भी होते हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व और आचार दोनों पर अनेकान्त-दृष्टि से विचार किया। इन पर एकान्तदृष्टि से किया जानेवाला विचार मानस-संक्लेश या आग्रह

का हेतु बनता है। अहिंसा और संक्लेश का जन्मजात विरोध है। इसलिए अहिंसा को पल्लवित करने के लिए अनेकान्तदृष्टि परम आवश्यक है। आत्मवादी दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है—बंध और मोक्ष की मीमांसा करना। बंध, बंध कारण, मोक्ष और मोक्ष-कारण—यह चतुष्टय अनेकान्त को माने बिना घट नहीं सकता। अनेकान्तात्मकता के साथ क्रम-अक्रम व्याप्त है। क्रम-अक्रम से अर्थ-क्रिया व्याप्त है। अर्थ-क्रिया से अस्तित्व व्याप्त है।

स्याद्‌वाद की प्रशस्ति

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः।
लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमासते ॥

जिसकी शरण लिए बिना लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की क्रियाएं संगत नहीं होतीं, उस स्याद्वाद को नमस्कार है।

जेन विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेकगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥

जिसके बिना लोक-व्यवहार भी संगत नहीं होता, उस जगद्‌गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

उत्पन्नं दधिभावेन, नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्, स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः ॥

दही बनता है, दूध मिटता है, गोरस स्थिर रहता है। उत्पाद और विनाश के पौर्वापर्य में भी जो अपूर्वापर है, परिवर्तन में भी जो अपरिवर्तित है, इसे कौन अस्वीकार करेगा।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

एक प्रधान होता है, दूसरा गौण हो जाता है—यह जैन दर्शन का नय है। इस सापेक्ष नीति से सत्य उपलब्ध होता है। नवनीत तब मिलता है, जब एक हाथ आगे बढ़ता है और दूसरा हाथ पीछे सरक जाता है।

९

नयवाद

सापेक्ष-दृष्टि

प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। अपेक्षा के बिना उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। अखण्ड द्रव्य को जानते समय उसकी समग्रता जान ली जाती है, किन्तु इससे व्यवहार नहीं चलता। उपयोग अखण्ड ज्ञान का ही हो सकता है। अमुक समय में अमुक कार्य के लिए अमुक वस्तु धर्म का ही व्यवहार या उपयोग होता हैं, अखण्ड वस्तु का नहीं। हमारी सहज अपेक्षाएं भी ऐसी ही होती हैं। विटामिन 'डी' की कमी वाला व्यक्ति सूर्य का आताप लेता है, वह वाल-सूर्य की किरणों का लेगा। शरीर-विजय की दृष्टि से सूर्य का ताप सहने-वाला तरुणसूर्य की धूप में आताप लेगा। भिन्न-भिन्न अपेक्षा के पीछे पदार्थ का भिन्न-भिन्न उपयोग होता है। प्रत्येक उपयोग क पीछे हमारी निश्चय अपेक्षा जुड़ी हुई होती है। यदि अपेक्षा न हो तो प्रत्येक वचन और व्यवहार आपस में विरोधी बन जाता है।

एक काठ के टुकड़े का मूल्य एक रुपया होता है, उसका उत्कीर्णन के बाद दस रुपया मूल्य हो जाता है, यह क्यों? काठ नहीं वदला, फिर भी उसकी स्थिति वदल गई। उसके साथ-साथ मूल्य की अपेक्षा वदल गई। काठ की अपेक्षा से उसका अब भी वही एक रुपया मूल्य है किन्तु खुदाई की अपेक्षा मूल्य वह नहीं, नौ रुपये और वढ़ गया। एक और दस का मूल्य विरोधी है पर अपेक्षा-भेद समझने पर विरोध नहीं रहता।

अपेक्षा हमारा बुद्धिगत धर्म है। वह भेद से पदा होता है। भेद मुख्यवृत्त्या चार होते हैं—

१. वस्तु-भेद।

२. क्षेत्र-भेद या आश्रय-भेद।

३. काल-भेद।

४. अवस्था-भेद।

तात्पर्य यह है कि सत्ता वहीं जहां अर्थ-क्रिया, अर्थ-क्रिया वहीं जहां क्रम-अक्रम और क्रम-अक्रम वहीं जहां अनेकान्त होता है। एकान्तवादी व्यापक—अनेकान्त को नहीं मानते, तब व्याप्य-क्रम-अक्रम नहीं, क्रम-अक्रम के बिना क्रिया और कारक नहीं, क्रिया और कारक के बिना बंध आदि चारों (बंध, बंध कारण, मोक्ष, मोक्ष कारण) नहीं होते।[1] इसलिए समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही शरण है। काठ के टुकड़े के मूल्य पर जो हमने विचार किया, वह अवस्था-भेद से उत्पन्न अपेक्षा है। यदि हम इस अवस्था-भेद से उत्पन्न होनेवाली अपेक्षा की उपेक्षा कर दें तो भिन्न मूल्यों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

आम की ऋतु में रुपये के दो सेर आम मिलते हैं। ऋतु बीतने पर सेर आम का मूल्य दो रुपये हो जाता है। कोई भी व्यवहारी एक ही वस्तु के इन विभिन्न मूल्यों के लिए झगड़ा नहीं करता। उसकी सहज बुद्धि में काल-भेद की अपेक्षा समाई हुई रहती है।

कश्मीर में मेवे का जो भाव होता है, वह राजस्थान में नहीं होता। कश्मीर का व्यक्ति राजस्थान में आकर यदि कश्मीर-सुलभ मूल्य में मेवा लेने का आग्रह करे तो वह बुद्धिमानी नहीं होती। वस्तु एक है, यह अन्वय की दृष्टि है किन्तु वस्तु की क्षेत्राश्रित पर्याय एक नहीं है। जिसे आम की आवश्यकता है वह सीधा आम के पास ही पहुंचता है। उसकी अपेक्षा यही तो है कि आम के अतिरिक्त सब वस्तुओं के अभाव धर्मवाला और आम्र-परमाणु सद्भावी आम उसे मिले। इस सापेक्ष दृष्टि के बिना व्यावहारिक समाधान भी नहीं मिलता।

भगवान् महावीर की अपेक्षा-दृष्टियां

अव्युच्छेद की दृष्टि से वस्तु नित्य है, व्युच्छेद की दृष्टि से अनित्य। भगवान् ने अविच्छेद और विच्छेद दोनों का समन्वय किया। फलस्वरूप ये निर्णय निकलते हैं कि—

१. वस्तु न नित्य, न अनित्य किन्तु नित्य-अनित्य का समन्वय है।
२. वस्तु न भिन्न, न अभिन्न किन्तु भेद-अभेद का समन्वय है।
३. वस्तु न एक, न अनेक किन्तु एक-अनेक का समन्वय है।

---

१ तत्त्वानुशासन, २४६-२५१ :

अनेकान्तात्मकत्वेन, व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता, तयास्तित्वं चतुष्टये॥
मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु, क्रमाक्रमनिवृत्तितः।
क्रिया - कारकयोर्भ्रंशान्नस्यादेतच्चतुष्टयम्॥
ततो व्याप्ता (व्याप्तः) समस्तस्य, प्रसिद्धश्चप्रमाणतः।
चतुष्टय मद्-इच्छद्भिरनेकान्तोवगम्यताम्॥

इन्हें बुद्धिगम्य बनाने के लिए उन्होंने अनेक वर्गीकृत अपेक्षाएं प्रस्तुत कीं। वे कुछ इस प्रकार हैं—

१. द्रव्य।
२. क्षेत्र।
३. काल।
४. भाव-पर्याय या परिणमन।
५. भव।
६. संस्थान।
७. गुण।
८. प्रदेश-अवयव।
९. संख्या।
१०. ओघ।
११. विधान।

काल और विशेषगुणकृत अविच्छिन्न नित्य तथा काल और क्रमभावी धर्मकृत विच्छिन्न अनित्य होता है।

क्षेत्र और सामान्यगुणकृत अविच्छिन्न अभिन्न तथा क्षेत्र और विशेष गुणकृत विच्छिन्न भिन्न होता है।

वस्तु और सामान्यगुणकृत अविच्छिन्न एक तथा वस्तु और विशेषगुणकृत विच्छिन्न अनेक होता है।

वस्तु के विशेष गुण (स्वतन्त्र सत्ता स्थापक धर्म) का कभी नाश नहीं होता, इसलिए वह नित्य और उसके क्रम भावी धर्म बनते-बिगड़ते रहते हैं, इसलिए वह अनित्य है। "वह अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका एक ही क्षण में एक स्वभाव से उत्पाद होता है, दूसरे स्वभाव से विनाश और तीसरे स्वभाव से स्थिति।" वस्तु में इन विरोधी धर्मों का सहज सामंजस्य है। ये अपेक्षा-दृष्टियां वस्तु के विरोधी धर्मों को मिटाने के लिए नहीं हैं। ये उस विरोध को मिटाती हैं, जो तर्कवाद से उद्भूत होता है।

समन्वय की दिशा

अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। इसके आधार पर परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले विचार सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। मध्ययुगीन दर्शन-प्रणेताओं की गति इस ओर कम रही। यह दुःख का विषय है। जैन दार्शनिक नयवाद के ऋणी होते हुए भी अपेक्षा का खुलकर उपयोग नहीं कर सके, यह अत्यन्त खेद की बात है। यदि ऐसा हुआ होता तो सत्य का मार्ग इतना कंटीला नहीं होता।

समन्वय की दिशा बतानेवाले आचार्य नहीं हुए, ऐसा भी नहीं। अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने दार्शनिक विवादों को मिटाने के लिए प्रचुर श्रम किया। इनमें हरिभद्र आदि अग्रस्थानीय हैं।

आचार्य हरिभद्र ने कर्तृत्ववाद का समन्वय करते हुए लिखा है—"आत्मा में परम ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति होती है, इसलिए वह ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस प्रकार कर्तृत्ववाद अपने आप व्यवस्थित हो जाता है।"[1]

जैन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानता, नैयायिक आदि मानते हैं। अनाकार ईश्वर का प्रश्न है, वहां तक दोनों में कोई मतभेद नहीं। नैयायिक ईश्वर के साकार रूप में कर्तृत्व बतलाते हैं और जैन मनुष्य में ईश्वर बनने की क्षमता बतलाते हैं। नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर का साकार अवतार कर्त्ता और जैन-दृष्टि में ऐश्वर्य शक्ति-सम्पन्न मनुष्य कर्त्ता, इस बिन्दु पर सत्य अभिन्न हो जाता है, केवल विचार-पद्धति का भेद रहता है।

परिणाम, फल या निष्कर्ष हमारे सामने होते हैं, उनमें विशेष विचार-भेद नहीं होता। अधिकांश मतभेद निमित्त, हेतु या परिणाम-सिद्धि की प्रक्रिया में होते हैं। उदाहरण के लिए एक तथ्य ले लीजिए—ईश्वर कर्तृत्ववादी संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय मानते हैं। जैन, बौद्ध आदि ऐसा नहीं मानते। दोनों विचार-धाराओं के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। जैन-दृष्टि के अनुसार असत् से सत् और बौद्ध-दृष्टि के अनुसार सत्-प्रवाह के बिना सत् उत्पन्न नहीं होता। यह स्थिति है। इसमें सब एक हैं। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश बराबर चल रहे हैं, इन्हें कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अब भेद रहा सिर्फ इनकी निमित्त प्रक्रिया में। सृष्टिवादियों के सृष्टि, पालन और संहार के निमित्त हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन पदार्थ-मात्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते हैं। पदार्थ-मात्र की स्थिति स्व-निमित्त से ही होती है। उत्पाद और व्यय स्व-निमित्त से होते ही हैं और पर-निमित्त से भी होते हैं। बौद्ध उत्पाद और नाश मानते हैं, स्थिति सीधे शब्दों में नहीं मानते किन्तु सन्तति-प्रवाह के रूप में स्थिति भी उन्हें स्वीकार करनी पड़ती है।

जगत् का सूक्ष्म या स्थूल रूप में उत्पाद, नाश और ध्रौव्य चल रहा है, इसमें कोई मतभेद नहीं। जैन-दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ त्रिरूप हैं,[2] और वैदिक दृष्टि

---

१. शास्त्रवार्ता समुच्चय,
पारमैश्वर्ययुक्तत्वाद् आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः॥

२ तत्त्वार्थसूत्र, ५।२९ :
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

के अनुसार ईश्वर त्रिरूप है।[1] मतभेद सिर्फ इसकी प्रक्रिया में है। निमित्त के विचार-भेद से इस प्रक्रिया को नैयायिक 'सृष्टिवाद,' जैन 'परिणामि-नित्यवाद' और बौद्ध 'प्रतीत्य-समुत्पादवाद' कहते हैं। यह कारण-भेद प्रतीकपरक है, सत्य-परक नहीं। प्रतीक के नाम और कल्पनाएं भिन्न हैं किन्तु तथ्य की स्वीकारोक्ति भिन्न नहीं है। इस प्रकार अनेक दार्शनिक तथ्य हैं, जिन पर विचार किया जाए तो उनके केन्द्र-विन्दु पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते।

भौगोलिक क्षेत्र में चलिए। प्राच्य भारतीय ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना जाता है। सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चर। कोपरनिकस पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर मानता था। वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है। आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के अनुसार पृथ्वी चर है, सूर्य स्थिर या सूर्य चर है और पृथ्वी स्थिर, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। व्यवहार में जो सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है, वह उनकी दृष्टि में गणित की सुविधा है, इसलिए वे कहते हैं—यह हमारा निश्चयवाद नहीं किन्तु सुविधावाद है। ग्रहण आदि निष्कर्ष दोनों गणित-पद्धतियों से समान निकलते हैं, इसलिए वस्तु-स्थिति का निश्चय इन्द्रियज्ञान से सम्भव नहीं वनता। किन्तु भावी प्रत्यक्ष परिणाम को व्यक्त करने की पद्धति की अपेक्षा से किसी को भी असत्य नहीं माना जा सकता।

धर्म-समन्वय

धर्म-दर्शन के क्षेत्र में समन्वय की ओर संकेत करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—"समाज व्यवहार या दैनिक व्यवहार की अपेक्षा वैदिक धर्म, अहिंसा या मोक्षार्थ आचरण की अपेक्षा जैन धर्म, श्रुति-माधुर्य या करुणा की अपेक्षा बौद्ध धर्म और उपासना-पद्धति या योग की अपेक्षा शैव धर्म श्रेष्ठ है।" यह सही बात है। कोई भी तत्त्व सब अर्थों में परिपूर्ण नहीं होता। पदार्थ की पूर्णता अपनी मर्यादा में ही होती है और उस मर्यादा की अपेक्षा से ही वस्तु को पूर्ण माना जाता है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना की वस्तु है, वस्तुस्थिति नहीं। आत्मा चरम विकास पा लेने के वाद भी अपने रूप में पूर्ण होती है। किन्तु अचेतन पदार्थ की अपेक्षा उसकी पूर्णता नहीं होती। अचेतन रूप में वह पूर्ण तब बने, जबकि वह सर्व-भाव में अचेतन बन जाए, ऐसा होता नहीं, इसलिए अचेतन की सत्ता की

---

१. (क) विष्णुपुराण, १।२।६६ :
सृष्टि-स्थित्यन्तकरणी, ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
(ख) ऋग्वेद, १।१७४ :
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।

अधिकारी कैसे बने । अचेतन अपनी परिधि में पूर्ण है। अपनी परिधि में अन्तिम विकास हो जाए, उसी का नाम पूर्णता है। जैन धर्म जो मोक्ष-पुरुषार्थ है, मोक्ष की दिशा बताए, इसी में उसकी पूर्णता है और इसी अपेक्षा से वह उपादेय है। संसार चलाने की अपेक्षा से जैन धर्म की स्थिति ग्राह्य नहीं बनती। तात्पर्य यह है कि संसार में जितना मोक्ष है, उसकी जैन धर्म को अपेक्षा है किन्तु जो कोरा संसार है, उसकी अपेक्षा से जैन धर्म का अस्तित्व नहीं बनता। समाज की अपेक्षा सिर्फ मोक्ष ही नहीं, इसलिए उसे अनेक धर्मों की परिकल्पना आवश्यक हुई।

धर्म और समाज की मर्यादा और समन्वय

'आत्मा अकेली है। अकेली आती है और अकेली जाती है। अपने किये का अकेली ही फल भोगती है।' यह मोक्ष-धर्म की अपेक्षा है। समाज की अपेक्षा इससे भिन्न है। उसका आधार है सहयोग। उसकी अपेक्षा है, सब कुछ सहयोग से बने। सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति दोनों विचार लिए चल नहीं सकता, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जो व्यक्ति मोक्ष-धर्म की अपेक्षा आत्मा का अकेलापन और समाज की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप समझकर चले तो कोई विरोध नहीं आता। इसी अपेक्षा-दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने बताया—"संसार और मोक्ष का मार्ग पृथक्-पृथक् है।" मोक्ष-दर्शन की अपेक्षा व्यक्ति का अकेलापन सत्य है और समाज-दर्शन की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप। सामुदायिकता और आत्म-साधना एक व्यक्ति में होती है किन्तु उनके उपादान और निमित्त एक नहीं होते। वे भिन्नहेतुक होती हैं, इसलिए उनकी अपेक्षाएं भी भिन्न होती हैं। अपेक्षाएं भिन्न होती हैं, इसलिए उनमें अविरोध होता है। आत्मा के अकेलेपन का दृष्टिकोण समाज-विरोधी है और आत्मा के सामूहिक कर्म या फल-भोग का दृष्टिकोण धर्मविरोधी। किन्तु वास्तव में दोनों में कोई विरोधी नहीं। अपनी स्वरूप-मर्यादा में कोई विरोध होता नहीं। दूसरे के संयोग से जो विरोध की प्रतीति बनती है, वह अपेक्षा-भेद से मिट जाती है। किसी भी वस्तु में विरोध तब लगने लगता है, जब हम अपेक्षा को भुलाकर दो वस्तुओं को एक ही दृष्टि से समझने की चेष्टा करते हैं।

समय की अनुभूति का तारतम्य और सामंजस्य

प्रिय वस्तु के सम्पर्क में वर्ष दिन जैसा और अप्रिय वस्तु के साहचर्य में दिन वर्ष जैसा लगता है, यह अनुभूति-सापेक्ष है। सुख-दुःख का समान समय काल-स्वरूप की अपेक्षा समान बीतता है किन्तु अनुभूति की अपेक्षा उसमें तारतम्य होता है। अनुभूति के तारतम्य का हेतु है—सुख और दुःख का संयोग। इस अपेक्षा से समान काल का तारतम्य सत्य है। कालगति की अपेक्षा तुल्यकाल तुल्यअवधि में ही पूरा

होता है—यह सत्य है।

उपनिषद् में ब्रह्म को अणु से अणु और महत् से महत् कहा गया है। वह सत् भी है और असत् भी। उससे न कोई पर है और न कोई अपर, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा।[१]

अपेक्षा के बिना महाकवि कालिदास की निम्न प्रकारोक्ति सत्य नहीं बनती—"प्रिया के पास रहते हुए दिन अणु से अणु लगता है और उसके वियोग में बड़े से भी बड़ा।"[२]

प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे पूछा—"अपेक्षावाद क्या है ?" आइन्स्टीन ने उत्तर में कहा—"सुन्दर लड़की के साथ बातचीत करनेवाले व्यक्ति को एक घंटा एक मिनट के बराबर लगता है और वही गर्म स्टोव के पास बैठता है तब उसे एक मिनट भी एक घंटा जितना लम्बा लगता है—यह है अपेक्षावाद।"[३]

विवेक और समन्वय-दृष्टि

अमुक कर्तव्य है या अकर्तव्य ? अच्छा है या बुरा ? उपयोगी है या अनुपयोगी?—ये प्रश्न हैं। इनका विवेक अपेक्षा-दृष्टि के बिना हो नहीं सकता। अमुक देश, काल और वस्तु की अपेक्षा जो कर्तव्य होता है, वही भिन्न देश, काल और वस्तु की अपेक्षा अकर्तव्य बन जाता है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई पदार्थ अच्छा-बुरा, उपयोगी-अनुपयोगी नहीं बनता। किसी एक अपेक्षा से ही हम किसी पदार्थ को उपयोगी या अनुपयोगी कह सकते हैं। यदि हमारी दृष्टि में कोई विशेष अपेक्षा न हो तो हम किसी वस्तु के लिए कुछ विशेष बात नहीं कह सकते।

धन-संग्रह की अपेक्षा से वस्तुओं को दुर्लभ कहना अच्छा है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से अच्छा नहीं है। सन्निपात में दूध-मिश्री पीना बुरा है किन्तु स्वस्थ

---

१. कठोपनिषद्, १।२।२०:
अणोरणीयान् महतो महीयान्।

२. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं, करेण धृत्वा, शपथं करोमि।
योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया, अणोरणीयान् महतो महीयान्॥

३. One interesting story is told about the explanation of Relativity.
Mrs. Enstein did not understand her husband's theories. One day she asked, "What shall I say is Relativity ?" The thinker replied with an unexpected parable, "When a man talks to a pretty girl for an hour it seems to him only a minute but let him sit on a hot stove for only a minute and it is longer than an hour. That is Relativity."

दशा में वह बुरा नहीं होता। शीतकाल में गर्म कोट उपयोगी होता है, वह गर्मी में नहीं होता। गर्मी में ठंडाई उपयोगी होती है, वह सर्दी में नहीं होती। शान्तिकाल में एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति जो कर्तव्य होता है, वह युद्धकाल में नहीं होता। समाज की अपेक्षा से विवाह कर्तव्य है, किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह कर्तव्य नहीं होता। कोई कार्य एक देश, एक काल, एक स्थिति में एक अपेक्षा से कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं बनता। वैसे ही एक कार्य सब दृष्टियों से कर्तव्य या अकर्तव्य बने, ऐसा भी नहीं होता। कार्य का कर्तव्य और अकर्तव्य भाव भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से परखा जाए, तभी उसमें सामंजस्य आ सकता है।

एक गृहस्थ के लिए कठिनाई के समय भिक्षा जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उपयोगी हो सकती है किन्तु वैसा करना अच्छा नहीं। योग-विद्या का अभ्यास मानसिक स्थिरता की दृष्टि से अच्छा है किन्तु जीविका कमाने के लिए उपयोगी नहीं है।

भक्ष्य और अभक्ष्य, खाद्य और अखाद्य, ग्राह्य और अग्राह्य का विवेक भी सापेक्ष होता है। आयुर्वेदशास्त्र में ऋतु आदेश के अनुसार पथ्य और अपथ्य का विशद विवेचन और अनुपान के द्वारा प्रकृति-परिवर्तन का जो महान् सिद्धान्त मिलता है, वह भी काल और वस्तु-योग की अपेक्षा का आभारी है।

राजनीतिकवाद और अपेक्षादृष्टि

राजनीति के क्षेत्र में अनेक वाद चलते हैं। एकतन्त्र पद्धति दृढ़-शासन की अपेक्षा निर्दोष है। वह शासक की स्वेच्छाचारिता की अपेक्षा निर्दोष नहीं मानी जा सकती।

जनतन्त्र में स्वेच्छाचारिता का प्रतिकार है, परन्तु वहां दृढ़-शासन का अभाव होता है, इस अपेक्षा से वह त्रुटिपूर्ण माना जाता है।

साम्यवाद जीवन-यापन की पद्धति को सुगम बनाता है, वह उसका उज्ज्वल पक्ष है। तो दूसरी ओर व्यक्ति उसमें यन्त्र बनकर चलता है। वाणी और विचार-स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से वह रुचिगम्य नहीं बनता।

राष्ट्र-हित की अपेक्षा से जहां राष्ट्रीयता अच्छी मानी जाती है किन्तु दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा या न्यूनता उत्पन्न करने की अपेक्षा से वह अच्छी नहीं होती। यही बात जाति, समाज और व्यक्तित्व के लिए है।

पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सदाचार-असदाचार, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय-यह सब सापेक्ष होते हैं। एक की अपेक्षा जो पुण्य या धर्म होता है, वही दूसरे की अपेक्षा पाप या अधर्म बन जाता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा भिखारी को दान देना पुण्य या धर्म माना जाता है किन्तु साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भिखारी को दान देना पुण्य या धर्म नहीं माना जाता। लोक-व्यवस्था की दृष्टि से

विवाह सदाचार माना जाता है किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह सदाचार नहीं है। उसकी दृष्टि में सदाचार है—पूर्ण ब्रह्मचर्य। दूसरे शब्दों में—समाज-व्यवस्था की दृष्टि से सहवास के उपयोगी सभी व्यावहारिक नियम पुण्य, धर्म या सदाचार माने जाते हैं। किन्तु मोक्ष-साधना की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसकी अपेक्षा में धर्म, सदाचार या पुण्य-कार्य वही है जो अहिंसात्मक है।

समाज की दृष्टि से व्यापार, खेती, शिल्पकारी आदि अल्प हिंसा या अनिवार्य हिंसा को अहिंसा माना जाता है किन्तु आत्म-धर्म की दृष्टि से यह अहिंसा नह है। दण्ड-विधान की अपेक्षा से अपराधी को अपराध के अनुरूप दण्ड देना न्याय माना जाता है किन्तु अध्यात्म की अपेक्षा से वह न्याय नहीं है। वह दूसरे व्यक्ति को दण्ड देने के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। पापी ही अपने अन्तःकरण से पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों आत्माश्रित धर्म हैं। परापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति वैभाविक होती है और सापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाभाविक। आत्मा की करण—वीर्य या शरीर—योग सहकृत जितनी प्रवृत्ति होती है, वह वैभाविक होती है। एक क्रियाकाल में दूसरी क्रिया की निवृत्ति होती है, यह स्वाभाविक निवृत्ति नहीं है। स्वाभाविक निवृत्ति है आत्मा की विभाव से मुक्ति—संयम। सहज प्रवृत्ति है आत्मा की पुद्गल-निरपेक्ष क्रिया, चित् और आनन्द का सहज उपयोग।

शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सहज होती हैं। पदार्थ के जो सहज धर्म हैं उनमें अच्छाई-बुराई, हेय-उपादेय का प्रश्न नहीं बनता। यह प्रश्न परपदार्थ से प्रभावित धर्मों के लिए होता है। बद्ध आत्मा की प्रवृत्ति परपदार्थ से प्रभावित भी होती है, तब प्रश्न होता है 'प्रवृत्ति कैसी है'—अच्छी है या बुरी ? हेय है या उपादेय ? निवृत्ति कैसी है—अप्रवृत्तिरूप या विरतिरूप ? अपेक्षादृष्टि के बिना इनका समाधान नहीं मिलता।

सहज प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति न हेय है और न उपादेय। वह आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप न छूटता है और न बाहर से आता है। इसलिए वह हेय और उपादेय कैसे बने ?

वैभाविक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—संयम-प्रेरित और असंयम-प्रेरित। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को संयम की ओर अग्रसर करती है, इसलिए वह साधना की अपेक्षा उपादेय बनती है, वह भी सर्वांश में मोक्ष दृष्टि की अपेक्षा से। लोक-दृष्टि सर्वांश में उसे समर्थन न भी दे। असंयम-प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को बन्धन की ओर ले जाती है, इसलिए मोक्ष की अपेक्षा वह उपादेय नहीं है। लोक-दृष्टि को इसकी उपादेयता स्वीकार्य है। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति शुद्धि का पक्ष है,

इसलिए उसे लोक-दृष्टि का बहुलांश में समर्थन मिलता है, किन्तु असंयम-प्रेरित प्रवृत्ति मोक्ष-सिद्धि का पक्ष नहीं है, इसलिए उसे मोक्ष-दृष्टि का एकांश में भी समर्थन नहीं मिलता।

संयम-प्रेरित प्रवृत्ति वैभाविक इसलिए है कि वह शरीर, वाणी और मन, जो आत्मा के स्वभाव नहीं विभाव हैं, के सहारे होती है। साधक दशा समाप्त होते ही यह स्थिति समाप्त हो जाती है, या यों कहिए शरीर, वाणी और मन के सहारे होनेवाली संयम-प्रेरित प्रवृत्ति मिटते ही साध्य मिल जाता है। यह अपूर्ण से पूर्ण की ओर गति है। पूर्णता के क्षेत्र में इनका कार्य समाप्त हो जाता है।

असंयम का अर्थ है—राग, द्वेष और मोह की परिणति। जहां राग, द्वेष और मोह की परिणति नहीं वहां संयम होता है। निवृत्ति का अर्थ सिर्फ 'निषेध' या 'नहीं करना' ही नहीं है। 'नहीं करना'—यह प्रवृत्ति की निवृत्ति है किन्तु प्रवृत्ति करने की जो आन्तरिक प्रवृत्ति (अविरति) है, उसकी निवृत्ति नहीं है। क्रिया के दो पक्ष होते हैं—अविरति और प्रवृत्ति। अविरति उसका अन्तरंग पक्ष है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में अत्याग या असंयम कहा जाता है। प्रवृत्ति उसका बाहरी या स्थूल रूप है। यह योगात्मक क्रिया है—शरीर, भाषा और मन के द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति है। जो प्रवृत्ति अविरति-प्रेरित होती है (जहां अविरति और प्रवृत्ति दोनों संयुक्त होती हैं) वहां निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता और जहां अविरति होती है, प्रवृत्ति नहीं होती वहां प्रवृत्ति की अपेक्षा (मानसिक, वाचिक, कायिक कर्म की अपेक्षा) निवृत्ति होती है, और जहां अविरति नहीं होती केवल प्रवृत्ति होती है वहां अविरति की अपेक्षा निवृत्ति और मन, भाषा और शरीर की अपेक्षा प्रवृत्ति होती है। अपूर्ण दशा में पूर्ण निवृत्ति होती नहीं। अविरति-निवृत्तिपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, वहां निवृत्ति संयम है। अविरति के भाव में स्थूल प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है, वहां प्रवृत्ति नहीं होती, उससे असंयम को पोषण नहीं मिलता किन्तु मूलतः असंयम का अभाव नहीं, इसलिए वह (निवृत्ति) संयम नहीं बनती।

श्रद्धा और तर्क

अति श्रद्धावाद और अति तर्कवाद—ये दोनों मिथ्या हैं। प्रत्येक तत्त्व की यथार्थता अपने-अपने क्षेत्र में होती है। इनकी भी अपनी-अपनी मर्यादाएं हैं।

भाव दो प्रकार के हैं—

१. हेतु-गम्य।

२. अहेतु-गम्य।

हेतुगम्य तर्क का विषय है और अहेतुगम्य श्रद्धा का। तर्क का क्षेत्र सीमित है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष जो है, वही चरम या पूर्ण सत्य है, यह बात सत्यान्वेषक नहीं मानता। एक व्यक्ति को अपने जीवन में जो स्वयं ज्ञात होता है, वह उतना ही

नहीं जानता, उससे अतिरिक्त भी जानता है। अतीन्द्रिय अर्थ तर्क का विषय नहीं बनता। यदि तर्क के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जा सकते तो आज तक उनका निश्चय हो गया होता।[1] तर्क के लिए जो अगम्य था, वह आज विज्ञान के प्रयोगों द्वारा गम्य बन गया। फिर भी सब कुछ गम्य हो गया, यह नहीं कहा जा सकता। एक समस्या का समाधान होता है तो उसके साथ-साथ अनेक नई समस्याएं जन्म ले लेती हैं। आज से सौ वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों के सामने शक्ति के स्रोतों को पाने की समस्या थी। उसका समाधान हो गया। नई समस्या यह है कि उनका मितव्यय कैसे किया जाए ? यही बात अगम्य की है। अगम्य जितने अंशों के गम्य बनता है, उससे कहीं अधिक अगम्य आगे आ खड़ा होता है।

इन्द्रिय और मन से परे भी ज्ञान है, यह शुद्ध तर्क के आधार पर नहीं समझा जा सकता किन्तु जब आंखें मूंदकर या आंखों पर सने आटे की मोटी पट्टी या लोह की घनी चादर लगा पुस्तकें पढ़ी जाती हैं, तब तर्कवाद ठिठुर जाता है। इसीलिए अध्यात्मयोगी आचार्य हरिभद्र कहते हैं—"शुष्क तर्क का आग्रह मिथ्या अभिमान लाता है, इसलिए मुमुक्षु वैसा आग्रह न रखे।"[2]

शुष्क तर्क वह है जो अपनी सीमा से बाहर चले, अतीन्द्रिय ज्ञान का सहारा लिए बिना अतीन्द्रिय पदार्थ का निराकरण करे।

तर्क के बिना कोरी श्रद्धा अन्धविश्वास उत्पन्न करती है। श्रद्धा की भी सीमा है। वीतराग की वाणी ही श्रद्धा का क्षेत्र है। वीतरागता स्वयं एक समस्या है। राग-द्वेष-हीन मनोवृत्ति में आग्रहहीनता होगी। आग्रहहीन व्यक्ति मिथ्याभिमान या मिथ्या-प्रकाशन नहीं करता, इसलिए श्रद्धा का केन्द्र-बिन्दु वीतरागता ही है। आग्रहहीनता होने पर भी अज्ञान हो सकता है। अज्ञान से सत्य का प्रकाश नहीं मिल सकता। सत्य का प्रकाश तब मिले, जब आग्रह न हो और ज्ञान हो। श्रद्धा का तर्क पर और तर्क का श्रद्धा पर नियमन रहता है, तब दोनों मिथ्यावाद से बच जाते हैं।

श्रद्धा और तर्क परस्पर सापेक्ष हैं यही नय-रहस्य है। इस प्रकार पदार्थ

---

१. योगदृष्टिसमुच्चय, १४६ :
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां, कृत स्यादर्थनिर्णयः।

२. (क) वही, १४७ :
नचैतदेवं यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्,त्याज्य एव मुमुक्षुभिः।

(ख) द्वात्रिंशिका ८।७ :
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम्।

का प्रत्येक पहलू अपेक्षापूर्वक समझा जाए तो दुराग्रह की गति सहज शिथिल हो जाती है।

समन्वय के दो स्तम्भ

समन्वय केवल वास्तविक दृष्टि से ही नहीं किया जाता। निश्चय और व्यवहार दोनों उसके स्तम्भ बनते हैं। व्यवहार वस्तु शरीरगत सत्य होता है और निश्चय वस्तु आत्मगत सत्य। ये दोनों मिलकर सत्य को पूर्ण बनाते हैं। निश्चय नय वस्तु-स्थिति जानने के लिए है। व्यवहार नय वस्तु के स्थूल रूप में होनेवाली आग्रह-बुद्धि को मिटाता है। वस्तु के स्थूलरूप, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, को ही अन्तिम सत्य मानकर न चलें, यही समन्वय की दृष्टि है। पदार्थ एक रूप में पूर्ण नहीं होता। वह स्वरूप से सत्तात्मक, पररूप से असत्तात्मक होकर पूर्ण होता है। केवल सत्तात्मक या केवल असत्तात्मक रूप में कोई पदार्थ पूर्ण नहीं होता। सर्वसत्तात्मक या सर्व-अ-सत्तात्मक जैसा कोई पदार्थ है ही नहीं। पदार्थ की स्थिति है, तब नय निरपेक्ष बनकर उसका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसका अर्थ यह नहीं होता कि नय पूर्ण सत्य तक ले नहीं जाते। वे ले जाते अवश्य हैं किन्तु सब मिलकर एक नय पूर्ण सत्य का एक अंश होता है। वह अन्य नय-सापेक्ष रहकर सत्यांश का प्रतिपादक बनता है।

नय या सद्वाद

१. एक धर्म का सापेक्ष प्रतिपादन करनेवाला नय वाक्य—सद्वाद।
२. एक धर्म का निरपेक्ष प्रतिपादन करनेवाला वाक्य—दुर्नय।

अनुयोग द्वार में चार प्रमाण बतलाए हैं—
१. द्रव्य-प्रमाण।
२. क्षेत्र-प्रमाण।
३. काल-प्रमाण।
४. भाव-प्रमाण।

भाव-प्रमाण के तीन भेद होते हैं—
१. गुण-प्रमाण।
२. नय-प्रमाण।
३. संख्या-प्रमाण।

एक धर्म का ज्ञान और एक धर्म का वाचक शब्द—ये दोनों नय कहलाते हैं।[1]

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक :
सर्वे शब्दनयास्तेन, पदार्थप्रतिपादने।
स्वार्थप्रकाशने मातु-रिमे ज्ञाननया: स्थिता:।

ज्ञानात्मक नय को 'नय' और वचनात्मक नय को 'नय-वाक्य' या 'सद्वाद' कहा जाता है।

नय-ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियक नहीं होता। नय से अनन्त धर्मक वस्तु के एक धर्म का वोध होता है। इससे जो वोध होता है वह यथार्थ होता है, इसीलिए यह प्रमाण है किन्तु इससे अखण्ड वस्तु नहीं जानी जाती। इसलिए यह पूर्ण प्रमाण नहीं वनता। वह एक समस्या वन जाती है। दार्शनिक आचार्यों ने इसे यों सुलझाया कि अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा नय प्रमाण नहीं है। वह वस्तु-खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण भी नहीं है। अप्रमाण तो है ही नहीं, पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नहीं है, इसलिए इसे प्रमाणांश कहना चाहिए।

अखण्ड वस्तुग्राही यथार्थ ज्ञान प्रमाण होता है, इस स्थिति में वस्तु को खण्डशः जाननेवाला विचार 'नय'। प्रमाण का चिह्न है—'स्यात्', नय का चिह्न है—'सत्'। प्रमाणवाक्य को स्याद्वाद कहा जाता है और नय वाक्य को सद्वाद। वास्तविक दृष्टि से प्रमाण स्वार्थ होता है और नय स्वार्थ और परार्थ—दोनों। एक साथ अनेक धर्म कहे नहीं जा सकते, इसलिए प्रमाण का वाक्य नहीं वनता। वाक्य वने विना परार्थ कैसे वने ? प्रमाणवाक्य जो परार्थ वनता है उसके दो कारण हैं—

१. अभेदवृत्ति-प्राधान्य।

२. अभेदोपचार।

द्रव्यार्थिक नय के अनुसार धर्मों में अभेद होता है और पर्यायार्थिक की दृष्टि से उनमें भेद होने पर भी अभेदोपचार किया जाता है।[1] इन दो निमित्तों से वस्तु के अनन्त धर्मों को अभिन्न मानकर एक गुण की मुख्यता से अखण्ड वस्तु का प्रतिपादन विवक्षित हो, तव प्रमाणवाक्य वनता है। यह सकलादेश है, इसलिए इसमें वस्तु को विभक्त करनेवाले अन्य गुणों की विवक्षा नहीं होती।

वस्तु-प्रतिपादन के दो प्रकार हैं—क्रम और यौगपद्य। इनके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं। इनका आधार है—भेद और अभेद की विवक्षा। यौगपद्य-पद्धति प्रमाणवाक्य है। भेद की विवक्षा में एक शब्द एक काल में एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकता है। यह अनुपचरित पद्धति है। यह क्रम की मर्यादा में परिवर्तन नहीं ला सकती, इसलिए इसे विकलादेश कहा जाता है।

विकलादेश का अर्थ है—निरंश वस्तु में गुण-भेद से अंश की कल्पना करना। अखण्डवस्तु में काल आदि की दृष्टि से विभिन्न अंशों की कल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है।

वस्तु-विश्लेषण की प्रक्रिया का आधार यही वनता है। विश्लेषण की अनेक दृष्टियां हैं—

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक ४।४२।

१. व्यवहार दृष्टि।
२. निश्चय-दृष्टि।
३. रासायनिक-दृष्टि।
४. भौतिक विज्ञान-दृष्टि।
५. शब्द-दृष्टि।
६. अर्थ-दृष्टि।···आदि-आदि।

व्यवहार-दृष्टि में चींटी का शरीर त्वक्, रस, रक्त जैसे पदार्थों से वना होता है। रासायनिक विश्लेषण इन पदार्थों के भीतर सत्त्वमूल कई प्रकार के अम्ल और क्षार, जल, नमक आदि वताता है। शुद्ध रासायनिक दृष्टि के अनुसार चींटी का शरीर आइजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, गन्धक, फासफोरस और कार्बन के परमाणुओं का समूह है। भौतिक विज्ञानी उसे पहले तो घन और ऋण विद्युत्कणों का पुञ्ज और फिर शुद्ध वायु तत्त्व का भेद वताता है। निश्चय-दृष्टि में वह पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श-युक्त औदारिक वर्गणा के पुद्गलों का समुदाय है।

एक ही वस्तु के ये जितने विश्लेषण हैं, उतने ही उनके हेतु हैं—अपेक्षाएं हैं। इन्हें अपनी-अपनी अपेक्षा से देखें तो सव सत्य हैं और यदि निरपेक्ष विश्लेषण को सत्य मानें तो वह फिर दुर्नय वन जाता है। सापेक्ष नय में विरोध नहीं आता और ज्यों ही ये निरपेक्ष वन जाते हैं, त्यों ही ये असत्-एकान्त के पोषक वन मिथ्या वनजाते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, वातावरण आदि के सहारे वस्तुस्थिति को सही पकड़ा जा सकता है, उसका मौलिक दृष्टि-विन्दु या हार्द समझा जा सकता है। द्रव्य आदि से निरपेक्ष वस्तु को समझने का प्रयत्न हो तो कोरा कलेवर हाथ आ जाता है किन्तु उसकी सजीवता नहीं आती। मार्क्स ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर समाज के आर्थिक ढांचे की जो छानवीन की और निष्कर्ष निकाले, उन्हें आर्थिक पहलू की अपेक्षा मिथ्या कैसे माना जाए? किन्तु आर्थिक व्यवस्था ही समाज के लिए सव कुछ है, यह आत्मशान्ति-निरपेक्षदृष्टि है, इसलिए सत्य नहीं है।

शरीर के वाहरी आकार-प्रकार में क्रमिक परिवर्तन होता है, इस दृष्टि से डारविन के क्रम-विकासवाद को मिथ्या नहीं माना जा सकता किन्तु उन्होंने आन्तरिक योग्यता की अपेक्षा रखे बिना केवल वाहरी स्थितियों को ही परिवर्तन का मुख्य हेतु माना, यह सच नहीं है।

इसी प्रकार यदृच्छावादी यदृच्छा को, आकस्मिकवादी आकस्मिकता को, कालवादी काल को, स्वभाववादी स्वभाव को, नियतिवादी नियति को, दैववादी दैव को और पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ को ही कार्य-सिद्धि का कारण वतलाते हैं, यह मिथ्यावाद है। सापेक्षदृष्टि से सव कार्य-सिद्धि के प्रयोजक हैं और सव सच हैं।

काल वस्तु के परिवर्तन का हेतु है। स्वभाव वस्तु का स्वरूप या वस्तुत्व है। नियति वस्तु का ध्रुव-सत्य नियम है। दैव वस्तु के पुरुषार्थ का परिणाम है। पुरुषार्थ वस्तु की क्रियाशीलता है।

पुरुषार्थ तब हो सकता है, जब कि वस्तु में परिवर्तन का स्वभाव हो। स्वभाव होने पर भी तब तक परिवर्तन नहीं होता, जब तक उसका कोई कारण न मिले। परिवर्तन का कारण भी विश्व के शाश्वतिक नियम की उपेक्षा नहीं कर सकता और परिवर्तन क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में ही होगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ये सब एक-दूसरे से सापेक्ष बन कार्य-सिद्धि के निमित्त बनते हैं।

नय-दृष्टि के अनुसार न दैव को सीमातिरेक महत्त्व दिया जा सकता है और न पुरुषार्थ को। दोनों तुल्य हैं। आत्मा के व्यापार से कर्म-संचय होता है, वही दैव या भाग्य कहलाता है। पुरुषार्थ के द्वारा ही कर्म का संचय होता है और उसका भोग (विपाक) भी पुरुषार्थ के बिना नहीं होता। अतीत का दैव वर्तमान पुरुषार्थ पर प्रभाव डालता है और वर्तमान पुरुषार्थ से भविष्य के कर्म संचित होते हैं। बलवान् पुरुषार्थ संचित कर्म को परिवर्तित कर सकता है और बलवान् कर्म पुरुषार्थ को भी निष्फल बना सकते हैं। संसारोन्मुख दशा में ऐसा चलता ही रहता है।

आत्म-विवेक जगने पर पुरुषार्थ में सत् की मात्रा बढ़ती है, तब वह कर्म को पछाड़ देता है और पूर्ण निर्जरा द्वारा आत्मा को उससे मुक्ति भी दिला देता है। इसलिए कर्म या भाग्य को ही सब कुछ मान जो पुरुषार्थ की अवहेलना करते हैं, वह दुर्नय है और जो व्यक्ति अतीत-पुरुषार्थ के परिणाम रूप भाग्य को स्वीकार नहीं करते, वह भी दुर्नय है।

स्वार्थ और परार्थ

पांच ज्ञानों में चार ज्ञान मूक हैं और श्रुतज्ञान अमूक। जितना वाणी व्यवहार है, वह सब श्रुत ज्ञान का है।[1] इसके तीन भेद हैं—

१. स्याद्वाद-श्रुत।

२. नय-श्रुत।

३. मिथ्या-श्रुत या दुर्नय-श्रुत।

चार ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। श्रुत स्वार्थ और परार्थ दोनों होता है; ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ और वचनात्मक श्रुत परार्थ। नय वचनात्मक श्रुत के भेद हैं,

---

१. अनुयोगद्वार, सूत्र २ :
तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं। णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो अणुण्णाविज्जंति। सुयनाणस्स उद्देसो, समुद्देसो, अणुण्णा, अणुयोगो य पवत्तइ।

इसीलिए कहा गया है—"जितने वचनपथ हैं, उतने ही नय हैं।"[1]

पर प्रतीति के लिए अनुमान या प्रत्यक्ष किसी के द्वारा ज्ञात अर्थ कहा जाए, वह परार्थ श्रुत ही होगा।

जैनेतर दर्शन केवल अनुमान वचन को ही परार्थ मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष वचन को भी परार्थ माना है। "धूम है, इसलिए अग्नि है"—यह बताना जैसे परार्थ है, वैसे ही "देख, यह राजा जा रहा है"—यह भी परार्थ है।[2] पहला अनुमान वचन है, दूसरा प्रत्यक्ष वचन। जहां वचन बनता है, वहां परार्थता अपने आप बन जाती है।

वचन-व्यवहार का वर्गीकरण

वचन-व्यवहार के अनन्त मार्ग हैं किन्तु उनके वर्ग अनन्त नहीं हैं। उनके मौलिक वर्ग दो हैं—

१. भेद-परक।

२. अभेद-परक।

भेद और अभेद—ये दोनों पदार्थ के भिन्नाभिन्न धर्म हैं। न अभेद से भेद सर्वथा पृथक् होता है और न भेद से अभेद। नाना रूपों में वस्तु—सत्ता एक है और एक वस्तु—सत्ता के नाना रूप हैं। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु है, वह सत् है और जो सत् नहीं, वह अवस्तु है—कुछ भी नही हैं। सत् है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की मर्यादा। इसका अतिक्रमण करे, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए सत् की दृष्टि से सब एक हैं—उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं। विशेष धर्मों की अपेक्षा से एक नहीं हैं। चेतन और अचेतन में अनैक्य है—भेद है। चेतन की देश-काल-कृत अवस्थाओं में भेद है फिर भी चेतनता की दृष्टि से सब चेतन एक हैं। यूं ही अचेतन के लिए समझिए।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत्ता प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है किन्तु वह वस्तुओं की उत्पादक या नियामक सत्ता नहीं है। वस्तु मात्र में उसकी उपलब्धि है, इसीलिए वह एक है। वस्तु-स्वरूप से अतिरिक्त दशा में व्याप्त होकर वह एक नहीं है। अनेकता भी एक सत्ता के विशेष स्वरूप से उद्भूत विविध रूप वाली

---

१. सर्वार्थसिद्धि :

श्रुतं स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मकं स्वार्थं, वचनात्मकं परार्थं, तद् भेदा नयाः।

२. न्यायावतार टीका, ११ :

प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि।।

अनुमानं-प्रतीतं प्रत्याययन्नेवं वचनयति—"अग्निरत्र धूमात्"...प्रत्यक्षप्रतीतं पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।

नहीं है। वह सत्तात्मक विशेष स्वरूपवाली वस्तुओं की विविध अवस्थाओं से उत्पन्न होती है, इसीलिए वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक या अनेक नहीं बनता। नय-वाक्य वस्तु-प्रतिपादन की पद्धति है। सत्तात्मक अखण्ड वस्तु 'जगत्' और विशेष-स्वरूपात्मक अखण्ड वस्तु 'द्रव्य' वस्तुवृत्या अवक्तव्य हैं। इसलिए नय के द्वारा क्रमिक प्रतिपादन होता है। कभी वह सत्तात्मक या द्रव्यात्मक सामान्यधर्म का प्रतिपादन करता है और कभी विशेष स्वरूपात्मक पर्याय-धर्म का। सामान्य-विशेष दोनों पृथक् होते नहीं, इसलिए सामान्य की विवक्षा मुख्य होने पर विशेष और विशेष की विवक्षा मुख्य होने पर सामान्य गौण बन जाते हैं। देखिए, जागतिक व्यवस्था की कितनी सामंजस्यपूर्ण स्थिति है। इसमें सबको अवसर मिलता है। दोनों प्रधान रहें, यह विरोध की स्थिति है। दोनों अप्रधान बन जाएं, तब काम नहीं बनता। अविरोध की स्थिति यह है कि एक दूसरे को अवसर दे, दूसरे की मुख्यता में सहिष्णु बने। नयवाद इसी प्रक्रिया में सफल हुआ है।

नयवाद की पृष्ठभूमि

विभिन्न विचारों के संघर्ष से स्फुलिङ्ग बनते हैं, ज्योतिपुंज से विलग हो नभ को छूते हैं, क्षण में विलीन हो जाते हैं—यह एकांगी दृष्टि-बिन्दु का चित्र है। नय एकांगी दृष्टि है। किन्तु ज्योतिपुंज से पृथक् जा पड़नेवाला स्फुलिङ्ग नहीं। वह समग्र में व्याप्त रहकर एक का ग्रहण या निरूपण करता है।

बौद्ध कहते हैं—रूप आदि अवस्था ही वस्तु—द्रव्य है। रूप आदि से भिन्न सजातीय क्षण परम्परा से अतिरिक्त द्रव्य—नहीं है।[1] वेदान्त का अभिमत है—द्रव्य ही वस्तु है, रूप आदि गुण तात्त्विक नही हैं।[2] बौद्ध की दृष्टि में गुणों का आधार-द्रव्य तात्त्विक नहीं, इसलिए भेद सत्य है। वेदान्त की दृष्टि में द्रव्य के आधेय गुण तात्त्विक नहीं, इसलिए अभेद सत्य है। प्रमाण-सिद्ध अभेद का लोप नहीं किया जा सकता, इसलिए बौद्धों को सत्य के दो रूप मानने पड़े—संवृत्ति और परमार्थ। भेद की दिशा में वेदान्त की भी यही स्थिति है। उसके अनुसार जगत् या प्रपंच प्रातीतिक सत्य है और ब्रह्म वास्तविक सत्य। भेद और अभेद के द्वन्द्व का यह एक निदर्शन है। यही नयवाद की पृष्ठभूमि है।

नयवाद अभेद और भेद—इन दो वस्तु-धर्मों पर टिका हुआ है। इसके अनुसार वस्तु अभेद और भेद की समष्टि है। इसलिए अभेद भी सत्य है और भेद भी। अभेद से भेद और भेद से अभेद सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए कहना होगा कि स्वतन्त्र अभेद भी सत्य नहीं है, स्वतन्त्र भेद भी सत्य नहीं है किन्तु सापेक्ष अभेद

---

१. प्रमाणवार्तिक, १।१७
२ ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य), २।२।१७

और भेद का संवलित रूप सत्य है। आधार भी सत्य है, आधेय भी सत्य है, द्रव्य भी सत्य है, पर्याय भी सत्य है, जगत् भी सत्य है, ब्रह्म भी सत्य है: विभाव भी सत्य है, स्वभाव भी सत्य है। जो त्रिकाल-अबाधित है, वह सब सत्य है।

सत्य के दो रूप हैं, इसलिए परखने की दो दृष्टियां हैं—द्रव्य-दृष्टि और पर्याय-दृष्टि। सत्य के दोनों रूप सापेक्ष हैं, इसलिए ये भी सापेक्ष हैं। द्रव्य-दृष्टि का अर्थ होगा द्रव्य-प्रधान दृष्टि और पर्याय दृष्टि का अर्थ पर्याय-प्रधान दृष्टि। द्रव्य-दृष्टि में पर्याय-दृष्टि का गौण रूप और पर्याय-दृष्टि में द्रव्य-दृष्टि का गौण रूप अन्तर्हित होगा। द्रव्य-दृष्टि अभेद का स्वीकार है और पर्याय-दृष्टि भेद का। दोनों ही सापेक्षता-भेदाभेदात्मक सत्य का स्वीकार है।

अभेद और भेद का विचार आध्यात्मिक और वस्तुविज्ञान—इन दो दृष्टियों से किया जाता है। जैसे—

सांख्य—प्रकृति पुरुष का विवेक—भेद ज्ञान करना सम्यग् दर्शन, इनका एकत्व मानना मिथ्या दर्शन।

वेदान्त—प्रपंच और ब्रह्म को एक मानना सम्यग् दर्शन, एक तत्त्व को नाना समझना मिथ्या दर्शन।

जैन—चेतन और अचेतन को भिन्न मानना सम्यग् दर्शन, इनको अभिन्न मानना मिथ्या दर्शन।

भेद-अभेद का यह विचार आध्यात्मिक दृष्टिपरक है। वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से वस्तु उभयात्मक (द्रव्य-पर्यायात्मक) है। इसके आधार पर दो दृष्टियां बनती हैं—

१. निश्चय।

२. व्यवहार।

निश्चय दृष्टि द्रव्याश्रयी या अभेदाश्रयी है। व्यवहार-दृष्टि पर्यायाश्रयी या भेदाश्रयी है।

वेदान्त और बौद्ध सम्मत व्यवहार-दृष्टि से जैन सम्मत व्यवहार-दृष्टि का नामसाम्य है किन्तु स्वरूप-साम्य नहीं। वेदान्त व्यवहार, माया या अविद्या को और बौद्ध संवृत्ति को अवास्तविक मानता है किन्तु जैन दृष्टि के अनुसार वह अवास्तविक नहीं है। नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीन निश्चय-दृष्टियां हैं; ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये चार व्यवहार-दृष्टियां।[1] व्यवहार और निश्चय—ये दो दृष्टियां प्रकारान्तर से भी मिलती हैं।[2]

---

१. सन्मति टीका, २७२ :

शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, संग्रहस्तदशुद्धितः।
नैगम-व्यवहारौ स्तः, शेषाः पर्यायमाश्रिताः॥

२. भगवती, १८।६।

व्यवहार—स्थूल पर्याय का स्वीकार, लोक-सम्मत तथ्य का स्वीकार।

निश्चय—वस्तुस्थिति का स्वीकार।

पहली में इन्द्रियगम्य तथ्य का स्वीकार है, दूसरी में प्रज्ञागम्य सत्य का। व्यवहार तर्कवाद है और निश्चय अन्तरात्मा से उद्भूत होनेवाला अनुभव।

चार्वाक की दृष्टि में सत्य इन्द्रियगम्य है और वेदान्त की दृष्टि में सत्य अतीन्द्रिय है।[1] जैन-दृष्टि के अनुसार दोनों सत्य हैं। निश्चय वस्तु के सूक्ष्म और पूर्ण स्वरूप का अंगीकार है और व्यवहार उसके स्थूल और अपूर्ण स्वरूप का अंगीकार। मात्रा-भेद होने पर भी दोनों में सत्य का ही अंगीकार है, इसलिए एक को अवास्तविक और दूसरे को वास्तविक नहीं माना जा सकता।

मुण्डकोपनिषद् (१।४।५) में विद्या के दो भेद हैं—अपरा और परा। पहली का विषय वेद-ज्ञान और दूसरी का शाश्वत ब्रह्म-ज्ञान है। इन्हें तार्किक और आनुभविक ज्ञान के दो रूप में व्यवहार और निश्चय नय कहा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से जीव सवर्ण है और निश्चय-दृष्टि से वह अवर्ण।[2] जीव अमूर्त है, इसलिए वह वस्तुतः वर्णयुक्त नहीं होता—यह वास्तविक सत्य है। शरीरधारी जीव कथंचित् मूर्त होता है—शरीर मूर्त होता है। जीव उससे कथंचित् अभिन्न है, इसलिए वह भी सवर्ण है, यह औपचारिक सत्य है।

एक भौंरा जो काला दीख रहा है, वह सफेद भी है, हरा भी है और-और रंग भी उसमें हैं—यह पूर्ण तथ्योक्ति है।

'भौंरा काला है'—यह सत्य का एकदेशीय स्वीकार है।

इन प्रकारान्तर से निरूपित व्यवहार और निश्चय-दृष्टियों का आधार नयवाद की आधार-भित्ति से भिन्न है। उसका आधार अभेद-भेदात्मक वस्तु ही है। इसके अनुसार नय एक ही है—'द्रव्य-पर्यायार्थिक'। वस्तु-स्वरूप भेदाभेदात्मक है, तब नय द्रव्य-पर्यायात्मक ही होगा।

नय सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो रूप बन जाते हैं—

१. जहां पर्याय गौण और द्रव्य मुख्य होता है, वह द्रव्यार्थिक।

२. जहां द्रव्य गौण तथा पर्याय मुख्य होता है, वह पर्यायार्थिक।

वस्तु के सामान्य और विशेष रूप की अपेक्षा से नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो भेद किए, वैसे ही इसके दो भेद और बनते हैं—

१. शब्दनय।

२. अर्थनय।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—शब्दाश्रयी और अर्थाश्रयी। उपयोगात्मक या

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।४

२. भगवती, १७।२

विचारात्मक नय अर्थाश्रित और प्रतिपादनात्मक नय आगम या शब्द-ज्ञान का कारण होता है, इसलिए श्रोता की अपेक्षा वह शब्दाश्रित होना चाहिए किन्तु यहां यह अपेक्षा नहीं है। यहां वाच्य में वाचक की प्रवृत्ति को गौण-मुख्य मानकर विचार किया गया है। अर्थनय में अर्थ की मुख्यता है और उसके वाचक की गौणता। शब्दनय में शब्द-प्रयोग के अनुसार अर्थ का वोध होता है, इसलिए यहां शब्द मुख्य ज्ञापक वनता है, अर्थ गौण रह जाता है।

१. वास्तविक दृष्टि को मुख्य माननेवाला अभिप्राय निश्चय नय कहलाता है।

२. लौकिक दृष्टि को मुख्य माननेवाला अभिप्राय व्यवहार नय कहलाता है।

सात नय निश्चय नय के भेद हैं। व्यवहार नय को उपनय भी कहा जाता है। व्यवहार उपचरित है। अच्छा मेघ वरसता है, तव कहा जाता है, 'अनाज वरस रहा है।' यहां कारण में कार्य का उपचार है। मेघ तो अनाज का कारण है, उसे अपेक्षावश धान्योत्पादक वृष्टि की अनुकूलता वताने के लिए अनाज समझा या कहा जाए, यह उचित है किन्तु उसे अनाज ही समझ लिया जाए, वह सही दृष्टि नहीं। व्यवहार की वात को निश्चय की दृष्टि से देखा जाए, वहां वह मिथ्या वन जाती है। अपनी मर्यादा में यह सत्य है। सात नय में जो व्यवहार है, उसका अर्थ उपचार या स्थूल दृष्टि नहीं है। उसका अर्थ है—विभाग या भेद। इसलिए इन दोनों में शब्द-साम्य होने पर भी अर्थ-साम्य नहीं है।

१. ज्ञान को मुख्य माननेवाला अभिप्राय ज्ञाननय कहलाता है।

२. क्रिया को मुख्य माननेवाला अभिप्राय क्रियानय कहलाता है, आदि-आदि।

इस प्रकार अनेक, असंख्य या अनन्त अपेक्षाएं वनती हैं। वस्तु के जितने सहभावी और क्रमभावी, सापेक्ष और परापेक्ष धर्म हैं, उतनी ही अपेक्षाएं हैं। अपेक्षाएं स्पष्ट वोध के लिए होती हैं। जो स्पष्ट वोध होगा, वह सापेक्ष ही होगा।

सत्य का व्याख्याद्वार

सत्य का साक्षात् होने के पूर्व सत्य की व्याख्या होनी चाहिए। एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेकरूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है। सत्य एक और अनेक भाव का अविभक्त रूप है, इसलिए उसकी व्याख्या करनेवाले नय भी परस्पर-सापेक्ष हैं।

सत्य अपने आप में पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरु है, वही दूसरे के लिए लघु; एक के लिए जो दूर है, वही दूसरे के

लिए निकट, एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिए जो सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के बिना इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। गुरु और लघु क्या है ? दूर और निकट क्या है ? ऊर्ध्व और निम्न क्या है ? सरल और वक्र क्या है ?—वस्तु, क्षेत्र आदि की निरपेक्ष स्थिति में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह स्थिति पदार्थ का अपने से बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध होने पर बनती है किन्तु उसकी बाह्य-जगत्-निरपेक्ष अपनी स्थिति भी अपेक्षा से मुक्त नहीं है। कारण कि पदार्थ अनन्त गुणों का सहज सामञ्जस्य है। उसके सभी गुण, धर्म या शक्तियां अपेक्षा की शृंखला में गुंथे हुए हैं। एक गुण की अपेक्षा पदार्थ का जो स्वरूप है, वह उसकी अपेक्षा से है, दूसरे की अपेक्षा से नहीं। चेतन पदार्थ चैतन्य गुण की अपेक्षा से चेतन है किन्तु उसके सहभावी अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुणों की अपेक्षा से चेतन पदार्थ की चेतनशीलता नहीं है। अनन्त शक्तियों और उनके अनन्त कार्य या परिणामों की जो एक संकलना, समन्वय या शृंखला है वही पदार्थ है। इसलिए विविध शक्तियों और तज्जनित विविध परिणामों का अविरोधभाव सापेक्ष स्थिति में ही हो सकता है।

नय का उद्देश्य

कोई भी व्यक्ति सदा पदार्थ को एक ही दृष्टि से नहीं देखता। देश, काल और स्थितियों का परिवर्तन होने पर दर्शक की दृष्टि में भी परिवर्तन होता है। यही स्थिति निरूपण की है। वक्ता का झुकाव पदार्थ की ओर होगा तो उसकी वाणी का आकर्षण भी उसी की ओर होगा। यही बात पदार्थ की अवस्था के विषय में है। सुननेवाले को वक्ता की विवक्षा समझनी होगी। उसे समझने के लिए उसके पारिपार्श्विक वातावरण, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझना होगा। विवक्षा के पांच रूप बनते हैं—

१. द्रव्य की विवक्षा···दूध में ही मिठास और रूप आदि होते हैं।
२. पर्याय की विवक्षा···मिठास और रूप आदि ही दूध है।
३. द्रव्य के अस्तिव मात्र की विवक्षा···दूध है।
४. पर्याय के अस्तित्व मात्र की विवक्षा···मिठास है, रूप आदि है।
५. धर्म-धर्मी-सम्बन्ध की विवक्षा···दूध का मिठास, रूप आदि।

इनके वर्गीकरण से दो दृष्टियां बनती हैं—

१. द्रव्य-प्रधान या अभेद-प्रधान।
२. पर्याय-प्रधान या भेद-प्रधान।

नयों का रहस्य यह है कि हम दूसरे व्यक्ति के विचारों को उसी के अभिप्राय के अनुकूल समझने का यत्न करें।

नया का स्वरूप

कथनीय वस्तु दो हैं :

१. पदार्थ—द्रव्य ।

२. पदार्थ की अवस्थाएं—पर्याय ।

अभिप्राय व्यक्त करने के साधन दो हैं :

१. अर्थ ।

२. शब्द ।

अर्थ के प्रकार दो हैं :

१. सामान्य ।

२. विशेष ।

शब्द की प्रवृत्ति के हेतु दो हैं :

१. रूढ़ि ।

२. व्युत्पत्ति ।

व्युत्पत्ति-प्रयोग के कारण दो हैं :

१. सामान्य निमित्त ।

२. तत्कालभावी निमित्त ।

सात नय

१. नैगम—सामान्य-विशेष के संयुक्त रूप का निरूपण नैगम नय है ।

२. संग्रह—केवल सामान्य का निरूपण संग्रह नय है ।

३. व्यवहार—केवल विशेष का निरूपण व्यवहार नय है ।

४. ऋजुसूत्र—क्षणवर्ती विशेष का निरूपण ऋजुसूत्र नय है ।

५. शब्द—रूढ़ि से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय शब्द नय है ।

६. समभिरूढ़—व्युत्पत्ति से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय समभिरूढ़ नय है ।

७. एवम्भूत—वार्तमानिक या तत्कालभावी व्युत्पत्ति से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय एवम्भूत नय है ।

इस प्रकार सात नयों में शाब्दिक और आर्थिक, वास्तविक और व्यावहारिक, द्राव्यिक और पार्यायिक—सभी प्रकार के अभिप्राय संगृहीत हो जाते हैं, इसलिए प्रत्येक नय का विशद रूप समझना आवश्यक है ।

नेगम

तादात्म्य की अपेक्षा से ही सामान्य-विशेष की भिन्नता का समर्थन किया

जाता है । यह दृष्टि नैगमनय है । यह उभयग्राही दृष्टि है । सामान्य और विशेष, दोनों इसके विषय हैं । इससे सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के एक देश का बोध होता है । सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ हैं—इस कणाददृष्टि को जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता । कारण, सामान्य रहित विशेष और विशेष रहित सामान्य की कहीं भी प्रतीति नहीं होती । ये दोनों पदार्थ के धर्म हैं । एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ, देश और काल में जो अनुवृत्ति होती है, वह सामान्य-अंश है और जो व्यावृत्ति होती है, वह विशेष-अंश । केवल अनुवृत्ति-रूप या केवल व्यावृत्ति-रूप कोई पदार्थ नहीं होता । जिस पदार्थ की जिस समय दूसरों से अनुवृत्ति मिलती है, उसकी उसी समय दूसरों से व्यावृत्ति भी मिलती है ।

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ का ज्ञान प्रमाण से हो सकता है । अखण्ड वस्तु प्रमाण का विषय है । नय का विषय उसका एकांश है । नैगमनय बोध कराने के अनेक मार्गों का स्पर्श करनेवाला है, फिर भी प्रमाण नहीं है । प्रमाण में सब धर्मों को मुख्य स्थान मिलता है । यहां सामान्य के मुख्य होने पर विशेष गौण रहेगा और विशेष के मुख्य बनने पर सामान्य गौण । दोनों को यथास्थान मुख्यता और गौणता मिलती है । संग्रहनय केवल सामान्य अंश का ग्रहण करता है और व्यवहारनय केवल विशेष अंश का। नैगमनय दोनों (सामान्य-विशेष) की एकाश्रयता का साधक है ।

प्रमाण की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है । उससे भेदाभेद का युगपत् ग्रहण होता है ।

नैगमनय के अनुसार द्रव्य और पर्याय का सम-स्थिति में युगपत् ग्रहण नहीं होता । अभेद का ग्रहण भेद को गौण बना डालता है और भेद का ग्रहण अभेद को । मुख्य प्ररूपणा एक की होगी, प्रमाता जिसे चाहेगा उसकी होगी । आनन्द चेतन का धर्म है । चेतन में आनन्द है—इस विवक्षा में आनन्द मुख्य बनता है, जो कि भेद है—चेतन की ही एक विशेष अवस्था है । 'आनन्दी जीव की बात छोड़िए'—इस विवक्षा में जीव मुख्य है, जो कि अभेद है—आनन्द जैसी अनन्त सूक्ष्म-स्थूल विशेष अवस्थाओं का अधिकरण है ।

नैगमनय भावों की अभिव्यंजना का व्यापक स्रोत है । 'आनन्द छा रहा है'—यह ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है । इसमें केवल धर्म या भेद की अभिव्यक्ति होती है । 'आनन्द कहां ?'—यह उससे व्यक्त नहीं होता । 'द्रव्य एक है'—यह संग्रहनय का अभिप्राय है किन्तु द्रव्य में क्या है ?—यह नहीं जाना जाता । "आनन्द चेतन में होता है' और उसका अधिकरण चेतन ही है, यह दोनों के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है । यह नैगमनय का अभिप्राय है । इस प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि में जो भेदाभेद-सम्बन्ध होता है, उसकी व्यंजना इसी दृष्टि से होती है । पराक्रम और पराक्रमी को

सर्वथा एक माना जाए तो वे वस्तु नहीं हो सकते। यदि उन्हें सर्वथा दो माना जाए तो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे दो हैं—यह भी प्रतीति-सिद्ध है, उनमें सम्बन्ध है—यह भी प्रतीति-सिद्ध है। किन्तु हम दोनों को शब्दाश्रयी ज्ञान द्वारा एक साथ जान सकें या कह सकें—यह प्रतीति-सिद्ध नहीं; इसलिए नैगमदृष्टि है, जो अमुक धर्म के साथ अमुक धर्म का सम्बन्ध बताकर यथासमय एक-दूसरे की मुख्य स्थिति को ग्रहण कर सकती है। 'पराक्रमी हनुमान्', इस वर्णन शैली में हनुमान् की मुख्यता होगी। हनुमान् के पराक्रम का वर्णन करते समय उसकी (पराक्रम की) मुख्यता अपने आप हो जाएगी। वर्णन की यह सहज शैली ही इस दृष्टि का आधार है।

इसका दूसरा आधार लोक-व्यवहार है। लोक-व्यवहार में शब्दों के जितने और जैसे अर्थ माने जाते हैं, उन सबको यह दृष्टि मान्य करती है।

इसका तीसरा आधार संकल्प है। संकल्प की सत्यता नैगम दृष्टि पर निर्भर है। भूत को वर्तमान मानना—जो कार्य हो चुका, उसे हो रहा है—ऐसा मानना सत्य नहीं है। किन्तु संकल्प या आरोप की दृष्टि से सत्य हो सकता है।

इसके तीन रूप बनते हैं :

१. भूत पर्याय का वर्तमान पर्याय के रूप में स्वीकार (अतीत में वर्तमान का संकल्प)···भूत नैगम।

२. अपूर्ण वर्तमान का पूर्ण वर्तमान के रूप में स्वीकार (अनिष्पन्नक्रिय वर्तमान में निष्पन्नक्रिय वर्तमान का संकल्प)···वर्तमान नैगम।

३. भविष्य पर्याय का भूत पर्याय के रूप में स्वीकार (भविष्य में भूत का संकल्प)···भावी नैगम।

जन्मदिन मनाने की सत्यता भूत नैगम की दृष्टि से है। रोटी पकानी शुरू की है। किसी ने पूछा—'आज क्या पकाया है?' उत्तर मिलता है—'रोटी पकायी है।' रोटी पकी नहीं, पक रही है, फिर भी वर्तमान नैगम की अपेक्षा 'पकाई है' ऐसा कहना सत्य है।

क्षमता और योग्यता की अपेक्षा अकवि को कवि, अविद्वान् को विद्वान् कहा जाता है। यह तभी सत्य होता है जब हम, भावी का भूत में उपचार है, इस अपेक्षा को न भूलें।

नैगम के तीन भेद होते हैं :

१. द्रव्य नैगम।

२. पर्याय नैगम।

३. द्रव्य-पर्याय नैगम।

इसके कार्य का क्रम यह है :

१. दो वस्तुओं का ग्रहण।

२. दो अवस्थाओं का ग्रहण।

३. एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगमनय जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि का प्रतीक है। जैन दर्शन के अनुसार नानात्व और एकत्व दोनों सत्य हैं। एकत्व-निरपेक्ष नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व—ये दोनों मिथ्या हैं। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की अपेक्षा से सब गायों में एकत्व है। पशुत्व की अपेक्षा से गायों और अन्य पशुओं में एकत्व है। जीवत्व की अपेक्षा से पशु और अन्य जीवों में एकत्व है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव और अजीव में एकत्व है। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है। आपेक्षिक सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर जाते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण भेदवादी बन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहां अस्तित्व की अपेक्षा है, वहां विश्व एक है किन्तु चैतन्य और अचैतन्य, जो अत्यन्त विरोधी धर्म हैं, की अपेक्षा विश्व एक नहीं है। उसके दो रूप हैं—चेतन जगत् और अचेतन जगत्। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु स्व-स्थ चैतन्य की अपेक्षा चेतन एक नहीं है। वे अनन्त हैं। चेतन का वास्तविक रूप है—स्वात्म-प्रतिष्ठान। प्रत्येक पदार्थ का शुद्ध रूप, यही स्वप्रतिष्ठान है। वास्तविक रूप भी निरपेक्ष सत्य नहीं है। स्व में या व्यक्ति में चैतन्य की पूर्णता है। वह एक व्यक्ति—चेतन अपने समान अन्य चेतन व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न नहीं होता, इसलिए उनमें सजातीयता या सापेक्षता है। यही तथ्य आगे बढ़ता है।

चेतन और अचेतन में भी सर्वथा भेद ही नहीं, अभेद भी है। भेद है वह चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से है। द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परस्परानुगमत्व आदि-आदि असंख्य अपेक्षाओं से उनमें अभेद है।

दूसरी दृष्टि से उनमें सर्वथा अभेद ही नहीं, भेद भी है। अभेद अस्तित्व आदि की अपेक्षा से है, चैतन्य की अपेक्षा से भेद भी है। उनमें स्वरूप-भेद है, इसलिए दोनों की अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमें अभेद भी है, इसलिए दोनों में ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक आदि-आदि सम्बन्ध है।

संग्रह और व्यवहार

अभेद और भेद में तादात्म्य सम्बन्ध है, एकात्मकता है। सम्बन्ध दो से होता है। केवल भेद या केवल अभेद में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अभेद का—

शुद्धरूप है—सत्तारूप सामान्य या निर्विकल्पक महासत्ता।

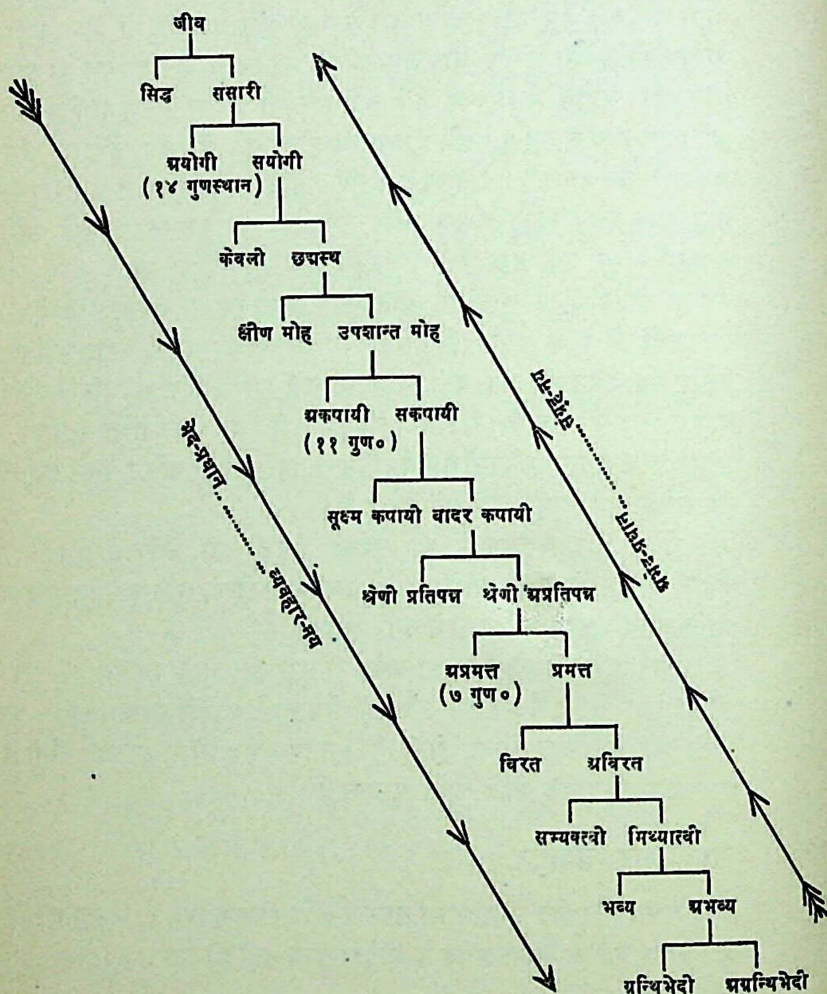
अशुद्धरूप है—अवान्तर सामान्य (सामान्यविशेषोभयात्मक सामान्य)।

भेद का—

१. शुद्धरूप है—अन्त्यस्वरूप—व्यावृत्ति।

२. अशुद्धरूप है—अवान्तर-विशेष।

संग्रह समन्वय की दृष्टि है और व्यवहार विभाजन की। ये दोनों दृष्टियां समानान्तर रेखा पर चलनेवाली हैं किन्तु इनका गति-क्रम विपरीत है। संग्रह-दृष्टि सिमटती चलती है, चलते-चलते एक हो जाती है। व्यवहार-दृष्टि खुलती चलती है—चलते-चलते अनन्त हो जाती है।



यदि सब पदार्थों में सर्वथा अभेद ही होता—वास्तविक एकता ही होती तो व्यवहार नय की (भेद को वास्तविक मानने की) बात त्रुटिपूर्ण होती। इसी प्रकार सब पदार्थों में सर्वथा भेद ही होता, वास्तविक अनेकता ही होती तो संग्रह-दृष्टि की (अभेद को वास्तविक मानने की) बात सत्य नहीं होती।

चैतन्य गुण जैसे चेतन व्यक्तियों में सामंजस्य स्थापित करता है, वैसे ही यदि यही गुण अचेतन व्यक्तियों का चेतन व्यक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित करता तो चैतन्य धर्म की अपेक्षा चेतन और अचेतन को अत्यन्त विरोधी मानने की स्थिति नहीं आती। चेतन और अचेतन में अन्य धर्मों द्वारा सामंजस्य होने पर भी चेतन धर्म द्वारा सामंजस्य नहीं होता। इसलिए भेद भी तात्त्विक है। सत्ता, द्रव्यत्व आदि धर्मों के द्वारा चेतन और अचेतन में यदि किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं होता तो दोनों का अधिकरण एक जगत् नहीं होता। वे स्वरूप से एक नहीं हैं, अधिकरण से एक हैं, इसलिए अभेद भी तात्त्विक है।

अभेद और भेद की तात्त्विकता के कारण भिन्न-भिन्न हैं। सत्ता या अस्तित्व अभेद का कारण है, यह कभी भेद नहीं डालता। हमारी अभेदपरक-दृष्टि इसके सहारे बनती है।

विशेष धर्म या नास्तित्व (जैसे चेतन का चैतन्य) भेद का कारण है। इसके सहारे भेदपरक दृष्टि चलती है।

वस्तु का जो समान परिणाम है, वही सामान्य है। समान परिणाम असमान परिणाम के बिना हो नहीं सकता।

असमानता के बिना एकता होगी, समानता नहीं। वह असमान परिणाम ही विशेष है।[1]

नैगम-दृष्टि अभेद और भेद शक्तियों की एकाश्रयता के द्वारा पदार्थ को अभेदक और भेदक धर्मों का समन्वय मानकर अभेद और भेद की तात्त्विकता का समर्थन करती है। संग्रह और व्यवहार—ये दोनों क्रमशः अभेद और भेद को मुख्य मानकर इनकी वास्तविकता का समर्थन करनेवाली दृष्टियां हैं।

व्यवहार नय

यह दो प्रकार का होता है :

१. उपचार-बहुल—यहां गौण-वृत्ति से उपचार प्रधान होता है। जैसे—पर्वत जल रहा है, यहां प्रचुर-दाह प्रयोजन है। मार्ग चल रहा है—यहां नैरन्तर्य प्रतीति प्रयोजन है।

२. लौकिक—भौंरा काला है।

ऋजुसूत्र

यह वर्तमानपरक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता

---

१. आवश्यक, मलयगिरि वृत्ति पत्र ३७३ :
वस्तुन एव समानपरिणामः स एव सामान्यम्।
असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमुभयरूपं तु ॥

स्वीकार नहीं करती । अतीत की क्रिया नष्ट हो चुकती है। भविष्य की क्रिया प्रारम्भ नहीं होती। इसलिए भूतकालीन वस्तु और भविष्यकालीन वस्तु न तो अर्थक्रिया-समर्थ (अपना काम करने में समर्थ) होती है और न प्रमाण का विषय बनती है। वस्तु वही है जो अर्थक्रिया-समर्थ हो, प्रमाण का विषय बने। ये दोनों बातें वार्तमानिक वस्तु में ही मिलती हैं। इसलिए वही तात्त्विक सत्य है। अतीत और भविष्य में 'तुला' तुला नहीं है। 'तुला' उसी समय तुला है, जब उससे तोला जाता है।

. इसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल का आधार एक द्रव्य नहीं हो सकता । साध्य-अवस्था और साधन-अवस्था का काल भिन्न होगा, तब भिन्न काल का आधारभूत द्रव्य अपने आप भिन्न होगा। दो अवस्थाएं समन्वित नहीं होतीं। भिन्न अवस्थावाचक पदार्थों का समन्वय नहीं होता। इस प्रकार यह पौर्वापर्य, कार्य-कारण आदि अवस्थाओं की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करनेवाली दृष्टि है।

शब्दनय

शब्दनय भिन्न-भिन्न लिङ्ग, वचन आदि युक्त शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है। व्याकरण की लिङ्ग, वचन आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नहीं करता। इसका अभिप्राय यह है—

१. पुलिङ्ग का वाच्य-अर्थ स्त्रीलिङ्ग का वाच्य-अर्थ नहीं बन सकता। 'पहाड़' का जो अर्थ है वह 'पहाड़ी' शब्द व्यक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग का वाच्य-अर्थ पुलिङ्ग का वाच्य नहीं बनता। 'नदी' के लिए 'नद' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। फलित यह है—जहां शब्द का लिङ्ग-भेद होता है, वहां अर्थ-भेद होता है।

२. एक वचन का जो वाच्य-अर्थ है, वह बहुवचन का वाच्यार्थ नहीं होता। बहुवचन का वाच्य-अर्थ एकवचन का वाच्यार्थ नहीं बनता। 'मनुष्य है' और 'मनुष्य हैं'—ये दोनों एक ही अर्थ के वाचक नहीं बनते। एकत्व की अवस्था बहुत्व की अवस्था से भिन्न है। इस प्रकार काल, कारक, रूप का भेद अर्थ-भेद का प्रयोजक बनता है।

यह दृष्टि शब्द-प्रयोग के पीछे छिपे हुए इतिहास को जानने में बड़ी सहायक है। संकेत-काल में शब्द, लिङ्ग आदि की रचना प्रयोजन के अनुरूप बनती है। वह रूढ़ जैसी बाद में होती है। सामान्यतः हम 'स्तुति' और 'स्तोत्र' का प्रयोग एकार्थक करते हैं किन्तु वस्तुतः ये एकार्थक नहीं हैं। एकश्लोकात्मक भक्तिकाव्य

'स्तुति' और बहुश्लोकात्मक-भक्तिकाव्य 'स्तोत्र' कहलाता है।[1] 'पुत्र' और 'पुत्री' के पीछे जो लिङ्ग-भेद की, 'तुम' और 'आपके' पीछे जो वचन-भेद की भावना है, वह शब्द के लिङ्ग और वचन-भेद द्वारा व्यक्त होती है। शब्द-नय शब्द के लिङ्ग, वचन आदि के द्वारा व्यक्त होनेवाली अवस्था को ही तात्त्विक मानता है। एक ही व्यक्ति को स्थायी मानकर कभी 'तुम' और कभी 'आप' शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु नय उन दोनों को एक ही व्यक्ति स्वीकार नहीं करता। 'तुम' का वाच्य व्यक्ति लघु या प्रेमी है, जब कि 'आप' का वाच्य गुरु या सम्मान्य है।

समभिरूढ़

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में संक्रमण नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में निष्ठ होती है। स्थूल दृष्टि से हम अनेक वस्तुओं के मिश्रण या सहस्थिति को एक वस्तु मान लेते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में होती है।

जैन दर्शन की भाषा में अनेक वर्गणाएं और विज्ञान की भाषा में अनेक गैसें आकाश-मण्डल में व्याप्त हैं किन्तु एक साथ व्याप्त रहने पर भी वे अपने-अपने स्वरूप में हैं। समभिरूढ़ का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु जहां आरूढ़ है, उसका वहीं प्रयोग करना चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए बहुत उपयोगी है। स्थूल दृष्टि में घट, कुट, कुम्भ का अर्थ एक है। समभिरूढ़ इसे स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार 'घट' शब्द का ही अर्थ घट वस्तु है, कुट शब्द का अर्थ घट वस्तु नहीं; घट का कुट में संक्रमण अवस्तु है। 'घट' वह वस्तु है, जो माथे पर रखा जाए। कहीं बड़ा, कहीं चौड़ा और कहीं संकरा—इस प्रकार जो कुटिल आकार वाला है, वह 'कुट' है। माथे पर रखी जाने योग्य अवस्था और कुटिल आकृति की अवस्था एक नहीं है। इसलिए दोनों को एक शब्द का अर्थ मानना भूल है। अर्थ की अवस्था के अनुरूप शब्दप्रयोग और शब्दप्रयोग के अनुरूप अर्थ का बोध हो, तभी सही व्यवस्था हो सकती है। अर्थ की शब्द के प्रति और शब्द की अर्थ के प्रति नियामकता न होने पर वस्तु-सांकर्य हो जाएगा। फिर कपड़े का अर्थ घड़ा और घड़े का अर्थ कपड़ा न समझने के लिए नियम क्या होगा? कपड़े का अर्थ जैसे तन्तु-समुदाय है, वैसे ही मृण्मय पात्र भी हो जाए और सब कुछ हो जाए तो शब्दानुसारी प्रवृत्ति-निवृत्ति का लोप हो जाता है, इसलिए शब्द को अपने वाच्य के प्रति सच्चा होना चाहिए। घट अपने अर्थ के प्रति सच्चा रह सकता है, पट या कुट के अर्थ के प्रति नहीं। यह नियामकता या सच्चाई ही इसकी मौलिकता है।

---

१. स्तुतिश्चैकश्लोकप्रमाणा, स्तोत्रं तु बहुश्लोकमानम्।

एवम्भूत

समभिरूढ़ में फिर भी स्थितिपालकता है। वह अतीत और भविष्य की क्रिया को भी शब्द-प्रयोग का निमित्त मानता है। यह नय अतीत और भविष्य की क्रिया से शब्द और अर्थ के प्रति नियम को स्वीकार नहीं करता। सिर पर रखा जाएगा, रखा गया इसलिए वह घट है, यह नियम क्रिया-शून्य है। घट वह है, जो माथे पर रखा हुआ है। इसके अनुसार शब्द अर्थ की वर्तमान-चेष्टा का प्रतिविम्ब होना चाहिए। यह शब्द को अर्थ का और अर्थ को शब्द का नियामक मानता है। घट शब्द का वाच्य अर्थ वही है, जो पानी लाने के लिए मस्तक पर रखा हुआ है— वर्तमान प्रवृत्तियुक्त है। घट शब्द भी वही है, जो घट-क्रियायुक्त अर्थ का प्रतिपादन करे।

विचार की आधारभित्ति

विचार निराश्रय नहीं होता। उसके अवलम्वन तीन हैं— ज्ञान, अर्थ और शब्द।

१. जो विचार संकल्प-प्रधान होता है, उसे ज्ञानाश्रयी कहते हैं। नैगमनय ज्ञानाश्रयी विचार है।

२. अर्थाश्रयी विचार वह होता है, जो अर्थ को मानकर चले। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—यह अर्थाश्रयी विचार है। यह अर्थ के अभेद और भेद की मीमांसा करता है।

३. शब्दाश्रयी विचार वह है, जो शब्द की मीमांसा करे। शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये तीनों शब्दाश्रयी विचार हैं।

इनके आधार पर नयों की परिभाषा यों होती है :

१. नैगम—संकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होनेवाला विचार।
२. संग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।
३. व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होनेवाला विचार।
४. ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होनेवाला विचार।
५. शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होनेवाला विचार।
६. समभिरूढ़—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होनेवाला विचार।
७ एवम्भूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होनेवाला विचार।

नयविभाग—सात दृष्टि-विन्दु

अर्थाश्रित ज्ञान के चार रूप वनते हैं :

१. सामान्य-विशेष (उभयात्मक) अर्थ—नैगम-दृष्टि।

२. सामान्य या अभिन्न अर्थ—संग्रह-दृष्टि।

३. विशेष या भिन्न अर्थ—व्यवहार-दृष्टि।

४. वर्तमानवर्ती विशेष अर्थ—ऋजुसूत्र-दृष्टि।

पहली दृष्टि के अनुसार अभेदशून्य भेद और भेदशून्य अभेद रूप अर्थ नहीं होता। जहां अभेदरूप प्रधान वनता है, वहां भेदरूप गौण वन जाता है और जहां भेदरूप मुख्य वनता है, वहां अभेदरूप गौण। भेद और अभेद, जो पृथक् प्रतीत होते हैं, उसका कारण दृष्टि का गौण-मुख्य-भाव है, किन्तु उनके स्वरूप की पृथक्ता नहीं।

दूसरी दृष्टि में केवल अर्थ के अनन्त धर्मों के अभेद की विवक्षा मुख्य होती है। यह भेद से अभेद की ओर गति है। इसके अनुसार पदार्थ में सहभावी और क्रमभावी अनन्त-धर्म होते हुए भी वह एक माना जाता है। सजातीय पदार्थ संख्या में अनेक, असंख्य या अनन्त होने पर भी एक माने जाते हैं। विजातीय पदार्थ पृथक् होते हुए भी पदार्थ की सत्ता में एक वन जाते हैं। यह मध्यम या अपर संग्रह वनता है। पर या उत्कृष्ट संग्रह में विश्व एक वन जाता है। अस्ति-सामान्य से परे कोई पदार्थ नहीं। अस्तित्व की सीमा में सव एक वन जाते हैं, फलतः विश्व एक सद्-अविशेष या सत्-सामान्य वन जाता है।

यह दृष्टि दो धर्मों की समानता से प्रारम्भ होती है और समूचे जगत् की समानता में इसकी परिसमाप्ति होती है। अभेद चरम कोटि तक नहीं पहुंचता, तब तक अपर-संग्रह चलता है।

तीसरी दृष्टि ठीक इससे विपरीत चलती है। वह अभेद से भेद की ओर जाती है। इन दोनों का क्षेत्र तुल्य है। केवल दृष्टि-भेद रहता है। दूसरी दृष्टि सवमें अभेद ही अभेद देखती है और इसे सव में भेद ही भेद दीख पड़ता है। दूसरी अभेदांश-प्रधान या निश्चय-दृष्टि है। वह है भेदांश या उपयोगिता-प्रधान दृष्टि। द्रव्यत्व से कुछ नहीं बनता, उपयोग द्रव्य का होता है। गोत्व दूध नहीं देता, दूध गाय देती है।

चौथी दृष्टि चरम भेद की दृष्टि है। जैसे पर-संग्रह में अभेद चरम कोटि तक पहुंच जाता है—विश्व एक वन जाता है, वैसे ही इसमें भेद चरम वन जाता है। अपर-संग्रह और व्यवहार के ये दोनों सिरे हैं। यहां से उनका उद्गम होता है।

यहां एक प्रश्न के लिए अवकाश है। अपर-संग्रह को अलग नय नहीं माना

तव ऋजुसूत्र अलग क्यों ? संग्रह के 'अपर और पर—ये दो भेद हुए, वैसे ही व्यवहार के भी दो भेद हो जाते—अपर-व्यवहार और पर-व्यवहार।

इस प्रश्न का समाधान ढूंढने के लिए चलते हैं, तब हमें दूसरी दृष्टि का आलोक अपने आप मिल जाता है। अर्थ का अन्तिम भेद परमाणु या प्रदेश है। उस तक व्यवहारनय चलता है। चरम भेद का अर्थ होता है—वर्तमानकालीन अर्थ-पर्याय—क्षणमात्रस्थायी पर्याय। पर्याय पर्यायार्थिक नय का विषय बनता है। व्यवहार ठहरा द्रव्यार्थिक। द्रव्यार्थिक-दृष्टि के सामने पर्याय गौण होती है, इसलिए पर्याय उसका विषय नहीं बनती। यही कारण है कि व्यवहार से ऋजुसूत्र को स्वतन्त्र मानना पड़ा। नय के विषय-विभाग पर दृष्टि डालिए, यह अपने आप स्पष्ट हो जाएगा। द्रव्यार्थिक नय तीन हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये चार पर्यायार्थिक नय हैं। ऋजुसूत्र : व्य-पर्यायार्थिक विभाग में जहां पर्यार्यिक में जाता है, वहां अर्थ-शब्द-विभाग में अर्थ नय में रहता है। व्यवहार दोनों जगह एक कोटिक है।

दो परम्पराएं

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के विभाग में दो परम्पराएं बनती हैं, एक सैद्धान्तिकों की और दूसरी तार्किकों की। सैद्धान्तिक परम्परा के अग्रणी 'जिनभद्रगणी' क्षमाश्रमण हैं। उनके अनुसार पहले चार नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष तीन पर्यायार्थिक। दूसरी परम्परा के प्रमुख हैं 'सिद्धसेन'। उनके अनुसार पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक।[1]

सैद्धान्तिक ऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक मानते हैं।

ऋजुसूत्र की दृष्टि में उपयोग-शून्य व्यक्ति द्रव्यावश्यक है। सैद्धान्तिक परम्परा का मत यह है कि यदि ऋजुसूत्र को द्रव्यग्राही न माना जाए तो उक्त सूत्र में विरोध आयेगा।

तार्किक मत के अनुसार अनुयोग द्वार में वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्य पद का उपचार किया गया है।[2] इसलिए वहां कोई विरोध नहीं आता। सैद्धान्तिक गौण द्रव्य को द्रव्य मानकर इसे द्रव्यार्थिक मानते हैं और तार्किक वर्तमान पर्याय का द्रव्य रूप में उपचार और वास्तविक दृष्टि में वर्तमान पर्याय मान उसे पर्यायार्थिक मानते हैं। मुख्य द्रव्य कोई नहीं मानता। एक दृष्टि का विषय है—गौण द्रव्य और एक का विषय है पर्याय। दोनों में अपेक्षाभेद है, तात्त्विक विरोध

---

१. न्यायोपदेश, १८ :
तार्किकाणां त्रयो भेदा, आद्या द्रव्यार्थतो मताः।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे॥
२. नयरहस्य, पृ० १२।

नहीं।

द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही मानता है, पर्याय को नहीं मानता, तब ऐसा लगता है--यह दुर्नय होना चाहिए। नय में दूसरे का प्रतिक्षेप नहीं होना चाहिए। वह मध्यस्थ होता है। बात सही है, किन्तु ऐसा है नहीं। द्रव्यार्थिक नय पर्याय को अस्वीकार नहीं करता, पर्याय की प्रधानता को अस्वीकार करता है। द्रव्य के प्राधान्यकाल में पर्याय की प्रधानता होती नहीं, इसलिए यह उचित है। यही बात पर्यायार्थिक के लिए है। वह पर्याय-प्रधान है, इसलिए वह द्रव्य का प्राधान्य अस्वीकार करता है। यह अस्वीकार मुख्य दृष्टि का है, इसलिए यहां असत्-एकान्त नहीं होता।

पर्यायार्थिक नय

ऋजुसूत्र का विषय है—वर्तमानकालीन अर्थपर्याय। शब्दनय काल आदि के भेद से अर्थभेद मानता है। इस दृष्टि के अनुसार अतीत और वर्तमान की पर्याय एक नहीं होती।

समभिरूढ़ निरुक्ति-भेद से अर्थ-भेद मानता है। इसकी दृष्टि में घट और कुम्भ दो हैं।

एवम्भूत वर्तमान क्रिया में परिणत अर्थ को ही तद्‌शब्द-वाच्य मानता है। ऋजुसूत्र वर्तमान पर्याय को मानता है। तीनों शब्दनय शब्दप्रयोग के अनुसार अर्थभेद स्वीकार करते हैं, इसलिए ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं। इनमें द्रव्यांश गौण रहता है और पर्यायांश मुख्य।

अर्थनय और शब्दनय

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चार अर्थनय हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये तीन शब्दनय हैं। यों तो सातों नय ज्ञानात्मक और शब्दात्मक दोनों हैं किन्तु यहां उनकी शब्दात्मकता से प्रयोजन नहीं। पहले चार नयों में शब्द का काल, लिङ्ग, निरुक्त आदि बदलने पर अर्थ नहीं बदलता, इसलिए वे अर्थनय हैं। शब्दनयों में शब्द का काल आदि बदलने पर अर्थ बदल जाता है, इसलिए ये शब्दनय कहलाते हैं।

नयविभाग का आधार

अभेद संग्रहदृष्टि का आधार है और भेद व्यवहारदृष्टि का। संग्रह भेद को नहीं मानता और व्यवहार अभेद को।

अभेद और भेद एक पदार्थ में रहते हैं। ये सर्वथा दो नहीं हैं, किन्तु गौण-मुख्य भाव से दो हैं। नैगमनय अभेद और भेद दोनों को स्वीकार करता है, एक

साथ एक रूप में नहीं।[1] यदि एक साथ धर्म-धर्मी दोनों को या अनेक धर्मों को मुख्य मानता तो यह प्रमाण बन जाता किन्तु ऐसा नहीं होता। इस दृष्टि में मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है किन्तु प्रधान बनकर नहीं। कभी धर्मी मुख्य बन जाता है, और कभी धर्म। दो धर्मों की भी यही गति है। इसके राज्य में किसी एक के ही मस्तक पर मुकुट नहीं रहता। वह अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार बदलता रहता है।

ऋजुसूत्र का आधार है—चरमभेद। यह पहले और पीछे को वास्तविक नहीं मानता। इसका सूत्र बड़ा सरल है। यह सिर्फ वर्तमान पर्याय को ही वास्तविक मानता है।

शब्द के भेद-रूप के अनुसार अर्थ का भेद होता है—यह शब्दनय का आधार है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न है। एक अर्थ के दो वाचक नहीं हो सकते—यह समभिरूढ़ की मूल भित्ति है।

शब्दनय प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न नहीं मानता। उसके मत में एक शब्द के जो अनेक रूप बनते हैं, वे तभी बनते हैं जब कि अर्थ में भेद होता है। यह दृष्टि उससे सूक्ष्म है। इसके अनुसार—शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद होता ही है।

एवम्भूत का अभिप्राय विशुद्धतम है। इसके अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढ़ अर्थ की क्रिया में अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है—वाच्य और वाचक के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है किन्तु यह केवल वाच्य-वाचक के प्रयोग को वर्तमान काल में ही स्वीकार करता है। क्रिया हो चुकने पर और क्रिया की संभाव्यता पर अमुक अर्थ का अमुक वाचक है—ऐसा हो नहीं सकता। फलित रूप में सात नयों के विषय इस प्रकार बनते हैं—

१. नैगम······अर्थ का अभेद और भेद तथा दोनों।
२. संग्रह······अभेद।
   (क) परसंग्रह······चरम-अभेद।
   (ख) अपरसंग्रह···अवान्तर-अभेद।
३. व्यवहार······भेद-अवान्तर-भेद।
४. ऋजुसूत्र·······चरम-भेद।
५. शब्द··········भेद।
६. समभिरूढ़······भेद।
७. एवम्भूत·······भेद।

---

१. अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्।
   विशेषोप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः॥

इनमें एक अभेददृष्टि है, भेददृष्टियां पांच हैं और एक दृष्टि संयुक्त है। संयुक्त दृष्टि इस बात की सूचक है कि अभेद में ही भेद और भेद में ही अभेद है। ये दोनों सर्वथा दो या सर्वथा एक या अभेद तात्त्विक और भेद काल्पनिक अथवा भेद तात्त्विक और अभेद काल्पनिक, यों नहीं होता। जैन दर्शन को अभेद मान्य है किन्तु भेद के अभाव में नहीं। चेतन और अचेतन (आत्मा और पुद्गल) दोनों पदार्थ सत् हैं, इसलिए एक हैं—अभिन्न हैं। दोनों में स्वभाव-भेद है, इसलिए वे अनेक हैं—भिन्न हैं। यथार्थ यह है कि अभेद और भेद—दोनों तात्त्विक हैं। कारण यह है—भेद-शून्य अभेद में अर्थक्रिया नहीं होती—अर्थ की क्रिया विशेष दशा में होती है और अभेद-शून्य भेद में भी अर्थक्रिया नहीं होती। कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं जुड़ता। पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण का कारण तभी बन सकता है जब कि दोनों में एक अन्वयी माना जाए (एक ध्रुव या अभेदांश माना जाए)। इसलिए जैन दर्शन अभेदाश्रित-भेद और भेदाश्रित-अभेद को स्वीकार करता है।

नय के विषय का अल्प-बहुत्व

ये सातों दृष्टियां परस्पर-सापेक्ष हैं, एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को विविध रूप से ग्रहण करनेवाली हैं। इनका चिन्तन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ता है, इसलिए इनका विषय क्रमशः भूयस् से अल्प होता चलता है।

नैगम संकल्पग्राही है। संकल्प सत् और असत् दोनों का होता है, इसलिए भाव और अभाव—ये दोनों इसके गोचर बनते हैं।

संग्रह का विषय इससे थोड़ा है, केवल सत्ता मात्र है।

व्यवहार का विषय सत्ता का एक अंश—भेद है।

ऋजुसूत्र का विषय भेद का चरम अंश—वर्तमान क्षण है, जबकि व्यवहार का त्रिकालवर्ती वस्तु है।

शब्द का विषय काल आदि के भेद से भिन्न वस्तु है, जबकि ऋजुसूत्र काल आदि का भेद होने पर भी वस्तु को अभिन्न मानता है।

समभिरूढ़ का विषय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक पर्यायवाची शब्द का भिन्न अर्थ है, जबकि शब्दनय व्युत्पत्ति भेद होने पर भी पर्यायवाची शब्दों का एक अर्थ मानता है।

एवम्भूत का विषय क्रिया-भेद के अनुसार भिन्न अर्थ है, जबकि समभिरूढ़ क्रिया-भेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न स्वीकार करता है।

इस प्रकार क्रमशः इनका विषय परिमित होता गया है। पूर्ववर्ती नय उत्तर-वर्ती नय के गृहीत अंश को लेता है, इसलिए पहला नय कारण और दूसरा नय

कार्य बन जाता है।

नय की शब्द-योजना

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। आचार्य अकलंक ने दोनों जगह 'स्यात्' शब्द जोड़ा है—'स्यात् जीव एव' और 'स्यात् अस्त्येव जीव'। पहला प्रमाण-वाक्य है, दूसरा नय-वाक्य। पहले में अनन्त-धर्मात्मक जीव का बोध होता है, दूसरे में प्रधानतया जीव के अस्तित्वधर्म का। पहले में 'एवकार' धर्मी के वाचक के साथ जुड़ता है, दूसरे में धर्म के वाचक के साथ।

आचार्य मलयगिरि नयवाक्य को मिथ्या मानते हैं।[1] इनकी दृष्टि में नयान्तर-निरपेक्ष नय अखण्ड वस्तु का ग्राहक नहीं होने के कारण मिथ्या है। नयान्तर-सापेक्ष-नय 'स्यात्' शब्द से जुड़ा हुआ होगा, इसलिए वह वास्तव में नय-वाक्य नहीं, प्रमाण-वाक्य है। इसलिए उनके विचारानुसार 'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रमाण-वाक्य के साथ ही करना चाहिए।

सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा में भी नय-वाक्य का रूप 'स्यादस्त्येव' यही मान्य रहा है।[2]

आचार्य हेमचन्द्र और वादिदेव सूरि ने नय को केवल 'सत्' शब्द-गम्य माना है। उन्होंने 'स्यात्' का प्रयोग केवल प्रमाण-वाक्य के साथ किया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—

सत् एव—दुर्नय
सत्—नय।
स्यात् सत्—प्रमाणवाक्य।[3]

'प्रमाणनयतावालोक' में नय, दुर्नय का रूप 'द्वात्रिंशिका' जैसा ही है। प्रमाण-वाक्य के साथ 'एव' शब्द जोड़ा है, इतना-सा अन्तर है। पंचास्तिकाय की टीका में 'एव' शब्द को दोनों वाक्य-पद्धतियों से जोड़ा है, जबकि प्रवचनसार की टीका में सिर्फ नय-सप्तभंगी के लिए 'एवकार' का निर्देश किया है।[4] वास्तव में 'स्यात्'

---

१. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पत्र ३७१।
२. सन्मति प्रकरण, वृत्ति, पृ० ४४६।
३. अन्ययोगव्यवच्छेदिका श्लोक २८ :
सदेव सत् स्यात सदिति त्रिधार्थो, मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथस्त्वमास्थः॥
४. पंचास्तिकाय टीका पृ० ३२ :
स्याज्जीव एव इत्युक्तेनैवैकान्तविषयः स्याच्छब्दः।
स्यादस्त्येव जीवः इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः।
स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यम्।
स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम्।

शब्द अनेकान्त-द्योतन के लिए है और 'एव' शब्द अन्य धर्मों का व्यवच्छेद करने के लिए। केवल 'एवकार' के प्रयोग में ऐकान्तिकता का दोष आता है। उसे दूर करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक बनता है। नयवाक्य में विवक्षित धर्म के अतिरिक्त धर्मों में उपेक्षा की मुख्यता होती है, इसलिए कई आचार्य उसके साथ 'स्यात्' और 'एव' का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते। कई आचार्य विवक्षित धर्म की निश्चायकता के लिए 'एव' और शेष धर्मों का निराकरण न हो, इसलिए 'स्यात्'—इन दोनों के प्रयोगों को आवश्यक मानते हैं।

नय की त्रिभंगी या सप्तभंगी ?

१. सोना एक है···(द्रव्यार्थिक-नय की दृष्टि से)
२. सोना अनेक है···(पर्यायार्थिक-नय की दृष्टि से)
३. सोना क्रमशः एक है···(दो धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन)।
४. सोना युगपत् 'एक अनेक है'—यह अवक्तव्य है···(दो धर्मों का एक साथ प्रतिपादन असम्भव)।

५. सोना एक है—अवक्तव्य है।
६. सोना अनेक है—अवतव्य है।
७. सोना एक, अनेक—अवक्तव्य है।

एक साथ दो धर्म नहीं कहे जाते, फिर भी उनके साथ एकता-अनेकता का प्रतिपादन हो सकता है।

प्रकारान्तर से[1]—

१. कुम्भ है···एक देश में स्व-पर्याय से।
२. कुम्भ नहीं है···एक देश में पर-पर्याय से।
३. कुम्भ अवक्तव्य है···एक देश में स्व-पर्याय से, एक देश में पर-पर्याय से, युगपत् दोनों कहे नहीं जा सकते।
४. कुम्भ अवक्तव्य है।
५. कुम्भ है, कुम्भ अवक्तव्य है।
६. कुम्भ नहीं है, कुम्भ अवक्तव्य है।
७. कुम्भ है, कुम्भ नहीं है, कुम्भ अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभङ्गी में एक धर्म की प्रधानता से धर्मी—वस्तु का प्रतिपादन होता है और नय-सप्तभङ्गी में केवल धर्म का प्रतिपादन होता है। यह दोनों में अन्तर है। सिद्धसेनगणी आदि के विचार में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य—ये तीन ही भङ्ग विकलादेश हैं, शेष चार भङ्ग अनेक धर्मवाली वस्तु के प्रतिपादक होते हैं, इसलिए वे विकलादेश नहीं होते। इसके अनुसार नय की त्रिभङ्गी ही

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २२३२।

बनती है। आचार्य अकलंक, क्षमाश्रमण जिनभद्र आदि ने नय के सातों भङ्ग माने हैं।

एकान्तिक आग्रह या मिथ्यावाद

अपने अभिप्रेत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला विचार दुर्नय होता है, क्योंकि एक धर्म वाली कोई वस्तु है ही नहीं। प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। इसलिए एक-धर्मात्मक वस्तु का आग्रह सम्यग् नहीं है। नय इसलिए सम्यग्-ज्ञान हैं कि वे एक धर्म का आग्रह रखते हुए भी अन्य-धर्म-सापेक्ष रहते हैं। इसीलिए कहा गया है—सापेक्ष नय और निरपेक्ष दुर्नय। वस्तु की जितने रूपों में उपलब्धि है उतने ही नय हैं। किन्तु वस्तु एक-रूप नहीं है, सब रूपों की जो एकात्मकता है, वह वस्तु है।

जैन दर्शन वस्तु की अनेकरूपता के प्रतिपादन में अनेक दर्शनों के साथ समन्वय करता है, किन्तु उसकी एकरूपता फिर उसे दूर या विलग कर देती है।

जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि की अपेक्षा स्वतन्त्र है और अन्य दर्शन की एकान्त-दृष्टियों की अपेक्षा उनका संग्रह है।

'सन्मति' और 'अनेकान्त-व्यवस्था' के अनुसार नयाभास के उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. नैगम-नयाभास···नैयायिक, वैशेषिक।
२. संग्रह-नयाभास···वेदान्त, सांख्य।
३. व्यवहार-नयाभास···सांख्य, चार्वाक।[१]
४. ऋजुसूत्र-नयाभास···सैद्धान्तिक।
५. शब्द-नयाभास···शब्द ब्रह्मवाद, वैभाषिक।
६. समभिरूढ़-नयाभास···योगाचार।
७. एवम्भूत-नयाभास···माध्यमिक।[२]

१. जानने वाला व्यक्ति सामान्य, विशेष—इन दोनों में से किसी को, जिस समय जिसकी अपेक्षा होती है, उसी को मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता है। इसलिए सामान्य और विशेष की भिन्नता का समर्थन करने में जैन-दृष्टि न्याय, वैशेषिक से मिलती है, किन्तु सर्वथा भेद के समर्थन में उनसे अलग हो जाती है। सामान्य और विशेष में अत्यन्त भेद की दृष्टि दुर्नय है और तादात्म्य की अपेक्षा भेद की दृष्टि नय है।

विशेष का व्यापार गौण, सामान्य मुख्य···अभेद।

---

१. अनेकान्त व्यवस्था पृ० ३१।
२. वही, पृ० ५५ सन्मति;, पृ० ३१८।

सामान्य का व्यापार गौण, विशेष मुख्य⋯भेद।

२. सत् और असत् में तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्-असत् अंश धर्मी रूप से अभिन्न हैं—सत्-असत् रूप वाली वस्तु एक है। धर्म-रूप में वे भिन्न हैं। विशेष को गौण मान सामान्य को मुख्य मानने वाली दृष्टि नय है, केवल सामान्य को स्वीकार करनेवाली दृष्टि दुर्नय। भावैकान्त का आग्रह रखनेवाले दर्शन सांख्य और अद्वैत हैं। संग्रहदृष्टि में भावैकान्त और अभावैकान्त (शून्यवाद) दोनों का सापेक्ष स्वीकरण है।

३. व्यवहार-नय—'लोक व्यवहार सत्य है', यह दृष्टि जैन-दर्शन को मान्य है। उसी का नाम है व्यवहार-नय। किन्तु स्थिर-नित्य वस्तु-स्वरूप का लोपकर, केवल व्यवहार-साधक, स्थूल और कियत्कालभावी वस्तुओं को ही तात्त्विक मानना मिथ्या आग्रह है। जैन दृष्टि वहां चार्वाक से पृथक् हो जाती है। वर्तमान पर्याय, आकार या अवस्था को ही वास्तविक मानकर उनकी अतीत या भावी पर्यायों को और उनकी एकात्मकता को अस्वीकार कर चार्वाक निर्हेतुक वस्तुवादी बन जाता है। निर्हेतुक वस्तु या तो सदा रहती है या रहती ही नहीं। पदार्थों की जो कादाचित्क स्थिति होती है, वह कारण-सापेक्ष ही होती है।[1]

४. पर्याय की दृष्टि से ऋजुसूत्र का अभिप्राय सत्य है किन्तु बौद्ध दर्शन केवल पर्याय को ही परमार्थ सत्य मानकर पर्याय के आधार अन्वयी द्रव्य को अस्वीकार करता है। यह अभिप्राय सर्वथा ऐकान्तिक है, इसलिए सत्य नहीं हैं।

५-६-७. शब्द की प्रतीति होने पर अर्थ की प्रतीति होती है, यह सत्य है, किन्तु शब्द की प्रतीति के बिना अर्थ की प्रतीति होती ही नहीं, यह एकान्तवाद मिथ्या है।

शब्दाद्वैतवादी ज्ञान को शब्दात्मक ही मानते हैं। उनके मतानुसार 'ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो शब्द संसर्ग के बिना हो सके। जितना ज्ञान है, वह सब शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है।[2]

जैन-दृष्टि के अनुसार—"ज्ञान शब्द-संश्लिष्ट ही होता है"—यह उचित नहीं।[3] क्योंकि शब्द अर्थ से सर्वथा अभिन्न नहीं है। अवग्रह-काल में शब्द के बिना भी वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुमात्र सवाचक भी नहीं है। सूक्ष्म-पर्यायों के संकेत-ग्रहण का कोई उपाय नहीं होता, इसलिए वे अनभिलाप्य होती हैं।

---

१. नित्यं सत्वमसत्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः॥

२. वाक्यप्रदीप, १२४ :
न सोस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमदृते।
अनुविद्धमिवज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते।

३ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २३९-४०।

शब्द अर्थ का वाचक है किन्तु यह शब्द इसी अर्थ का वाचक है, दूसरे का नहीं—यह नियम नहीं बनता। देश, काल और संकेत आदि की विचित्रता से सव शब्द दूसरे-दूसरे पदार्थों के वाचक वन सकते हैं। अर्थ में भी अनन्त धर्म होते हैं, इसलिए वे भी दूसरे-दूसरे शब्दों के वाच्य बन सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि शब्द अपनी सहज शक्ति से सव पदार्थों के वाचक हो सकते हैं किन्तु देश, काल, क्षयोपशम आदि की अपेक्षावश उनसे प्रतिनियत प्रतीति होती है। इसलिए शब्दों की प्रवृत्ति कहीं व्युत्पत्ति के निमित्त की अपेक्षा किये विना मात्र रूढ़ि से होती है, कहीं सामान्य व्युत्पत्ति की अपेक्षा और कहीं तत्कालवर्ती व्युत्पत्ति की अपेक्षा से। इसलिए वैयाकरण शब्द में नियत अर्थ का आग्रह करते हैं, वह सत्य नहीं है।

एकान्तवाद : प्रत्यक्षज्ञान का विपर्यय

जैसे परोक्ष-ज्ञान विपरीत या मिथ्या होता है, वैसे प्रत्यक्ष-ज्ञान भी विपरीत या मिथ्या हो सकता है। ऐसा होने का कारण एकान्तवादी दृष्टिकोण है। कई वाल-तपस्वियों (अज्ञानपूर्वक तप करने वालों) को तपोवल से प्रत्यक्ष ज्ञान का लाभ होता है। वे एकान्तवादी दृष्टि से उसे विपर्यय या मिथ्या रूप से परिणत कर लेते हैं। उसके सात निदर्शन वतलाए गए हैं :

१. एक-दिशि-लोकाभिगमवाद।
२. पञ्च-दिशि-लोकाभिगमवाद।
३. जीव-क्रियावरणवाद।
४. मुयग्ग-पुद्गल जीववाद।
५. अमुयग्ग-पुद्गल-वियुक्त जीववाद।
६. जीव-रूपीवाद।
७. सर्व-जीववाद।

एक दिशा को प्रत्यक्ष जान सके, वैसा प्रत्यक्ष-ज्ञान किसी को मिले और वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करे कि 'लोक इतना ही है और लोक सब दिशाओं में है, जो यह कहते हैं वह मिथ्या है'—यह एक-दिशि-लोकाभिगमवाद है।

पांच दिशाओं को प्रत्यक्ष जाननेवाला विश्व को उतना ही मान्य करता है 'और एक दिशा में ही लोक है, जो यह कहते हैं' वह मिथ्या है—यह पञ्च-दिशि-लोकाभिगमवाद है।

जो जीव की क्रिया को साक्षात् देखता है पर क्रिया के हेतुभूत कर्म परमाणुओं को साक्षात् नहीं देख पाता, इसलिए वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करता है—'जीव क्रिया प्रेरित ही है, क्रिया ही उसका आवरण है। जो लोग क्रिया को कर्म कहते हैं, वह मिथ्या है'—यह जीव-क्रियावरणवाद है।

देवों के वाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों की सहायता से भांति-भांति के रूप देख जो इस प्रकार सोचता है कि 'जीव पुद्गल-रूप ही है। जो लोग कहते हैं कि जीव पुद्गल-रूप नहीं है, वह मिथ्या है'—यह मुयग्ग-पुद्गल जीववाद है।

जो देवों के द्वारा निर्मित विविध रूपों को देखता है किन्तु वाह्याभ्यन्तर पुद्गलों के द्वारा उन्हें निर्मित होते नहीं देख पाता। वह सोचता है कि 'जीव का शरीर वाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से रचित नहीं है। जो लोग कहते हैं कि जीव का शरीर वाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से रचित है, वह मिथ्या है'—यह अमुयग्ग-पुद्गल-वियुक्त जीववाद है।

देवों को विक्रियात्मक शक्ति के द्वारा नाना जीव-रूपों की सृष्टि करते देख जो सोचता है कि 'जीव मूर्त है और जो लोग जीव को अमूर्त कहते हैं, यह मिथ्या है'—यह जीव-रूपीवाद है।

सूक्ष्म वायुकाय के पुद्गलों में एजन, व्येजन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरण आदि विविध भावों में परिणमन होते देख वह सोचता है कि सब जीव ही जीव हैं। जो श्रमण जीव और अजीव—ये दो विभाग करते हैं, वह मिथ्या है। जिनमें एजन यावत् विविध भावों की परिणति है, उनमें से केवल पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु को जीव मानना और शेष (गतिशील तत्त्वों) को जीव न मानना मिथ्या है—यह सर्व-जीववाद है।

ऐकान्तिक आग्रह के हेतु

भाषा-प्रमाद

एकान्त भाषा, निरपेक्ष—एक धर्म को अखण्ड वस्तु कहने वाली भाषा दोषपूर्ण है। निश्चयकारिणी भाषा, जैसे—'अमुक काम करूंगा', आगे वह काम न कर सके, इसलिए यह भी सत्य की वाधक है। आवेश, क्रोध, अभिमान, छल, लोभ-लालच की उग्र दशा में व्यक्ति ठीक-ठीक नहीं सोच पाता, इसलिए ऐसी स्थितियों में अयथार्थ वातें बढ़ा-चढ़ाकर या तोड़-मोड़कर कही जाती हैं।

ईक्षण-प्रमाद

वस्तु अधिक दूर होती है या अधिक निकट, मन चंचल होता है, वस्तु अति सूक्ष्म होती है अथवा किसी दूसरी चीज से व्यवहृत होती है, दो वस्तुएं मिली हुई होती हैं, क्षेत्र की विषमता होती है, कुहासा होता है, काल की विषमता होती है, स्थिति की विषमता होती है, तब दर्शन का प्रमाद होता है—देखने की भूलें

होती हैं।[1]

अंकन-प्रमाद

वस्तु का जो स्वरूप है, जो क्षेत्र है, जो काल और भाव-पर्यायें हैं, उन्हें छोड़कर कोरी वस्तु को समझने की चेष्टा होती है, तब वस्तु का स्वरूप आंकने में भूलें होती हैं।

कार्य-कारण-प्रमाद

जो पहले होता है, वही कारण नहीं होता। कारण यह होता है, जिसके बिना कार्य पैदा न हो सके। पहले होने मात्र से कारण मान लिया जाए अथवा कारण-सामग्री के एकांश को कारण मान लिया जाए अथवा एक बात को अन्य सब बातों का कारण मान लिया जाए—तब कार्य-कारण-सम्बन्धी भूलें होती हैं।

प्रमाण-प्रमाद

जितने प्रमाणाभास हैं, वे सब प्रमाण का प्रमाद होने से बनते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष-प्रमाद, परोक्ष-प्रमाद, स्मृति-प्रमाद, प्रत्यभिज्ञा-प्रमाद, तर्क प्रमाद, अनुमान-प्रमाद, आगम-प्रमाद, व्याप्ति-प्रमाद, हेतु-प्रमाद, लक्षण-प्रमाद।

झुकाव-जनित-प्रमाद

क्रम-विकास का सिद्धान्त गलत ही है यह नहीं, यथार्थ ही है, यह भी नहीं। फिर भी मानसिक झुकाव के कारण कोई उसे सर्वथा त्रुटिपूर्ण कहता है, कोई सोलह आना सही मानता है।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति,
विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि के इक्कीस कारण हैं। इनसे पदार्थ की उपलब्धि होती ही नहीं अथवा वह यथार्थ नहीं होती।

१. अति दूर	२. अति समीप	३. अति सूक्ष्म
४. मन की अस्थिरता	५. इन्द्रिय का अपाटव	६. बुद्धिमान्द्य
७. अशक्य-ग्रहण	८. आवरण	९. अभिभूत
१०. समानजातीय	११. अनुपयोग दशा	१२. उचित उपाय का अभाव
१३. विस्मरण	१४. दुरागम—मिथ्या उपदेश	१५. मोह
१६. दृष्टि-शक्ति का अभाव	१७. विकार	१८. क्रिया का अभाव
१९. अनधिगम—शास्त्र सुने बिना	२०. काल-व्यवधान	२१. स्वभाव से इन्द्रिय-अगोचर

ऊपर की कुछ पंक्तियां सूत्र-रूप में हैं। इनसे हमारी दृष्टि विशाल बनती है, स्याद्वाद की मर्यादा समझने में भी सहारा मिलता है। वस्तु का स्थूल रूप देख हम उसे सही-सही समझ लें, यह बात नहीं। उसके लिए बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। ऊपर के सूत्र सावधानी के सूत्र हैं। वस्तु को समझते समय सावधानी में कमी रहे तो दृष्टि मिथ्या बन जाती है और आगे चल वह हिंसा का रूप ले लेती है और यदि सावधानी बरती जाए—आस-पास के सब पहलुओं पर ठीक-ठीक दृष्टि डाली जाए तो वस्तु का असली रूप समझ में आ जाता है।

१०

जैन दर्शन और बौद्ध

श्रमण-परम्परा

श्रमण-परम्परा की सारी शाखाएं दो विशाल शाखाओं में सिमट गईं। जैन और बौद्ध-दर्शन के आश्चर्यकारी साम्य को देख—'एक ही सरिता की दो धाराएं वही हों'—ऐसा प्रतीत होने लगता है।

भगवान् पार्श्व की परम्परा अनुस्यूत हुई हो—यह मानना कल्पना-गौरव नहीं होगा।

शब्दों, गाथाओं और भावनाओं की समता इन्हें किसी एक उत्स के दो प्रवाह मानने को विवश किए देती है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध—दोनों श्रमण, तीर्थ तथा धर्म-चक्र के प्रवर्तक, लोक-भाषा के प्रयोक्ता और दुःख-मुक्ति की साधना के संगम-स्थल थे।

भगवान् महावीर कठोर तपश्चर्या और ध्यान के द्वारा केवली बने। महात्मा बुद्ध छह वर्ष की कठोर-चर्या से सन्तुष्ट नहीं हुए, तब ध्यान में लगे। उससे सम्बोधि-लाभ हुआ।

कैवल्य-लाभ के बाद भगवान् महावीर ने जो कहा, वह द्वादशांग—गणिपिटक में गुंथा हुआ है।

वोधि-लाभ के बाद महात्मा बुद्ध ने जो कहा, वह त्रिपिटक में गंथा हुआ है।

तत्त्व—तथ्य या आर्य सत्य

भगवान् महावीर ने—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष—इन नव तत्त्वों का निरूपण किया।

महात्मा बुद्ध ने—दुःख, दुःख-समुदय, निरोध, मार्ग—इन चार आर्य-सत्यों का निरूपण किया।

दुःख

भगवान् महावीर ने कहा—पुण्य-पाप का बन्ध ही संसार है। संसार दुःखमय है। जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मरण दुःख है।[1]

पाप-कर्म किया हुआ है तथा किया जा रहा है, वह सब दुःख है।[2]

महात्मा बुद्ध ने कहा—पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, व्याधि दुःख है, मरना दुःख है।[3]

विज्ञान

भगवान् महावीर ने कहा—

१. जितने स्थूल अवयवी हैं, वे सब पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले हैं—मूर्त या रूपी हैं।

२. चक्षु रूप का ग्राहक है और रूप उसका ग्राह्य है।
कान शब्द का ग्राहक है और शब्द उसका ग्राह्य है।
नाक गन्ध का ग्राहक है और गन्ध उसका ग्राह्य है।
जीभ रस की ग्राहक है और रस उसका ग्राह्य है।
काय (त्वक्) स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श उसका ग्राह्य है।
मन भाव (अभिप्राय) का ग्राहक है और भाव उसका ग्राह्य है।
चक्षु और रूप के उचित सामीप्य से चक्षु-विज्ञान होता है।
कान और शब्द के स्पर्श से श्रोत्र-विज्ञान होता है।
नाक और गन्ध के सम्बन्ध से घ्राण-विज्ञान होता है।
जीभ और रस के सम्बन्ध से रसना-विज्ञान होता है।
काय और स्पर्श के सम्बन्ध से स्पर्शन-विज्ञान होता है।
चिन्तन के द्वारा मनोविज्ञान होता है।

इन्द्रिय-विज्ञान रूपी का ही होता है। मनोविज्ञान रूपी और अरूपी दोनों का होता है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, १९।१५ :
जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।

२. भगवती, ७।८

३. महावंश, १।६।१९ :
जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खा मरणं पि दुक्खं।

वेदना

अनुकूल वेदना के छह प्रकार हैं :

१. चक्षु-सुख, २. श्रोत्र-सुख, ३. घ्राण-सुख, ४. जिह्वा-सुख, ५. स्पर्शन-सुख, ६. मन-सुख।

प्रतिकूल वेदना के छह प्रकार हैं :

१. चक्षु-दुःख, २. श्रोत्र-दुःख, ३. घ्राण-दुःख, ४. जिह्वा-दुःख, ५. स्पर्शन-दुःख ६. मन-दुःख।

संज्ञा

संज्ञा का अर्थ है—पूर्वानुभूत विषय की स्मृति और अनागत की चिन्ता या विषय की अभिलाषा। वे चार हैं :

१. आहार-संज्ञा, २. भय-संज्ञा, ३. मैथुन-संज्ञा, ४. परिग्रह-संज्ञा।

संस्कार

इसका अर्थ है—वासना। यह पांच इन्द्रिय और मन की धारणा के बाद की दशा है।

उपादान

महात्मा बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ! जिस प्रकार काठ, बल्ली, तृण तथा मिट्टी मिलकर 'आकाश' को घेर लेते हैं और उसे घर कहते हैं, इसी प्रकार हड्डी, रगें, मांस तथा चर्म मिलकर आकाश को घेर लेते हैं और उसे 'रूप' कहते हैं।

आंख और रूप से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह चक्षु-विज्ञान कहलाता है। कान और शब्द से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह श्रोत्र-विज्ञान कहलाता है। नाक और गन्ध से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह घ्राण-विज्ञान कहलाता है। काय (स्पर्शेन्द्रिय) और स्पृशतव्य से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह काय-विज्ञान कहलाता है।

मन तथा धर्म (मन-इन्द्रिय के विषय) से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह मनोविज्ञान कहलाता है।

उस विज्ञान में का जो रूप है, वह रूप-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।[1]

उस विज्ञान में की जो वेदना है, वह वेदना-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

---

१. मज्झिमनिकाय, २८

उस विज्ञान में की जो संज्ञा है, वह संज्ञा-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है। उस विज्ञान में के जो संस्कार हैं, वह संस्कार—उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है। उस विज्ञान (चित्त) में का जो विज्ञान (मात्र) है, वह विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि बिना रूप के, बिना वेदना के, बिना संज्ञा के, बिना संस्कार के, विज्ञान—चित्त-मन की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, उत्पन्न होना, वृद्धि तथा विपुलता को प्राप्त होना—हो सकता है, तो यह असम्भव है।[1]

दुःखवाद भारतीय दर्शन का पहला आकर्षण है। जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापे को दुःख[2] और अज, अमर, अजर, अरुज को सुख माना गया है।[3]

विचार-बिन्दु

जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापा—ये परिणाम हैं। महात्मा बुद्ध ने इन्हीं के निर्मूलन पर बल दिया। उसमें से करुणा का स्रोत बहा।

भगवान् महावीर ने दुःख के कारणों को भी दुःख माना और उनके उन्मूलन की दशा में ही जनता का ध्यान खींचा। उसमें से संयम और अहिंसा का स्रोत बहा।

दुःख का कारण

भगवान् महावीर ने कहा—बलाका अण्डे से और अण्डा बलाका से पैदा होता है, वैसे ही मोह तृष्णा से और तृष्णा मोह से पैदा होती है।[4]

प्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव राग को उभारते हैं।

अप्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव द्वेष को उभारते हैं।

प्रिय-विषयों में आदमी फंस जाता है। अप्रिय-विषयों से दूर भागता है। प्रिय-विषयों में अतृप्त आदमी परिग्रह में आसक्त बनता है। असन्तोष के दुःख से दुःखी बनकर वह चोरी करता है।

तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता।[5]

---

१. मज्झिमनिकाय, २८।
२. (क) छान्दोग्य उपनिषद् ४।८।८।१ :
न जरा, न मृत्यु न शोकः।
(ख) वही, ७।२६।२ :
न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्।
३. उत्तरज्झयणाणि, २३।८१
४. वही, ३२।६
५. वही, ३२।३०

चोरी करने वाले के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता।[1]

प्रिय विषयों में अतृप्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता।

परिग्रह में आसक्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता।

दुःख आरम्भ से पैदा होता है।

दुःख हिंसा से पैदा होता है।

दुःख कामना से पैदा होता है।

जहां आरम्भ है, हिंसा है, कामना है, वहां राग-द्वेष है। जहां राग-द्वेष है— वहां क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, हर्ष, विषाद, हास्य, भय, शोक और वासनाएं हैं। जहां ये सब हैं, वहां कर्म (बन्धन) है। जहां कर्म है, वहां संसार है; जहां संसार है, वहां जन्म है। जहां जन्म है, वहां जरा है, रोग है, मौत है। जहां ये हैं, वहां दुःख है।

भव-तृष्णा विषैली बेल है। यह भयंकर है और इसके फल बड़े डरावने होते हैं।

महात्मा बुद्ध ने कहा—'मनुष्य अपनी आंख से रूप देखता है। प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियतर लगे तो उससे दूर भागता है। कान से शब्द सुनता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। घ्राण से गन्ध सूंघता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। जिह्वा से रस चखता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। काय से स्पर्श करता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। मन से मन के विषय (धर्म) का चिन्तन करता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है।'

'इस प्रकार आसक्त होनेवाला तथा दूर भागनेवाला जिस दुःख-सुख या अदुःख-असुख, किसी भी प्रकार की वेदना-अनुभूति का अनुभव करता है, वह उस वेदना में आनन्द लेता है, प्रशंसा करता है, उसे अपनाता है। वेदना को जो अपना बनाना है, वही उसमें राग उत्पन्न होना है। वेदना में जो राग है, वही उपादान है। जहां उपादान है, वहां भव है, जहां भव है, वहां पैदा होना है, जहां पैदा होना है, वहां बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना,

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२।३०

परेशान होना—सब हैं। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख का समुदय होता है।'

दुःख-निरोध

भगवान् महावीर ने कहा—'ये अर्थ—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—प्रिय भी नहीं है, अप्रिय भी नहीं हैं, हितकर भी नहीं हैं, अहितकर भी नहीं हैं। ये प्रियता और अप्रियता के निमित्तमात्र हैं। उनके उपादान राग और द्वेष हैं। इस प्रकार अपने में छिपे राग को जो पकड़ लेता है, उसमें समता या मध्यस्थ-वृत्ति पैदा होती है। उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है। विरक्ति आने के बाद ये अर्थ प्रियता भी पैदा नहीं करते, अप्रियता भी पैदा नहीं करते।

जहां विरक्ति है, वहां विरति है। जहां विरति है, वहां शान्ति है। जहां शान्ति है, वहां निर्वाण है।

सब द्वन्द्व मिट जाते हैं—आधि-व्याधि, जन्म-मौत आदि का अन्त होता है, वह शान्ति है।

द्वन्द्व के कारणभूत कर्म विलीन हो जाते हैं, वह निरोध है। यही दुःख निरोध है।[1]

महात्मा बुद्ध ने कहा—'काम-तृष्णा और भव-तृष्णा से मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता।[2] क्योंकि तृष्णा के सम्पूर्ण निरोध से उपादान निरुद्ध हो जाता है। उपादान निरुद्ध हुआ तो भव निरुद्ध। भव निरुद्ध हुआ तो पैदा होना निरुद्ध। पैदा होना निरुद्ध हुआ तो बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—यह सब निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है।'

'भिक्षुओ! यह जो रूप का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है—यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है। यह जो वेदना का निरोध है, संज्ञा का निरोध है, संस्कारों का नरिोध है तथा विज्ञान का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है।

यही शान्ति है। यही श्रेष्ठता है। यह जो सभी संस्कारों का शमन, सभी चित्त-मलों का त्याग, तृष्णा का क्षय, विराग-स्वरूप, निरोध-स्वरूप निर्वाण है।

दुःख-निरोध का मार्ग

भगवान् महावीर ने ऋजु मार्ग को देखा। वह ऋजु है, इसलिए महाघोर है,

१. सूयगडो, १।१४।१६।
२. अंगुत्तरनिकाय, ३२।

दुश्चर है। वह अनुत्तर है विशुद्ध है, सब दुःखों का अन्त करनेवाला है। उसके चार अंग हैं—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, सम्यक्-तप।

इसकी अल्प आराधना करनेवाला अल्प-दुःखों से मुक्त होता है।

इसकी मध्यम आराधना करनेवाला बहु-दुःखों से मुक्त होता है।

इसकी पूर्ण आराधना करनेवाला सब दुःखों से मुक्त होता है।

यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनार्य, अनर्थंकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का दुःखमय, अनार्य, अनर्थंकर जीवन है इन दोनों सिरे की बातों से बचकर तथागत ने मध्यम-मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया जो कि आंख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देनेवाला है, शमन के लिए, अभिज्ञा के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए होता है।

यही आर्य अष्टांगिक मार्ग दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला है, जो कि इस प्रकार है—

१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३. सम्यक् वाणी ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीविका	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि

निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही एक मार्ग, है और कोई मार्ग नहीं। इस मार्ग पर चलने से तुम दुःख का नाश करोगे।'

विचार-बिन्दु

महात्मा बुद्ध ने केवल मध्यम-मार्ग का आश्रय लिया। उसमें आपद्-धर्मों या अपवादों का प्राचुर्य रहा। भगवान् महावीर आपद्-धर्मों से दूर होकर चले। काय-क्लेश को उन्होंने अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक माना। किन्तु साथ-साथ यह भी कहा कि बल, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल की मर्यादा को समझकर ही आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिए।

गृहस्थ-श्रावकों के लिए जो मार्ग है, वह मध्यम-मार्ग है।

चार सत्य

महात्मा बुद्ध ने चार सत्यों का निरूपण व्यवहार की भूमिका पर किया जब

कि भगवान् महावीर के नव तत्त्वों का निरूपण अधिक दार्शनिक है।

संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय—ये चार सत्य पातंजल भाष्यकार ने भी माने हैं।

उन्होंने इसकी चिकित्सा-शास्त्र के चार अंगों—रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य से तुलना की है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! 'जीव (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं'—ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। और 'जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनों एक हैं'—ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ! इन दोनों सिरे की बातों को छोड़कर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते हैं—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम-रूप, नाम-रूप के होने से छह आयतन, छह आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ! इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं।

अविद्या के ही सम्पूर्ण विराग से, निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध से छह आयतनों का निरोध, छह आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादन के निरोध से भव-निरोध, भव-निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से बुढ़ापा, शोक, रोने-पीटने, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है।

भगवान् महावीर ने जीव और अजीव का स्पष्ट व्याकरण किया। उन्होंने कहा—जीव शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जीव चेतन है, शरीर जड़ है—इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। संसारी जीव शरीर से बंधा हुआ है, उसी के द्वारा अभिव्यक्त और प्रवृत्त होता है, इसलिए वह अभिन्न भी हैं।

आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं है, मोक्ष का उपाय नहीं है—ये छह मिथ्या-दृष्टि के स्थान हैं।[1]

---

१. सन्मति तर्क प्रकरण ३।५४

आत्मा है, वह नित्य है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है—ये छह सम्यक् दृष्टि के स्थान हैं।[1]

जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं। यह विश्व का निरूपण है।[2]

पुण्य, पाप और बन्ध—यह दुःख (संसार) है।[3] आस्रव दुःख (संसार) का हेतु है। मोक्ष दुःख (संसार) का निरोध है। संवर और निर्जरा दुःख-निरोध (मोक्ष) के उपाय हैं।

जीव और अजीव—ये दो मूलभूत सत्य हैं। अजीव से जीव के विश्लेषण की प्रक्रिया का अर्थ है—साधना। शेष सात तत्त्व साधना के अंग हैं। संक्षिप्त रूप में ये सात तत्त्व और चार आर्य-सत्य सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

---

१. वही, ३।५५
२. उत्तरज्झयणाणि ३६।२
३. वही, १०।१५

११

जैन दर्शन और वेदान्त

दर्शन मनुष्य का दिव्य-चक्षु है। मनुष्य अपने चरम चक्षु से जो नहीं देख सकता, वह दर्शन-चक्षु से देख सकता है। सत्य जितना विराट् है उतना ही आवृत है। अनेक दर्शनों ने समय-समय पर उसे निरावृत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जो देखा वह दर्शन बन गया। अनेक द्रष्टा हुए हैं। इसलिए अनेक दर्शन हैं। उनमें से दो दर्शन ये हैं—जैन और वेदान्त। जैन द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी।

जैन दर्शन और विश्व

जैन-दर्शन के अनुसार यह विश्व छह द्रव्यों का समुदाय है—

धर्म—गति-सहायक द्रव्य।

अधर्म—स्थिति-सहायक द्रव्य।

आकाश—अवगाहदायक द्रव्य।

काल—परिवर्तन-हेतु द्रव्य।

पुद्गल—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णात्मक द्रव्य।

जीव—चेतनात्मक द्रव्य।

१. इनमें जीव चेतन है। शेष पांच अचेतन हैं।

२. पुद्गल मूर्त है। शेष पांच अमूर्त हैं।

३. धर्म-अधर्म और आकाश व्यक्तिशः एक हैं। शेष तीन व्यक्तिशः अनन्त हैं।

४. धर्म, अधर्म और आकाश व्यापक हैं, जीव और पुद्गल अव्यापक।

जीव दो प्रकार के होते हैं—

(१) बद्ध।

(२) मुक्त।

बद्ध जीव अपने देह के परिमाण में व्याप्त रहता है। मुक्त जीव जिस देह को छोड़कर मुक्त होता है, उसके एक तिहाई कम आकाश में व्याप्त रहता है।

पुद्‌गल दो प्रकार के होते हैं—

(१) परमाणु।

(२) स्कन्ध—परमाणु-समुदाय।

परमाणु आकाश के एक प्रदेश (अविभाज्य- अवयव) में व्याप्त रहता है।

स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—

द्वि-प्रदेशी—दो परमाणुओं का स्कन्ध।

त्रि-प्रदेशी—तीन परमाणुओं का स्कन्ध।

इस प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। ये स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों तक व्याप्त होते हैं। अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध असंख्य प्रदेशों में व्याप्त हो जाता है।

जितने प्रदेशों का स्कन्ध होता है वह उतने ही आकाश-प्रदेशों में व्याप्त हो जाता है और सूक्ष्म परिणति होने पर वह एक आकाश-प्रदेश में भी व्याप्त हो जाता है।

काल अव्यापक और व्यापक—दोनों है। उसके दो प्रकार हैं—

(१) व्यावहारिक—सूर्य, चन्द्र आदि की क्रिया से नापा जाने वाला।

(२) नैश्चयिक परिवर्तन का हेतु।

व्यावहारिक काल केवल मनुष्य-लोक में होता है। नैश्चयिक-काल लोक और अलोक—दोनों में होता है।

५. धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल और जीव में प्रदेशों (अवयवों) का विस्तार है, इसलिए वे अस्तिकाय हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल के अवयव नहीं हैं, वह औपचारिक या द्रव्य का पर्याय मात्र है। इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है—विस्तार वाला नहीं है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल अणुरूप है। इसलिए वह विस्तार-शून्य है।

६. धर्म, अधर्म और आकाश गतिशून्य है, जीव और पुद्‌गल गतिमान।

७. धर्म, अधर्म और आकाश में केवल सजातीय परिवर्तन होता है, जीव और पुद्‌गल में सजातीय और विजातीय—दोनों परिवर्तन होते हैं।

विश्व अनादि-अनन्त है। फलतः सब द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। जीव और पुद्‌गल में विजातीय परिवर्तन होते हैं—वे एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चले जाते हैं। इसलिए वे सादि-सान्त भी हैं। यह जीव और पुद्‌गल का विजातीय परिवर्तन ही सृष्टि है। वह सादि-सान्त है।

साधना-पथ

काल, पुरुषार्थ आदि समवायों का परिपाक होने पर जीव में आत्म-स्वरूप को उपलब्ध करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करता है और क्रमशः विजातीय परिवर्तन के हेतुओं (पुण्य, पाप और आश्रव) का निरोध (संवर) और क्षय (निर्जरा) कर मुक्त हो जाता है—आत्मस्थ हो जाता है।

मोक्ष के साधन तीन हैं—

१. सम्यक्-दर्शन।
२. सम्यग्-ज्ञान।
३. सम्यग्-चारित्र।

कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है, आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।

प्रमाण और नयवाद

विश्व और सृष्टि की प्रक्रिया जानने के लिए जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की। उनका अभिमत था कि द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है। उसे एकान्त-दृष्टि से नहीं जाना जा सकता। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियां चाहिए। उन सब दृष्टियों के सकल रूप को प्रमाण और विकल रूप को नय कहा जाता है। प्रमाण दो हैं—

१. प्रत्यक्ष—आत्मा को किसी माध्यम के बिना द्रव्य का सीधा ज्ञान होना।
२. परोक्ष—आत्मा को इन्द्रिय आदि के माध्यम से द्रव्य का ज्ञान होना।

नय सात हैं—

१. नैगम—द्रव्य और पर्याय—उभयाश्रयी दृष्टिकोण।
२. संग्रह—द्रव्याश्रयी दृष्टिकोण।
३. व्यवहार—पर्यायाश्रित दृष्टिकोण।
४. ऋजुसूत्र—वर्तमान पर्यायाश्रयी दृष्टिकोण।
५. शब्द—शब्दप्रयोगाश्रित दृष्टिकोण।
६.. समभिरूढ—शब्द की उत्पत्ति के आश्रित दृष्टिकोण।
७. एवम्भूत—क्रियापरिणति के अनुरूप शब्द प्रयोगाश्रयी दृष्टिकोण।

वस्तु-विज्ञान की दृष्टि से वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। इसके आधार पर दो दृष्टियां बनती हैं—

१. निश्चय—द्रव्य-स्पर्शी नय।

२. व्यवहार—पर्याय या विस्तार-स्पर्शी नय।

पहली अभेद-प्रधान दृष्टि है और दूसरी भेद-प्रधान। यह विश्व न अभेदात्मक है और न भेदात्मक, किन्तु अभयात्मक है।

वेदान्त और विश्व

शंकराचार्य के शब्दों में जो सदा समरूप होता है वही सत्य है। विश्व के पदार्थ परिवर्तनशील हैं—सदा समरूप नहीं हैं, इसलिए वे सत्य नहीं हैं। ब्रह्म सदा समरूप है। तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) तथा तीनों दशाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) में एक रूप है इसलिए वह सत्य है। फलित की भाषा में ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है।

सत्य त्रिकालाबाधित होता है, इसलिए वह पारमार्थिक सत्ता है। असत्य के दो रूप हैं—

१. व्यावहारिक—नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता।

२. प्रातिभासिक—रज्जु में सर्प की सत्ता।

जगत् के विकारात्मक पदार्थ व्यवहार-काल में सत्य होते हैं, किन्तु वे ब्रह्मानुभव के द्वारा बाधित हो जाते हैं, इसलिए व्यावहारिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं है।

रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित होते हैं, किन्तु उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा वे बाधित हो जाते हैं, इसलिए प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थ त्रिकालाबाधित नहीं होने के कारण पारमार्थिक सत्य नहीं हैं, किन्तु वे आकाश-कुसुम की भांति निराश्रय नहीं हैं, इसलिए सर्वथा असत्य भी नहीं हैं।

वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियां हैं—

१. आवरण-शक्ति।

२. विक्षेप-शक्ति।

आवरण-शक्ति भेद-बुद्धि उत्पन्न करती है। इसलिए संसार का कारण है। इसी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य में 'मैं कर्ता हूं', 'भोक्ता हूं', 'सुखी हूं', 'दुःखी हूं'—आदि-आदि भावनाएं उत्पन्न होती हैं। तमः प्रधान विशेष शक्तियुक्त तथा अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म शरीर के सतरह अवयव होते हैं—

पांच ज्ञानेन्द्रियां—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण।
६ बुद्धि—अन्तःकरण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति।
७ मन—अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति।
८-१२ पांच कर्मेन्द्रियां—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।
१३-१७ पांच वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।

तीन प्रकार के कोश—

ज्ञानेन्द्रियां सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा जाता है। यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रियां सहित मन को मनोमय कोश कहा जाता है। कर्मेन्द्रियां सहित पांच वायुओं को प्राणमय कोश कहा जाता है। विज्ञानमय कोश ज्ञान-शक्तिमान् है। वह कर्ता है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह करण (साधन) है। प्राणमय कोश क्रिया-शक्तिमान् है। वह कार्य है। इन तीनों कोशों का मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

साधना-पथ

वेदान्त के आचार्यों के अनुसार जीव में तीन अज्ञानगत शक्तियां होती हैं। प्रथम शक्ति से अभिभूत जीव प्रपंच को पारमार्थिक मानता है। वेदान्त के ज्ञान से जब प्रथम अज्ञान-शक्ति क्षीण होती है तब वह दूसरी अज्ञान-शक्ति के उदित होने पर प्रपंच को व्यावहारिक मानता है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जब दूसरी अज्ञान-शक्ति भी क्षीण हो जाती है तब वह तीसरी अज्ञान-शक्ति के कारण प्रपंच को प्रतिभासित मानता है। तीसरी अज्ञान-शक्ति बन्ध-मोक्ष के साथ-साथ क्षीण होती है। उसके साथ प्रपंच को प्रतिभासित मानना भी समाप्त हो जाता है। फलित की भाषा में प्रपंच को व्यावहारिक प्रगति तथा प्रतिभासित मानना बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया है। जीव जब तक बन्ध दशा में रहता है तब तक वह 'ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है'—इसे जानते हुए भी व्यावहारिक या प्रातिभासिक प्रतीति से मुक्त नहीं हो सकता।

वेदान्त के अनुसार साधना के तीन साधन हैं—

१. श्रवण—वेदान्त के वचनों को आचार्य के मुख से सुनना।
२. मनन—श्रुत-विषय पर तर्क-बुद्धि से मनन करना।
३. निदिध्यासन—मनन किए हुए विषय पर सतत चिन्तन करना।

ऐसा करते-करते आत्मा और ब्रह्म की एकता का बोध सुदृढ़ हो जाता है। और अन्त में साधक को मोक्ष उपलब्ध हो जाता है।

प्रमाणवाद

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं के सम्यग् ज्ञान के लिए वेदान्त पांच

प्रमाण मान्य करता है—

१. प्रत्यक्ष
२. अनुमान
३. उपमान
४. आगम
५. अर्थापत्ति

तुलनात्मक मीमांसा

जैन दर्शन के द्वारा दो सत्ताएं स्वीकृत हैं—

१. पारमार्थिक।
२. व्यावहारिक।

वेदान्त के द्वारा तीन सत्ताएं स्वीकृत हैं—

१. पारमार्थिक
२. व्यावहारिक।
३. प्रातिभासिक।

जैन दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन—दोनों पारमार्थिक सत्य हैं, दोनों की वास्तविक सत्ता है। जैन दर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है, इसलिए वह यथार्थवादी है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। वह एक है। शेष जो नानात्व है, वह वास्तविक नहीं है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म से भिन्न जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करता इसलिए वह आदर्शवादी है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन में अचेतन की और अचेतन में चेतन की संज्ञा करना मिथ्या-दर्शन है और चेतन में चेतन की और अचेतन में अचेतन की संज्ञा करना सम्यग्-दर्शन है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन या ब्रह्म से भिन्न अचेतन की सत्ता स्वीकार करना मिथ्या-दर्शन है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य मानना सम्यग्-दर्शन है।

जैन-दर्शन का द्वैतवाद

वेदान्त के अनुसार जैसे एकत्व पारमार्थिक और प्रपंच (या नानात्व) व्यावहारिक हैं वैसे ही अनेकान्त की भाषा में कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व पारमार्थिक और पर्यायत्व (या विस्तार) व्यावहारिक है। शाश्वत सत्ता चेतन है।

मनुष्य, तिर्यंच आदि उसके विस्तार हैं। वे शाश्वत नहीं हैं। मनुष्य शाश्वत नहीं है इसलिए वह पारमार्थिक नहीं है। एक ही चेतन के अनन्त रूपों में मनुष्य एक रूप है, जो उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। उसके उत्पन्न या विलीन होने पर भी चेतन चेतन ही रहता है, इसलिए वह पारमार्थिक है।

पारमार्थिक सत्ता को जाननेवाली दृष्टि को निश्चय नय और व्यावहारिक सत्ता को जाननेवाली दृष्टि को व्यवहार नय कहा जा सकता है। निश्चय नय के अनुसार विश्व के मूल में दो तत्त्व हैं—चेतन और अचेतन। यह नय पर्याय या विस्तार को मौलिक तत्त्व नहीं मानता। वेदान्त प्रपंच को व्यावहारिक या प्रातिभासिक ही मानता है, उसका हेतु यही है कि वह जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या केवल निश्चय नय से करता है। जैन दर्शन के अनुसार विस्तार मिथ्या या असत् नहीं है। सत् के तीन अंश हैं—

१. ध्रौव्य

२. उत्पाद्

३. विनाश

ध्रौव्य शाश्वत अंश है। उत्पाद और विनाश अशाश्वत अंश हैं। ध्रौव्य एक है और उत्पाद-विनाश अनेक हैं। ध्रौव्य संक्षेप है और उत्पाद-विनाश विस्तार है। ध्रौव्य की व्याख्या निश्चय नय से की जाती है और उत्पाद-विनाश की व्याख्या व्यवहार नय से। ध्रौव्य से भिन्न उत्पाद-विनाश और उत्पाद-विनाश से भिन्न ध्रौव्य कभी और कहीं भी नहीं मिलता। जहां ध्रौव्य है वहीं उत्पाद-विनाश है और जहां उत्पाद-विनाश है वहीं ध्रौव्य है। इसलिए ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश—ये तीनों सत् के अपरिहार्य अंश हैं। वेदान्त यह कब मानता है कि मूल से भिन्न विस्तार और विस्तार से भिन्न मूल है। मूल और विस्तार दोनों सर्वत्र सम-व्याप्त हैं।

वेदान्त विस्तार को मिथ्या या असत् मानता है और जैन दर्शन उसे अनित्य मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य नहीं है, इस दृष्टि से वेदान्त अन्तिम को मिथ्या मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य की परिधि से बाहर नहीं है, इस दृष्टि से जैन दर्शन अनित्य को सत् का अंश मानता है। दोनों में जितना भाषा-भेद है उतना तात्पर्य-भेद नहीं है।

स्याद्वाद और क्या है, भाषा के आवरण में जो सत्य छिपा हुआ है, उसे अनावृत करने का जो प्रबल माध्यम है वही तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद की भाषा में कोई भी दर्शन सर्वथा द्वैतवादी या सर्वथा अद्वैतवादी नहीं हो सकता।

सत्ता की दृष्टि से विश्व एक है। सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं है, इसलिए यह एक है। इस व्याख्या पद्धति को जैन-दर्शन संग्रह-नय कहता है।

जगत् की व्याख्या एक ही नय से नहीं की जा सकती। दृश्य जगत् की

वास्तविकता को भ्रान्ति मानकर झुठलाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से विश्व अनेक भी है। विस्तार की व्याख्या-पद्धति को जैन-दर्शन व्यवहार नय कहता है।

सत्य की व्याख्या इन दोनों नयों से ही की जा सकती है। निश्चय नय से इस सत्य का रहस्योद्घाटन होता है कि विश्व के मूल में अभेद की प्रधानता है और व्यवहार नय से इस सत्य की व्याख्या होती है कि विश्व के विस्तार में भेद की प्रधानता है।

जैन-दर्शन द्रव्य और पर्याय (मूल और विस्तार) को सर्वथा एक नहीं मानता, इस दृष्टि से ही द्वैतवादी नहीं है किन्तु वह इस दृष्टि से द्वैतवादी है कि वह विश्व के मूल में चेतन और अचेतन का भिन्न-भिन्न अस्तित्व स्वीकार करता है। वह इस अर्थ में बहुत्ववादी भी है कि उसके अनुसार जीव और परमाणु व्यक्तिशः अनन्त हैं। जब नित्यता से अनित्यता की ओर तथा अशुद्धता (विस्तार) से शुद्धता (मूल) की ओर बढ़ते हैं तब हमें अभेद-प्रधान विश्व की उपलब्धि होती है और जब हम नित्यता से अनित्यता की ओर तथा शुद्धता से अशुद्धता की ओर बढ़ते हैं तब हमें भेद-प्रधान विश्व उपलब्ध होता है। जो दर्शन एकान्त दृष्टि से देखता है, उसे एक सत्य लगता है और दूसरा मिथ्या। वेदान्त की दृष्टि में भेदात्मक विश्व मिथ्या है और बौद्ध-दर्शन की दृष्टि में अभेदात्मक विश्व मिथ्या है। जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है इसलिए उसकी दृष्टि में विश्व के दोनों रूप सत्य हैं।

इस उभयात्मक सत्य की स्वीकृति वेदान्त के प्राचीन आचार्यों ने भी की है। भर्तृप्रपंच भेदाभेदवादी थे। उनका अभिमत है कि ब्रह्म अनेकात्मक है। जैसे वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होता है वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति तथा प्रवृत्तियुक्त है। इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं—पारमार्थिक हैं। 'वृक्ष' यह एकत्व है। 'शाखाएं' यह अनेकत्व है। 'समुद्र' यह एकत्व है। 'उर्मियां' यह अनेकत्व है। 'मृत्तिका' यह एकत्व है। 'घड़ा' आदि अनेकत्व हैं। एकत्व अंश के ज्ञान से कर्म-काण्डाश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहारों की सिद्धि होगी।

शंकराचार्य ने भर्तृप्रपंच को मान्यता नहीं दी पर उन्होंने नानात्व को भी मृगमरीचिका की भांति सर्वथा असत्य नहीं माना।

भाषा के आवरण में जैन और वेदान्त से साधना-पथ भिन्न-भिन्न लगते हैं किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से उनमें विशेष भिन्नता नहीं है। आत्मा का श्रवण, मनन और साक्षात्कार—यह वेदान्त की साधना-विधि है और जैन-दर्शन की साधना-विधि है—आत्म-दर्शन, आत्म-ज्ञान और आत्म-रमण।

वेदान्त ज्ञानमार्गी है। जैन-दर्शन ज्ञानमार्गी भी है और कर्ममार्गी भी। कोरा ज्ञान-मार्ग और कोरा कर्म-मार्ग दोनों अपूर्ण हैं। परिपूर्ण पद्धति है—दोनों का समुच्चय। मोक्ष की उपलब्धि के लिए वे कर्म अप्रयोजनीय हैं, जो आत्म-चिन्तन से शून्य हैं। इस अपेक्षा-दृष्टि से प्रयोजनीय कर्म आत्म-ज्ञान में समाहित हो जाते हैं।

वेदान्त का दृष्टिकोण यही होना चाहिए। जैन-दर्शन इस तथ्य को इस भाषा में प्रस्तुत करता है कि कर्म से कर्म क्षीण नहीं होते, अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं। मोक्ष पूर्ण संवर होने पर ही उपलब्ध होता है। पूर्ण संवर अर्थात् कर्म-निवृत्त अवस्था।

जैन-दर्शन का प्रसिद्ध श्लोक है—

'आस्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥"

—'आस्रव (बाह्य-निष्ठा) भव का हेतु और संवर (आत्म-निष्ठा) मोक्ष का हेतु है। अर्हत् की दृष्टि का सार-अंश इतना ही है, शेष सारा प्रपंच है।'

वेदान्त के आचार्यों ने भी इन्हीं स्वरों में गाया है—

'अविद्या वन्धहेतुः स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः, न ममेति विमुच्यते।'

—'अविद्या (कर्म-निष्ठा) वन्ध का हेतु है और विद्या (ज्ञान-निष्ठा) मोक्ष का हेतु है। जिसमें ममकार होता है, वह बंधता है और ममकार का त्याग करने वाला मुक्त हो जाता है।'

एक दृष्टि में प्रमाण का वर्गीकरण दोनों दर्शनों का भिन्न है। दूसरी दृष्टि में उतना भिन्न नहीं है जितना कि प्रथम दर्शन में दीखता है। प्रत्यक्ष दोनों द्वारा सम्मत है। जैन प्रमाणविदों ने परोक्ष प्रमाण के पांच विभाग किए—

१. स्मृति
२. प्रत्यभिज्ञा
३. तर्क
४. अनुमान
५. आगम

वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा में अप्रत्यक्ष प्रमाण के विभागों का संग्राहक कोई शब्द व्यवहृत नहीं हुआ, इसलिए वहां अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति को स्वतन्त्र स्थान मिला।

जैन दर्शन की प्रमाण-मीमांसा में अनुमान आदि के लिए एक परोक्ष शब्द व्यवहृत हुआ, इसलिए वहां उनकी स्वतन्त्र गणना नहीं हुई। अनुमान और आगम वेदान्त पद्धति में स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में और जैन-पद्धति में परोक्ष प्रमाण के विभाग के रूप में स्वीकृत हैं। वेदान्त के उपमान और जैन के सादृश्य प्रत्यभिज्ञा में कोई अर्थ-भेद नहीं है। अर्थापत्ति का अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए जिस अर्थ के विना उसकी सिद्धि न हो, उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। यदि दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति निश्चित न हो तो यह प्रमाण नहीं हो सकती और यदि उसकी व्याप्ति निश्चित हो तो जैन प्रमाणविदों के अनुसार इसमें और अनुमान में कोई अर्थ-भेद नहीं होता।

उपसंहार

जैन और वेदान्त दोनों आध्यात्मिक दर्शन हैं इसीलिए इनके गर्भ में समता के बीज छिपे हुए हैं। अंकुरित और पल्लवित दशा में भाषा और अभिव्यक्ति के आवरण मौलिक समता को ढांककर उसमें भेद किए हुए हैं। भाषा के आवरण को चीरकर झांक सकें तो हम पाएंगे कि दुनिया के सभी दर्शनों के अन्तःस्तल उतने दूर नहीं हैं, जितने दूर उनके मुख हैं। अनेकान्त का हृदय यही है कि हम केवल मुख को प्रमुखता न दें, अन्तस्तल का भी स्पर्श करें।

३

आचार-मीमांसा



१

साधना-पथ

अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

हम क्या हैं ? हमें क्या करना है ? हम कहां से आते हैं और कहां चले जाते हैं ? जैन दर्शन इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। इसके समाधान के साथ-साथ हमें यह निर्णय कर लेना होगा कि जगत् का स्वरूप क्या है और उसमें हमारा क्या स्थान है।

हमें अपनी जानकारी के लिए आत्मा, धर्म और कर्म की समस्याओं पर विचार करना होगा। आत्मा की स्वाभाविक या विशुद्ध दशा धर्म है। उसके दो प्रवाह हैं—'संवर' और 'निर्जरा'। 'संवर' आत्मा की वह दशा है, जिसमें विजातीय तत्त्व (कर्म-पुद्गल) का उसके साथ संश्लेष होना छूट जाता है। पहले लगे हुए विजातीय तत्त्व का आत्मा से विश्लेष या विसंबंध होता है, वह दशा है' निर्जरा'। विजातीय तत्त्व थोड़ा अलग होता है, वह आंशिक या अपूर्ण निर्जरा है। विजातीय तत्त्व सर्वथा अलग हो जाता है, उसका नाम है मोक्ष।

आत्मा का अपना रूप मोक्ष है। विजातीय द्रव्य के प्रभाव से उसकी जो दशा बनती है, वह 'वैभाविक' दशा कहलाती है। इसके पोषक चार तत्त्व हैं—आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप। आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व एक रूप बनता है। इसे बन्ध कहा जा सकता है। इसके दो रूप हैं—शुभ और अशुभ। शुभ पुद्गल-स्कन्ध (पुण्य) जब आत्मा पर प्रभाव डालते हैं, तब उसे पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। अशुभ पुद्गल-स्कन्धों (पाप) का प्रभाव इससे विपरीत होता है। उससे अप्रिय, अमनोज्ञ भाव बनते हैं, दुःख की अनुभूति होती है। आत्मा में विजातीय तत्त्व के स्वीकरण का जो हेतु है, उसकी संज्ञा 'आस्रव' है।

विभाव से स्वभाव में आने के लिए ये तत्त्व उपयोगी हैं। इनकी उपयोगिता के बारे में विचार करना उपयोगितावाद है।

१. गति है, गति का हेतु या उपकारक 'धर्म' नामक द्रव्य है।
२. स्थिति है, स्थिति का हेतु या उपकारक 'अधर्म' नामक द्रव्य है।
३. आधार है, आधार का हेतु या उपकारक 'आकाश' नामक द्रव्य है।
४. परिवर्तन है, परिवर्तन का हेतु या उपकारक 'काल' नामक तत्त्व है।
५. जो मूर्त है वह 'पुद्गल' द्रव्य है।
६. जिसमें चैतन्य है वह 'जीव' है।

इनकी क्रिया या उपकारों की जो समष्टि है वह जगत् है। यह भी उपयोगितावाद है।

पदार्थों के अस्तित्व के बारे में विचार करना अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद कहलाता है। अस्तित्व की दृष्टि से पदार्थ दो हैं—चेतन और अचेतन।

उपयोगिता के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और जागतिक। नव तत्त्व की व्यवस्था आत्म-कल्याण के लक्ष्य से की हुई है, इसलिए यह आध्यात्मिक है। यह आत्म-मुक्ति के साधक-बाधक तत्त्वों का विचार है। कर्मबद्ध आत्मा को जीव और कर्म-मुक्त आत्मा को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष साध्य है। जीव के वहां तक पहुंचने में पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव—ये चार तत्त्व बाधक हैं। संवर और निर्जरा—ये दो तत्त्व साधक हैं। अजीव उसका प्रतिपक्षी तत्त्व है।

षड्द्रव्य की व्यवस्था विश्व के सहज-संचलन या सहज-नियम की दृष्टि से हुई है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए क्या उपयोग है, यह जानकारी हमें इससे मिलती है।

वास्तविकतावाद में पदार्थ के उपयोग पर कोई विचार नहीं होता, केवल उसके अस्तित्व पर ही विचार होता है, इसलिए वह 'पदार्थवाद' या 'आधिभौतिकवाद' कहलाता है।

दर्शन का विकास अस्तित्व और उपयोग—दोनों के आधार पर हुआ है। अस्तित्व और उपयोग दोनों प्रमाण द्वारा साधे गए हैं। इसलिए प्रमाण, न्याय या तर्क के विकास के आधार भी ये ही दोनों हैं।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—तर्क्य (हेतु-गम्य) और अतर्क्य (हेतु-अगम्य)। न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है—प्रमाण-मीमांसा। तर्कशास्त्र इससे भिन्न नहीं है। वह ज्ञान-विवेचन का ही एक अंग है। प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। तर्क-गम्य पदार्थों की जानकारी के लिए जो अनुमान है, वह परोक्ष के पांच रूपों में से एक है।

पूर्व-धारणा की यथार्थ-स्मृति आती है, उसे तर्क द्वारा साधने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आप सत्य है—प्रमाण है। यथार्थ पहचान (प्रत्यभिज्ञा) के लिए भी यही बात है। मैं जब अपने पूर्व-परिचित व्यक्ति को साक्षात् पाता हूं तब मुझे उसे जानने के लिए तर्क आवश्यक नहीं होता।

मैं जिसके यथार्थ-ज्ञान और यथार्थ-वाणी का अनुभव कर चुका, उसकी वाणी को प्रमाण मानते समय मुझे हेतु नहीं ढूंढ़ना पड़ेगा। यथार्थ जाननेवाला भी कभी और कहीं भूल कर सकता है, यथार्थ कहनेवाला भी कभी और कहीं असत्य बोल सकता है—इस संभावना से यदि मैं उसकी प्रत्येक वाणी को तर्क की कसौटी पर कसे बिना प्रमाण न मानूं तो वह मेरी भूल होगी। मेरा विश्वासी मुझे ठगना चाहे, वहां मेरे लिए वह प्रमाणाभास होगा। किन्तु तर्क का सहारा लिए बिना कहीं भी वह मेरे लिए प्रमाण न बने, यह कैसे माना जाए? यदि यह न हो तो जगत् का अधिकांश व्यवहार ही न चले। व्यवहार में जहां व्यावहारिक आप्त की स्थिति है, वहां परमार्थ में पारमार्थिक आप्त—वीतराग की। किन्तु तर्क से आगे प्रामाण्य है अवश्य।

आंख से जो मैं देखता हूं, कान से जो सुनता हूं, उसके लिए मुझे तर्क नहीं चाहिए।

सत्य आंख और कान से परे भी है। वहां तर्क की पहुंच ही नहीं है।

तर्क का क्षेत्र केवल कार्य-कारण की नियमबद्धता, दो वस्तुओं का निश्चित साहचर्य है। एक के बाद दूसरे के आने का नियम और व्याप्त में व्यापक के रहने का नियम है। एक शब्द में वह व्याप्ति है। वह सार्वदिक और सार्वत्रिक होती है। वह अनेक काल और अनेक देश के अनेक व्यक्तियों के समान अनुभव द्वारा सृष्ट नियम है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण-परम्परा से ऊंचा या एकाधिकार स्थान नहीं दिया जाता। वह अतर्क्य—आगम-गम्य होता है।

धर्म

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। साधना ही चरम रूप तक पहुंचकर सिद्धि बन जाती है। श्रेयस् का अर्थ है—आत्मा का पूर्ण-विकास या चैतन्य का निर्द्वन्द्व प्रकाश। चैतन्य सब उपाधियों से मुक्त हो, चैतन्यस्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है। श्रेयस् की साधना भी चैतन्य की आराधनामय है, इसलिए वह भी श्रेयस् है। उसके दो, तीन, चार और दस—इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से अनेक रूप हैं। पर वह सब विस्तार है। संक्षेप में आत्मरमण ही धर्म है।

ज्ञानमय और चारित्रमय आत्मा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म दो रूपों में बंट जाता है—ज्ञान और चारित्र।

ज्ञान के दो पहलू हैं—दर्शन और जानकारी। सत्य का दर्शन हो तभी सत्य का ज्ञान और सत्य का ज्ञान हो तभी उसका स्वीकरण हो सकता है।

इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं—

१. दर्शन
२. ज्ञान

३. चारित्र

चारित्र के दो प्रकार हैं—

१. संवर (क्रियानिरोध या अक्रिया)।

२. निर्जरा—अक्रिया द्वारा क्रिया का विशोधन। इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार बन जाते हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

चारित्र-धर्म के दस प्रकार भी होते हैं—

१. क्षमा	६. सत्य
२. मुक्ति	७. संयम
३. आर्जव	८. तप
४. मार्दव	९. त्याग
५. लाघव	१०. ब्रह्मचर्य

इनमें सर्वाधिक प्रयोजकता रत्न-त्रयी—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग (मोक्ष-मार्ग) की आराधना करनेवाला ही मोक्ष-गामी होता है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र का त्रिवेणी-संगम प्राणिमात्र में होता है। पर उससे साध्य सिद्ध नहीं होता। ये तीनों यथार्थ और अयथार्थ—दोनों प्रकार के होते हैं। श्रेयस् की साधना यथार्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र से होती है।

साधना की दृष्टि से सम्यक्-दर्शन का स्थान पहला है, सम्यक्-ज्ञान का दूसरा और सम्यक्-चारित्र का तीसरा दर्शन के विना ज्ञान, ज्ञान के बिना चारित्र, चारित्र के विना कर्म-मोक्ष और कर्म-मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता।[1]

जब ये तीनों पूर्ण होते हैं तब साध्य सध जाता है, आत्मा कर्म-मुक्त हो परम-आत्मा बन जाता है।

महात्मा बुद्ध ने तपस्या की अपेक्षा की। ध्यान को ही निर्वाण का मुख्य साधन माना। भगवान् महावीर ने ध्यान और तपस्या—दोनों को स्थान दिया। ध्यान भी तपस्या है, किन्तु महावीर ने आहार-त्याग को भी गौण नहीं किया। उसका जैन साधकों में पर्याप्त विकास हुआ।

तपस्या आत्म-शुद्धि के लिए है। इसीलिए तपस्या की मर्यादा यही है कि वह इन्द्रिय और मानस-विजय की साधक रहे, तब तक की जाए। तपस्या कितनी लम्बी हो—इसका मानदण्ड अपनी-अपनी शक्ति और विरक्ति है। मन खिन्न न हो, आर्त्त-ध्यान न बढ़े, तब तक तपस्या हो—यही उसकी मर्यादा है। विरक्ति-

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।३०
नादंसणिस्स नाणं
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

काल में उपवास से अनशन तक की तपस्या आदेय है। उसके बिना वह आत्म-वंचना या आत्महत्या का साधन बन जाती है।

धर्म की शाश्वत धारा

इस विश्व में कुछ तत्त्व शाश्वत हैं और कुछ अशाश्वत। धर्म शाश्वत के संगीत का मधुर लय है। महावीर ने शाश्वत सत्यों की व्याख्या शाश्वत धर्म के माध्यम से की और सामयिक सत्यों की व्याख्या सामयिक धर्म के माध्यम से। महावीर की भाषा में ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म—ये सामयिक धर्म हैं। इनके द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्र की परिवर्तनशील व्यवस्थाओं की व्याख्या होती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएं स्थायी नहीं होतीं। वे देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। इसीलिए वे किसी शाश्वत नियम के द्वारा अनुशासित नहीं हो सकतीं। जैन धर्म में सामाजिक व्यवस्था को अनुशासित करने का कोई प्रत्यक्ष नियम नहीं है। कुछ लोग इसे धर्म की अपूर्णता मानते हैं। मैं इसे यथार्थ के अधिक निकट मानता हूं। समाज, अर्थ और राजनीति की व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करना समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और राजनीतिशास्त्री का कार्य है। उनके कार्यों में धर्म का हस्तक्षेप क्यों होना चाहिए? धर्म की अपनी मर्यादा है। उनकी अपनी मर्यादा है। सब अपनी-अपनी मर्यादा में कार्य करें तभी सबकी व्यवस्था सुसंपादित हो सकती है। महावीर से पूछा गया—'भंते! शाश्वत धर्म क्या है?' भगवान् ने कहा—'किसी प्राणी को मत मारो, उपद्रुत मत करो, परि-तप्त मत करो, अधीन मत करो—यह शाश्वत धर्म है।' फलित की भाषा में शाश्वत धर्म है—अहिंसा।

सर्वोदय और आत्मोदय

अहिंसा के दो पहलू हैं—सर्वोदय और आत्मोदय। सर्वोदय उसका व्यावहारिक पहलू है और उसका नैश्चयिक पहलू है आत्मोदय। अहिंसा की मर्यादा में कोई भी जीव हिंसनीय नहीं है। सब जीव अहिंस्य हैं, इसलिए वह सर्वोदय है।

आचार्य समंतभद्र ने इसी आशय से भगवान् महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वान्तवद् तद्गुण-मुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यञ्च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।[1]

अहिंसा की आंतरिक परिणति आत्मा में होती है, इसलिए वह आत्मोदय है।

---

१. युक्त्यनुशासन, ६१।

जैन-धर्म के केन्द्र में आत्मा है और आत्मा की स्वाभाविक परिणति ही अहिंसा है।

शील और श्रुत का समन्वय

एक समय भगवान् राजगृह में समवसृत थे। गौतम स्वामी आए। भगवान् को वन्दना कर बोले—'भगवन् ! कुछ दार्शनिक कहते हैं—

१. शील ही श्रेय है।

२. कुछ कहते हैं—श्रुत ही श्रेय है।

३. कुछ कहते हैं—शील श्रेय है और श्रुत भी श्रेय है।

४. कुछ कहते हैं—न श्रुत श्रेय है और न शील श्रेय है।

इनमें कौन-सा अभिमत ठीक है, भगवन् ?'

भगवान् बोले—'गौतम ! वे दार्शनिक जो कहते हैं वह एकान्तवाद है, इसलिए अपूर्ण है। मैं इस प्रकार कहता हूं—

चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

१. शीलसम्पन्न, श्रुतसम्पन्न नहीं।

२. श्रुतसम्पन्न, शीलसम्पन्न नहीं।

३. शीलसम्पन्न और श्रुतसम्पन्न।

४. न शीलसम्पन्न और न श्रुतसम्पन्न।

पहला पुरुष शीलसम्पन्न है—उपरत (पाप से निवृत्त) है, किन्तु अश्रुतवान् है—अविज्ञातधर्मा है, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग का देश-आराधक है।

दूसरा श्रुत-सम्पन्न है—विज्ञातधर्मा है, किन्तु शील-सम्पन्न नहीं—उपरत नहीं, इसलिए वह देशविराधक है।

तीसरा शीलवान् भी है और श्रुतवान् भी है। इसलिए वह सर्व-आराधक है।

चौथा शीलवान् भी नहीं है और श्रुतवान् भी नहीं है। इसलिए वह सर्वविराधक है।'

भगवान् ने बताया कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है; आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।[1]

बन्धन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य-दर्शन से अन्तर्-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं—

१. ज्ञान-आराधना, २. दर्शन-आराधना, ३. चरित्र-आराधना।[2] इनमें से

---

१. भगवती, ८।१०

२. वही, ८।१०।

प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं—

१. ज्ञान-आराधना—उत्कृष्ट—प्रकृष्ट प्रयत्न, मध्यम—मध्यम प्रयत्न, जघन्य—अल्पतम प्रयत्न।

२. दर्शन-आराधना—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

३. चरित्र-आराधना—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

आत्मा की योग्यता के विविध स्तर होते हैं। अतएव तीनों आराधनाओं का प्रयत्न सम नहीं होता। उनका तरतमभाव निम्न यंत्र से देखिए—

	ज्ञान का उत्कृष्ट प्रयत्न	ज्ञान का मध्यम प्रयत्न	ज्ञान का अल्पतम प्रयत्न	दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न	दर्शन का मध्यम प्रयत्न	दर्शन का अल्पतम प्रयत्न	चरित्र का उत्कृष्ट प्रयत्न	चरित्र का मध्यम प्रयत्न	चरित्र का अल्पतम प्रयत्न
ज्ञान के उत्कृष्ट प्रयत्न में				है	है		है	है	
दर्शन के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है				है	है	है
चरित्र के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है	है					

यह आंतरिक वृत्तियों का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के तारतम्य को समझने की यह पूर्ण-दृष्टि है।

संसार और मोक्ष

जैन-दृष्टि के अनुसार राग-द्वेष ही संसार है। ये दोनों कर्म-बीज हैं[1]। ये दोनों मोह से पैदा होते हैं[2]। मोह के दो भेद हैं—दर्शन-मोह और चारित्र-मोह। दर्शन मोह तात्त्विक दृष्टि का विपर्यास है। यह संसार-भ्रमण की मूल जड़ है। सम्यग्-दर्शन के बिना सम्यग्-ज्ञान नहीं होता। सम्यग्-ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र नहीं

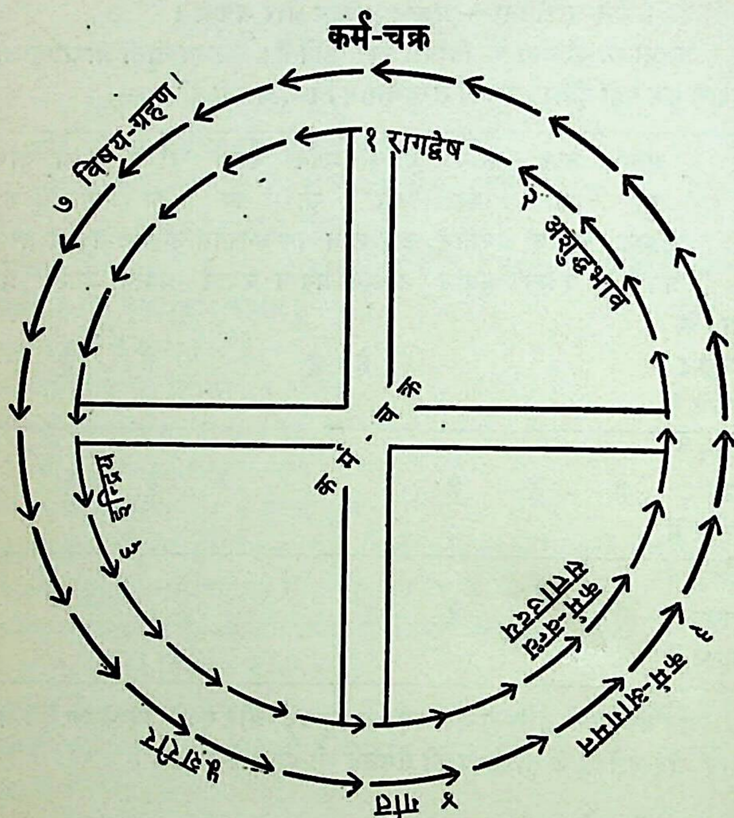
---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२।७ :
रागो य दोसो वि य कम्मवीयं।

२. वही, ३२।७ :
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।

होता। सम्यक्-चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता[1]।

चारित्र-मोह आचरण की शुद्धि नहीं होने देता। इससे राग-द्वेष तीव्र बनते हैं, राग-द्वेष से कर्म और कर्म से संसार--इस प्रकार यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है।



बौद्ध दर्शन भी संसार का मूल राग-द्वेष और मोह या अविद्या—इन्हीं को मानता है।[2] नैयायिक भी राग-द्वेष और मोह या मिथ्याज्ञान को संसार-बीज मानते हैं[3]। सांख्य पांच विपर्यय और पतंजलि क्लेशों को संसार का मूल मानते हैं[4]। संसार प्रकृति है, जो प्रीति-अप्रीति और विषाद या मोह धर्म वाले सत्त्व, रजस् और तमस् गुणयुक्त है—त्रिगुणात्मिका है।

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २८।३०।

२. बुद्धवचन, पृ० २२।

३. न्यायसूत्र, ४।१।३-६।

४. सांख्यकारिका, ४४।

प्रायः सभी दर्शन सम्यग्-ज्ञान या सम्यग्-दर्शन को मुक्ति का मुख्य कारण मानते हैं। बौद्धों की दृष्टि में क्षणभंगुरता का ज्ञान या चार आर्य-सत्यों का ज्ञान विद्या या सम्यग्-दर्शन है। नैयायिक तत्त्व-ज्ञान[1], सांख्य[2] और योग-दर्शन[3] भेद या विवेक-ख्याति को सम्यग्-दर्शन मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार तत्त्वों के प्रति यथार्थ रुचि जो होती है, वह सम्यग्-दर्शन है।[4]

सम्यग्-दर्शन

एक चक्षुष्मान् वह होता है, जो रूप और संस्थान को ज्ञेयदृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान् वह होता है, जो वस्तु की ज्ञेय, हेय और उपादेय दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहिर्दर्शन और तीसरा अन्तर्-दर्शन।

स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से सम्बन्धित है। अगले दोनों का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अन्तर्-दर्शन मोह के पुद्गलों से ढंका होता है तब वह सही नहीं होता इसलिए मिथ्या-दर्शन कहलाता है। तीव्र कषाय के उदय में अन्तर्-दर्शन सम्यक् नहीं बनता, आग्रह या आवेश नहीं छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी संज्ञा सम्यग्-दर्शन है।

सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन

मिथ्यादर्शन के दस प्रकार हैं—

१. अधर्म में धर्म संज्ञा।
२. धर्म में अधर्म संज्ञा।
३. अमार्ग में मार्ग संज्ञा।
४. मार्ग में अमार्ग संज्ञा।
५. अजीव में जीव संज्ञा।
६. जीव में अजीव संज्ञा।
७. असाधु में साधु संज्ञा।
८. साधु में असाधु संज्ञा।
९. अमुक्त में मुक्त संज्ञा।
१०. मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

सम्यग् दर्शन के दस प्रकार हैं—

---

१. न्यायसूत्र, ४।१।३-६।
२. सांख्यकारिका, ६४।३
३. योगदर्शन, २।१३
४. उत्तरज्झयणाणि, ८।१५।

१. अधर्म में अधर्म संज्ञा ।

२. धर्म में धर्म संज्ञा ।

३. अमार्ग में अमार्ग संज्ञा ।

४. मार्ग में मार्ग संज्ञा ।

५. अजीव में अजीव संज्ञा ।

६. जीव में जीव संज्ञा ।

७. असाधु में असाधु संज्ञा ।

८. साधु में साधु संज्ञा ।

९. अमुक्त में अमुक्त संज्ञा ।

१०. मुक्त में मुक्त संज्ञा ।

यह साधक, साधना और साध्य का विवेक है। जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। इस दृष्टि से जीव-अजीव का संज्ञान साध्य के आधार का विवेक है। साधु-असाधु का संज्ञान साधक की दशा का विवेक है। धर्म-अधर्म, मार्ग-अमार्ग का संज्ञान साधना का विवेक है। मुक्त-अमुक्त का संज्ञान साध्य और असाध्य का विवेक है।

नैसर्गिक और आधिगमिक

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होने से होती है। इस दृष्टि का प्राप्ति-हेतु दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय है। यह विलय निसर्ग-जन्य और ज्ञान-जन्य—दोनों प्रकार का होता है। आचरण की शुद्धि होते-होते दर्शन-मोह के परमाणु शिथिल हो जाते हैं। वैसा होने पर जो यथार्थ-दर्शन होता है, वह नैसर्गिक सम्यग्-दर्शन है।

श्रवण, अध्ययन, वाचन या उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण होता है, वह आधिगमिक सम्यग्-दर्शन है। सम्यग्-दर्शन का मुख्य हेतु (दर्शन-मोह का विलय) दोनों में समान है। इनका भेद केवल बाहरी प्रक्रिया से होता है। इनकी तुलना सहज प्रतिभा और अभ्यासलब्ध ज्ञान से की जा सकती है।

पथिक चला। मार्ग हाथ नहीं लगा। इधर-उधर भटकता रहा। आखिर अपने आप पथ पर आ गया। यह नैसर्गिक मार्ग-लाभ है।

दूसरा पथभ्रष्ट व्यक्ति इधर-उधर भटकता रहा, मार्ग नहीं मिला। इतने में दूसरा व्यक्ति दीखा। उससे पूछा और मार्ग मिल गया। यह आधिगमिक मार्ग-लाभ है।

रोग हुआ। दवा नहीं ली। रोग की स्थिति पकी। वह मिट गया। आरोग्य हुआ। यह नैसर्गिक आरोग्य-लाभ है।

रोग हुआ। सहा नहीं गया। वैद्य के पास गया। दवा ली, वह मिट गया। यह

प्रायोगिक आरोग्य-लाभ है।

अनादि काल से जीव संसार में भ्रमण करता रहा। सम्यग्-दर्शन नहीं हुआ—आत्म-विकास का मार्ग नहीं मिला। संसार-भ्रमण की स्थिति पकी। घिसते-घिसते पत्थर चिकना, गोल बनता है, वैसे थपेड़े खाते-खाते कर्मावरण शिथिल हुआ, आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह नैसर्गिक सम्यग्-दर्शन है।

मनुष्य कष्टों से तिलमिला उठा। त्रिविध ताप से संतप्त हो गया। शान्ति का उपाय नहीं सूझा। मार्ग-द्रष्टा का योग मिला, प्रयत्न किया। कर्म का आवरण हटा। आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह आधिगमिक सम्यग्-दर्शन है।

रुचि

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन—ये रुचि के कारण हैं, ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता—यह भी माना गया है। इनमें पौर्वापर्य है या एक साथ उत्पन्न होते हैं? इस विचार से यह मिला कि पहले रुचि होती है और फिर ज्ञान होता है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। इस दृष्टि-बिन्दु से रुचि या सम्यक्त्व जो है, वह नैसर्गिक ही होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है। निसर्ग और अधिगम का प्रपंच जो है, वह सिर्फ उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त की अपेक्षा से है। जो रुचि अपने आप किसी बाहरी निमित्त के बिना भी व्यक्त हो जाती है, वह नैसर्गिक और जो बाहरी निमित्त (उपदेश-अध्ययन आदि) से व्यक्त होती है, वह आधिगमिक है।

ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है। इसलिए सम्यक्-दर्शन के बिना ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता। जहां मिथ्या-दर्शन है वहां मिथ्या ज्ञान और जहां सम्यग्-दर्शन है वहां सम्यग् ज्ञान—ऐसा क्रम है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता है। उसमें पौर्वापर्य नहीं है। वास्तविक कार्य-कारण भाव भी नहीं है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण का विलय और दर्शन का कारण दर्शन-मोह का विलय है। इसमें साहचर्य-भाव है।

मिथ्या-दृष्टि के रहते बुद्धि में सम्यग् भाव नहीं आता। यह प्रतिबन्ध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यक् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यग् दृष्टि को सम्यग् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जा सकता है।

दृष्टि-शुद्धि श्रद्धा-पक्ष है। सत्य की रुचि ही इसकी सीमा है। बुद्धि-शुद्धि ज्ञान-पक्ष है। उसकी मर्यादा है—सत्य का ज्ञान। क्रिया-शुद्धि उसका आचरण-पक्ष है। उसका विषय है—सत्य का आचरण। तीनों मर्यादित हैं, इसलिए असहाय हैं।

केवल रुचि या आस्था-बन्ध होने मात्र से जानकारी नहीं होती, इसलिए रुचि को ज्ञान की अपेक्षा होती है। केवल जानने मात्र से साध्य नहीं मिलता, इसलिए ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा होती है। संक्षेप में, रुचि ज्ञान-सापेक्ष है और ज्ञान क्रिया-सापेक्ष। ज्ञान और क्रिया के सम्यग् भाव का मूल रुचि है, इसलिए वे दोनों रुचि-सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही मोक्ष का पूर्ण योग है। इसलिए रुचि, ज्ञान और क्रिया को सर्वथा तोड़ा नहीं जा सकता। इनका विभाग केवल उपयोगितापरक है या निरपेक्ष-दृष्टिकृत है। इनकी सापेक्ष स्थिति में कहा जा सकता है—रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है। ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढ़ता है, क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे वढ़ जाती है।

इस प्रकार तीनों आपस में सहयोगी, पोषक और उपकारक हैं। इस विशाल दृष्टि से रुचि के दस प्रकार बतलाए गए हैं[1]—

१. निसर्ग-रुचि	२. अधिगम-रुचि
३. आज्ञा-रुचि	४. सूत्र-रुचि,
५. बीज-रुचि	६. अभिगम-रुचि
७. विस्तार-रुचि	८. क्रिया-रुचि
९. संक्षेप-रुचि	१०. धर्म-रुचि

१. जिस व्यक्ति को वीतराग प्ररूपित चार तथ्यों—बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु पर सहज श्रद्धा होती है वह निसर्ग-रुचि है।

२. सत्य की वह श्रद्धा जो दूसरों के उपदेश से मिलती है, वह अधिगम-रुचि या उपदेश-रुचि है।

३. जिसमें राग, द्वेष, मोह, अज्ञान की कमी होती है और दुराग्रह से दूर रहने के कारण वीतराग की आज्ञा को सहज स्वीकार करता है, उसकी श्रद्धा आज्ञा-रुचि है।

४. सूत्र पढ़ने से जिसे श्रद्धा-लाभ होता है, वह सूत्र-रुचि है।

५. थोड़ा जानने मात्र से जो रुचि फैल जाती है, वह बीज-रुचि है।

६. अर्थ सहित विशाल श्रुत-राशि को पाने की श्रद्धा अभिगम-रुचि है।

७. सत्य के सब पहलुओं को पकड़नेवाली सर्वांगीण दृष्टि विस्तार-रुचि है।

८. क्रिया—आचार की निष्ठा क्रिया-रुचि है।

९. जो व्यक्ति असत्-मतवाद में फंसा हुआ भी नहीं है और सत्यवाद में विशारद भी नहीं है, उसकी सम्यग्दृष्टि को संक्षेप-रुचि कहा जाता है।

१०. धर्म (श्रुत और चारित्र) में जो आस्था-बन्ध होता है, वह धर्म-रुचि है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।१६-२७।

प्राणिमात्र में मिलनेवाले योग्यता के तरतमभाव और उनके कारण होनेवाले रुचि-वैचित्र्य के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है।

सम्यग्-दर्शन की प्रक्रिया

सम्यग्-दर्शन की प्राप्ति के तीन कारण हैं—

१. दर्शन-मोह के परमाणुओं का पूर्ण उपशमन। इससे औपशमिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है।

२. दर्शन-मोह के परमाणुओं का अपूर्ण विलय। इससे क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है।

३. दर्शन-मोह के परमाणुओं का पूर्ण विलय। इससे क्षायिक सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है।

आचार और अतिचार

सम्यग्-दर्शन में पोष लानेवाली प्रवृत्ति उसका आचार और दोष लानेवाली प्रवृत्ति उसका अतिचार होती है। ये व्यावहारिक निमित्त हैं, सम्यग्-दर्शन का स्वरूप नहीं हैं।

सम्यग्-दर्शन के आचार आठ हैं[1]—

१. निःशंकित—सत्य में निश्चित आस्था।

२. निःकांक्षित—मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।

३. निर्विचिकित्सा—सत्याचरण के फल में विश्वास।

४. अमूढ़-दृष्टि—असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण, अव्यामोह।

५. उपबृंहण—आत्म-गुण की वृद्धि।

६. स्थिरीकरण—सत्य से डगमगा जाए, उन्हें फिर से सत्य में स्थापित करना।

७. वात्सल्य—सत्य धर्मों के प्रति सम्मान-भावना, सत्याचरण का सहयोग।

८. प्रभावना—प्रभावक ढंग से सत्य के माहात्म्य का प्रकाशन।

पांच अतिचार

१. शंका—सत्य में संदेह।

२. कांक्षा—मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा।

३. विचिकित्सा—सत्याचरण की फल-प्राप्ति में संदेह।

४. परपाषण्ड-प्रशंसा—मिथ्या सिद्धान्त की प्रशंसा।

---

१. (क) उत्तरज्झयणाणि, २८।३१

(ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।११।१८।

५. परपाषण्ड-संस्तव—मिथ्यावाद का परिचय।

सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहचान

सम्यग्-दर्शन आध्यात्मिक शुद्धि है। वह बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। फिर भी उसकी पहचान के कुछ व्यावहारिक लक्षण बतलाए हैं—

तीन लक्षण

१. परमार्थ संस्तव—परम सत्य के अन्वेषण की रुचि।

२. सुदृढ़ परमार्थ सेवन—परम सत्य के उपासक का संसर्ग या मिले हुए सत्य का आचरण।

३. कुदर्शन वर्जना—कुमार्ग से दूर रहने की दृढ़ आस्था।

सत्यान्वेषी या सत्यशील और असत्यविरत जो हो तो जाना जा सकता है कि वह सम्यग्-दर्शनी पुरुष है।

पांच लक्षण

१. शम—शान्ति।

२. संवेग—मुमुक्षा—मुक्त होने की भावना।

३. निर्वेद—अनासक्ति।

४. अनुकम्पा—प्राणिमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूतमैत्री, आत्मौपम्यभाव।

५. आस्तिक्य—सत्यनिष्ठा।

सम्यग्-दर्शन का फल

कषाय की मन्दता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, नास्तिकता से आस्तिकता की ओर और मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्वमुखी और आत्मलक्षी हो जाता है[१]।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?

भगवान् ने कहा—गौतम! दर्शन-सम्पदा से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तरज्ञान-धारा से आत्मा को भावित किए रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग्दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-बंध नहीं करता।[२]

---

१. आवश्यक सूत्र

२. भगवती, ३०।१

महत्त्व

भगवान् महावीर का दर्शन गुण पर आश्रित था। उन्होंने बाहरी सम्पदा के कारण किसी को महत्त्व नहीं दिया। परिवर्तित युग में जैन-धर्म भी जात्याश्रित होने लगा। जाति-मद से मदोन्मत्त बने लोग समानधर्मी भाइयों की भी अवहेलना करने लगे। ऐसे समय में व्यावहारिक सम्यग्-दर्शन की व्याख्या और विशाल बनी। आचार्य सामन्तभद्र ने मद के साथ उसकी विसंगति बताते हुए कहा है—'जो धार्मिक व्यक्ति अष्टमद—१. जाति, २. कुल, ३. बल, ४. रूप, ५. श्रुत, ६. तप, ७. ऐश्वर्य, ८. लाभ से उन्मत्त होकर धर्मस्थ व्यक्तियों का अनादर करता है, वह अपने आत्म-धर्म का अनादर करता है। सम्यग्-दर्शन आदि धर्म को धर्मात्मा ही धारण करता है। जो धर्मात्मा है, वह महात्मा है। धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता। सम्यग्-दर्शन की सम्पदा जिसे मिली है, वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढंकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योति-पुंज ही रहता है।'[1]

आचार्य भिक्षु ने कहा है—'वे व्यक्ति विरले होते हैं, जिनके घट में सम्यकत्व रम रहा हो। जिसके हृदय में सम्यक्त्व-सूर्य का उदय होता है, वह प्रकाश से भर जाता है, उसका अन्धकार चला जाता है।

सभी खानों में हीरे नहीं मिलते, सर्वत्र चन्दन नहीं होता, रत्न-राशि सर्वत्र नहीं मिलती, सभी सर्प मणिधर नहीं होते, सभी लब्धि (विशेष शक्ति) धारक नहीं होते, बन्धन-मुक्त सभी नहीं होते, सभी सिंह केसरी नहीं होते, सभी साधु साधु नहीं होते, उसी प्रकार सभी जीव सम्यग्-दर्शी नहीं होते। तत्त्व का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है। अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। दर्शन-पुरुष का कषाय मन्द हो जाता है, उसमें आग्रह का भाव नहीं रहता। वह सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है।'

सत्य क्या है ?

जो है वही सत्य है, जो नहीं है वह असत्य है। यह अस्तित्व—सत्य, वस्तु-सत्य, स्वरूप-सत्य या ज्ञेय-सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज शुद्ध रूप है, वह सत्य है। परमाणु, परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा, आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य हैं। एक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाला अविभाज्य पुद्गल—यह परमाणु का सहज-रूप सत्य है। बहुत सारे परमाणु मिलते हैं, स्कन्ध बन जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण सत्य (त्रैकालिक-सत्य) नहीं है। परमाणु

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, २८ :
सम्यग्-दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

दशा में परमाणु सत्य है। भूत-भविष्यत् कालीन स्कन्ध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नहीं है।

आत्मा शरीर दशा में अर्ध-सत्य है। शरीर, वाणी, मन और श्वास उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य और अरूप। सरूप आत्मा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है। अरूप आत्मा पूर्ण सत्य है। धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीनों तत्त्वों का वैभाविक रूपान्तर नहीं होता। ये सदा अपने रूप में ही रहते हैं, इसलिए पूर्ण सत्य हैं।

साध्य-सत्य

साध्य-सत्य स्वरूप-सत्य का ही एक प्रकार है। वस्तु-सत्य व्यापक है। परमाणु में ज्ञान नहीं होता, अतः उसके लिए कुछ साध्य भी नहीं होता। वह स्वाभाविक काल-मर्यादा के अनुसार कभी स्कन्ध में जुड़ जाता है और कभी उससे विलग हो जाता है।

आत्मा चैतन्यमय तत्त्व है। शरीर दशा में ज्ञान, आनन्द और वीर्य का पूर्ण उदय उसका साध्य होता है। साध्य न मिलने तक यह साधन सत्य होता है और उसके मिलने पर वह स्वरूप सत्य के रूप में बदल जाता है।

साध्य काल में मोक्ष सत्य होता है और आत्मा अर्ध-सत्य। सिद्धि-दशा में मोक्ष और आत्मा का अद्वैत (अभेद) हो जाता है, फिर कभी भेद नहीं होता। इसलिए मुक्त आत्मा का स्वरूप पूर्ण सत्य है—त्रैकालिक और अपुनरावर्तनीय है।

जैन-तत्त्व-व्यवस्था के अनुसार चेतन और अचेतन—ये दो सामान्य सत्य हैं। ये निरपेक्ष स्वरूप-सत्य हैं। गति-हेतुकता, स्थिति-हेतुकता, अवकाश-हेतुकता, परिवर्तन-हेतुकता और ग्रहण (संयोग-वियोग) की अपेक्षा—विभिन्न कार्यों और गुणों की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—पांच अचेतन द्रव्यों के ये पांच रूप (पांच द्रव्य) और जीव, ये छह सत्य हैं। ये विभाग-सापेक्ष स्वरूप सत्य हैं।

आस्रव (बन्ध-हेतु), संवर (बन्ध-निरोध), निर्जरा (बन्ध-क्षय हेतु)—ये तीन साधन सत्य हैं। मोक्ष साध्य-सत्य है। बन्धन-दशा में आत्मा के ये चारों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में आस्रव भी नहीं होता, संवर भी नहीं होता, निर्जरा भी नहीं होती, साध्यरूप मोक्ष भी नहीं होता, इसलिए वहां आत्मा का केवल आत्म-रूप ही सत्य है।

आत्मा के साथ अनात्मा (अजीव—पुद्गल) का सम्बन्ध रहते हुए उसके बन्ध, पुण्य और पाप ये तीनों रूप सत्य हैं। मुक्त दशा में बन्धन भी नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता, पाप भी नहीं होता। इसलिए जीव वियुक्त-दशा में केवल अजीव (पुद्गल) ही सत्य है। तात्पर्य कि जीव-अजीव की संयोग-दशा में नव सत्य हैं। उनकी वियोग-दशा में केवल दो ही सत्य हैं।

व्यवहार-नय से वस्तु का वर्तमान रूप (वैकारिक रूप) भी सत्य है। निश्चय नय से वस्तु का त्रैकालिक (स्वाभाविक रूप) सत्य है।

२

मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व

नव तत्त्व

सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण द्वारा स्वयं सत्य बन जाना ही जैन-दर्शन का धर्म है।

मोक्ष-साधना में उपयोगी ज्ञेयों को तत्त्व कहा जाता है। वे नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।[1] उमास्वाति ने उनकी संख्या सात मानी है—पुण्य और पाप का उल्लेख नहीं किया है।[2] संक्षेप दृष्टि से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव।[3] सात या नौ विभाग उन्हीं का विस्तार है। पुण्य और पाप बन्ध के अवांतर भेद हैं। उनकी पृथक् विवक्षा हो तो तत्त्व नौ और यदि उनकी स्वतंत्र विवक्षा न हो तो वे सात होते हैं।

पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्त्व स्वतंत्र नहीं हैं। वे जीव और अजीव के अवस्था-विशेष हैं। पुण्य, पाप और बंध, ये पौद्गलिक हैं इसलिए अजीव के पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गलों का आकर्षण भी है। इसलिए इसे मुख्यवृत्त्या कुछ आचार्य जीव-पर्याय मानते हैं, कुछ अजीव-पर्याय। यह विवक्षा-भेद है।

नव तत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है और नवां मोक्ष। जीव के दो प्रकार बतलाये गए हैं—बद्ध और मुक्त।[4] यहां बद्ध-जीव पहला और मुक्त-जीव नौवां तत्त्व है। अजीव जीव का प्रतिपक्ष है। वह बद्ध-मुक्त नहीं होता। पर जीव का बन्धन पौद्गलिक होता है। इसलिए साधना के क्रम में अजीव की जानकारी भी आवश्यक

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।१४।
२. तत्त्वार्थसूत्र, १।४ ।
३. ठाणं, २।१
४ तत्त्वार्थसूत्र, २।१०

है। वन्धन-मुक्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जीव साधक वनता है और साध्य होता है मोक्ष। शेष सारे तत्त्व साधक या बाधक बनते हैं। पुण्य, पाप और बंध मोक्ष के वाधक हैं। आस्रव को अपेक्षा-भेद से वाधक और साधक दोनों माना जाता है। शुभ-योग को आस्रव कहें तो उसे मोक्ष का साधक भी कह सकते हैं। किन्तु आस्रव का कर्म-संग्राहक रूप मोक्ष का बाधक ही है। संवर और निर्जरा—ये दो मोक्ष के साधक हैं।

बाधक तत्त्व (आस्रव) पांच हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरति. ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. योग।

जीव में विकार पैदा करनेवाले परमाणु मोह कहलाते हैं। दृष्टि-विकार उत्पन्न करनेवाले परमाणु दर्शन-मोह हैं।

चारित्र-विकार उत्पन्न करने वाले परमाणु चारित्र-मोह कहलाते हैं। उनके दो विभाग हैं—

१. कषाय, २. नो-कषाय—कषाय को उत्तेजित करने वाले परमाणु।

कषाय के चार वर्ग हैं—

अनन्तानुवन्धी-क्रोध—जैसे, पत्थर की रेखा (स्थिरतम)।

अनन्तानुबन्धी-मान—जैसे, पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)।

अनन्तानुबन्धी-माया—जैसे, बांस की जड़ (वक्रतम)।

अनन्तानुवन्धी-लोभ—जैसे, कृमि-रेशम का रंग (गाढ़तम)।

इनका प्रभुत्व दर्शन-मोह के परमाणुओं के साथ जुड़ा हुआ है। इनके उदयकाल में सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। यह मिथ्यात्व आस्रव की भूमिका है। यह सम्यक्-दृष्टि की बाधक है। इसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि और संदिग्धदृष्टि हैं। यहां देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसे पार करनेवाला सम्यक् दृष्टि होता है।

अप्रत्याख्यान-क्रोध—जैसे, मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)।

अप्रत्याख्यान-मान—जैसे, हाड़ का खम्भा (दृढ़तर)।

अप्रत्याख्यान-माया—जैसे, मेढ़े का सींग (वक्रतर)।

अप्रत्याख्यान-लोभ—जैसे, कीचड़ का रंग (गाढ़तर)।

इनके उदय-काल में चारित्र को विकृत करनेवाले परमाणुओं का प्रवेश-निरोध (संवर) नहीं होता, यह अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह अणुव्रती जीवन की बाधक है। इसके अधिकारी सम्यक्-दृष्टि हैं। यहां देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। इसे पार करनेवाला अणुव्रती होता है।

प्रत्याख्यान क्रोध—जैसे, धूलि-रेखा (स्थिर)।

प्रत्याख्यान मान—जैसे, काठ का खम्भा (दृढ़)।

प्रत्याख्यान माया—जैसे, चलते बैल की मूत्रधारा (वक्र)

प्रत्याख्यान लोभ—जैसे, खञ्जन का रंग (गाढ़)।

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का पूर्णतः निरोध (संवर) नहीं होता। यह अपूर्ण-अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह महाव्रती जीवन की बाधक है। इसके अधिकारी अणुव्रती होते हैं। यहां आत्म-रमण की वृति का आरम्भिक अभ्यास होने लगता है। इसे पार करनेवाले महाव्रती बनते हैं।

संज्वलन क्रोध—जैसे, जल-रेखा (अस्थिर—तात्कालिक)।

संज्वलन मान—जैसे, लता का खम्भा (लचीला)।

संज्वलन माया—जैसे, छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)।

संज्वलन लोभ—जैसे, हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला)।

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का अस्तित्व निर्मूल नहीं होता। यह प्रारम्भ में प्रमाद और बाद में कषाय-आस्रव की भूमिका है। यह वीतराग-चारित्र की बाधक है। इसके अधिकारी सराग-संयमी होते हैं।

योग आस्रव शैलेशी दशा (असंप्रज्ञात समाधि) का बाधक है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से पाप कर्म का बन्ध होता है। आस्रव के प्रथम चार रूप आन्तरिक दोष हैं। उनके द्वारा पाप कर्म का सतत बन्ध होता है। योग आस्रव प्रवृत्यात्मक है। वह अशुभ और शुभ दोनों प्रकार का होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ नहीं होतीं। शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

आस्रव के द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध, उसका पुण्य-पाप के रूप में उदय, उदय से फिर आस्रव, उससे फिर बन्ध और उदय—यह संसार-चक्र है।

साधक तत्त्व

मोक्ष के साधक तत्त्व दो हैं—संवर और निर्जरा।

संवर

जितने आस्रव हैं उतने ही संवर हैं। आस्रव के पांच विभाग हैं, इसलिए संवर के भी पांच विभाग हैं—

१. सम्यक्त्व।
२. विरति।
३. अप्रमाद।
४. अकषाय।
५. अयोग।

निर्जरा

निर्जरा का अर्थ है कर्म-क्षय और उससे होने वाली आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। निर्जरा का हेतु तप है। तप के बारह प्रकार हैं, इसलिए निर्जरा के बारह प्रकार

होते हैं।[1] जैसे संवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा बंध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बन्ध की निर्जरा होती है। उससे आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है।

निर्जरा का हेतु तप है। उसके बाह्य अंग ये हैं—

१. अनशन।
२. आहार-संयम।
३. आसन-प्रयोग।
४. इन्द्रिय-संयम।

उसके आन्तरिक अंग ये हैं—

१. प्रायश्चित्त।
२. विनय।
३. सेवा।
४. कायोत्सर्ग
५. स्वाध्याय।
६. ध्यान।

ध्यान

विगत कुछ शताब्दियों में जैन परम्परा में ध्यान का क्रम विच्छिन्न जैसा हो गया। क्यों हुआ ? इसकी चर्चा में मुझे नहीं जाना है। किन्तु वह हो गया, यह सचाई है। अभ्यास की धारा टूटने के कारण हमारे अनेक जैन पंडित यह मानने लग गए कि जैनों की अपनी कोई ध्यान-पद्धति नहीं है। वे ध्यानाभ्यास के लिए पतंजलि आदि योगाचार्यों के ऋणी हैं। किसी आचार्य या किसी पद्धति का जो ऋण है, उसे स्वीकार करना बहुत अच्छी बात है, किन्तु आत्मविस्मृति अच्छी बात नहीं है।

भगवान् महावीर ध्यान-युक्त तपस्या के बल पर ही केवली हुए थे। अन्य जितने भी मुनि केवली बने, वे सब ध्यान के बल पर ही बने थे। फिर ध्यानाभ्यास की पद्धति दूसरों के अनुदान से प्राप्त है, यही क्यों माना जाए ?

जैन मुनि सत्य की खोज के लिए ध्यान करते थे। उनका ध्यान दो श्रेणियों में विभक्त था—

१. धर्म्य।
२. शुक्ल।

धर्म्य का अर्थ है वस्तु का स्वभाव। वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, अनन्त पर्याय

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, ६।२९, ३६।

होते हैं। हम उसके थोड़े से पर्यायों को जानते हैं। उसके शेष पर्याय हमारे लिए अज्ञात रहते हैं। उन अज्ञात पर्यायों को ज्ञात करने का सशक्त साधन ध्यान है।

अतीन्द्रिय ज्ञानी मुनियों ने जिन सूक्ष्म द्रव्यों और पर्यायों का प्रतिपादन किया है, वे हमारी बुद्धि के लिए गम्य नहीं हैं। उन्हें जानने के लिए ध्यान का प्रयोग किया जाता था। उस ध्यान-पद्धति का नाम है—धर्म्यं ध्यान।

धर्म्यं ध्यान वस्तु-सत्य तक पहुंचने की आन्तरिक प्रक्रिया है। किन्तु आज वह परिभाषा के बन्धन में जकड़ी हुई है। उसे मुक्त किए बिना हम जैनों की ध्यान-पद्धति का मर्म नहीं जान सकेंगे।

जैन आगमों में बहुत सारी बातें सूत्ररूप में लिखित हैं। हजारों वर्षों के व्यवधान के कारण उनका सम्यग् ग्रहण नहीं हो पाता। प्रायः उनका स्थूल कलेवर ही हाथ लगता है।

दूसरी बात यह है कि सूत्रकारों और व्याख्याकारों की शैली की विशिष्टता को समझे बिना हम उनके प्रतिपाद्य का आशय नहीं समझ सकते।

सूत्र-रचना की एक शैली यह है कि उसमें व्यापक तत्त्व एक उदाहरण के द्वारा निरूपित किया जाता है। हम लोग उसका अर्थ उतना ही समझ लेते हैं जितना उस उदाहरण में समाता है। हम इस तथ्य को भूल जाते हैं कि यह वस्तु की पूर्ण परिभाषा नहीं है, किन्तु यह उसका एक उदाहरण है। ध्यानविषयक अज्ञान का भी यह एक मुख्य हेतु है।

धर्म्य ध्यान के चार सोपान है—

१. आज्ञाविचय।
२. अपायविचय।
३. विपाकविचय।
४. संस्थानविचय।

व्याख्याओं में इनके उदाहरणात्मक अर्थ मिलते हैं, जैसे—

आज्ञाविचय—वीतराग की आज्ञा का निर्णय करना।

अपायविचय—कषाय आदि दोषों का निर्णय करना।

विपाकविचय—कर्म के परिणामों का निर्णय करना।

संस्थानविचय—लोक के आकार का निर्णय करना।

इन उदाहरणात्मक अर्थों को हम सीमित अर्थ में समझते हैं। फलतः हमारी ध्यान-पद्धति का हृदय पकड़ में नहीं आता।

वनस्पति सजीव है—यह शास्त्रों में लिखा है। वनस्पति के जीव हमारी दृष्टि में नहीं आते। हम क्या करें? इस शास्त्रीय सत्य को स्वीकारें या नकारें? नकारने का साहस वही कर सकता है, जो सत्य की अनन्त-धर्मा अभिव्यक्तियों से

अनभिज्ञ है। उसे स्वीकारना श्रद्धा का काम है।

एक चिन्तनशील बौद्धिक व्यक्ति इन दोनों मार्गों से चलना पसन्द नहीं करता। इस स्थिति में वह ध्यान का सहारा लेकर इस समस्या को सुलझाता है। शास्त्रों में जो सूक्ष्म पर्याय निरूपित हैं उन्हें वह पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकार कर लेता है।

वनस्पति सजीव है—इसे पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकार कर ध्यानी साधक अपने समग्र चिन्तन को उस पर केन्द्रित कर देता है। इस ध्यान का विषय प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा प्रतिपादित सत्यों में से लिया जाता है, इसलिए इसे आज्ञाविचय कहा गया।

आज्ञा का सम्बन्ध केवल वीतराग या केवली से ही क्यों ? आयुर्वेद के आचार्य ने कहा—गुड़ कफ-कारक है और सूंठ पित्त-कारक। ध्यान द्वारा इसके प्रामाण्य को जानना क्या आज्ञाविचय नहीं है ? क्या वैज्ञानिकों के अनेक आविष्कारों का ध्यान द्वारा प्रामाण्य जानना आज्ञाविचय नहीं है ? परोक्ष पर्याय की यथार्थता का बोध करने के लिए किसी शास्त्र या व्यक्ति के निर्देश को आलम्बन बनाकर उसमें मन को केन्द्रित करना आज्ञाविचय है।

अपायविचय विश्लेषणात्मक पद्धति का ध्यान है। वस्तु की वास्तविकता जानने के लिए उसकी मौलिक सत्ता तक पहुंचना आवश्यक है। यह विश्व संपर्कों और सम्मिश्रणों से संकुल है। सत्य के शोधक संपर्कों का विश्लेषण करते-करते वस्तु की शुद्ध सत्ता को प्राप्त कर लेते हैं।

आत्म-ध्यान की अपाय-पद्धति का निर्देश आचारांग सूत्र (१।५।६) में बहुत सुन्दर मिलता है—

मैं कौन हूं ? इस प्रश्न के सन्दर्भ में उसे इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—

मैं शब्द नहीं हूं, रूप नहीं हूं, गंध नहीं हूं, रस नहीं हूं, स्पर्श नहीं हूं।

मैं दीर्घ नहीं हूं, ह्रस्व नहीं हूं।

मैं वृत्त नहीं हूं, त्रिकोण नहीं हूं, चतुष्कोण नहीं हूं, परिमंडल नहीं हूं।

मैं शरीर नहीं हूं, वाणी नहीं हूं, मन नहीं हूं।

मैं इन्द्रिय नहीं हूं, प्राण नहीं हूं, श्वास-उच्छ्वास नहीं हूं।

मैं अरूपी सत्ता हूं।

इस अपाय-पद्धति में ध्याता का ध्यान मूर्त से अमूर्त की भूमिका में चला जाता है। इससे आगे आत्मा का अमूर्त द्रव्यों से अपाय करना होता है—

'मैं कौन हूं ?'—

मैं गतिसहायक द्रव्य नहीं हूं।

मैं स्थितिसहायक द्रव्य नहीं हूं।

मैं अवकाश देने वाला द्रव्य नहीं हूं।

मैं परिवर्तन का हेतु नहीं हूं।

इन अमूर्त सत्ताओं का निषेध करने पर जो शेष रहता है, वह है—चैतन्य।

'मैं चैतन्यमय हूं।'

आत्मा के वैभाविक पर्यायों से उसकी भिन्नता का ध्यान करना—

मैं क्रोध नहीं हूं, मान नहीं हूं, माया नहीं हूं, लोभ नहीं हूं, भय नहीं हूं, घृणा नहीं हूं, वासना नहीं हूं, अज्ञान नहीं हूं, मिथ्यात्व नहीं हूं।

मैं शुद्ध चैतन्यमय हूं।

महर्षि रमण इस अपाय-पद्धति को बहुत महत्त्व देते थे। उनका क्रम यह था—

मैं कौन हूं? सप्तधातुओं का बना हुआ स्थूल शरीर मैं नहीं हूं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—इन पंचविषयों को ग्रहण करने वाली कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये पांच ज्ञानेन्द्रियां भी मैं नहीं हूं। वचन, गमन, दान, मलविसर्जन और आनंद की पंचविध क्रिया करनेवाली वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ—वे पांच कर्मेन्द्रियां भी मैं नहीं हूं। श्वासादि पंचक्रिया करने वाला प्राणादि वायुपंचक भी मैं नहीं हूं। संकल्प करनेवाला मन भी मैं नहीं हूं। सब विषयों और वृत्तियों को छोड़कर सिर्फ विषय-वासनाओं के संग में रहने वाला अज्ञान भी मैं नहीं हूं। इस प्रकार 'नेति नेति' अर्थात् 'मैं यह नहीं हूं; मैं यह नहीं हूं' ऐसा कहते-कहते उपरोक्त सब उपाधियों का निषेध करने के बाद जो एकमात्र चैतन्य शेष रहता है वही 'मैं' हूं।'[1]

पुद्गलों के गुण-धर्मों का विश्लेषण करने की वैज्ञानिक पद्धति अपाय-पद्धति है। वैज्ञानिक पद्धति यंत्रों के सहारे चलती है और ध्यान-पद्धति आन्तरिक विकास के सहारे चलती है। मन का केन्द्रीकरण दोनों में अपेक्षित होता है।

विपाकविचय के ध्यान-काल में पदार्थों के परिणामों पर मन केन्द्रित किया जाता है। केवल कर्मों के विपाकों पर मन का स्थिरीकरण ही विपाकविचय नहीं है। इसे एक उदाहरण ही कहा जा सकता है।

संस्थानविचय—ध्यान-पद्धति के द्वारा ध्यानी मुनि पदार्थों के लक्षण, संस्थान (आकृति-रचना), आधार, विधान, प्रमाण, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि अनेक पर्यायों को जान लेते थे।[2]

वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान के विविध योगों से विविध वस्तुएं निष्पन्न होती हैं। विभिन्न संस्थान के परमाणु भी वस्तु के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। भगवती सूत्र में वर्णित अनेक भंग इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। यह ज्ञान

---

१. मैं कौन हूं?, पृ० ५, ६

२. ध्यानशतक, ५२

सूत्रकारों को ध्यान-बल से प्राप्त हुआ था।

निर्वाण—मोक्ष

गौतम ने पूछा—भंते ! मुक्त जीव कहां रुकते हैं ? वे कहां प्रतिष्ठित हैं ? वे शरीर कहां छोड़ते हैं और सिद्ध कहां होते हैं ?

भगवान् ने कहा—मुक्त जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकांत में प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य-लोक में शरीर-मुक्त होते हैं और सिद्धि-क्षेत्र में वे सिद्ध होते हैं।[1]

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएं ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं, इसलिए उपचार-दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है।

कर्म-परमाणुओं से प्रभावित आत्मा संसार में भ्रमण करती है। भ्रमण-काल में ऊर्ध्वगति से अधोगति और अधोगति से ऊर्ध्वगति होती है। उसका नियमन कोई दूसरा व्यक्ति नहीं करता। यह सब स्वनियमन से होता है। अधोगति का हेतु कर्म की गुरुता और ऊर्ध्वगति का हेतु कर्म की लघुता है।[2]

कर्म का घनत्व मिटते ही आत्मा सहज गति से ऊर्ध्व लोकान्त तक चली जाती है। जब तक कर्म का घनत्व होता है, तब तक लोक का घनत्व उस पर दबाव डालता है। ज्यों ही कर्म का घनत्व मिटता है, आत्मा हलकी होती है, फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्व-गति में बाधक नहीं बनता। गुब्बारे में हाइड्रोजन भरने पर वायुण्डल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिए वह ऊंचा चला जाता है। वही बात यहां समझिए। गति का नियमन धर्मास्तिकाय-सापेक्ष है।[3] उसकी समाप्ति के साथ ही गति समाप्त हो जाती है। वे मुक्त जीव लोक के अन्तिम छोर तक चले जाते हैं।

मुक्तजीव अशरीर होते हैं। गति शरीर-सापेक्ष है, इसलिए वे गतिशील नहीं होने चाहिए। बात सही है। उनमें कम्पन नहीं होता। अकम्पित-दशा में जीव की मुक्ति होती है।[4] और वे सदा उसी स्थिति में रहते हैं। सही अर्थ में वह उनकी स्वयं-प्रयुक्त गति नहीं, बन्धन मुक्ति का वेग है, जिसका एक ही धक्का एक क्षण में उन्हें लोकान्त तक ले जाता है।

पूर्व-आयोगजनित वेग के कारण चक्र स्वयं घूमता है। मिट्टी से लिपी हुई तुम्बी जल-तल में चली जाती है। लेप उतरते ही वह ऊपर आ जाती है। एरण्ड का बीज फली में बंधा रहता है, किन्तु बंध टूटते ही ऊपर उछलता है।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३६।५६,५७
२ भगवती, ६।३२
३. द्रव्यानुयोगतर्कणा, १०।६
४. भगवती, ३।३

अग्नि की शिखा स्वभाव-सिद्ध लाघव के कारण ऊपर को जाती है। इसी प्रकार अकर्म-जीव की ऊर्ध्व गति के चार कारण हैं—

१. पूर्व-प्रयोग।

२. असंगता।

३. बन्ध-विच्छेद।

४. तथाविध-स्वभाव।[1]

मुक्ति दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं, वह स्वयं स्वतन्त्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं। इसलिए वह स्वयं अखंड है। उसका सहज रूप प्रकट होता है—यही मुक्ति है। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है, इसलिए कर्म-उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है—सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है वह उपाधिकृत नहीं है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आंच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त-दशा में आत्मा समस्त वैभाविक-आधेयों, औपाधिक विशेषतताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल नाश होने पर फिर उसका बंध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता।

ईश्वर

जैन ईश्वरवादी नहीं—बहुतों की ऐसी धारणा है। बात ऐसी नहीं है। जैन दर्शन ईश्वरवादी अवश्य है, ईश्वरकर्तृत्ववादी नहीं। ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण-विकास (चरमलक्ष्य या मोक्ष) का अस्वीकार है। मोक्ष का अस्वीकार अपनी पवित्रता (धर्म) का अस्वीकार है। अपनी पवित्रता का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है। धर्म साधन है। ईश्वर साध्य है। प्रत्येक मुक्त आत्मा ईश्वर है। मुक्त आत्माएं अनन्त हैं, इसलिए ईश्वर

---

१. भगवती, ७।१।२६५ :
निस्संगयाए निरंगणाए गतिपरिणामेणं बंधणछेयणाए
निरिंधणयाए पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पन्नायति।

अनन्त हैं।

एक ईश्वर कर्त्ता और महान्, दूसरी मुक्तात्माएं अकर्त्ता और इसलिए अमहान् कि वे उस महान् ईश्वर में लीन हो जाती हैं—यह स्वरूप और कार्य की भिन्नता निरूपाधिक दशा में हो नहीं सकती। मुक्त आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता को इसलिए अस्वीकार करने वाले कि स्वतन्त्र सत्ता मानने पर मोक्ष में भी भेद रह जाता है, एक निरूपाधिक सत्ता को अपने में विलीन करनेवाली और दूसरी निरूपाधिक सत्ता को उसमें विलीन होनेवाली मानते हैं—क्या यह निर्हेतुक भेद नहीं? मुक्त दशा में समान-विकासशील प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार वस्तु-स्थिति का स्वीकार है।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द—यह मुक्त आत्मा का स्वरूप या ऐश्वर्य है। यह सबमें समान होता है।

आत्मा सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि सहित) होती है, तब उसमें पर-भाव का कर्तृत्व होता है। मुक्त-दशा निरुपाधिक है। उसमें केवल स्वभाव-रमण होता है, पर-भाव-कर्तृत्व नहीं। इसलिए ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप करना उचित नहीं।

अध्यात्म विकास की भूमिकाएं

विशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा चौदह भूमिकाएं होती हैं। उनमें सम्यग्-दर्शन चौथी भूमिका है। उत्क्रान्ति का आदि-बिन्दु होने के कारण यह साधना की पहली भूमिका है।

पहली तीन भूमिकाओं में प्रथम भूमिका के तीन रूप बनते हैं—

१. अनादि-अनन्त।

२. अनादि-सान्त।

३. सादि-सान्त।

प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य या जाति-भव्य (कभी भी मुक्त न होनेवाले) जीव होते हैं।

दूसरा रूप उनकी अपेक्षा से बनता है जो अनादिकालीन मिथ्यादर्शन की गांठ को तोड़कर सम्यग्-दर्शनी बन जाते हैं।

सम्यक्त्वी बन फिर से मिथ्यात्वी हो जाते हैं और फिर सम्यक्त्वी—ऐसे जीवों की अपेक्षा से तीसरा रूप बनता है।

पहली भूमिका उत्क्रान्ति की नहीं है। इस दशा में शील की देश-आराधना हो सकती है।[1] शील और श्रुत—दोनों की आराधना नहीं, इसलिए सर्व आराधना

---

१. भगवती, ८।१०।३५४

की दृष्टि से यह अपक्रान्ति का स्थान है। मिथ्यादर्शनी व्यक्ति में भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म-विलयजन्य विशुद्धि का अंश न मिले।

दूसरी भूमिका अपक्रमण दशा की है। सम्यग्दर्शनी मोह के उदय से मिथ्या-दर्शनी वनता है। उस संक्रमण-काल में यह स्थिति वनती है। पेड़ से फल गिर गया और ज़मीन को न छू पाया—ठीक यही स्थिति इसकी है।

तीसरी भूमिका मिश्र है। इसका अधिकारी न सम्यग्-दर्शनी होता है और न मिथ्या-दर्शनी। यह संशयशील व्यक्ति की दशा है। पहली भूमिका का अधिकारी दृष्टि-विपर्यय वाला होता है और इसका अधिकारी संशयालु—यह दोनों में अन्तर है। यह दोलायमान दशा अधिक नहीं टिकती। फिर वह या तो विपर्यय में परिणित हो जाती है या सम्यग्-दर्शन में। इन आध्यात्मिक अनुत्क्रमण की तीनों भूमिकाओं में दीर्घकालीन भूमिका पहली ही है, शेष दो अल्पकालीन हैं।

सम्यग्-दर्शन

सम्यग्-दर्शन उत्क्रान्ति का द्वार है, इसीलिए यह वहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार की दृष्टि से इसका उतना महत्त्व नहीं, जितना कि इससे अगली भूमिकाओं का है। सम्यग्-दर्शनी के संवर नहीं होता। उसके केवल निर्जरा होती है। इसे हस्ति-स्नान के समान वताया गया है। हाथी नहाता है और तालाव से वाहर आ धूल या मिट्टी उछाल फिर उससे गन्दला वन जाता है। वैसे ही अविरत-व्यक्ति इधर तपस्या द्वारा कर्म-निर्जरण कर शोधन करते हैं और उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर कर्म का उपचय कर लेते हैं। इस प्रकार यह साधना की समग्र भूमिका नहीं है।

साधना की समग्रता को रथ-चक्र और अन्ध-पंगु के निदर्शन के द्वारा समझाया है। जैसे एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यग् दर्शन) से साध्य नहीं मिलता। विद्या पंगु है, क्रिया अन्धी। साध्य तक पहुंचने के लिए पैर और आंख दोनों चाहिए।

कुछ दार्शनिक कहते हैं—तत्त्वों को सही रूप में जवानेवाला सब दुःखों से छूट जाता है। ऐसा सोच कई व्यक्ति धर्म का आचरण नहीं करते। वे एकान्त अक्रियावादी बन जाते हैं। भगवान् महावीर ने इसे वाणी का वीर्य या वाचनिक आश्वासन कहा है।[१]

सम्यग्-दृष्टि के पाप का वन्ध नहीं होता या उसके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता—ऐसी मिथ्या धारणा न बने, इसीलिए चतुर्थ भूमिका के अधिकारी को अधर्मी,[२] बाल[३] और सुप्त कहा है।[४]

---

१. उत्तरज्झयणणि, ६।९, १०। २. भगवती, १७।२।
३. सूयगडो, १।२।२।३६। ४. भगवती, १६।६।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥"

"धर्म को जानता हूं, पर उसमें प्रवृति नहीं है, अधर्म को भी जानता हूं पर उससे निवृत्ति नहीं है।"—यह एक बहुत वड़ा तथ्य है। इसका पुनरावर्तन प्रत्येक जीव में होता है। यह प्रश्न अनेक मुखों से मुखरित होता रहता है कि "क्या कारण है, हम बुराई को बुराई जानते हुए भी छोड़ नहीं पाते ?" जैन कर्मवाद इसका कारण के साथ समाधान प्रस्तुत करता है। वह यह है—जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान 'ज्ञानावरण' के पुद्गलों का विलय होने पर प्रकाशमान होता है। सही विश्वास होना श्रद्धा है। वह दर्शन को मोहनेवाले पुद्गलों के अलग होने पर प्रकट होती है। अच्छा आचरण करना—यह चारित्र को मोहनेवाले पुद्गलों के दूर होने पर सम्भव होता है।

ज्ञान के आवारक पुद्गलों के हट जाने पर भी दर्शन-मोह के पुद्गल आत्मा पर छाए हुए हों तो वस्तु जान ली जाती है, पर विश्वास नहीं होता। दर्शन को मोहनेवाले पुद्गल बिखर जाएं, तब उस पर श्रद्धा बन जाती है। पर चारित्र को मोहनेवाले पुद्गलों के होते हुए उसका स्वीकार (या आचरण) नहीं होता। इस दृष्टि से इनका क्रम यह बनता है—(१) ज्ञान, (२) श्रद्धा, (३) चारित्र। ज्ञान श्रद्धा के विना भी हो सकता है, पर श्रद्धा उसके बिना नहीं होती। श्रद्धा चारित्र के बिना भी हो सकती है, पर चारित्र उसके बिना नहीं होता। अतः वाणी और कर्म का द्वैध (कथनी और करनी का अन्तर) जो होता है, वह निष्कारण नहीं है। जैसे-जैसे साधना आगे बढ़ती है, चारित्र का भाव प्रकट होता है, वैसे-वैसे द्वैध की खाई पटती जाती है पर वह छद्मस्थ-दशा में पूरी नहीं पटती।

छद्मस्थ की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"छद्मस्थ सात कारणों से पहचाना जाता है—

१. वह प्राणातिपात करता है।
२. मृषावादी होता है।
३. अदत्त लेता है।
४. शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का आस्वाद लेता है।
५. पूजा, सत्कार की वृद्धि चाहता है।
६. पापकारी कार्य को पापकारी कहता हुआ भी उसका आचरण करता है।
७. जैसा कहता है, वैसा नहीं करता।[1]

यह प्रमादयुक्त व्यक्ति की मनःस्थिति का प्ररूपण है। मोह प्रवल होता है,

---

१. ठाणं, ७।२८।

तब कथनी-करनी की एकता नहीं आती। उसके बिना ज्ञान और क्रिया का सामंजस्य नहीं होता। इनके असामंजस्य में पूजा-प्रतिष्ठा की भूख होती है। जहां यह होती है, वहां विषय का आकर्षण होता है। विषय की पूर्ति के लिए चोरी होती है। चोरी झूठ लाती है और झूठ से प्राणातिपात आता है। साधना की कमी या मोह की प्रबलता में ये विकार एक ही शृंखला से जुड़े रहते हैं। अप्रमत्त या वीतराग में ये सातों विकार नहीं होते।

देश-विरति

भगवान् ने कहा—गौतम ! सत्य की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यावादियों के संग में ही लीन रहते हैं। उन्हें सत्य-श्रुति का अवसर नहीं मिलता। श्रद्धा सत्य-श्रुति से भी दुर्लभ है। बहुत सारे व्यक्ति सत्यांश सुनते हुए भी, जानते हुए भी उस पर श्रद्धा नहीं करते। वे मिथ्यावाद में ही रचे-पचे रहते हैं। सत्य का आचरण श्रद्धा से भी दुर्लभ है। सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरान्त भी काम-भोग की मूर्च्छा छूटे बिना सत्य का आचरण नहीं होता। तीव्रतम-कषाय के विलय से सम्यक्-दर्शन की योग्यता आ जाती है। किन्तु तीव्रतर कषाय के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नहीं आती। इसीलिए श्रद्धा से चारित्र का स्थान आगे है। चरित्रवान् श्रद्धा-सम्पन्न अवश्य होता है किन्तु श्रद्धावान् चरित्र-सम्पन्न होता भी है और नहीं भी। यही इस भूमिका भेद का आधार है। पांचवीं भूमिका चारित्र की है। इसमें चरित्रांश का उदय होता है। यह संवर का प्रवेश-द्वार है।

चारित्रिक योग्यता एक-रूप नहीं होती। उसमें असीम तारतम्य होता है। विस्तार-दृष्टि से चारित्र-विकास के अनन्त स्थान हैं। संक्षेप में उसके वर्गीकृत स्थान दो हैं—१. अपूर्ण-चरित्र और पूर्ण-चरित्र। पांचवीं भूमिका अपूर्ण-विरति की है। यह गृहस्थ का साधना-क्षेत्र है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा-परिमाण—ये पांच अणुव्रत हैं। दिग्-विरति, भोगोपभोग-विरति और अनर्थ-दण्ड-विरति—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

बहुत लोग दूसरों के अधिकार या स्वत्व को छीनने के लिए, अपनी भोगसामग्री को समृद्ध करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाया करते हैं। इसके साथ शोषण या असंयम की कड़ी जुड़ी हुई है। असंयम को खुला रखकर चलनेवाला स्वस्थ अणुव्रती नहीं हो सकता। दिग्व्रत में सार्वभौम आर्थिक राजनीतिक तथा अन्य सभी प्रकार के अनाक्रमण की भावना है। भोग-उपभोग की खुलावट और प्रमाद-जन्य भूलों से बचने के लिए सातवां और आठवां व्रत किया गया है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक हैं, इसलिए इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

धर्म समतामय है। राग-द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है—राग-द्वेष का अभाव। विषमता है राग-द्वेष का भाव। समभाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

समभाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल-पल जागरूक रहता है, वही समभाव की ओर अग्रसर हो सकता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

पौषधोपवास-व्रत साधु-जीवन का पूर्वाभ्यास है। उपवासपूर्वक सावद्य प्रवृत्ति को त्याग, समभाव की उपासना करना पौषधोपवास व्रत है।

महाव्रती मुनि को अपने लिए बने हुए आहार का संविभाग देना अतिथि-संविभाग-व्रत है।

चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं, इसलिए इन्हें शिक्षाव्रत कहा गया।

ये बारह व्रत हैं। इनके अधिकारी को देशव्रती श्रावक कहा जाता है।

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएं मुनि-जीवन की हैं।

सर्व-विरति

यह छठी भूमिका है। इसका अधिकारी महाव्रती होता है। महाव्रत पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भगवान् ऋषभ देव और भगवान् महावीर के समय में रात्रि-भोजन को मूल गुण माना जाता था। इसलिए इसे महाव्रत के साथ व्रत रूप में रखा गया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय यह उत्तर-गुण के रूप में रहता आया है। इसलिए इसे अलग व्रत का रूप नहीं मिलता।

जैन परिभाषा के अनुसार व्रत या महाव्रत मूल गुणों को कहा जाता है। उनके पोषक गुण उत्तर गुण कहलाते हैं। उन्हें व्रत की संज्ञा नहीं दी जाती। मूलगुण की मान्यता में परिवर्तन होता रहा है—धर्म का निरूपण विभिन्न रूपों में मिलता है।

अप्रमाद

यह सातवीं भूमिका है। छठी भूमिका का अधिकारी प्रमत्त होता है—उसके प्रमाद की सत्ता भी होती है और वह कहीं-कहीं हिंसा भी कर लेता है। सातवीं का अधिकारी प्रमादी नहीं होता, सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता। इसलिए अप्रमत्त-संयति अहिंसक और प्रमत्त-संयति शुभयोग की अपेक्षा से अहिंसक और अशुभयोग की

अपेक्षा से हिंसक होता है।

श्रेणी-आरोह

आठवीं भूमिका का आरम्भ अपूर्व-करण से होता है। पहले कभी न आया हो, वैसा विशुद्ध भाव आता है, आत्मा 'गुण-श्रेणी' का आरोह करने लगता है। आरोह की श्रेणियां दो हैं—उपशम और क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़नेवाला ग्यारहवीं भूमिका में पहुंच मोह को सर्वथा उपशान्त कर वीतराग बन जाता है। उपशम स्वल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह वापस नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। मोह को खपाकर आगे बढ़नेवाला बारहवीं भूमिका में पहुंच वीतराग बन जाता है। क्षीण-मोह का अवरोह नहीं होता।

केवली

तेरहवीं भूमिका सर्व-ज्ञान और सर्व-दर्शन की है। कर्म का मूल मोह है। सेनापति के भाग जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह के नष्ट होने पर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोह के नष्ट होते ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय—ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं। आत्मा निरावरण और निरन्तराय बन जाता है। निरावरण आत्मा को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है।

अयोग-दशा और मोक्ष

केवली के भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। उन्हीं के द्वारा शेष जीवन का धारण होता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध होता है। यह निरोध दशा ही अन्तिम भूमिका है। इस काल में वे शेष कर्म टूट जाते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है—आचार स्वभाव में परिणत हो जाता है। साधन स्वयं साध्य बन जाता है। ज्ञान की परिणति आचार और आचार की परिणति मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा का स्वभाव है।

महाव्रत और अणुव्रत

सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सब अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं।[1] काव्य की भाषा में—"अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करनेवाली बाड़ें हैं।"[2] "अहिंसा

---

१. पंचसंग्रह :
एक्कं चिय एक्कवयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमण सव्वसत्तस्स रक्खट्ठा॥

२. हारिभद्रीयअष्टक, १६।५ :
अहिंसाशस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।

जल है, सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं।"[1] सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

अहिंसा का यह व्यापक रूप है। इसकी परिभाषा है—जो संवर और सत्प्रवृत्ति है वह अहिंसा है।

अहिंसा का दूसरा रूप है—प्राणातिपात-विरति।

भगवान् ने कहा—जीवमात्र को मत मारो, मत सताओ, आधि-व्याधि मत पैदा करो, कष्ट मत दो, अधीन मत बनाओ, दास मत बनाओ, यही ध्रुव-धर्म है, यही शाश्वत सत्य है। इसकी परिभाषा है—मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित अनुमति से आक्रोश, वन्ध और वध का त्याग। दूसरे महाव्रतों की रचना का मूल यही परिभाषा है। इसमें मृषावाद, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का समावेश नहीं होता। अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य जितने व्यापक शब्द हैं, उतने व्यापक प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति और मैथुन-विरति नहीं है।

प्राणातिपात-विरति भी अहिंसा है। स्वरूप की दृष्टि से अहिंसा एक है। हिंसा भी एक है। कारण की दृष्टि से हिंसा के दो प्रकार वनते हैं—१. अर्थ हिंसा—आवश्यकतावश की जानेवाली हिंसा और २. अनर्थ हिंसा—अनावश्यक हिंसा। मुनि सर्व हिंसा का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। वह अहिंसा महाव्रत को इन शब्दों में स्वीकार करता है—"भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं पहले महाव्रत प्राणातिपात से विरत होने के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूं। सूक्ष्म और वादर, त्रस और स्थावर जीवों का अतिपात मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न करूंगा, दूसरे से न कराऊंगा और न करनेवाले का अनुमोदन करूंगा। मैं यावज्जीवन के लिए इस प्राणातिपात-विरति महाव्रत को स्वीकार करता हूं।"

गृहस्थ अर्थ-हिंसा छोड़ने में क्षम नहीं होता, वह अनर्थ-हिंसा का त्याग और अर्थ-हिंसा का परिमाण करता है। इसलिए उसका अहिंसा-व्रत स्थूल-प्राणातिपात विरति कहलाता है। जैन आचार्यों ने गृहस्थ के उत्तरदायित्वों और विवशताओं को जानते हुए कहा—"आरम्भी—कृषि, व्यापार सम्वन्धी और विरोधी-प्रत्याक्रमण-कालीन हिंसा से न वच सको तो संकल्पी-आक्रमणात्मक और अप्रायोजनिक हिंसा से अवश्य वचो।" इस मध्यम-मार्ग पर अनेक लोग चले। यह सवके लिए आवश्यक मार्ग है। अविरति मनुष्य को मूढ़ वनाती है, यह केवल अविरति नहीं है। विरति केवल मनुष्य मात्र के लिए सरल नहीं होती, यह केवल विरति नहीं है। यह अविरति और विरति का योग है। इसमें न तो वस्तु-स्थिति का अपलाप है और न मनुष्य की वृत्तियों का पूर्ण अनियंत्रण। इसमें अपनी विवशता की स्वीकृति और स्ववशता

१. योगशास्त्र :
अहिंसापयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्।

की ओर गति दोनों हैं।

निश्चय-दृष्टि यह है—हिंसा से आत्मा का पतन होता है, इसलिए यह अकरणीय है।

व्यवहार-दृष्टि यह है—सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है। सुख अनुकूल है। दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है। जीना सबको प्रिय है। सब जीव लम्बे जीवन की कामना करते हैं। सभी को जीवन प्रिय लगता है।

यह सब समझकर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

किसी जीव को त्रास नहीं पहुंचाना चाहिए।[1]

किसी के प्रति वैर और विरोध-भाव नहीं रखना चाहिए।[2]

सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखना चाहिए।[3]

हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला प्राणी है; जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे दुःख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है; जिसे अपने वश करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है।[4]

मृषावाद-विरति दूसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है—असत्य-भाषण से विरत होना।

अदत्तादान विरति तीसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है विना दी हुई वस्तु लेने से विरत होना। मैथुन-विरति चौथा महाव्रत है। इसका अर्थ है—भोग-विरति। पांचवां महाव्रत अपरिग्रह है। इसका अर्थ है—परिग्रह का त्याग। मुनि मृषावाद आदि का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है, इसलिए स्वीकृति निम्न शब्दों में करता है।

भंते! मै उपस्थित हुआ हूं—दूसरे महाव्रत में मृषावाद-विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूं। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश—मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं मृषा न बोलूंगा, न दूसरों से बुलवाऊंगा और न वोलनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यन्त मैं मृषावाद से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं—तीसरे महाव्रत में अदत्तादान-विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूं। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या वहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त अदत्तादान मनसा, वाचा, कर्मणा

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २।२० : न य वित्तासए परं।

२. सूयगडो, १।१।१५।१३ : न विरुज्झेज्ज केणई।

३. उत्तरज्झयणाणि, ६।२ : मेत्तिं भूएसु कप्पए।

४. आयारो, ५।१०१।

मैं स्वयं न लूंगा, न दूसरों से लिवाऊंगा और न लेनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यन्त मैं अदत्तादान से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं—चौथे महाव्रत में मैथुन-विरति के लिए।

भंते! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूं। दिव्य, मनुष्य और तिर्यञ्च मैथुन का मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न सेवन करूंगा, न दूसरों से सेवन करवाऊंगा, न सेवन करनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यन्त मैं मैथुन से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं—पांचवें महाव्रत परिग्रह-विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूं। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त परिग्रह मनसा, वाचा, कमणा मैं स्वयं न ग्रहण करूंगा, न दूसरों से ग्रहण करवाऊंगा, न ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यन्त मैं परिग्रह से विरत होता हूं।

भंते! मैं उपस्थित हुआ हूं—छठे व्रत रात्रि-भोजन-विरति के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के असन, पान, खाद्य और स्वाद्य को रात्रि में खाने का प्रत्याख्यान करता हूं। मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं रात के समय न खाऊंगा, न दूसरों को खिलाऊंगा, न खानेवाले का अनुमोदन करूंगा। जीवन-पर्यन्त मैं रात्रि-भोजन से विरत होता हूं।

गृहस्थ के मृषावाद आदि की स्थूल-विरति होती है, इसलिए वे अणुव्रत होते हैं। स्थूल-मृषावाद-विरति, स्थूल अदत्तादान-विरति, स्वदार-सन्तोष और इच्छा-परिमाण—ये उनके नाम हैं। महाव्रतों की स्थिरता के लिए पचीस भावनाएं हैं। प्रत्येक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं हैं।[1]

इनके द्वारा मन को भावित कर ही महाव्रतों की सम्यक् आराधना की जा सकती है।

पांच महाव्रतों में मैथुन देह से अधिक सम्बन्धित है। इसलिए मैथुन-विरति की साधना के लिए विशिष्ट नियमों की रचना की गई है।

ब्रह्मचर्य का साधना-मार्ग

ब्रह्मचर्य भगवान् है।[2]

ब्रह्मचर्य सब तपस्याओं में प्रधान है।[3] जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली उसने सब व्रतों को आराध लिया।[4] जो अब्रह्मचर्य से दूर हैं—वे आदि-मोक्ष हैं।

---

१. आयारचूला, १५।४३-७८।

२. प्रश्नव्याकरण, २।४ : बंभं भगवंतं।

३. सूयगडो, १।१।६।२३ : तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं।

४. प्रश्नव्याकरण, २।४ : जंमिय आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्व

मुमुक्षु मुक्ति के अग्रगामी हैं[1]। ब्रह्मचर्य के भग्न होने पर सारे व्रत टूट जाते हैं।[2]

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है उतना ही दुष्कर है।[3] इस आसक्ति को तरनेवाला महासागर को तर जाता है।[4]

कहीं पहले दण्ड, पीछे भोग है, और कहीं पहले भोग, पीछे दण्ड है—ये भोग संगकारक हैं।[5] इन्द्रिय के विषय विकार के हेतु हैं किन्तु वे राग-द्वेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं करते। जो रक्त और द्विष्ट होता है, वह उनका संयोग पा विकारी बन जाता है[6]। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विकार के हेतु वर्जनीय हैं। ब्रह्मचारी की चर्या इस प्रकार होनी चाहिए—

१. एकान्तवास—विकार-वर्धक सामग्री से दूर रहना।
२. कथा-संयम—कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना।
३. परिचय-संयम—कामोत्तेजक सम्पर्कों से बचना।
४. दृष्टि-संयम—दृष्टि के विकार से बचना।
५. श्रुति-संयम—कर्ण-विकार पैदा करनेवाले शब्दों से बचना।
६. स्मृति-संयम—पहले भोगे हुए भोगों की याद न करना।
७. रस-संयम—पुष्ट-हेतु के विना सरस पदार्थ न खाना।
८. अति-भोजन-संयम (मिताहार)—मात्रा और संख्या में कम खाना, बार-बार न खाना, जीवन-निर्वाह मात्र खाना।
९. विभूषा-संयम—शृङ्गार न करना।
१०. विषय-संयम—मनोज्ञ शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना[7]।
११. भेद-चिन्तन—विकार-हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक् मानना।
१२. शीत और ताप सहन—ठंडक में खुले बदन रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।
१३. सौकुमार्य-त्याग।
१४. राग-द्वेष के विलय का संकल्प करना।[8]
१५. गुरु और स्थविर से मार्गदर्शन लेना।

---

१. सूयगडो, १।१।१५।६ : इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा उ ते जणा।
२. प्रश्नव्याकरण, २।४।
३. उत्तरज्झयणाणि, ३२।१७ : नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए।
४ वही, ३२।१८
५. आयारो, ४।८५ : पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा।
६. उत्तरज्झयणाणि, ३२।१०१।
७. वही, १६।१०।
८. वही, ३२।२१।:

१६. अज्ञानी या आसक्त का संग-त्याग करना।
१७. स्वाध्याय में लीन रहना।
१८. ध्यान में लीन रहना।
१९. सूत्रार्थ का चिन्तन करना।
२०. धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना।[1]
२१. शुद्धाहार—निर्दोष और मादक वस्तु-वर्जित आहार।
२२. कुशल साथी[2] का सम्पर्क।
२३. विकारपूर्ण सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन, अकीर्तन।[3]
२४. काय-क्लेश—आसन करना, साजसज्जा न करना।
२५. ग्रामानुग्राम-विहार—एक जगह अधिक न रहना।
२६. रूखा भोजन—रूखा आहार करना।
२७. अनशन—यावज्जीवन आहार का परित्याग कर देना।[4]
२८. विषय की नश्वरता का चिन्तन करना।[5]
२९. इन्द्रिय का बहिर्मुखी व्यापार न करना।[6]
३०. भविष्य-दर्शन—भविष्य में होने वाले विपरिणाम को देखना।[7]
३१. भोग में रोग का संकल्प करना।[8]
३२. अप्रमाद—सदा जागरूक रहना—जो व्यक्ति विकार-हेतुक सामग्री को उच्च मान उसका सेवन करने लगता है, उसे पहले ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न होती है, फिर क्रमशः आकांक्षा (कामना), विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह), द्विविधा, उन्माद और ब्रह्मचर्य-नाश हो जाता है।[9]

इसलिए ब्रह्मचारी को पल-पल सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्नि-ज्वाला को पार कर जाता है वैसे ही जागरूक ब्रह्मचारी काम-भोग की आसक्ति को पार कर जाता है।

साधना के स्तर

धर्म की आराधना का लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२।३।
२, ३. वही, ३२।४, १५
४. आयारो, ५।८३ : अवि आहारं वोच्छिदेज्जा।
५. दसवेआलियं, ८।५९।
६. उत्तरज्झयणाणि, ३२।१२।
७ सूयगडो, १।१।३।४।१४।
८. वही, १।१।२।३।२।
९. देखें—उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन १६।

के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। वह एक प्रयत्न में ही प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मोह का बन्धन टूटता है, त्यों-त्यों उसका विकास होता है। मोहात्मक बन्धन की तरतमता के आधार पर साधना के अनेक स्तर निश्चित किये गए हैं—

१. सुलभ-बोधि—यह पहला स्तर है। इसमें न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्षण होता है। सुलभ-बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है।

२. सम्यग्-दृष्टि—यह दूसरा स्तर है। इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान सम्यग् होता है।

३. अणुव्रती—यह तीसरा स्तर है। इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनों होते हैं। अणुव्रती के लिए चार विश्राम-स्थल बताए गए हैं—

रूपक की भाषा में—

क—एक भारवाहक बोझ से दबा जा रहा था। उसे जहां पहुंचना था, वह स्थान वहां से बहुत दूर था। उसने कुछ दूर पहुंच अपनी गठरी बाएं से दाहिने कन्धे पर रख ली।

ख—थोड़ा आगे बढ़ा और देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए गठरी नीचे रख दी।

ग—उसे उठा फिर आगे चला। मार्ग लम्बा था। वजन भी बहुत था। इसलिए उसे एक सार्वजनिक स्थान में विश्राम लेने को रुकना पड़ा।

घ—चौथी बार उसने अधिक हिम्मत के साथ उस भार को उठाया और वह ठीक वहीं जा ठहरा जहां उसे जाना था।

गृहस्थ के लिए—

(क) पांच शीलव्रतों का और तीन गुणव्रतों का पालन एवं उपवास करना पहला विश्राम है।

(ख) सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत लेना दूसरा विश्राम है।

(ग) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध करना तीसरा विश्राम है।

(घ) अन्तिम मारणांतिक-संलेखना करना चौथा विश्राम है।

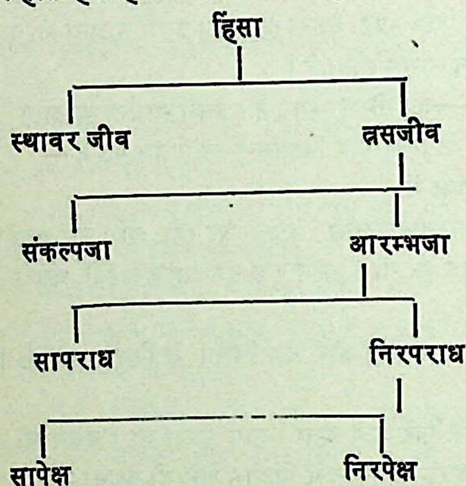
४. प्रतिमा-धर—यह चौथा स्तर है। प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या प्रतिज्ञा है। इसमें दर्शन और चारित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है।

५. प्रमत्त-मुनि—यह पांचवां स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

६. अप्रमत्त-मुनि—यह छठा स्तर है। प्रमत्त-मुनि साधना में स्खलित भी हो जाता है किन्तु अप्रमत्त-मुनि कभी स्खलित नहीं होता। अप्रमाद-दशा में वीतराग भाव आता है, केवलज्ञान होता है।

७. अयोगी—यह सातवां स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होता है।

इस प्रकार साधना के विभिन्न स्तर हैं। इनके अधिकारियों की योग्यता भी विभिन्न होती है। योग्यता की कसौटी वैराग्य-भावना या निर्मोह मनोदशा है। उसकी तरतमता के अनुसार ही साधना का आलम्बन लिया जाता है। हिंसा हेय है—यह जानते हुए भी उसे सब नहीं छोड़ सकते। साधना के तीसरे स्तर में हिंसा का आंशिक त्याग होता है। हिंसा के निम्न प्रकार हैं—



गृहस्थ के लिए आरम्भजा—कृषि, वाणिज्य आदि में होनेवाली हिंसा से बचना कठिन होता है।

गृहस्थ पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है।

गृहस्थ को घर आदि को चलाने के लिए वध, बंध आदि का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्पपूर्वक निरपराध त्रसजीवों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा-अणुव्रत है।

वैराग्य का उत्कर्ष होता है, वह प्रतिमा का पालन करता है। वैराग्य और बढ़ता है तब वह मुनि बनता है।

भूमिका-भेद को समझकर चलने पर न तो सामाजिक संतुलन बिगड़ता है और न वैराग्य का क्रमिक आरोह भी लुप्त होता है।

साधना के सूत्र

१. अप्रमाद

'आर्यो ! आओ।' भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों को आमंत्रित किया।

भगवान् ने पूछा—आयुष्यमन् श्रमणो ! जीव किससे डरते हैं ?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया। विनम्र भाव से बोले—भगवन् ! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है ? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहें । हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् बोले—आर्यो ! जीव दुःख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! दुःख का कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है ?

भगवान्—गौतम ! दुःख का कर्त्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है।

गौतम—भगवन् ! दुःख का अन्त-कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है ?

भगवान्—गौतम ! दुःख का अन्त-कर्त्ता जीव है और उसका कारण अप्रमाद है।[1]

२. उपशम

मानसिक सन्तुलन के बिना कष्ट-सहन की क्षमता नहीं आती। उसका उपाय उपशम है । व्याधियों की अपेक्षा मनुष्य को आधियां अधिक सताती हैं। हीन-भावना और उत्कर्ष-भावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टों से अधिक भयंकर होती है, इसलिए भगवान् ने कहा—जो निर्मम और निरहंकार है, निःसंग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवों के प्रति सम है; लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मौत, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम है; अकषाय, अदण्ड, निःशल्य और अभय है; हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से मुक्त है; ऐहिक और पारलौकिक बन्धन से मुक्त है; पूजा और प्रहार में सम है; आहार और अनशन में सम है; अप्रशस्त वृत्तियों का संवारक है; अध्यात्म-ध्यान और योग में लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन में रत है; श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप में निष्ठावान् है—वही भावितात्मा श्रमण है ।

भगवान् ने कहा—कोई श्रमण कभी कलह में फंस जाए तो वह तत्काल सम्हल कर उसे शान्त कर दे। वह क्षमा-याचना कर ले। सम्भव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न उठे, वन्दना करे या न करे, साथ में खाये या न खाये, साथ में रहे या न रहे, कलह को उपशान्त करे या न करे, किन्तु जो कलह का उपशमन करता है वह धर्म की आराधना है, जो उसे शांत नहीं करता उसके धर्म की आराधना नहीं होती। इसलिए आत्म-गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! उसे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए ?

---

१ ठाणं, ३।३३६।

भगवान् ने कहा—गौतम ! श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा वही श्रमण, साधक या महान् है।

उपशम विजय का मार्ग है। जो उपशम-प्रधान होता है, वही मध्यस्थ-भाव और तटस्थ-नीति को बरत सकता है।

३. साम्य-योग

जाति और रंग का गर्व कौन कर सकता है ? यह जीव अनेक बार ऊंची और अनेक बार नीची जाति में जन्म ले चुका है।

यह जीव अनेक बार गोरा और अनेक बार काला बन चुका है।

जाति और रंग, ये बाहरी आवरण हैं। ये जीव को हीन और उच्च नहीं बनाते।

बाहरी आवरणों को देख जो हृष्ट और रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, घृणा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है।

४. तितिक्षा

भगवान् ने कहा—गौतम ! अहिंसा का आधार तितिक्षा है। जो कष्टों से घबराता है वह अहिंसक नहीं हो सकता।

इस शरीर को खपा।[१] साध्य (आत्म-हित) खपने से सधता है।[२]

इस शरीर को तपा।[३] साध्य तपने से सधता है।[४]

५. अभय

लोक-विजय का मार्ग अभय है। कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, किन्तु शस्त्रीकरण से दूर नहीं होता, उससे सब डरते हैं।[५]

अणुबम की प्रयोग-भूमि केवल जापान है। उसकी भय-व्याप्ति सभी राष्ट्रों में है।

जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरों को अभय दे सकता है। स्वयं भीत दूसरों को अभीत नहीं कर सकता।

६. आत्मानुशासन

संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है।[६] संसार में जो भी दुःख

---

१. आयारो, ४।३२: कसेहि अप्पाणं।

२. सूयगड़ो, १।१।६।२।३०: अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ।

३. आयारो, ४।३२: जरेहि अप्पाणं।

४. दसवेआलियं, ८।२७: देहे दुक्खं महाफलं।

५. आयारो, १।१३५, १३६।

६. वही, ३।१३: आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा।

है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है।[1] नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है, वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है।[2]

भगवान् ने कहा—गौतम ! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है।[3] कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है।[4]

लोक का सिद्धान्त देख—कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख, सब जीवों में समता देख। शस्त्र-प्रयोग मत कर। दुःख-मुक्ति का मार्ग यही है।[5]

कषाय-विजय, काम-विजय या इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, शस्त्र-विजय और साम्य-दर्शन—ये दुःख-मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सतातीं। इन्द्रिय-विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त्त नहीं होते।

७. संवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति)—इन पांच आस्रवों के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथों ही अपने वन्धन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का संवरण नहीं होता, तब तक विजातीय तत्त्व का प्रवेश-द्वार खुला ही रहता है।

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म कहा है—संवर और तपस्या (निर्जरा)। संवर के द्वारा नये विजातीय द्रव्य के संग्रह का निरोध होता है और तपस्या के द्वारा पूर्व-संचित संग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय द्रव्य का नये सिरे से संग्रह नहीं करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है।[6]

साधना का मानदण्ड

भगवान् ने कहा—गौतम ! साधना के क्षेत्र में व्यक्ति के अपकर्ष-उत्कर्ष या

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२।१९।
२. आयारो, ३।१७।
३. वही, ३।६४: पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।
४. दसवेआलियं, २।५।
५. आयारो, ३।२९।
६. सूयगडो, १।१५।६:
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।
अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणई॥

अवरोह-आरोह का मानदण्ड संवर (विजातीय तत्त्व का निरोध) है।

संयम और आत्म-स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति का चरम-विन्दु एक है। पूर्ण संयम यानी असंयम का पूर्ण अन्त, असंयम का पूर्ण अन्त यानी आत्मा का पूर्ण विकास।

जो व्यक्ति भोग-तृष्णा का अन्तकर है, वही इस अनादि दुःख का अन्तकर है।[1]

दुःख के आवर्त्त में दुःखी ही फंसता है, अदुःखी नहीं।[2]

उस्तरा और चक्र अन्त-भाग से चलते हैं। जो अन्त भाग से चलते हैं, वे ही साध्य को पा सकते हैं।

विषय, कषाय और तृष्णा की अन्तरेखा के उस पार जिनका पहला चरण टिकता है, वे ही अन्तकर—मुक्त बनते हैं।

गूढ़वाद

आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं—

१. बहिर्-आत्मा, २. अन्तर्-आत्मा, ३. परम-आत्मा।

जिसे अपने आपका भान नहीं, वही बहिर्-आत्मा है। अपने स्वरूप को पहचाननेवाला अन्तर्-आत्मा है। जिसका स्वरूप अनावृत हो गया, वह परमात्मा है। आत्मा परमात्मा बने, शुद्ध रूप प्रकट हो, उसके लिए जिस पद्धति का अवलम्बन लिया जाता है, वही 'गूढ़वाद' है।

परमात्म-रूप का साक्षात्कार मन की निर्विकार स्थिति से होता है, इसलिए वही गूढ़वाद है। मन के निर्विकार होने की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं, सरल नहीं। सहजतया उसका ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान होने पर भी श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा होने पर भी उसका क्रियात्मक व्यवहार कठिन है। इसीलिए आत्म-शोधन की प्रणाली 'गूढ़' कहलाती है।

आत्म-विकास के पांच सूत्र हैं—

पहला सूत्र है—अपनी पूर्णता और स्वतन्त्रता का अनुभव—मैं पूर्ण हूं, स्वतंत्र हूं, जो परमात्मा है, वह मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है।

दूसरा सूत्र है—चेतन-पुद्गल विवेक—मैं भिन्न हूं, शरीर भिन्न है, मैं चेतन हूं, वह अचेतन है।

तीसरा सूत्र है—आनन्द बाहर से नहीं आता। मैं आनन्द का अक्षयकोष हूं। पुद्गल-पदार्थ के संयोग से जो सुखानुभूति होती है, वह अतात्त्विक है। मौलिक

---

१. सूयगडो, १।१५।१७।

२. भगवती, ७।१।

आनन्द को दबा वह व्यामोह उत्पन्न करती है।

चौथा सूत्र है—पुद्‌गल-विरक्ति या संसार के प्रति उदासीनता। पुद्‌गल से पुद्‌गल को तृप्ति मिलती है, मुझे नहीं। पर-तृप्ति में स्व का जो आरोप है, वह उचित नहीं।

जो पुद्‌गल-वियोग आत्मा के लिए उपकारी है, वह देह के लिए अपकारी है और जो पुद्‌गल-संयोग देह के लिए उपकारी है, वह आत्मा के लिए अपकारी है।

पांचवां सूत्र है—ध्येय और ध्याता का एकत्व। ध्येय परमात्मपद है। वह मुझ से भिन्न नहीं है। ध्यान आदि की समग्र साधना होने पर मेरा ध्येय रूप प्रकट हो जाएगा।

गूढ़वाद के द्वारा साधक को अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियां और योगजन्य विभूतियां प्राप्त होती हैं।

अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य को साक्षात् जान लेता है।

थोड़े में गूढ़वाद का मर्म आत्मा, जो रहस्यमय पदार्थ है, की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, गूढ़ नहीं रहता।

अक्रियावाद

दर्शन के इतिहास में वह दिन अति महत्त्वपूर्ण था, जिस दिन अक्रियावाद का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ। आत्मा की खोज भी उसी दिन पूर्ण हुई, जिस दिन मननशील मनुष्य ने अक्रियावाद का मर्म समझा।

मोक्ष का स्वरूप भी उसी दिन निश्चित हुआ, जब दार्शनिक जगत् ने 'अक्रियावाद' को निकट से देखा।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! जीव सक्रिय हैं या अक्रिय ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! जीव सक्रिय भी हैं और अक्रिय भी। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अक्रिय होते हैं। अयोगी (शैलेशी-अवस्था-प्रतिपन्न) जीवों को छोड़ शेष सब संसारी जीव सक्रिय होते हैं।

शरीर-धारी के लिए क्रिया सहज है, ऐसा माना जाता था। पर 'आत्मा का सहज रूप अक्रियामय है'—इस संवित् का उदय होते ही 'क्रिया आत्मा का विभाव है' यह निश्चय हो गया। क्रिया वीर्य से पैदा होती है। योग्यतात्मक वीर्य मुक्त जीवों में भी होता है। किन्तु शरीर के बिना वह प्रस्फुटित नहीं होता। इसलिए वह लब्धि-वीर्य ही कहलाता है। शरीर के सहयोग से लब्धि-वीर्य (योग्यतात्मक वीर्य) क्रियात्मक बन जाता है। इसलिए उसे 'करण-वीर्य' की संज्ञा दी गई। वह शरीरधारी के ही होता है।[1]

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२।३

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। मोक्ष का मतलब है शरीर-मुक्ति, बन्धन-मुक्ति, क्रिया-मुक्ति। क्रिया से बन्धन, बन्धन से शरीर और शरीर से संसार—यह परम्परा है। मुक्त जीव अशरीर, अबन्ध और अक्रिय होते हैं। अक्रियावाद की स्थापना के वाद क्रियावाद के अन्वेषण की प्रवृत्ति बढ़ी। क्रियावाद की खोज में से 'अहिंसा' का चरम विकास हुआ।

अक्रियावाद की स्थापना से पहले अक्रिया का अर्थ था विश्राम या कार्य-निवृत्ति। थका हुआ व्यक्ति थकान मिटाने के लिए नहीं सोचता, नहीं बोलता और गमनागमनादि नहीं करता, उसी का नाम था 'अक्रिया'। किन्तु चित्तवृत्ति निरोध, मौन और कायोत्सर्ग—एतद्रूप अक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण साध्य की सिद्धि के लिए है—यह अनुभवगम्य नहीं हुआ था।

कर्म से कर्म का क्षय नहीं होता, अकर्म से कर्म का क्षय होता है।[1] ज्यों ही यह कर्म-निवृत्ति का घोष प्रवल हुआ, त्यों ही व्यवहार-मार्ग का द्वन्द्व छिड़ गया। कर्म जीवन के इस छोर से उस छोर तक लगा रहता है। उसे करनेवाले मुक्त नहीं वनते। उसे नहीं करनेवाले जीवन-धारण भी नहीं कर सकते, समाज और राष्ट्र के धारण की वात तो दूर रही।

इस विचार-संघर्ष से कर्म (प्रवृत्ति)-शोधन की दृष्टि मिली। अक्रियात्मक साध्य (मोक्ष) अक्रिया के द्वारा ही प्राप्य है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तब साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान में कर्म रहता है पर वह अक्रिया से परिष्कृत बना हुआ रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म।[2] प्रमत्त का कर्म बाल-वीर्य होता है और अप्रमत्त का कर्म पंडित-वीर्य होता है। पंडित-वीर्य असत् क्रिया-रहित होता है, इसलिए वह प्रवृत्ति रूप होते हुए भी निवृत्ति रूप अकर्म है—मोक्ष का साधन है।

"शस्त्र-शिक्षा, जीव-वध, माया, काम-भोग, असंयम, वैर, राग और द्वेष—ये सकर्म-वीर्य हैं। बाल व्यक्ति इनसे घिरा रहता है।"[3]

"पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय-संगोपन, शरीर-संयम, वाणी-संयम, मानमाया-परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यानयोग और काय-व्युत्सर्ग—ये अकर्म-वीर्य हैं। पंडित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है।"[4]

---

१. सूयगडो, १।१०।१५

२. वही, १।८।३ :

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावा देसओ वावि, बालपंडियमेव वा॥

३. वही, १।८।४।६

४. वही, १।८

साधना के पहले चरण में ही सारी क्रियाओं का त्याग शक्य नहीं है। मुमुक्षु भी साधना की पूर्व-भूमिकाओं में क्रिया-प्रवृत्त रहता है। किन्तु उसका लक्ष्य अक्रिया ही होता है, इसलिए वह कुछ भी न बोले, अगर बोलना आवश्यक हो तो वह भाषा-समिति (दोष-रहित पद्धति) से बोले। वह चिन्तन न करे, अगर उसके बिना न रह सके तो आत्महित की बात ही सोचे—धर्म्य और शुक्ल ध्यान ही ध्याए। वह कुछ भी न करे, अगर किये बिना न रह सके तो वही करे जो साध्य से दूर न ले जाए। यह क्रिया-शोधन का प्रकरण है। इस चिन्तन ने संयम, चरित्र, प्रत्याख्यान आदि साधनों को जन्म दिया और उनका विकास किया।

शरीर की दुष्प्रवृत्ति सतत नहीं होती। निरन्तर जीवों को मारनेवाला वधक शायद ही मिले। निरन्तर असत्य बोलनेवाला और बुरा मन वर्तने वाला भी नहीं मिलेगा किन्तु उनकी अनुपरति (अनिवृत्ति) नैरंतरिक होती है। दुष्प्रयोग अव्यक्त अनुपरति का ही व्यक्त परिणाम है। अनुपरति जागरण और निद्रा दोनों दशाओं में समान रूप होती है। इसे समझे बिना आत्म-साधना को नहीं समझा जा सकता। इसी को लक्ष्य कर भगवान् महावीर ने कहा है—असंयमी मनुष्य जागता हुआ भी सोता है और संयमी मनुष्य सोता हुआ भी जागता है।[1]

मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्यथा से सार्वदिक् मुक्ति पाने चला, तब उसे पहले-पहल दुष्प्रवृत्ति छोड़ने की बात सूझी। आगे जाने की बात संभवतः उसने नहीं सोची। किन्तु अन्वेषण की गति अबाध होती है। शोध करते-करते उसने जाना कि व्यथा का मूल दुष्प्रवृत्ति नहीं किन्तु उसकी अनुपरति है। ज्ञान का क्रम आगे बढ़ा। व्यथा का मूल कारण जान लिया गया।

इस प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण गवेषणा हुई—वह है प्राणातिपात से हिंसा के पार्थक्य का ज्ञान। परितापन और प्राणातिपात—ये दोनों जीव से संबंधित हैं। हिंसा का संबंध जीव और अजीव दोनों से है। द्वेष अजीव के प्रति भी हो सकता है किन्तु अजीव के परिताप और प्राणातिपात ये नहीं किये जा सकते। प्राणातिपात का विषय छह जीवनिकाय है।[2]

प्राणातिपात हिंसा है किन्तु हिंसा उसके अतिरिक्त भी है। असत्य वचन, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह भी हिंसा है। इन सब में प्राणातिपात का नियम नहीं है। मृषावाद का विषय सब द्रव्य है।[3] अदत्तादान का विषय ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्य है।[4] आदान ग्रहण-धारण योग्य वस्तु का ही हो

---

१. आयारो, ३।१ :
सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति।
२. प्रज्ञापना, पद २२ : छसु जीव-णिकाएसु।
३. वही, पद २२ : सव्व दव्वेसु।
४. वही, पद २२ : गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु।

सकता है, शेष का नहीं। ब्रह्मचर्य का विषय रूप और रूप के सहकारी द्रव्य हैं।[1] परिग्रह के विषय 'सब द्रव्य' हैं।[2] परिग्रह का अर्थ है मूर्च्छा या ममत्व। वह अति लोभ के कारण सर्व-वस्तु विषयक हो सकता है।

ये पांच आस्रव हैं। इनके परित्याग का अर्थ है 'अहिंसा'।

१. प्राणातिपात-विरमण, २. मृषावाद-विरमण, ३. अदत्तादान-विरमण, ४. अब्रह्मचर्य-विरमण, ५. परिग्रह-विरमण—ये पांच संवर हैं। आस्रव क्रिया है। वह 'संसार' का कारण है। संवर अक्रिया है। वह मोक्ष का कारण है।[3]

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

प्रत्येक व्यक्ति जीवन के आरम्भ में अवादी होता है। किन्तु आलोचना के क्षेत्र में वह आता है वैसे ही वाद उसके पीछे लग जाते हैं। वास्तव में वह वही है, जो शक्तियां उसका अस्तित्व बनाए हुए हैं। किन्तु देश, काल और परिस्थिति की मर्यादाएं, वह जो है उससे भी उसे और अधिक बना देती हैं। इसीलिए पारमार्थिक जगत् में जो व्यक्तिवादी होता है, वह व्यावहारिक जगत् में समष्टिवादी बन जाता है।

निश्चय-दृष्टि के अनुसार समूह आरोपवाद या कल्पनावाद है। ज्ञान वैयक्तिक होता है। अनुभूति वैयक्तिक होती है। संज्ञा और प्रज्ञा वैयक्तिक होती है। जन्म-मृत्यु वैयक्तिक है। एक का किया हुआ कर्म दूसरा नहीं भोगता। सुख-दुःख का संवेदन भी वैयक्तिक है।[4]

सामूहिक अनुभूतियां कल्पित होती हैं। वे सहजतया जीवन में उतर नहीं आतीं। जिस समूह-परिवार, समाज या राष्ट्र से सम्बन्धों की कल्पना जुड़ जाती है, उसी की स्थिति का मन पर प्रभाव होता है। यह मान्यता मात्र है। उनकी स्थिति ज्ञात होती है, तब मन उससे प्रभावित होता है। अज्ञात दशा में उन पर कुछ भी बीते, मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शत्रु जैसे मान्यता की वस्तु है, वैसे मित्र भी। शत्रु की हानि से प्रमोद और मित्र की हानि से दुःख, शत्रु के लाभ से दुःख और मित्र के लाभ से प्रमोद जो होता है, वह मान्यता से आगे कुछ भी नहीं है। व्यक्ति स्वयं अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र।[5]

---

१. प्रज्ञापना पद, २२ : रूवेसु वा रूवसहगतेसु दव्वेसु।
२. वही, पद २२ : सव्व दव्वेसु।
३. वीतराग स्तोत्र, १९।६।
४. सूयगडो, २।१
अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियायइत्ति, अन्नेण कडं अन्नो न परिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरई, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा।
५. उत्तरज्झयणाणि, २०।३७ : अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।

निश्चय-दृष्टि उपादान-प्रधान है। उसमें पदार्थ के शुद्ध रूप का ही प्ररूपण होता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है। इसलिए वह पदार्थ के सभी पहलुओं को छूता है। निमित्त को भी पदार्थ से अभिन्न मान लेता है। समूहगत एकता का यही बीज है। इसके अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया सामाजिक होती है। समाज से अलग रहकर कोई व्यक्ति जी नहीं सकता। समाज के प्रति जो व्यक्ति अनुत्तरदायी होता है, वह अपने कर्तव्यों को नहीं निभा सकता। इसमें परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ जुड़ने की, संवेदनशीलता की बात होती है।

जैन-दर्शन का मर्म नहीं जाननेवाले इसे नितान्त व्यक्तिवादी बताते हैं। पर यह सर्वथा सच नहीं है। वह अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का समर्थन करता है किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में समष्टिवाद की मर्यादाओं का निषेध नहीं करता। निश्चय-दृष्टि से वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्मनिष्ठ ही स्वीकार करता है, इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्य साधना-शील आत्मा को पर-समयरत कहा है।[१]

औपचारिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को परनिष्ठ मानने के लिए वह अनुदार भी नहीं है। इसलिए—'सिद्ध मुझे सिद्धि दें'—ऐसी प्रार्थनाएं की जाती हैं।

प्राणिमात्र के प्रति, केवल मानव के प्रति ही नहीं, आत्म-तुल्य दृष्टि और किसी को भी कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक संवेदनशीलता और सौभ्रात्र है। इसी में से प्राणी की असीमता का विकास होता है।

---

१. पंचास्तिकाय, १७३ :
अण्णाणदो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो,
हवदिति दुक्खं मोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।

३

श्रमण-संस्कृति और श्रामण्य

कर्म को छोड़कर मोक्ष पाना और कर्म का शोधन करते-करते मोक्ष पाना— ये दोनों विचारधाराएं यहां रही हैं। दोनों का साध्य एक ही है—निष्कर्म बन जाना। भेद सिर्फ प्रक्रिया में है। पहली कर्म के संन्यास की है, दूसरी उसके शोधन की। कर्म-संन्यास साध्य की ओर द्रुत-गति से जाने का क्रम है और कर्म-योग उसकी ओर धीमी गति से आगे बढ़ता है। शोधन का मतलब संन्यास ही है। कर्म के जितने असत् अंश का संन्यास होता है, उतने ही अंश में वह शुद्ध बनता है। इस दृष्टि से यह कर्म-संन्यास का अनुगामी मन्द-क्रम है। साध्य का स्वरूप निष्कर्म या सर्व-कर्म-निवृत्ति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का संन्यास प्रवृत्ति के शोधन की अपेक्षा साध्य के अधिक निकट है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है, यह सिद्धान्त-पक्ष है। क्रियात्मक पक्ष यह है—प्रवृत्ति के असत् अंश को छोड़ना, सत्-अंश का साधन के रूप में अवलम्बन लेना तथा क्षमता और वैराग्य के अनुरूप निवृत्ति करते जाना। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—असत्-प्रवृत्ति के पूर्ण त्यागात्मक व्रत का ग्रहण और उसकी साधन-सामग्री के अनुकूल स्थिति का स्वीकार। यह मोह नाश का सहज परिणाम है। इसे सामाजिक दृष्टि से नहीं आंका जा सकता। कोरा ममत्व-त्याग हो, पदार्थ-त्याग न हो, यह मार्ग पहले क्षण में सरस भले लगे पर अन्ततः सरस नहीं है। पदार्थ-संग्रह अपने आप में सदोष या निर्दोष कुछ भी नही है। वह व्यक्ति के ममत्व से जुड़कर सदोष बनता है। ममत्व टूटते ही संग्रह का संक्षेप होने लगता है और वह संन्यास की दशा में जीवन-निर्वाह का अनिवार्य साधनमात्र बन रह जाता है। इसीलिए उसे अपरिग्रही या अनिचय कहा जाता है। संस्कारों का शोधन करते-करते कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जो पदार्थ- संग्रह के प्रति अल्प-मोह हो किन्तु यह सामान्य-विधि नहीं है। पदार्थ-संग्रह से दूर रहकर ही निर्मोह संस्कार को विकसित किया जा सकता है; असंस्कारी-दशा का लाभ लिया जा सकता है। यह सामान्य विधि है।

यह पदार्थवाद या जड़वाद का युग है। जड़वादी दृष्टिकोण संन्यास को पसन्द ही नहीं करता। उसका लक्ष्य कर्म या प्रवृत्ति से आगे जाता ही नहीं। किन्तु जो आत्मवादी और निर्वाणवादी हैं, उन्हें कोरी प्रवृत्ति की भूलभुलैया में नहीं भटक जाना चाहिए। संन्यास—जो त्याग का आदर्श और साध्य की साधना का विकसित रूप है, उसके निर्मूलन का भाव नहीं होना चाहिए। यह सारे अध्यात्म-मनीषियों के लिए चिन्तनीय है।

चिन्तन के आलोक में आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, तब तक शरीर-सुख ही सब कुछ रहा। जब मनुष्य में विवेक जागा, आत्मा और शरीर दो हैं—यह भेद-ज्ञान हुआ, तब आत्मा साध्य बन गया और शरीर साधन-मात्र। आत्मज्ञान के बाद आत्मोपलब्धि का क्षेत्र खुला। श्रमणों ने कहा—दृष्टि-मोह आत्मदर्शन में बाधा डालता है और चारित्र-मोह आत्म-उपलब्धि में। आत्म-साक्षात्कार के लिए संयम किया जाए, तप तपा जाए। संयम से मोह का प्रवेश रोका जा सकता है, तप से संचित मोह का व्यूह तोड़ा जा सकता है।

ऋग्वेद का एक ऋषि आत्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा से कहता है—"मैं नहीं जानता, मैं कौन हूं अथवा कैसा हूं?"[1]

वैदिक संस्कृति का जब तक श्रमण-संस्कृति से सम्पर्क नहीं हुआ, तब तक उसमें आश्रम दो ही थे—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की सुख-समृद्धि के लिए इतना ही पर्याप्त माना जाता था।

जब क्षत्रिय राजाओं से ब्राह्मण ऋषियों को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध-बीज मिला, तब से आश्रम-परम्परा का विकास हुआ, वे क्रमशः तीन और चार बने।

वेद-संहिता और ब्राह्मणों में संन्यास आश्रम आवश्यक नहीं कहा गया है, बल्कि जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है।[2] उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है; क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदों में ही पहले-पहल देखा जाता है।[3]

श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का प्राधान्य रहा है और वैदिक-परम्परा में ब्राह्मणों का। उपनिषदों में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिससे पता चलता है कि ब्राह्मण ऋषि-मुनियों ने क्षत्रिय राजाओं से आत्म-विद्या सीखी।

१. नचिकेता ने सूर्यवंशी शाखा के राजा वैवस्वत यम के पास आत्मा का

---

१. ऋग्वेद, १।१६४।३७ : नवा जानामि यदिव इदमस्मि।
२. वेदान्तसूत्र (शांकरभाष्य,) ३।४।१७-२०
३. गीता रहस्य, पृ० ३४४

रहस्य जाना।[1]

२. सनत्कुमार ने नारद से पूछा—'बतलाओ तुमने क्या पढ़ा है ?' नारद बोले—'भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास पुराण रूप पांचवां वेद···आदि। हे भगवन् ! यह सब मैं जानता हूं। भगवन् ! मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूं, आत्मवेत्ता नहीं हूं।'

सनत्कुमार आत्मा की एक-एक भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारद को परमात्मा की भूमिका तक ले गए। जहां कुछ नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहां और कुछ देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है, और जो अल्प है, वही मर्त्य है—'यो वै भूमा तद्‌मृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।'[2]

३. प्राचीनशाल आदि महा गृहस्थ और महा श्रोत्रिय मिले और परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ?—'को न आत्मा किं ब्रह्मेति'-? वे वैश्वानर आत्मा को जानने के लिए अरुण-पुत्र उद्‌दालक के पास गए। उसे अपनी अक्षमता का अनुभव था। वह उन सबको कैकेय अश्वपति के पास ले गया। राजा ने उन्हें धन देना चाहा। उन मुनियों ने कहा—हम धन लेने नहीं आए हैं। आप वैश्वानर-आत्मा को जानते हैं, इसलिए वही हमें बतलाइए। फिर राजा ने उन्हें वैश्वानर-आत्मा का उपदेश दिया।[3] काशी-नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य को विज्ञानमय पुरुष का तत्त्व समझाया।[4]

४. पांचाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने गौतम ऋषि से कहा—गौतम ! तू जिस विद्या को लेना चाहता है, वह विद्या तुझसे पहले ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं होती थी। इसलिए सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा है।[5] प्रवाहण ने आत्मा की गति और आगति के बारे में पूछा। वह विषय बहुत ही अज्ञात रहा है, इसीलिए आचारांग के आरम्भ में कहा गया है—"कुछ लोग नहीं जानते कि मेरी आत्मा का पुनर्जन्म होगा या नहीं होगा ? मैं कौन हूं, पहले कौन था, यहां से मरकर कहां होऊंगा ?"[6]

श्रमण-परम्परा इन शाश्वत प्रश्नों के समाधान पर ही अवस्थित हुई। यही

---

१. कठ उपनिषद्,
२. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।३४
३. वही, ५।११।१३
४. बृहदारण्यक उपनिषद्,२।१
५. छान्दोग्य उपनिषद्, ५।३।७
६. आयारो, १।२ :
एवमेगेसिं णो णातं भवति, अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

कारण है कि वह सदा से आत्मदर्शी रही है। देह के पालन की उपेक्षा सम्भव नहीं किन्तु उसका दृष्टिकोण देह-लक्षी नहीं रहा है। कहा जाता है—श्रमण-परम्परा ने समाज-रचना के बारे में कुछ सोचा ही नहीं। इसमें कुछ तथ्य भी हैं। भगवान् ऋषभदेव ने पहले समाज-रचना की और फिर वे आत्म-साधना में लगे। भारतीय जीवन के विकास-क्रम में उनकी देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बहुत ही प्रारम्भिक है। इसका उल्लेख वैदिक और जैन—दोनों परम्पराओं में प्रचुरता से मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र, सोमदेव सूरि आदि के अर्हन्नीति, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ समाज-व्यवस्था के सुन्दर ग्रन्थ हैं। वह सच भी है कि जैन-बौद्ध मनीषियों ने जितना अध्यात्म पर लिखा, उसका शतांश भी समाज-व्यवस्था के बारे में नहीं लिखा। इसके कारण भी हैं। श्रमण-परम्परा का विकास आत्म-लक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए शाश्वत सत्यों की व्याख्या में ही उन्होंने अपने आपको खपाया। समाज-व्यवस्था को वे धर्म से जोड़ना नहीं चाहते थे। धर्म जो आत्मगुण है, को परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था से जकड़ देने पर तो उसका ध्रुवरूप विकृत हो जाता है।

समाज-व्यवस्था का कार्य समाजशास्त्रियों के लिए ही है। धार्मिकों को उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति आदि समाज-व्यवस्था के शास्त्र हैं। वे विधिग्रन्थ है मोक्ष-ग्रन्थ नहीं। इन विधि-ग्रन्थों को शाश्वत रूप मिला, वह आज स्वयं प्रश्नचिह्न वन रहा है। हिन्दू कोड़ बिल का विरोध इसीलिए हुआ कि उन परिवर्तनशील विधियों को शाश्वत सत्य का-सा रूप मिल गया था। श्रमण-परम्परा ने न तो विवाह आदि संस्कारों के अपरिर्वातित रूप का आग्रह रखा और न उन्हें शेष समाज से अलग वनाए रखने का आग्रह ही किया।

सोमदेव सूरि के अनुसार जैनों की वह सारी लौकिक विधि प्रमाण है, जिससे सम्यक् दर्शन में बाधा न आये, व्रतों में दोष न लगे—

"सर्वं एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्।"

श्रमण-परम्परा ने धर्म को लौकिक-पक्ष से अलग रखना ही श्रेय समझा। धर्म लोकोत्तर वस्तु है। वह शाश्वत सत्य है। वह द्विरूप नहीं हो सकता। लौकिक विधियां भौगोलिक और सामयिक विविधताओं के कारण अनेक-रूप होती हैं और उनके रूप बदलते ही रहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ने 'धर्म और समाज' में लिखा है कि हिन्दू धर्म ने समाज और धर्म को एक-मेक कर दिया, इससे रूढ़िवाद को बहुत प्रश्रय मिला है। धर्म शब्द के बहु-अर्थक प्रयोग से भी वहुत व्यामोह फैला है। धर्म-शब्द के प्रयोग पर ही लोग उलझ वैठे। शाश्वत सत्य और तत्कालीन अपेक्षाओं का विवेक न कर सके। इसीलिए समय-समय पर होने वाले मनीषियों को उनका भेद समझाने का प्रयत्न करना पड़ा। लोकमान्य तिलक के शब्दों में—"महाभारत में

धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है' उस स्थान में धर्म-शब्द से कर्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था-शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पर्व के उत्तरार्ध में 'मोक्ष-धर्म'—इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है[1]।

श्रमण-परम्परा इस विषय में अधिक सतर्क रही है। उसने लोकोत्तर-धर्म के साथ लौकिक विधियों को जोड़ा नहीं। इसीलिए वह बराबर लोकोत्तर पक्ष की सुरक्षा करने में सफल रही हैं और इसी आधार पर वह व्यापक बन सकी है। यदि श्रमण-परम्परा में भी वैदिकों की भांति जाति और संस्कारों का आग्रह होता तो करोड़ों चीनी और जापानी कभी भी श्रमण-परम्परा का अनुगमन नहीं करते।

आज जो करोड़ों चीनी और जापानी श्रमण-परम्परा के अनुयायी हैं, वे इसीलिए हैं कि वे अपने संस्कारों और सामाजिक विचारों में स्वतंत्र रहते हुए भी श्रमण-परम्परा के लोकोत्तर पक्ष का अनुसरण कर सकते हैं।

समन्वय की भाषा में वैदिक-परम्परा जीवन का व्यवहार-पक्ष है और श्रमण-परम्परा जीवन का लोकोत्तर-पक्ष—'वैदिको व्यवहर्तव्यः, कर्त्तव्यः पुनरार्हतः।'

लक्ष्य की उपलब्धि उसी के अनुरूप साधना से हो सकती है। आत्मा शरीर, वाणी और मन से परे है। वह उन द्वारा प्राप्त नहीं है।[2]

मुक्त आत्मा और ब्रह्म के शुद्ध रूप की मान्यता में दोनों परम्पराएं लगभग एकमत हैं। कर्म या प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन का कार्य है। इनसे परे जो है, वह निष्कर्म है। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—निष्कर्म-भाव की साधना। इसी का नाम है संयम। पहले चरण में कर्म-मुक्ति नहीं होती। किन्तु संयम का अर्थ है—कर्म-मुक्ति के संकल्प से चल कर्म-मुक्ति तक पहुंच जाना, निर्वाण पा लेना।

प्रवर्तक-धर्म के अनुसार वर्ग तीन ही थे—धर्म, काम और अर्थ। चतुर्वर्ग की मान्यता निवर्त्तक-धर्म की देन है। निवर्त्तक-धर्म के प्रभाव से मोक्ष की मान्यता व्यापक बनी। आश्रम की व्यवस्था में भी विकल्प आ गया, जिसके स्पष्ट निर्देश हमें जाबालोपनिषद्, गौतम धर्मसूत्र आदि में मिलते हैं—ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही बनना, गृह में से वानप्रस्थ होकर प्रव्रज्या—संन्यास लेना, अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से ही प्रव्रज्या लेना। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो

---

१. गीता रहस्य।

२. कठोउपनिषद्, २।३:
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

जाए, उसी दिन प्रव्रज्या लेना।[1]

पं० सुखलाल जी ने आश्रम-विकास की मान्यता के बारे में लिखा है—'जान पड़ता है, इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आये, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म-संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा; पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे पड़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावशाली फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधारभूत जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—ये दो आश्रम माने जाते थे, उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जन-व्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहां तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्याव-न्याय प्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्या-मार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो निवर्तक-धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा-जीवन में आज भी देखते हैं।[2]

मोक्ष की मान्यता के बाद गृह-त्याग का सिद्धान्त स्थिर हो गया। वैदिक ऋषियों ने आश्रम-पद्धति से जो संन्यास की व्यवस्था की, वह भी यान्त्रिक होने के कारण निर्विकल्प न रह सकी। संन्यास का मूल अन्तःकरण का वैराग्य है। वह सबको आये, या अमुक अवस्था के ही बाद आये, पहले न आये, ऐसा विधान नहीं किया जा सकता। संन्यास आत्मिक-विधान है, यान्त्रिक स्थिति उसे जकड़ नहीं सकती। श्रमण-परम्परा ने दो ही विकल्प माने—अगार धर्म और अणगार धर्म—'अगार-धम्मं अणगार-धम्मं च'।[3]

श्रमण परम्परा गृहस्थ को नीच और श्रमण को उच्च मानती है, यह निरपेक्ष नहीं है। साधना के क्षेत्र में नीच-ऊंच का विकल्प नहीं है। वहां संयम ही सब कुछ है। महावीर के शब्दों में—'कई गृह-त्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम

---

१. जाबाल उपनिषद्, ४ :
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा, वनाद्वा,
यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

२. दर्शन और चिन्तन, पृ० १३७, १३८।

३. औपपातिक

प्रधान है।"[1]

श्रेष्ठता व्यक्ति नहीं, संयम है। संयम और तप का अनुशीलन करनेवाले, शान्त रहनेवाले भिक्षु और गृहस्थ—दोनों का अगला जीवन भी तेजोमय बनता है।[2]

समता धर्म को पालनेवाला, श्रद्धाशील और शिक्षा-सम्पन्न गृहस्थ घर में रहता हुआ भी मौत के बाद स्वर्ग में जाता है।[3]

किन्तु संयम का चरम-विकास मुनि-जीवन में ही हो सकता है। निर्वाण-लाभ मुनि को ही हो सकता है—यह श्रमण-परम्परा का ध्रुव अभिमत है। मुनि-जीवन की योग्यता उन्हीं में आती है, जिनमें तीव्र वैराग्य का उदय हो जाए।

ब्राह्मण-वेशधारी इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा—"राजर्षि ! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्म-पोषक कार्य करो।

नमि राजर्षि बोले—ब्राह्मण ! मास-मास का उपवास करनेवाला और पारणा में कुश की नोक टिके उतना स्वल्प आहार खानेवाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की तुलना में भी नहीं आता।[4]

जिसे शाश्वत घर में विश्वास नहीं, वही नश्वर घर का निर्माण करता है।[5]

यही है तीव्र वैराग्य। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से विचार न हो, तब गृहवास ही सब कुछ है। उस दृष्टि से विचार किया जाए, तब आत्म-साक्षात्कार ही सब कुछ है। गृहवास और गृह-त्याग का आधार है—आत्म-विकास का तारतम्य। गौतम ने पूछा—'भगवन् ! गृह-वास असार है और गृह-त्याग सार, यह जानकर भला घर में कौन रहे ? 'भगवान् ने कहा—'गौतम ! जो प्रमत्त हो वही रहे और कौन रहे ?'[6]

किन्तु यह ध्यान रहे, श्रमण-परम्परा वेश को महत्त्व देती भी है और नहीं भी। साधना के अनुकूल वातावरण भी चाहिए—इस दृष्टि से वेश-परिवर्तन, गृह-वास का त्याग आदि-आदि बाहरी वातावरण की विशुद्धि का भी महत्त्व है। आन्तरिक विशुद्धि का उत्कृष्ट उदय होने पर गृहस्थ या किसी के भी वेश में आत्मा मुक्त हो सकता है।[7]

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ५।२०:
सन्ति एगेहिं भिक्खुहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥
२ वही, ५।२६-२८।
३. वही, ५।२३-२४।
४. उत्तरज्झयणाणि, ६।४४
५. वही, ६-२६
६. आयारो, ५।५८:…पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं।
७. नन्दी,सूत्र ३१ : अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंगसिद्धा।

मुक्ति वेश या बाहरी वातावरण के कृत्रिम परिवर्तन से नहीं होती, किन्तु आत्मिक उदय से होती है। आत्मा का सहज उदय किसी विरल व्यक्ति में ही होता है। इसे सामान्य मार्ग नहीं माना जा सकता। सामान्य मार्ग यह है कि मुमुक्षु व्यक्ति अभ्यास करते-करते मुक्ति-लाभ करते हैं। अभ्यास के क्रमिक विकास के लिए बाहरी वातावरण को उसके अनुकूल बनाना आवश्यक है। साधना आखिर मार्ग है, प्राप्ति नहीं। मार्ग में चलनेवाला भटक भी सकता है। जैन-आगमों और बौद्ध-पिटकों में ऐसा यत्न किया गया है, जिससे साधक न भटके। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में विचिकित्सा न हो—इसलिए एकान्तवास, दृष्टि-संयम, स्वाद-विजय, मिताहार, स्पर्श-त्याग आदि-आदि का विधान किया है। स्थूलिभद्र या जनक जैसे अपवादों को ध्यान में रखकर इस सामान्य विधि का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

आत्मिक-उदय और अनुदय की परम्परा में पलनेवाला पुरुष भटक भी सकता है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य के आचार और विनय का परिणाम नहीं है। ब्रह्मचारी संसर्ग से बचे, यह मान्यता भय नहीं किन्तु सुरक्षा है। संसर्ग से बचनेवाले भिक्षु कामुक बने और संसर्ग करनेवाले—साथ-साथ रहनेवाले—स्त्री-पुरुष-कामुक नहीं बने—यह क्वचित् उदाहरण मात्र हो सकता है, सिद्धान्त नहीं। सिद्धान्ततः ब्रह्मचर्य के अनुकूल सामग्री पानेवाला ब्रह्मचारी हो सकता है। उसके प्रतिकूल सामग्री में नहीं। मुक्ति और दोनों साथ-साथ चलते हैं, यह तथ्य श्रमण-परम्परा में मान्य भी नहीं रहा है। पर उन दोनों की दिशाएं दो हैं और स्वरूपतः वे दो हैं, यह तथ्य कभी भुलाया गया। भुक्ति सामान्य जीवन का लक्ष्य हो सकता है, किन्तु वह आत्मोदयी जीवन का लक्ष्य नहीं है। मुक्ति आत्मोदय का लक्ष्य है। आत्म-लक्षी व्यक्ति भुक्ति को जीवन की दुर्बलता मान सकता है, सम्पूर्णता नहीं। समाज में भोग प्रधान माने जाते हैं—यह चिरकालीन अनुश्रुति है, किन्तु श्रमण-धर्म का अनुगामी वह है जो भोग से विरक्त हो जाए, आत्म-साक्षात्कार के लिए उद्यत हो जाए।

इस विचारधारा ने विलासी समाज पर अंकुश का कार्य किया। "नहीं वेरेण वेराइं, सम्मंतीध्र कदाचन'—इस तथ्य ने भारतीय मानस को उस उत्कर्ष तक पहुंचाया, जिस तक—'जिते च लभ्यते लक्ष्मी-मृते चापि सुरांगना' का विचार पहुंच ही नहीं सका।

जैन और बौद्ध शासकों ने भारतीय समृद्धि को बहुत सफलता से बढ़ाया है। भारत का पतन विलास, आपसी फूट और स्वार्थपरता से हुआ है, त्यागपरक संस्कृति से नहीं। कई विचारकों ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि श्रमण-परम्परा कर्म-विमुख होकर भारतीय संस्कृति के विकास में बाधक रही है। इसका कारण दृष्टिकोण का भेद ही हो सकता है। कर्म की व्याख्या में भेद होना एक बात है और कर्म का निरसन दूसरी बात। श्रमण-परम्परा के अनुसार कोरे ज्ञानवादी

जो कहते हैं, किन्तु करते नहीं, वे अपने आपको केवल वाणी के द्वारा आश्वासन देते हैं।[1]

'सम्यग्-ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'—"यह जैनों का सर्वविदित वाक्य है। कर्म की समाप्ति मोक्ष में होती है या मुक्त होने के आसपास। इससे पहले कर्म को रोका ही नहीं जा सकता। कर्म प्रत्येक व्यक्ति में होता है। भेद यह रहता है कि कौन किस दिशा में उसे लगाता है और कौन किस कर्म को हेय और किसे उपादेय मानता है।

श्रमण-परम्परा के दो पक्ष हैं—गृहस्थ और श्रमण। गृहस्थ-जीवन के दो पक्ष होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। श्रमण-जीवन का पक्ष केवल लोकोत्तर होता है। श्रमण-परम्परा के आचार्य लौकिक कर्म को लोकोत्तर कर्म की भांति एक रूप और अपरिवर्तनशील नहीं मानते। इसलिए उन्होंने गृहस्थ के लिए भी केवल लोकोत्तर कर्मों का विधान किया है, श्रमणों के लिए तो ऐसा है ही।

गृहस्थ अपने लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं और वे ऐसा कर नहीं सकते, इसी दृष्टि से उनके लिए व्रतों का विधान किया गया, जबकि श्रमणों के लिए महाव्रतों की व्यवस्था हुई।

श्रमण कुछेक ही हो सकते हैं। समाज का वड़ा भाग गृहस्थ जीवन विताता है। गृहस्थ के लौकिक पक्ष में कौन-सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित—इसका निर्णय देने का अधिकार समाजशास्त्र को है, मोक्ष-शास्त्र को नहीं। मोक्ष-साधना की दृष्टि से कर्म और अकर्म की परिभाषा यह है—कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। सभी मनुष्य इन्हीं दोनों से घिरे हुए हैं।[2] प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म।[3]

प्रमाद को वाल-वीर्य और अप्रमाद को पंडित-वीर्य कहा जाता है। जितना असंयम है, वह सव वाल-वीर्य या सकर्म-वीर्य है और जितना संयम है, वह सव पंडित-वीर्य या अकर्म-वीर्य है।[4] जो अबुद्ध है, असम्यक्-दर्शी है और असंयमी है, उसका पराक्रम—प्रमाद-वीर्य बन्धनकारक होता है।[5] और जो वुद्ध है, सम्यक्-दर्शी है और संयमी है उसका पराक्रम—अप्रमाद-वीर्य मुक्ति-कारक होता है।[6] मोक्ष-साधना की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण—दोनों के

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ६।६:
भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥
२. सूयगडो, १-८।२।
३. वही, १।८।३ :पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
४. वही, १।९।९।
५. वही, १।८।२२।
६. वही, १।८।२३।

लिए अप्रमाद-वीर्य या अकर्म-वीर्य का विधान है। यह अकर्मण्यता नहीं, किन्तु कर्म का शोधन है। कर्म का शोधन करते-करते कर्म-मुक्त हो जाना, यही है श्रमण-परम्परा के अनुसार मुक्ति का क्रम। वैदिक परम्परा को भी यह अमान्य नहीं है। यदि उसे यह अमान्य होता तो वे वैदिक ऋषि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम को क्यों अपनाते ? इन दोनों में गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कर्मों की विमुखता बढ़ती है। गृहस्थाश्रम से साध्य की साधना पूर्ण होती प्रतीत नहीं हुई, इसीलिए अगले दो आश्रमों की उपादेयता लगी और उन्हें अपनाया गया। जिसे बाहरी चिह्न बदलकर अपने चारों ओर अस्वाभाविक वातावरण उत्पन्न करना कहा जाता है, वह सबके लिए समान है। श्रमण और संन्यासी दोनों ने ऐसा किया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नियमों को कृत्रिमता का बाना पहनाया जाए तो इस कृत्रिमता से कोई भी परम्परा नहीं बची है। जिस किसी भी परम्परा में संसार-त्याग को आदर्श माना है, उसमें संसार से दूर रहने की भी शिक्षा दी है। मुक्ति का अर्थ ही संसार से विरक्ति है। संसार का मतलब गांव या अरण्य नहीं, गृहस्थ और संन्यासी का वेश नहीं, स्त्री और पुरुष नहीं। संसार का मतलब है—जन्म-मरण की परम्परा और उसका कारण। वह है—मोह। मोह का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और सामने भी है—'उड्ढं सोया, अहे सोया, तिररियं सोया।'

मोह-रहित व्यक्ति गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी। श्रमण-परम्परा कोरे वेश-परिवर्तन को कब महत्त्व देती है। भगवान् ने कहा—"वह पास भी नहीं है, दूर भी नहीं है भोगी भी नहीं है, त्यागी भी नहीं है।[1] भोग छोड़ा, आसक्ति नहीं छोड़ी—वह न भोगी है, न त्यागी। भोगी इसलिए नहीं कि वह भोग नहीं भोगता। त्यागी इसलिए नहीं कि वह भोग की वासना त्याग नहीं सका। पराधीन होकर भोग का त्याग करनेवाला त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो भावनापूर्वक स्वाधीन भोग से दूर रहता है।[2] यही है श्रमण का श्रामण्य।

आश्रम-व्यवस्था श्रौत नहीं है, किन्तु स्मार्त्त है। लोकमान्य तिलक के अनुसार—'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाएं हैं, उनकी एक वाक्यता दिखलाने के लिए आयु के भेद के अनुसार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है।[3]

समाज-व्यवस्था के विचार से 'कर्म करो'—यह आवश्यक है। मोक्ष-साधना के विचार से 'कर्म छोड़ो'—यह आवश्यक है। पहली दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महिमा

---

१. आयारो, ५।४ :
णेव से अंतो, णेव से दूरे।

२. दसवेआलियं, २।२, ३।

३. गीता रहस्य, पृ० ३३९

गायी गयी।[1] दूसरी दृष्टि से संन्यास को सर्व-श्रेष्ठ कहा गया—'प्रव्रजेच्च परं स्थातुं पारिव्राज्यमनुत्तमम्'[2]।

दोनों स्थितियों को एक दृष्टि से देखने पर विरोध आता है। दोनों को भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाए तो दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है, विरोध की कोई बात ही नहीं। संन्यास-आश्रम के विरोध में जो वाक्य हैं, वे सम्भवतः उसकी ओर अधिक झुकाव होने के कारण लिखे गए। संन्यास की ओर अधिक झुकाव होना समाज-व्यवस्था की दृष्टि से स्मृतिकारों को नहीं रुचा, इसलिए उन्होंने ऋण चुकाने के बाद ही संसार-त्याग का, संन्यास लेने का विधान किया। गृहस्थाश्रम का कर्तव्य पूरा किये बिना जो श्रमण बनता है, उसका जीवन थोथा और दुःखमय है—यह महाभारत की घोषणा भी उसी कोटि का प्रतिकारात्मक भाव है। किन्तु यह समाज-व्यवस्था का विरोध अन्तःकरण की भावना को रोक नहीं सका।

श्रमण-परम्परा में श्रमण बनने का मानदण्ड यही 'संवेग' रहा है। जिनमें वैराग्य का पूर्णोदय न हो, उनके गृहवास है ही। वे घर में रहकर भी अपनी क्षमता के अनुसार मोक्ष की ओर आगे बढ़ सकते हैं। इस समग्र दृष्टिकोण से विचार किया जाए तथा आयु की दृष्टि से विचार किया जाए तो आश्रम-व्यवस्था का यांत्रिक स्वरूप हृदयंगम नहीं होता। आज के लिए तो पिचहत्तर वर्ष की आयु के बाद संन्यासी होना प्रायिक अपवाद ही हो सकता है, सामान्य विधि नहीं। अब रही कर्म की बात। खान-पान से लेकर कायिक, वाचिक और मानसिक सारी प्रवृत्तियां कर्म हैं। लोकमान्य के अनुसार जीना-मरना भी कर्म है।[3]

गृहस्थ के लिए भी कुछ कर्म निषिद्ध माने गए हैं। गृहस्थ के लिए विहित कर्म भी संन्यासी के लिए निषिद्ध माने गए हैं।[4] संक्षेप में 'सर्वारम्भ परित्याग' का आदर्श सभी आत्मवादी परम्पराओं में रहा है और उसकी आधारभूमि है—संन्यास। गृहवास की अपूर्णता से संन्यास का, भुक्ति की अपूर्णता से मुक्ति का, कर्म की अपूर्णता से ज्ञान का, स्वर्ग की अपूर्णता से अपवर्ग का और प्रवृत्ति की अपूर्णता से निवृत्ति का महत्त्व बढ़ा। ये भुक्ति आदि जीवन के अवश्यम्भावी अंग हैं और मुक्ति आदि लक्ष्य—इसी विवेक के सहारे भारतीय आदर्शों की समानान्तर रेखाएं निर्मित हुई हैं।

---

१. मनुस्मृति, ६।९
२. महाभारत, शान्ति पर्व, २४४।३।
३. गीता रहस्य, पृ० ४५।
४. मनुस्मृति, ६।२५।

४

जातिवाद

जातिवाद : दो धाराएं

ढाई हज़ार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूप से चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक—प्राय: सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसके मूल में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं—एक ब्राह्मण-परम्परा की, दूसरी श्रमण-परम्परा की। पहली परम्परा ने जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जातिः' का सिद्धान्त स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जातिः' यह पक्ष सामने रखा। इस जन-जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होंने जातिवाद के विरुद्ध बड़ी क्रान्ति की और इस आन्दोलन को बहुत सजीव और व्यापक बनाया। ब्राह्मण-परम्परा में जहां 'ब्रह्मा' के मुंह से जन्मने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्मने वाले क्षत्रिय, ऊरु से जन्मने वाले वैश्य, पैरों से जन्मने वाले शूद्र और अन्त में पैदा होनेवाले अन्त्यज[1]—यह व्यवस्था थी, वहां श्रमण-परम्परा ने—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म (आचरण) या वृत्ति के अनुसार होते हैं"[2]—यह घोषणा की। श्रमण-परम्परा की क्रान्ति से जातिवाद की शृङ्खलाएं शिथिल अवश्य हुईं पर उनका अस्तित्व नहीं मिटा। फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रान्ति की ब्राह्मण-परम्परा पर भी गहरी छाप पड़ी। "चाण्डाल और मच्छीमार के घर में पैदा होनेवाले

---

१. ऋग्वेद, १०।९०।१२ :
ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा अन्त्यजाः।

२. (क) उत्तरज्झयणाणि, ३३।२५ :
कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
(ख) सुत्तनिपात, (आर्गनक भारद्वाज सूत्त १३)
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥

व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए,[1] इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है" यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यों में जो हीनता के भाव पैदा किये, वे अन्त में छुआछूत तक पहुंच गए। इसलिए जाति क्या है? वह तात्त्विक है या नहीं? कौन-सी जाति श्रेष्ठ है? आदि-आदि प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है,[2] जिसमें एक ऐसी समान शृङ्खला हो जो दूसरों में न मिले। मनुष्य एक जाति है। मनुष्य-मनुष्य में समानता है और वह अन्य प्राणियों से विलक्षण भी है। मनुष्य-जाति बहुत बड़ी है, बहुत बड़े भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका सम्पर्क है। इससे उसमें भेद होना भी अस्वाभाविक नहीं। किन्तु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नहीं। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकन है, तीसरा रसियन—इनमें प्रादेशिक भेद हैं पर 'वे मनुष्य हैं' इसमें क्या अन्तर है, कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जलवायु के अन्तर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोइ बंगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई मुसलमान, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है, कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमें जो-जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग में समा जाते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियों में रहने के कारण अनेक वर्गों में चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियों की भाषा, वर्ण, धर्म, कर्म एक-से नहीं होते हैं। इन औपाधिक भेदों के कारण मनुष्य-जाति में इतना संघर्ष बढ़ गया है कि मनुष्यों को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नहीं मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बड़े-बड़े संग्राम हुए और आज भी उनका अन्त नहीं हुआ है। वर्ण-भेद, धर्म-भेद और छुआछूत के कीटाणुओं से आज की मनुष्य-जाति आक्रान्त है। ये सब समस्याएं हैं। इनको पार किये बिना मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं। मनुष्य-जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता में चली गई है कि उसे आज फिर मुड़कर देखने का आवश्यकता है।

जाति तात्त्विक है?

भारतवर्ष में जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पंडितों ने उनके प्रमुख विभाग चार बतलाए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति माननेवाली ब्राह्मण-परम्परा इनको तात्त्विक—शाश्वत मानती है और

---

१. महाभारत : तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्।
२. अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण-परम्परा के मतानुसार ये अतात्त्विक हैं, अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चयदृष्टि से देखें तो तात्त्विक मनुष्य-जाति है[1]। 'मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है', पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति में तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं। कर्म के अनुसार जाति है[2]। कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है। रत्नप्रभ-सूरि ने बहुत सारे शूद्रों को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आये और भारतीय जातियों में समा गए।

व्यवहार-दृष्टि में—ब्राह्मण-कुल में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण, वैश्य-कुल में जन्म लेनेवाला वैश्य—ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्विकता से नहीं जोड़ा जा सकता; कारण कि ब्राह्मण-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्य-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा जाए, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत में ही क्यों? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के ही लिए थे, या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी? हमें यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाज-शास्त्रियों की सूझ है, उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरतें हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार (आदान-प्रदान) और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए उन्होंने चार वर्ग बनाए और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिए—विद्यायुक्त-सदाचार-प्रधान ब्राह्मण, रक्षा-प्रधान क्षत्रिय, व्यवसाय-प्रधान वैश्य और शिल्प-प्रधान शूद्र। ऐसी व्यवस्था अन्य देशों में नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाए तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाए, तब भी इतना-सा तो कहना ही होगा कि जहां यह जातिगत अधिकार के रूप में कर्म को विकसित करने की योजना है, वहां व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विनाश की भी योजना है। एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान् है, फिर भी वह पढ़ नहीं सकता क्योंकि वह शूद्र जाति में जन्मा है। 'शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है'—

---

१. आदिपुराण, ३८ :
मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाद्धि तद्भेदाः, चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

२ पद्मपुराण, ६।२०९,२१० :
लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः, कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद् ब्राह्मणोब्रह्मचर्यतः॥

यह इस समाज-व्यवस्था एवं तद्गत धारणा का महान् दोष है, इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। इस वर्ण-व्यवस्था के निर्माण में समाज की उन्नति एवं विकास का ही ध्यान रहा होगा किन्तु आगे चलकर इसमें जो बुराइयां आयीं, वे और भी इसका अंग-भंग कर देती हैं। एक वर्ग का अहंभाव, दूसरे वर्ग की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत कर्म-व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति-व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाएं उत्पन्न नहीं होतीं। सामयिक क्रान्ति के फलस्वरूप बहुत सारे शूद्र-कुल में उत्पन्न व्यक्ति विद्याप्रधान और आचारप्रधान बने। क्या वे सही अर्थ में ब्राह्मण नहीं है? बहुत सारे विद्याशून्य और आचारशून्य ब्राह्मण क्या सही अर्थ में अब्राह्मण नहीं है? वर्णों के गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्त्विकता बतलाने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं।

कौन-सी जाति ऊंची और कौन-सी नीची—इसका भी एकान्त-दृष्टि से उत्तर नहीं दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहुसंख्यकों के आचार-विचार सुसंस्कृत और संयम-प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है।[1] व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मानदण्ड है। किन्तु इस दिशा में दोनों की संगति नहीं होती। वास्तविक दृष्टि में जहां संयम की प्रधानता रहती है, वहां व्यवहार-दृष्टि में अहंभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालों का इसके विरुद्ध संघर्ष चालू रहे—यही उसके आधार पर पनपनेवाली बुराइयों का प्रतिकार है।

जैनों और बौद्धों की क्रान्ति का ब्राह्मणों पर प्रभाव पड़ा। किन्तु महावीर-निर्वाण की दूसरी सहस्राब्दी में जैन आचार्य भी जातिवाद से प्रभावित हो गए, यह एक तथ्य है। इसे हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। आज भी जैनों पर जातिवाद का असर है। समय की मांग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।

मनुष्य जाति एक है

जाति सामाजिक व्यवस्था है। वह तात्त्विक वस्तु नहीं है। शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति का भेद नहीं जान पड़ता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म-

---

१. (क) धर्मप्रकरण, परिच्छेद १७
न जातिमात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपःशील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः॥
संयमो नियमः शीलं, तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां, सा जातिर्महती सताम्॥
(ख) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, २८ :
सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

पद्धति भी एक है। गाय और भैंस में जैसे जाति-कृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच जो जाति-कृत भेद है, वह परिकल्पित है।[1]

मनुष्य-जाति एक है। भगवान् ऋषभदेव राजा नहीं बने, तब तक वह एक ही रही। वे राजा बने, तब वह दो भागों में बंट गई—जो व्यक्ति राजाश्रित बने वे क्षत्रिय कहलाए और शेष शूद्र।

कर्मक्षेत्र की ओर मनुष्य-जाति की प्रगति हो रही थी। अग्नि की उत्पत्ति ने उसमें एक नया परिच्छेद जोड़ दिया। अग्नि ने वैश्य-वर्ग को जन्म दिया। लोहार, शिल्पी और विनिमय की दिशा खुली। मनुष्य-जाति के तीन भाग बन गए। भगवान् साधु बने। भरत चक्रवर्ती बना। उसने स्वाध्यायशील-मण्डल स्थापित किया। उसके सदस्य ब्राह्मण कहलाए। मनुष्य-जाति के चार भाग हो गए।[2]

युग-परिवर्तन के साथ-साथ इन चार वर्णों के संयोग से अनेक उपवर्ण और जातियां बन गईं।[3]

वैदिक विचार के अनुसार चार वर्ण सृष्टि-विधानसिद्ध हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार ये नैसर्गिक नहीं हैं। इनका वर्गीकरण क्रिया-भेद की भित्ति पर हुआ है।[4]

उच्चता और नीचता

उच्चत्व और नीचत्व नहीं होता, यह अभिमत नहीं है। वे हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से है, रक्त-परम्परा से नहीं। ब्राह्मण-परम्परा में गोत्र रक्त-परम्परा का पर्यायवाची माना जाता था। जैन-परम्परा में गोत्र शब्द का व्यवहार जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य—इनके प्रकर्ष और अपकर्ष दशा का सूचक था।

गोत्र के दो भेद हैं—उच्च और नीच। पूज्य और सामान्य व्यक्ति का गोत्र उच्च तथा अपूज्य और असामान्य व्यक्ति का गोत्र नीच होता है। 'गोत्र' शब्द का

---

१. उत्तरपुराण, :
वर्णाकृत्यादि भेदानां, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मणादिषु शूद्राद्यः गर्भाधानप्रवर्त्तनात्।
नास्ति जातिकृतो भेदो, मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात्, अन्यथा परिकल्पते।

२. आचारांग निर्युक्ति, १९ :
एक्का मणुस्सजाई, रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे।
तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि।

३. वही, २०-२७।

४. वरांगचरित्र, २५।११ :
क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति, न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥

यह व्यापक अर्थ है। यह गोत्र कर्म से सम्बन्धित है। साधारणतया गोत्र का अर्थ होता है—वंश, कुल और जाति।

गोत्रकर्म के साथ जाति का सम्बन्ध जोड़कर कुछ जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'गोत्रकर्म के उच्च और नीच—ये दो भेद शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं', तब जैन-धर्म जातिवाद का समर्थक कैसे नहीं है ? उनका तर्क गोत्र-कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है। गोत्र-कर्म न तो लोक-प्रचलित जातियों का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से सम्बन्ध रखता है।

समृद्धि की अपेक्षा भी जैनसूत्रों में कुल के उच्च-नीच—ये दो भेद बताये गए हैं। पुरानी व्याख्याओं में जो उच्च कुल के नाम गिनाये हैं, वे आज लुप्तप्राय हैं। इन तथ्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोत्र-कर्म मनुष्य-कल्पित जाति का आभारी है।

जिन देशों में वर्ण-व्यवस्था या जन्मगत ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं है, वहां गोत्र-कर्म की परिभाषा क्या होगी ? गोत्र-कर्म संसार के प्राणिमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में भारतीय और अभारतीय का सम्बन्ध नहीं है।

जीवात्मा के पौद्गलिक सुख-दुःख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य।

जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य-विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र-कर्म के फल हैं। नीच-गोत्र कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र-कर्म के फलों पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र-कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, किसी समूह से नहीं। एक व्यक्ति में भी आठों प्रकृतियां 'उच्चगोत्र' की ही हों या 'नीचगोत्र' की ही हों, यह कोई नियम नहीं। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार-योग्य और प्रतिष्ठा-प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च-गोत्र-कर्म भोग रहा है और रूप तथा बल से नीच-गोत्र-कर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन में जैसे न्यूनाधिक रूप में सुख और दुःख का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च गोत्र और नीच गोत्र का भी उदय होता रहता है। इस अध्ययन के पश्चात् गोत्र-कर्म और लोक-प्रचलित जातियां सर्वथा पृथक् हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। यद्यपि जाति और कुल का अर्थ व्यवहार-सिद्ध जाति और कुल से जोड़ा गया है किन्तु यह उनका वास्तविक अर्थ नहीं है। यह तो केवल स्थूल-दृष्टि से किया गया विचार या बोध-सुलभता के लिए प्रस्तुत किया गया उदाहरण मात्र है।

जातिभेद केवल मनुष्यों में है और गोत्र-कर्म का सम्बन्ध प्राणिमात्र से है, इसलिए उसके फलरूप में मिलनेवाले जाति और कुल प्राणिमात्र से सम्बन्ध रखनेवाले ही हो सकते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति-

स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक योनि में उत्पन्न होनेवाले अनेक वर्ग[1]। ये (जातियां और कुल) उतने ही व्यापक हैं जितना कि गोत्र-कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति-स्थान बड़ा भारी, स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का बहुत रुग्ण और दुर्बल। इसका फलित यह होता है—जाति की अपेक्षा 'उच्चगोत्र'—विशिष्टजन्म स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच-गोत्र'—निकृष्ट जन्म-स्थान। जन्म-स्थान का अर्थ होता है—मातृपक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही बात है। सिर्फ इतना अन्तर है कि कुल में पितृपक्ष की विशेषता होती है। जाति में उत्पत्ति-स्थान की विशेषता होती है और कुल में उत्पादक अंश की।[2]

'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः।'[3]

'मातृसमुत्था जातिः।'[4]

'जातिगुणवन्मातृकत्वम्।'[5]

'कुलगुणवत् पितृकत्वम्।'[6]

—इनमें जाति और कुल की जो व्याख्याएं हैं वे सब जाति और कुल का सम्बन्ध उत्पत्ति से जोड़ती हैं।

जाति परिवर्तनशील है

जातियां सामयिक होती हैं। उनके नाम और उनके प्रति होनेवाला प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का भाव बदलता रहता है। जैन-आगमों में जिन जाति, कुल और गोत्रों का उल्लेख है, उनका अधिकांश भाग आज उपलब्ध भी नहीं है।

१. अंबष्ठ, २. कलन्द, ३. वैदेह, ४. वैदिक, ५. हरित, ६. चुंचुण—ये छह प्रकार के मनुष्य जाति-आर्य या इभ्य जाति वाले हैं।

१. उग्र, २. भोग, ३. राजन्य, ४. इक्ष्वाकु, ५. ज्ञात, ६. कौरव—ये छह प्रकार के मनुष्य कुलार्य हैं।

१. काश्यप, २. गौतम, ३. वत्स, ४. कुत्स, ५. कौशिक, ६. मण्डव, ७. विशिष्ट—ये सात मूल गोत्र हैं। इन सातों में से प्रत्येक के सात-सात अवान्तर भेद हैं।[7]

---

१. आचारांग वृत्ति, १।६।
२. पिंडनिर्युक्ति ४६८ वृत्ति :
जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमुग्रादि अथवा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्।
३. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, ३।२।
४. सूयगडो, वृत्ति, ६।१३।
५. स्थानांगवृत्ति, पत्र १६८।
६. वही, पत्र १६८।
७. ठाणं, ७।३०

वर्तमान में हज़ारों नई जातियां बन गई हैं। इनकी यह परिवर्तनशीलता ही इनकी अतात्त्विकता का स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

हरिकेशवल मुनि ने ब्राह्मणकुमारों से कहा—जो व्यक्ति क्रोध, मान, वध, मृषा, अदत्त और परिग्रह से घिरे हुए हैं, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से हीन हैं।[1]

ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मचारी है।[2]

ब्रह्मर्षि जयघोष विजयघोष की यज्ञस्थली में गए। दोनों में चर्चा चली। जातिवाद का प्रश्न आया। भगवान् महावीर की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए मुनि बोले—जो निसंग और निःशोक है और आर्यवाणी में रमता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो तपे हुए सोने के समान निर्मल है, राग, द्वेष और भय से अतीत है उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो तपस्वी क्षीणकाय, जितेन्द्रिय, रक्त और मांस से अपचित, सुव्रत और शान्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो क्रोध, लोभ, भय और हास्य-वश असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो सजीव या निर्जीव थोड़ा या बहुत अदत्त नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो स्वर्गीय, मानवीय और पाशविक किसी भी प्रकार का अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल उससे ऊपर रहता है, उसी प्रकार जो काम-भोगों से ऊपर रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

जो अस्वाद-वृत्ति, निःस्पृहभाव से भिक्षा लेनेवाले, घर और परिग्रह से रहित और गृहस्थ से अनासक्त है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

जो बन्धनों को छोड़कर फिर से उनमें आसक्त नहीं होता, उसे हम बाह्मण कहते हैं।[3]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये कार्य से होते हैं।[4] तत्त्व-दृष्ट्या व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके आचरण ही बनाते हैं। कार्य-विभाग से मनुष्य का श्रेणी-विभाग होता है, वह उच्चता और नीचता का मानदण्ड नहीं होता।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, १२।१४

२. वही, २५।३२ : बंभचेरेण बंभणो।

३. वही, २५।२०, २९

४. वही, २५।३३।

जाति-गर्व तुच्छता का अभियान

यह जीव नाना गोत्र वाली जातियों में आवर्त करता है। कभी देव, कभी नैरयिक और कभी असुर काम में चला जाता है। वह कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल, कभी कीड़ा और जुगुनू और कभी कुंथू और चींटी वन जाता है। जब तक संसार नहीं कटता, तब तक यह चलता ही रहता है। अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी भूमिकाओं का संयोग मिलता ही रहता है।

यह जीव अनेक वार उच्च गोत्र में और अनेक वार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है। पर यह कभी भी न बड़ा वना और न छोटा। इसलिए जाति-मद नहीं करना चाहिए। जो कभी नीच गोत्र में जाता है, वह कभी उच्च गोत्र में भी चला जाता है और उच्च गोत्री नीच गोत्री वन जाता है। यह जानकर भी भला कोई आदमी गोत्रवादी या मानवादी होगा ? यह प्राणी अनेक योनियों में जन्म लेता रहा है, तव भला वह कहां गृद्ध होगा !

एक जन्म में एक प्राणी अनेक प्रकार की ऊंच-नीच अवस्थाएं भोग लेता है। इसीलिए उच्चता का अभिमान करना उचित नहीं है।

जो साधक जाति आदि का मद करता है, दूसरों को परछाईं की भांति तुच्छ समझता है, वह अहंकारी पुरुष सत्य का अनुगामी नहीं हो सकता। वह वस्तुतः मूर्ख है, पंडित नहीं है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र और लिच्छवी—इन विशिष्ट अभिमानास्पद कुलों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति दीक्षित होकर अपने उच्च गोत्र का अभिमान नहीं करता, वही सत्य का अनुगामी होता है। जो भिक्षु परदत्त-भोजी होता है, भिक्षा से जीवन यापन करता है, वह भला किस बात का अभिमान करे ?

अभिमान से कुछ वनता नहीं, विगड़ता है। जाति और कुल मनुष्यों को त्राण नहीं दे सकते। दुर्गति से वचाने वाले दो ही तत्त्व हैं। वे हैं—विद्या और आचरण।

जो साधक साधना के क्षेत्र में पैर रखकर भी गृहस्थ-कर्म का आसेवन करता है, जाति आदि का मद करता है, वह पारगामी नहीं बन सकता।

साधना का प्रयोजन मोक्ष है। वह अगोत्र है। उसे जाति-गोत्र के सारे सम्बन्धों से छूटे हुए महर्षि ही पा सकते हैं।

जो पुरुष मिष्टभाषी, सूक्ष्मदर्शी और मध्यस्थ है वही जाति-सम्पन्न है।

जाति-गर्व का परिणाम

जाति-गर्व का पहला परिणाम सामाजिक दुर्व्यवस्था और विद्रोह है। भगवान् महावीर ने इसका पारलौकिक फल भी बहुत अनिष्ट वतलाया है।

कोई पुरुष जाति, कुल बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद

अथवा किसी दूसरे मद-स्थान से उन्मत्त होकर दूसरों की अवहेलना, निन्दा और गर्हणा करता है, उनसे घृणा करता है, उन्हें तिरस्कृत और अपमानित करता है—यह दीन है, मैं जाति, कुल, बल आदि गुणों से विशिष्ट हूं—इस प्रकार गर्व करता है, वह अभिमानी पुरुष मरकर गर्भ, जन्म और मौत के प्रवाह में निरन्तर चक्कर लगाता है। क्षण भर भी उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती।[1]

१. एक व्यक्ति जाति-सम्पन्न (शुद्ध मातृक) होता है, कुल-सम्पन्न (शुद्ध पितृक) नहीं होता।

२. एक व्यक्ति कुल-सम्पन्न होता है, जाति-सम्पन्न नहीं होता।

३. एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से सम्पन्न होता है।

४. एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से ही सम्पन्न नहीं होता।[2]

जाति और कुल-भेद का आधार मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान कुटुम्ब-व्यवस्था भी हो सकती है। जिस कुटुम्ब के संचालन का भार स्त्रियों ने वहन किया, उनके वर्ग 'जाति' कहलाए और पुरुषों के नेतृत्व में चलनेवाले कुटुम्बों के वर्ग 'कुल' कहलाए।

सन्तान पर पिता-माता के अर्जित गुणों का असर होता है। इस दृष्टि से जाति और कुल का विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है। किन्तु वह सामाजिक उच्चता और नीचता का मानदण्ड नहीं है।

समता धर्म में जातिवाद का अनवकाश

जो सम्यक्-दृष्टि है, जिन्हें देह और जीव में भेद-दर्शन की दृष्टि मिली है, वे देह-भेद के आधार पर जीव-भेद नहीं कर सकते। जीव के लक्षण ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के प्रति देह-भेद के आधार पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।[3]

जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवों में भेद मानते हैं, वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जीव का लक्षण नहीं मानते।

जिसका आचरण पवित्र होता है, वह आदरणीय होता है। कोई व्यक्ति जाति से भले ही चाण्डाल हो, किन्तु यदि वह व्रती है तो उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं।[4]

---

१. सूयगडो, २।२।२५

२. ठाणं, ४।२२६

३. परमात्मप्रकाश, १०२ :
देहविभेइयं जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु।
सो ण वि लक्खणु मुणइ तहं दंसणुणाणुचरित्तु ।।

४. पद्मपुराण, ११।२०३:
व्रतस्थमपि चाण्डालं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जाति के गर्व से गर्वित ब्राह्मण चाण्डाल-मुनि के तपोबल से अभिभूत हो गए। इस दशा का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'यह आंखों के सामने है—तपस्या ही प्रधान है। जाति का कोई महत्त्व नहीं हैं। जिसकी योग-विभूति और सामर्थ्य अचम्भे में डालनेवाली है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है।"[1]

जो नीच जन हैं, वे असत्य का आचरण करते हैं। इसका फलित यह होता हैं जो असत्य का आचरण नहीं करते, वे नीच नहीं हैं।'[2]

श्रमण का उपासक हर कोई बन सकता है। उसके लिए जाति का बन्धन नहीं है। श्रावक के सिर में मणि जड़ा हुआ नहीं होता। जो अहिंसा-सत्य का आचरण करता है वही श्रावक है, भले फिर वह शूद्र हो या ब्राह्मण।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, १२।३७:
सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

२. प्रश्नव्याकरण, २ आश्रवद्वार।

५

जन दशन : वतमान समस्याओं के सन्दर्भ में

समत्व की पृष्ठभूमि

दर्शन के सत्य ध्रुव होते हैं। उनकी अपेक्षा त्रैकालिक होती है। मानव-समाज की कुछ समस्याएं बनती-मिटती रहती हैं। किन्तु कुछ समस्याएं मौलिक होती हैं। वार्तमानिक समस्या के समाधान का दायित्व दर्शन पर होता है। पर मूलतः दर्शन उन समस्याओं का समाधान देता है, जो मौलिक होने के साथ-साथ दूसरी समस्याओं को उत्पन्न भी करती हैं।

वैषम्य एक समस्या है। उसका कारण है—समत्व के दृष्टिकोण का अविकास। भगवान् महावीर ने साम्य का जो स्वर उद्बुद्ध किया, वह आज भी मननीय है। भगवान् ने कहा—"प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय ? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्वों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है।"

"जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे तर्जित करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उन्हें परिताप नहीं पहुंचाना चाहिए, उन्हें उद्विग्न नहीं करना चाहिए।[1]

इस साम्य-दर्शन के पीछे शक्ति का तन्त्र नहीं है, इसलिए यह समाज को अधिक समृद्ध बना सकता है। समूचा विश्व अहिंसा या साम्य की चर्चा कर रहा है। इस संस्कार की पृष्ठभूमि में जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। कायिक और

---

१ सूयगडो, २।१।१५

मानसिक अहिंसा और उसकी वैयक्तिक और सामाजिक साधना का सुव्यवस्थित रूप जैन तीर्थंकरों ने दिया, वह इतिहास द्वारा भी अभिमत है।

सब जीव समान हैं

बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी जीवों का भीतरी जगत् एक-जैसा है। इसे समझ लेने पर समत्व का आधार पुष्ट हो जाता है। समानता के विभिन्न दृष्टिकोण ये हैं—

(क) परिमाण की दृष्टि से

जीवों के शरीर भले छोटे हों या बड़े, आत्मा सबमें समान है। चींटी और हाथी—दोनों की आत्मा समान है।

भगवान् ने कहा—गौतम ! चार वस्तुएं समतुल्य हैं—आकाश (लोकाकाश)—गति-सहायक-तत्त्व (धर्म), स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्म) और एक जीव—इन चारों के अवयव बराबर हैं। तीन व्यापक हैं। जीव कर्म शरीर से बंधा हुआ रहता है, इसलिए वह व्यापक नहीं बन सकता। उसका परिमाण शरीर-व्यापी होता है। शरीर—मनुष्य, पशु, पक्षी—इन जातियों के अनुरूप होता है। शरीर-भेद के कारण प्रसरण-भेद होने पर भी जीव के मौलिक परिमाण में कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता। इसलिए परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ख) ज्ञान की दृष्टि से

मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों का ज्ञान सबसे कम विकसित होता है। ये एकेन्द्रिय हैं। इन्हें केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। इनकी शारीरिक दशा दयनीय होती है। इन्हें छूने मात्र से अपार कष्ट होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अमनस्क पंचेन्द्रिय, समनस्क पंचेन्द्रिय—ये जीवों के क्रमिक विकास-शील वर्ग हैं। ज्ञान का विकास सब जीवों में समान नहीं होता किन्तु ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान होती है। प्राणिमात्र में अनन्त ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिए ज्ञान-सामर्थ्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ग) वीर्य की दृष्टि से

कई जीव प्रचुर उत्साह और क्रियात्मक वीर्य से सम्पन्न होते हैं तो कई उनके धनी नहीं होते। शारीरिक तथा पारिपार्श्विक साधनों की न्यूनाधिकता और उच्चावचता के कारण ऐसा होता है। आत्म-वीर्य या योग्यतात्मक वीर्य में कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता, इसलिए योग्यतात्मक वीर्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(घ) अपौद्गलिकता की दृष्टि से

किन्हीं का शरीर सुन्दर, जन्मस्थान पवित्र और व्यक्तित्व आकर्षक होता है और किन्हीं का इसके विपरीत होता हैं।

कई जीव लम्बा जीवन जीते हैं, कई छोटा, कई यश पाते हैं और कई नहीं पाते या कुयश पाते हैं, कई उच्च कहलाते हैं और कई नीच, कई सुख की अनुभूति

करते हैं और कई दुःख की। ये सब पौद्गलिक उपकरण हैं। जीव अपौद्गलिक है, इसलिए अपौद्गलिकता की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ङ) निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से

कई व्यक्ति हिंसा करते हैं—कई नहीं करते, कई झूठ बोलते हैं—कई नहीं बोलते, कई चोरी और संग्रह करते हैं—कई नहीं करते, कई वासना में फंसते हैं—कई नहीं फंसते। इस वैषम्य का कारण मोह (मोहक-पुद्गलों) का उदय और अनुदय है। मोह के उदय से व्यक्ति में विकार आता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये विकार (विभाव) हैं। मोह के अनुदय से व्यक्ति स्वभाव में रहता है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह स्वभाव है। विकार औपाधिक होता है। निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(च) स्वभाव-बीज की समता की दृष्टि से

आत्मा परमात्मा है। पौद्गलिक उपाधियों से वंधा हुआ जीव संसारी-आत्मा है। उनसे मुक्त जीव परमात्मा है। परमात्मा के आठ लक्षण हैं—

१. अनन्त-ज्ञान, २. अनन्त-दर्शन, ३. अनन्त-आनन्द, ४. अनन्त-पवित्रता, ५. अपुनरावर्तन, ६. अमूर्तता—अपौद्गलिकता, ७. अगुरु-लघुता—पूर्ण साम्य, ८. अनन्त-शक्ति।

इन आठों के बीज प्राणिमात्र में सममात्र होते हैं। विकास का तारतम्य होता है। विकास की दृष्टि से भेद होते हुए भी स्वभाव-बीज की साम्य-दृष्टि से सब जीव समान हैं।

यह आत्मौपम्य या सर्व-जीव-समता का सिद्धान्त समत्व की आधार-शिला है।

सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टिकोण

निरपेक्ष दृष्टि एक समस्या है। उसका समाधान है—सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास।

सापेक्ष दृष्टि ध्रुव सत्य की अपरिहार्य व्याख्या है। यह जितना दार्शनिक सत्य है, उतना ही व्यवहार-सत्य है। हमारा जीवन वैयक्तिक भी है और सामुदायिक भी। इन दोनों कक्षाओं में सापेक्षता की अर्हता है।

सापेक्ष नीति से व्यवहार में सामंजस्य आता है। उसका परिणाम है मैत्री, शान्ति और व्यवस्था। निरपेक्ष-नीति अवहेलना, तिरस्कार और घृणा पैदा करती है। परिवार, जाति, गांव, राज्य, राष्ट्र और विश्व—ये क्रमिक विकासशील संगठन हैं। संगठन का अर्थ है—सापेक्षता। सापेक्षता का नियम जो दो के लिए है, वही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के लिए है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व साधता है, वहां असमंजसता खड़ी हो जाती है। उसका परिणाम है—कटुता, संघर्ष और अशान्ति।

निरपेक्षता के पांच रूप बनते हैं—

१. वैयक्तिक, २. जातीय, ३. सामाजिक, ४. राष्ट्रीय, ५. अन्तर्राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं—वर्ग-भेद, अलगाव, अव्यवस्था, संघर्ष, शक्ति-क्षय, युद्ध और अशान्ति।

सापेक्षता के रूप भी पांच हैं—

१. वैयक्तिक, २. जातीय, ३. सामाजिक, ४. राष्ट्रीय, ५. अन्तर्राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं—समता-प्रधान-जीवन, सामीप्य, व्यवस्था, स्नेह, शक्ति-संवर्धन, मैत्री और शान्ति।

व्यक्ति और समुदाय

व्यक्ति अकेला ही नहीं आता। वह बन्धन के बीज साथ लिए आता है। अपने हाथों उन्हें सींच विशाल वृक्ष बना लेता है। वही निकुंज उसके लिए बन्धन गृह बन जाता है। बन्धन लादे जाते हैं, यह तात्कालिक सत्य है। स्थायी सत्य यह है कि बंधन स्वयं विकसित किए जाते हैं।

उन्हीं के द्वारा वैयक्तिकता समुदाय से जुड़कर सीमित हो जाती है। वैयक्तिकता और सामुदायिकता के बीच भेद-रेखा खींचना सरल कार्य नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति ही है। सब स्थितियों में वह व्यक्ति ही रहता है। जन्म, मौत और अनुभूति का क्षेत्र व्यक्ति की वैयक्तिकता है। सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है, वही समुदाय है।

पारस्परिकता की सीमा से इधर जो कुछ भी है, वह वैयक्तिकता है। व्यक्ति का आन्तरिक क्षेत्र वैयक्तिक है, वह उससे जितना बाहर जाता है उतना ही सामुदायिक बनता चलता है।

व्यक्ति को समाज-निरपेक्ष और समाज को व्यक्ति-निरपेक्ष मानना एकान्त पार्थक्यवादी नीति है। इससे दोनों की स्थिति असमंजस बनती है।

समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कहीं व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य।

इस स्थिति में स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मथनी के रूपक में चित्रित किया है। मन्थन के समय एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। दूसरा आगे आता है, पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह मिलता है। एकान्त आग्रह से खिंचाव बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीयनिरपेक्ष ता

वहुता और अल्पता, व्यक्ति और समूह के ऐकान्तिक आग्रह पर असन्तुलन बढ़ता है, सामंजस्य की कड़ी टूट जाती है।

अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम हित—यह जो सामाजिक उपयोगिता का सिद्धान्त है, वह निरपेक्ष नीति पर आधारित है। इसी के आधार पर हिटलर ने यहूदियों पर मनमाना अत्याचार किया।

वहु संख्यकों के लिए अल्प संख्यकों तथा वड़ों के लिए छोटों के हितों का बलिदान करने के सिद्धान्त का औचित्य निरपेक्ष दृष्टिकोण की देन है।

सामन्तवादी युग में बड़ों के लिए छोटों के हितों का त्याग उचित माना जाता था। वहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा वड़े राष्ट्रों के लिए छोटे राष्ट्रों की उपेक्षा आज भी होती है। यह अशान्ति का हेतु बनता है। सापेक्ष-नीति के अनुसार किसी के लिए भी किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता।

बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को नगण्य मान उन्हें आगे आने का अवसर नहीं देते। इस निरपेक्ष-नीति की प्रतिक्रिया होती है। फलस्वरूप छोटे राष्ट्रों में बड़ों के प्रति अस्नेह-भाव उत्पन्न हो जाता है। वे संगठित हो उन्हें गिराने की सोचते हैं। घृणा के प्रति घृणा और तिरस्कार के प्रति तिरस्कार तीव्र हो उठता है।

मैत्री की पृष्ठभूमि सत्य है। वह ध्रुवता और परिवर्तन दोनों के साथ जुड़ा हुआ है। अपरिवर्तन जितना सत्य है उतना ही सत्य है परिवर्तन। जो अपरिवर्तन को नहीं जानता वह चक्षुष्मान् नहीं हैं, वैसे ही वह भी चक्षुष्मान् नहीं है, जो परिवर्तन को नहीं समझता।

वस्तुएं बदलती हैं, क्षेत्र वदलता है, काल वदलता है, विचार बदलते हैं, इनके साथ स्थितियां वदलती हैं। बदलते सत्य को जो पकड़ लेता है, वह सामंजस्य की तुला में चढ़ दूसरों का साथी बन जाता है।

समय-समय पर हुई राज्यक्रान्तियों ने राज्यसत्ताओं को वदल डाला। राज्य की सीमाएं बदलती रही हैं। शासन-काल बदलता रहा है। शासन की पद्धतियां भी बदलती रही हैं। इन परिवर्तनों का मूल्यांकन करनेवाले ही अशान्ति को टाल सकते हैं।

भेदात्मक प्रवृत्तियों के ऐकान्तिक आग्रह से अखण्डता का नाश होता है।

अभेदात्मक वृत्ति के एकान्त आग्रह से खण्ड की वास्तविकता और उपयोगिता का लोप होता है।

व्यष्टि और समष्टि तथा अपरिवर्तन और परिवर्तन के समन्वय से व्यवहार का सामंजस्य और व्यवस्था का सन्तुलन होता है, वह इनके असमन्वय में नहीं होता।

समन्वय की दिशा में प्रगति

समन्वय का सिद्धान्त जैसे विश्व-व्यवस्था से सम्बद्ध है, वैसे ही व्यवहार और उपयोगिता से भी सम्बद्ध है। विश्व-व्यवस्था में जो सहज सामंजस्य है, उसका हेतु उसी में निहित है। वह है—प्रत्येक पदार्थ में विभिन्नता और समता का सहज समन्वय। यही कारण है कि सभी पदार्थ अपनी स्थिति में क्रियाशील रहते हैं। उपयोगिता के क्षेत्र में सहज समन्वय नहीं है, इसलिए वहां सहज सामंजस्य भी नहीं है। असामंजस्य का कारण एकान्त-बुद्धि और एकान्त-बुद्धि का कारण पक्षपातपूर्ण बुद्धि है।

स्व और पर का भेद तीव्र होता है, तटस्थ वृत्ति क्षीण हो जाती है, हिंसा का मूल यही है।

अहिंसा की जड़ है—मध्यस्थ-वृत्ति—लाभ और अलाभ में वृत्तियों का सन्तुलन।

स्व के उत्कर्ष में पर की हीनता का प्रतिविम्ब होता है। पर के उत्कर्ष में स्व की हीनता की अनुभूति होती है। ये दोनों ही एकान्तवाद हैं।

एक जाति या राष्ट्र दूसरी जाति या राष्ट्र पर हावी हुआ या होता है, वह इसी एकान्तवाद की प्रतिच्छाया है।

पर के जागरण-काल में स्व के उत्कर्ष का पारा ऊंचा चढ़ा नहीं रह सकता। वहां दोनों मध्य-रेखा पर आ जाते हैं। उनका दृष्टिकोण सापेक्ष वन जाता है।

आज की राजनीति सापेक्षता की दिशा में गति कर रही है। कहना चाहिए —विश्व का मानस अनेकान्त को समझ रहा है और व्यवहार में उतार रहा है।

इस दशक का मानस समन्वय की रेखा को और स्पष्ट खींच रहा है।

भगवान् महावीर का दार्शनिक मध्यम-मार्ग ज्ञात-अज्ञात रूप में विकसित हो रहा है।

सापेक्षता के सूत्र

१. कोई भी वस्तु और वस्तु-व्यवस्था स्याद्वाद या सापेक्षवाद की मर्यादा से वाहर नहीं है।

२. दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं। उनमें सहानवस्थान (एक साथ न टिक सके) जैसा विरोध नहीं है।

३. जितने वचन प्रकार हैं उतने ही नय हैं।

४. ये विशाल ज्ञानसागर के अंश हैं।

५. ये अपनी-अपनी सीमा में सत्य हैं।

६. दूसरे पक्ष में सापेक्ष हैं तभी सत्य हैं।

७. दूसरे पक्ष की सत्ता में हस्तक्षेप, अवहेलना और आक्रमण करते हैं तब वे असत्य बन जाते हैं।

८. सब दृष्टिकोण परस्पर में विरोधी हैं—पूर्ण साम्य नहीं हैं किन्तु सापेक्ष हैं, एकत्व की कड़ी से जुड़े हुए हैं, इसलिए वे अविरोधी सत्य के साधक हैं। क्या संयुक्त राष्ट्र-संघ के निर्माण का यह आधारभूत सत्य नहीं है, जहां विरोधी राष्ट्र भी एकत्रित होकर विरोध का परिहार करने का यत्न करते हैं।

९. एकान्त अविरोध और एकान्त विरोध से पदार्थ-व्यवस्था नहीं होती। व्यवस्था की व्याख्या अविरोध और विरोध की सापेक्षता द्वारा की जा सकती है।

१०. जितने एकान्तवाद या निरपेक्षवाद हैं, ये सब दोषों से भरे पड़े हैं।

११. ये परस्पर ध्वंसी हैं—एक-दूसरे का विनाश करनेवाले हैं।

१२. स्याद्वाद और नयवाद में अनाक्रमण, हस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता——ये सामंजस्यकारक सिद्धान्त हैं।

इनका व्यावहारिक उपयोग भी असन्तुलन को मिटानेवाला है।

साम्प्रदायिक सापेक्षता

धार्मिक क्षेत्र भी सम्प्रदायों की विविधता के कारण असामंजस्य की रंगभूमि बना हुआ है।

समन्वय का पहला प्रयोग वहां होना चाहिए। समन्वय का आधार ही अहिंसा है। अहिंसा ही धर्म है। धर्म का ध्वंसक कीटाणु है—साम्प्रदायिक आवेश।

आचार्यश्री तुलसी द्वारा सन् १९५४ में बम्बई में प्रस्तुत साम्प्रदायिक एकता के पांच व्रत इस अभिनिवेश के नियन्त्रण का सरल आधार प्रस्तुत करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किए जाएं।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

सामंजस्य का आधार—मध्यम-मार्ग

भेद और अभेद—ये हमारी स्वतन्त्र चेतना, स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्वतन्त्र

सत्ता के प्रतीक हैं। ये विरोध और अविरोध के साधन नहीं हैं। अविरोध का आधार यदि अभेद होगा तो भेद विरोध का आधार अवश्य बनेगा।

अभेद और भेद—ये वस्तु या व्यक्ति के नैसर्गिक गुण हैं। इनकी सहस्थिति ही व्यक्ति या वस्तु है। इसलिए इन्हें अविरोध या विरोध का साधन नहीं बनाना चाहिए। भेद भी अविरोध का साधन बने—यही समन्वय से प्रतिफलित साधना का स्वरूप है। यही है अहिंसा, मध्यस्थवृत्ति, तटस्थ नीति या साम्य-योग।

जाति, रंग और वर्ग के भेदों को लेकर जो संघर्ष चल रहे हैं, उनका आधार विषम मनोवृत्ति है। उसके बीज की उर्वर भूमि एकान्तवाद है। निरंकुश एकाधिपत्य और अराजकता—ये दोनों ही एकान्तवाद हैं। वाणी, विचार, लेख और मान्यता का नियन्त्रण स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अपहरण है।

ाजकता में समूचा जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। सामंजस्य की रेखा इनके बीच में है।

व्यक्ति अकेलेपन और समुदाय के मध्य-बिन्दु पर जीता है। इसलिए उसके सामंजस्य का आधार मध्यम-मार्ग ही हो सकता है।

शान्ति और समन्वय

प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय यथार्थ-मूल्यों के द्वारा ही शान्ति का अर्जन और उपभोग कर सकता है। इसलिए दृष्टिकोण को वस्तुस्पर्शी बनाना उनके लिए वरदान जैसा होता है।

पूर्व-मान्यता या रूढ़ि के कारण कुछ व्यक्ति या राष्ट्र स्थिति का यथार्थ मूल्य नहीं आंकते या आंकना नहीं चाहते—वे अतीतदर्शी हैं।

अतीत-दर्शन के आधार पर वर्तमान (ऋजुसूत्र नय) की अवहेलना करना निरपेक्ष-नीति है। इसका परिणाम है—असामंजस्य।

यह असंदिग्ध सत्य है कि शक्ति-प्रयोग निरपेक्षता की मनोवृत्ति का परिणाम है। निरपेक्षता से सद्भावना का अन्त और कटुता का विकास होता है। कटुता की परिसमाप्ति अहिंसा में निहित है। क्रूरता का भाव तीव्र होता है, समन्वय की बात नहीं सूझती। समन्वय और अहिंसा अन्योन्याश्रित हैं। शान्ति से समन्वय और समन्वय से शान्ति होती है।

सह-अस्तित्व की धारा

प्रभु-सत्ता की दृष्टि से सब स्वतन्त्र राष्ट्र समान हैं किन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से सब समान नहीं भी हैं। समृद्धि का कोई न कोई भाग सभी को मिला है। सामर्थ्य की विभिन्न कक्षाएं बंटी हुई हैं। सब पर किसी एक की प्रभु-सत्ता नहीं है। एक-दूसरे में पूर्ण साम्य और वैषम्य भी नहीं है। कुछ साम्य और कुछ वैषम्य से वंचित भी

कोई नहीं है। इसलिए कोई किसी को मिटा भी नहीं सकता और मिट भी नहीं सकता। वैषम्य को ही प्रधान मान जो दूसरे को मिटाने की सोचता है, वह वैषम्यवादी नीति के एकान्तीकरण द्वारा असामंजस्य की स्थिति पैदा कर डालता है।

साम्य को ही एकमात्र प्रधान मानना भी साम्यवादी नीति का एकान्तिक आग्रह है। दोनों के एकान्तिक आग्रह के परिणामस्वरूप ही आज शीत-युद्ध का बोलबाला है।

विरोधी युगलों के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल एक साथ ही रहते हैं। जिस पदार्थ में कुछ गुणों की अस्तिता है, उसमें कुछ की नास्तिता है। यह अस्तिता और नास्तिता एक ही पदार्थ के दो विरोधी, किन्तु सह-अवस्थित धर्म हैं।

सहावस्थान विश्व की विराट् व्यवस्था का अंग है। यह जैसे पदार्थाश्रित है, वैसे ही व्यवहाराश्रित है। साम्यवादी और जनतन्त्री राष्ट्र एक साथ जी सकते हैं—राजनीति के रंगमंच पर यह घोष बलशाली बन रहा है। यह समन्वय के दर्शन का जीवन-व्यवहार में पड़नेवाला प्रतिविम्ब है।

वैयक्तिकता, जातीयता, सामाजिकता, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता—ये निरपेक्ष रूप में बढ़ते हैं, तब असामंजस्य के लिए ही बढ़ते हैं।

व्यक्ति और सत्ता दोनों भिन्न ही हैं, यह दोनों के सम्बन्ध की अवहेलना है।

व्यक्ति ही तत्त्व है—यह राज्य की प्रभु-सत्ता का तिरस्कार है। राज्य ही तत्त्व है—यह व्यक्ति की सत्ता का तिरस्कार है। सरकार ही तत्त्व है—यह स्थायी तत्त्व—जनता का तिरस्कार है। जहां तिरस्कार है, वहां निरपेक्षता है। जहां निरपेक्षता है, वहां असत्य है। असत्य की भूमिका पर सह-अस्तित्व का सिद्धान्त पनप नहीं सकता।

सह-अस्तित्व का आधार—संयम

सह-अस्तित्व का सिद्धान्त राजनयिकों ने भी समझा है। राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध का आधार जो कूटनीति था, वह बदलने लगा है। उसका स्थान सह-अस्तित्व ने लिया है। अब समस्याओं का समाधान इसी को आधार मान खोजा जाने लगा है। किन्तु अभी एक मंजिल और पार करनी है।

दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना त्यागे विना सह-अस्तित्व का सिद्धान्त सफल नहीं होता। स्याद्वाद की भाषा में—स्वयं की सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही दूसरे पदार्थों की असत्ता भी उसका गुण है। स्वापेक्षा से सत्ता और परापेक्षा से असत्ता—ये दोनों गुण पदार्थ की स्वतन्त्र-व्यवस्था के हेतु हैं।

स्वापेक्षया सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही परापेक्षया असत्ता उसका गुण नहीं होता तो द्वैत होता ही नहीं। द्वैत का आधार स्व-गुण-सत्ता और पर-गुण-असत्ता का सहावस्थान है।

सह-अस्तित्व में विरोध तभी आता है जब एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र; दूसरे व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं। यह आक्रामक नीति ही सह-अस्तित्व की बाधा है। अपने से भिन्न वस्तु के स्वत्व का निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। स्व के आरोप में एक विचित्र प्रकार का मानसिक झुकाव होता है। वह सत्य पर आवरण डाल देता है। सत्ताशक्ति या अधिकार-विस्तार की भावना के पीछे यही तत्त्व सक्रिय होता है।

स्वत्व की मर्यादा

आन्तरिक क्षेत्र में व्यक्ति की अनुभूतियां और अन्तर् का आलोक ही उसका स्व है।

बाहरी सम्बन्धों में स्व की मर्यादा जटिल बनती है। दूसरों के स्वत्व या अधिकारों का हरण स्व नहीं—यह अस्पष्ट नहीं है। संघर्ष या अशान्ति का मूल दूसरों के स्व का अपहरण ही है।

युग-भावना के साथ-साथ 'स्व' की मर्यादा भी बदलती है। उसे समझनेवाला मर्यादित हो जाता है। वह संघर्ष की चिनगारी नहीं उछालता। रूढ़िपरक लोग 'स्व' की शाश्वत स्थिति से चिपके बैठे रहते हैं। वे अशान्ति पैदा करते हैं।

बाहरी सम्बन्धों में स्व की मर्यादा शाश्वत या स्थिर हो भी नहीं सकती। इसलिए भावना-परिवर्तन के साथ-साथ स्वयं को बदलना भी जरूरी हो जाता है। बाहर से सिमटकर अधिकारों में आना शान्ति का सर्वप्रधान सूत्र है, उसमें खतरा है ही नहीं। इस जन-जागरण के युग में उपनिवेशवाद, सामन्तवाद और एकाधिकारवाद मिटते जा रहे हैं। विचारशील व्यक्ति और राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने अपने विशाल रूप को छोड़ अपने रूप में सिमटते जा रहे हैं। यह सामंजस्य की रेखा है।

वर्ग-विग्रह और अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह की समापन-रेखा भी यही है। इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि आज का विश्व व्यावहारिक समन्वय की दिशा में प्रगति कर रहा है।

निष्कर्ष

शान्ति का आधार—व्यवस्था है।
व्यवस्था का आधार—सह-अस्तित्व है।
सह-अस्तित्व का आधार—समन्वय है।

समन्वय का आधार—सत्य है।

सत्य का आधार—अभय है।

अभय का आधार—अहिंसा है।

अहिंसा का आधार—अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का आधार—संयम है।

असंयम से संग्रह, संग्रह से हिंसा, हिंसा से भय, भय से असत्य, असत्य से संघर्ष, संघर्ष से अधिकार-हरण, अधिकार-हरण से अव्यवस्था, अव्यवस्था से अशान्ति होती है।

दूसरों के 'स्वत्व' पर अपना अधिकार करना आक्रमण है। पारस्परिक विरोध और ध्वंस का हेतु यही है।

अपरिवर्तित सत्य की दृष्टि से परिवर्तन अवस्तु है। परिवर्तित-सत्य की दृष्टि से अपरिवर्तन अवस्तु है। यह अपनी-अपनी विषय-मर्यादा है किन्तु अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनों निरपेक्ष नहीं हैं।

अपरिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय परिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

परिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय अपरिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

निरपेक्ष दृष्टिकोण

१. व्यक्ति और समुदाय दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं—यह वस्तु-स्थिति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक पार्थक्यवादी नीति है।

२. समुदाय ही सत्य है—यह व्यक्ति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक समुदायवादी नीति है।

३. व्यक्ति ही सत्य है—यह समुदाय का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक व्यक्ति-वादी नीति है।

४. वर्तमान ही सत्य है—यह अतीत और भविष्य, अपरिवर्तन या एकता का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक परिवर्तनवादी नीति है।

५. लिंग-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

६. उत्पत्ति-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

७. क्रियाकाल ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

निरपेक्ष दृष्टि का त्याग ही समाज को शान्ति की ओर अग्रसर कर सकता है।

४

ज्ञान-मीमांसा



१

ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान क्या है ?

जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है।[1]

आत्मा और अनात्मा में अत्यन्ताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता।

आत्मा भी द्रव्य है और अनात्मा भी द्रव्य है।[2] दोनों अनन्तगुण और पर्यायों के अविच्छिन्न-समुदय हैं।[3] सामान्य गुण से दोनों अभिन्न भी हैं। वे भिन्न हैं विशेष गुण से। वह (विशेष गुण) चैतन्य है। जिसमें चैतन्य है, वह आत्मा है और जिसमें चैतन्य नहीं है, वह अनात्मा है।[4]

प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों की दृष्टि से आत्मा चित्-स्वरूप नहीं है। वह चैतन्य की दृष्टि से ही चित्-स्वरूप है।[5] इसीलिए कहा है—आत्मा ज्ञान से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है किन्तु भिन्नाभिन्न है—भिन्न भी है और अभिन्न भी है।[6] ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है।[7] ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है—ज्ञान सरीखे अनन्त गुणों का समूह है, इसलिए गुण और गुणी के रूप में ये भिन्न भी हैं।

---

१. आयारो, ५।१०४ : जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।

२. भगवती, २५।४

३. उत्तरज्झयणाणि, २८।६

४. वही, २८।११

५. स्वरूपसम्वोधन, ३ :

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः, अचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात्, चेतनाचेतनात्मकः॥

६. वही, ४ :

ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोयमात्मेति कीर्त्तितः॥

७. भगवती, १२।१० : णाणे पुण णियमं आया।

आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है। कर्त्ता और करण की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं।[1]

तात्पर्य की भाषा में आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान—दोनों स्वतन्त्र हैं। ज्ञेय हैं —द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने, फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित हैं। यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा ? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें, फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है। किन्तु ज्ञान की आवृत-दशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का सम्बन्ध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं, तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति है। शत्रु को देखकर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई—यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं किन्तु उसका प्रयोग है। मित्र को देखकर प्रेम उमड़ आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयों को मन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक साथ एक इन्द्रिय से ही होता है। इसलिए एक काल में एक पदार्थ का ही एक पर्याय जाना जा सकता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। उक्त सीमा आवृत-ज्ञान के लिए है। अनावृत-ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

---

१. आयारो, १।५।१०४ : जेण विजाणति से आया।

सहज तर्क होगा कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ है किसी को भी न जानना।

जिसे जानना है उसे ही न जाना जाय और सब-के-सब जाने जायं तो व्यवहार कैसे निभे ? यह ज्ञान का सांकर्य है।

जैन-दृष्टि के अनुसार इसका समाधान यह है कि पदार्थ अपने-अपने रूप में हैं, वे संकर नहीं बनते। अनन्त पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनन्त हैं। अनन्त के द्वारा अनन्त का ग्रहण होता है, यह सांकर्य नहीं है।

वाणी में एक साथ एक ही ज्ञेय के निरूपण की क्षमता है। उसके द्वारा अनेक ज्ञेय के निरूपण की मान्यता को संकर कहा जा सकता है किन्तु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनन्त पर्यायों के द्वारा अनन्त ज्ञेयों को जानने में कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रूप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमें इन्द्रियों से मिलता है, उसके सूक्ष्म रूप या भूत और भावी पर्यायों की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों में कल्पना, संकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नहीं होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिला कल्पना कर सकता है। वह अनेक अनुभवों को जोड़ सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसीलिए यह सत्य नहीं है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से प्राप्त होता है। मन का ज्ञान बाहरी विषय से भी प्राप्त होता है और उसके विना भी। हमारा प्रयोजन ज्ञेय को जानना ही होता है तब पदार्थ ज्ञेय और हमारा ज्ञान उपयोग होता है और जब हमारा उपयोग प्राप्त बोध की आलोचना में लगता है, तब पदार्थ ज्ञेय नहीं होता। उस समय पहले का ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है और जब हमारे जानने की प्रवृत्ति नहीं होती, तब हमारा उपयोग वापस ज्ञान बन जाता है—ज्ञेय के प्रति उदासीन हो अपने में ही रम जाता है।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का 'विषय-विषयी-भाव' सम्बन्ध है।

जैन-दृष्टि के अनुसार—

१. ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।

२. ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

३. ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं है।

४. ज्ञान अर्थ रूप नहीं है।

तात्पर्य कि इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं। फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने

की क्षमता है। वही दोनों के कथंचित् अभेद की हेतु है।

ज्ञान, दर्शन और संवेदना

चैतन्य के तीन प्रधान रूप हैं—जानना, देखना और अनुभूति करना। चक्षु के द्वारा देखा जाता है, शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है। यह हमारा व्यवहार है।

सिद्धान्त कहता है—जैसे चक्षु का दर्शन है, वैसे अचक्षु (शेष इन्द्रिय और मन) का भी दर्शन है। अवधि और केवल का भी दर्शन है।[1]

शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है, वैसे चक्षु के द्वारा भी जाना जाता है। चक्षु का ज्ञान भी है।

दर्शन का अर्थ देखना नहीं है। दर्शन का अर्थ है—एकता या अभेद का ज्ञान। ज्ञान का अर्थ अपने आप सीमित हो गया। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान पांच हैं[2] और दर्शन चार।[3] मनःपर्याय-ज्ञान भेद को ही जानता है, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता।

विश्व न तो सर्वथा विभक्त है और न सर्वथा अविभक्त। वह गुण और पर्याय से विभक्त भी है, द्रव्यगत-एकता से अविभक्त भी है। आवृत ज्ञान की क्षमता कम होती है, इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है, फिर उसके विभिन्न परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है।

अनावृत ज्ञान की क्षमता असीम होती है। इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है, फिर उनकी एकता।

केवली पहले क्षण में अनन्त शक्तियों का पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और दूसरे क्षण में उन्हें द्रव्यत्व की सामान्य सत्ता में गुंथे हुए पाते हैं। इस प्रकार केवल-ज्ञान और केवल दर्शन का क्रम चलता रहता है।

हम लोग एक क्षण में कुछ भी नहीं जान सकते। ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असंख्य क्षणों में द्रव्य की सामान्य-सत्ता तक पहुंच पाते हैं और उसके बाद क्रमशः उसकी एक-एक विशेषता को जानते हैं। इस प्रकार हमारा चक्षु-अचक्षु दर्शन पहले होता है और मति-श्रुत बाद में। विशेष को जानकर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है। सामान्य को जानकर विशेष को जानना दर्शन और ज्ञान है।

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, २।२६।
२. वही, २।६।
३. वही, २।२६।

ज्ञान और वेदना

स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियां भोगी तथा चक्षु और श्रोत्र—ये दो कामी हैं।[1] कामी इन्द्रियों के द्वारा सिर्फ विषय जाना जाता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। भोगी इन्द्रियों के द्वारा विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनों होते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा हम बाहरी वस्तुओं को जानते हैं। जानने की प्रक्रिया सबकी एक-सी नहीं है। चक्षु की ज्ञान-शक्ति शेष इन्द्रियों से अधिक पटु है, इसलिए वह अस्पृष्ट रूप को जान लेता है।

श्रोत्र की ज्ञान-शक्ति चक्षु से कम है। वह स्पृष्ट शब्द को ही जान सकता है। शेष तीन इन्द्रियों की क्षमता श्रोत्र से भी कम है। वे अपने विषय को बद्ध-स्पृष्ट हुए बिना नहीं जान सकते।[2]

बाहरी विषय का स्पर्श किए बिना या उसका स्पर्श मात्र से जो ज्ञान होता है, वहां अनुभूति नहीं होती। अनुभूति वहां होती है, जहां इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्बन्ध स्थापित होता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण अपने-अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने पर उसे जानते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञान भी होता है और अनुभूति भी।

अनुभूति मानसिक भी होती है पर वह बाहरी विषयों के गाढ़तम सम्पर्क से नहीं होती। किन्तु वह विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने पर होती है।

मानसिक अनुभव की एक उच्चतम दशा भी है। बाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है, वह शुद्ध मानसिक ज्ञान भी नहीं है और शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं है। वह इन दोनों के बीच की स्थिति है।[3]

वेदना के दो रूप : सुख-दुःख

बाह्य जगत् की जानकारी हमें इन्द्रियों द्वारा मिलती है। उसका संवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पदार्थ के मौलिक गुण हैं। शब्द उसकी पर्याय (अनियत-गुण) है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का विस्तार मन से होता है। सुख और दुःख जो बाह्य वस्तुओं के योग-वियोग से उत्पन्न होते हैं, वे शुद्ध ज्ञान नहीं हैं और उनकी

---

१. नन्दी, सूत्र ५४, गाथा ७५ :

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥

२. वही, गाथा ७५।

३. ज्ञानसार, अष्टक २६, श्लोक १ :

सन्ध्येव दिन-रात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक्।
बुद्धैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः॥

अनुभूति अचेतन को नहीं होती, इसलिए वे अज्ञान भी नहीं हैं। वेदना ज्ञान और बाह्य पदार्थ—इन दोनों का संयुक्त कार्य है।

सुख-दुःख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनों को होती है। इन्द्रियों को सुख की अनुभूति पदार्थ के निकट-संयोग से होती है।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूति और कल्पना—ये दोनों मानसिक अनुभूति के निमित्त हैं।

आत्म-रमण जो चैतन्य की विशुद्ध परिणति है, आनन्द या सहज सुख कहलाता है। वह वेदना नहीं है। वेदना शरीर और मन के माध्यम से प्राप्त होने वाली अनुभूति का नाम है। अमनस्क जीवों में केवल शारीरिक वेदना होती है। समनस्क जीवों में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की वेदना होती है।[1] एक साथ सुख-दुःख दोनों की वेदना नहीं होती।

ज्ञान के विभाग

अनावृत ज्ञान एक है। आवृत-दशा में उसके चार विभाग होते हैं। दोनों को एक साथ गिनें तो ज्ञान पांच होते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल।

मति और श्रुत—ये दो ज्ञान सब जीवों में होते हैं। अवधि होने पर तीन और मनःपर्याय होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति में एक साथ (उपलब्धि की दृष्टि से) हो सकते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के पांच विकल्प बनते हैं—

एक साथ—मति, श्रुत।

एक साथ—मति, श्रुत, अवधि।

एक साथ—मति, श्रुत, मनःपर्याय।

एक साथ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय।

एक साथ—केवल।

ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असंख्य विभाग हो सकते हैं। ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं[2]—

मनःपर्याय के पर्याय सबसे थोड़े हैं।

अवधि के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

श्रुत के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

मति के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

केवल के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक हैं।

---

१. प्रज्ञापना पद, ३५।

२. भगवती ८।२।

यह अन्तर एक-दूसरे की तुलना में है। केवल-ज्ञान में कोई तरतमभाव नहीं है। शेष ज्ञानों में बहुत बड़ा तारतम्य हो सकता है। एक व्यक्ति का मति-ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मति-ज्ञान से अनन्त गुण हीनाधिक हो सकता है।[1] किन्तु इसके आधार पर किये गए ज्ञान के विभाग उपयोगी नहीं बनते।

विभाग करने का मतलब ही उपयोगिता है। संग्रह-नय द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकीकरण करता है। वह हमारे व्यवहार का साधक नहीं है। हमारी उपयोगिता व्यवहार-नय पर आधारित है। वह द्रव्य, गुण और पर्यायों को विभक्त करता है। ज्ञान के विभाग भी उपयोगिता की दृष्टि से किए गए हैं।

ज्ञेय और ज्ञान—ये दो नहीं होते तो ज्ञान के कोई विभाजन की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता है और वह मूर्त और अमूर्त—इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा साधनों के बिना भी जान सकता है और आवरण की स्थिति के अनुसार साधनों के माध्यम से भी जानता है।

जानने के साधन दो हैं—इन्द्रिय और मन। इनके द्वारा ज्ञेय को जानने की आत्मिक क्षमता को मति और श्रुत कहा गया है।[2]

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही केवल मूर्त ज्ञेय को जानने की क्षमता को अवधि और मनःपर्याय कहा गया है।[3]

मूर्त और अमूर्त सबको जानने की आत्मिक क्षमता (या ज्ञान की क्षमता के पूर्ण विकास) को केवल कहा गया है।[4]

इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद-रेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। प्राणी असीम ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है, इसलिए वह 'इन्द्र' है। इन्द्र के चिह्न का नाम है—'इन्द्रिय'। वे पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पांच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत अर्थ-ग्राही कहा जाता है। जैसे—

१. स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय—स्पर्शन।
२. रस-ग्राहक इन्द्रिय—रसन।
३. गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय— घ्राण।
४. रूप-ग्राहक इन्द्रिय—चक्षु।
५. शब्द-ग्राहक इन्द्रिय —श्रोत्र।

---

१. भगवती, ८।२।
२. जैन सिद्धान्त दीपिका, २।७, १४।
३. वही, २।१६, २०।
४. वही, २।३।

इन्द्रिय-चतुष्टय

१. जिस प्राणी के चक्षु का आकार नहीं होता, वह रूप को नहीं जान सकता।

२. आंख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नहीं देख पाते।

३. तत्काल-मृत व्यक्ति, आंख की रचना और शक्ति दोनों के होते हुए भी रूप को नहीं जान पाता।

४. अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आये हुए रूप को भी नहीं देखता।

इन्द्रियों के बारे में ये चार समस्याएं हैं। इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के 'चतुष्टय' पर विचार करना आवश्यक होता है। वह है—

१. निर्वृत्ति (द्रव्य-इन्द्रिय) पौद्गलिक इन्द्रिय, इन्द्रिय की रचना—शारीरिक-संस्थान।

२. उपकरण···शरीराधिष्ठान—इन्द्रिय, विषय का ज्ञान करने में सहायक सूक्ष्मतम पौद्गलिक अवयव।

३. लब्धि (भाव-इन्द्रिय)—चेतन-इन्द्रिय, ज्ञान-शक्ति।

४. उपयोग···आत्माधिष्ठान—इन्द्रिय, ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं—

१. इन्द्रिय की रचना।
२. इन्द्रिय की ग्राहक-शक्ति।
३. इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति।
४. इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

१. चक्षु का आकार हुए बिना रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस प्राणी के चक्षु की 'निर्वृत्ति-इन्द्रिय' नहीं है।

२. चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस मनुष्य की 'उपकरण-इन्द्रिय' विकृत है।

३. आकार और ग्राहक शक्ति दोनों के होते हुए भी तत्काल-मृत व्यक्ति को रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उसमें अब 'ज्ञान-शक्ति' नहीं रही।

४. अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार, विषय-ग्राहक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के होने पर भी रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नहीं कर रहा है।

इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय-विकास सब प्राणियों में समान नहीं होता। इन्द्रिय-विकास के पांच विकल्प मिलते हैं—

१. एकेन्द्रिय प्राणी।
२. द्वीन्द्रिय प्राणी।
३. त्रीन्द्रिय प्राणी।
४. चतुरिन्द्रिय प्राणी।
५. पंचेन्द्रिय प्राणी।

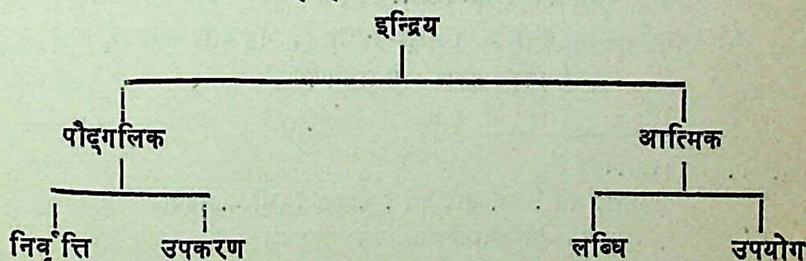
जिस प्राणी के शरीर में जितनी इन्द्रियों का अधिष्ठान—आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न यह होता है कि प्राणियों में यह आकार-रचना का वैषम्य क्यों? इसका समाधान है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान-शक्तियां—लब्धि इन्द्रियां विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियां बनती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान शक्ति और व्यापार का मूल लब्धि-इन्द्रिय है। उसके होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं।

लब्धि के बाद दूसरा स्थान निर्वृत्ति का है। इसके होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं। उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

इन्द्रिय-व्याप्ति

लब्धि……निर्वृत्ति……उपकरण……उपयोग।
निर्वृत्ति……उपकरण……उपयोग।
उपकरण……उपयोग।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है किन्तु लब्धि के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना उपकरण, उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता।



मन

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है।[1] मन भी इन्द्रिय की भांति पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो भेद बनते हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन।

---

१. मनः मननं, मन्यते अनेन वामनः।

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य (मनोवर्गणा-द्रव्य) जब मन रूप में परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य-मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है—आत्मा से भिन्न है।[1]

विचारात्मक मन का नाम भाव-मन है। मन मात्र ही जीव नहीं,[2] किन्तु मन जीव भी है—जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक-मन कहते हैं।[3] इसके दो भेद होते हैं—लब्धि और उपयोग। पहला मानस-ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार। मन को नो-इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयों को वह जानता है, इसलिए वह नो-इन्द्रिय—ईषत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है। इन्द्रिय की भांति वह बाहरी साधन नहीं है (आन्तरिक साधन है) और उसका कोई नियत आकार नहीं है, इसलिए वह अनिन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए वह 'दीर्घकालिक संज्ञा' है। जैन आगमों में मन की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'संज्ञी' कहते हैं।

उसके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. ईहा—सत् अर्थ का पर्यालोचन।

२. अपोह—निश्चय।

३. मार्गणा—अन्वय-धर्म का अन्वेषण।

४. गवेषणा—व्यतिरेक-धर्म का स्वरूपालोचन।

५. चिन्ता—यह कैसे हुआ ? यह कैसे करना चाहिए ? यह कैसे होगा ?—इस प्रकार का पर्यालोचन।

६. विमर्श—यह इसी प्रकार हो सकता है, यह इसी प्रकार हुआ है, यह इसी प्रकार होगा—ऐसा निर्णय।[4]

---

१. भगवती, १३।७।४९४ :
आता भंते ! मणे अन्ने मणे ? गोयमा ! णो आतामणे,
अन्ने मणे···मणे मणिज्जमाणे मणे·········।

२. प्रश्नव्याकरण (आश्रव द्वार) २ :
मणं च मणजीविया वयंति त्ति···।

३. सूयगडो, १।१२, वृत्ति—
सर्व-विषयमन्त:करणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्य-मनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति···।

४. नन्दी, सूत्र ६२।

मन का लक्षण

सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त और अमूर्त। इन्द्रियां सिर्फ मूर्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं। मन मूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा गया है।[1]

मन का कार्य

मन का कार्य है—चिन्तन करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी[2]। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जब इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है। मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है।

ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि-आदि मानसिक चिन्तन के विविध पहलू हैं।

मन का अस्तित्व

न्यायसूत्रकार—'एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते'—इस अनुमान से मन की सत्ता बतलाते हैं।[3]

वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं—"स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है।"[4]

अन्नभट्ट ने सुखादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है।[5]

जैन-दृष्टि के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितर्क, सुख-दुःख, क्षमा इच्छा आदि-आदि मन के लिंग हैं।[6]

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, २।३३।

२. चरक सूत्र, १।२०।

> इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते।
> कल्प्यते मनसाप्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा॥

३. न्याय सूत्र, १।१।१६।

४. वात्स्यायन भाष्य, १।१।१६।

५. तर्क संग्रह : सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।

६. सन्मति प्रकरण, काण्ड २ :

> संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि···।

मन का विषय

मन का विषय 'श्रुत' है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से 'देवदत्त' शब्द सुना, आंख से पढ़ा, फिर भी कान और आंख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा किन्तु 'देवदत्त' शब्द का अर्थ क्या है—यह ज्ञान उन्हें नहीं होगा। यह मन को होगा। अंगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है किन्तु वह किस वस्तु का संकेत करती है, यह चक्षु नहीं जान पाता। उसके संकेत को समझना मन का काम है।[1] वस्तु के सामान्य रूप का ग्रहण, अवग्रहण, ज्ञान-धारा का प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, पूर्वापर का अनुसन्धान, विकल्प एवं विशेष धर्मों का पर्यालोचन नहीं होता।

ईहा से साक्षात् चिन्तन शुरू हो जाता है। इसका कारण यह है कि अवग्रह में पर्यालोचन नहीं होता। आगे पर्यालोचन होता है। यावन्मात्र पर्यालोचन है, वह अक्षर-आलम्बन से ही होता है और यावन्मात्र साभिलाप या अन्तर्जल्पाकार ज्ञान होता है, वह सब मन का विषय है।

प्रश्न हो सकता है कि ईहा, अवाय, धारणा इन्द्रिय-परिधि में भी सम्मिलित किये गए हैं, वह फिर कैसे? उत्तर स्पष्ट है—इन भेदों का आधार ज्ञान-धारा का प्रारम्भिक अंश है। वह जिस इन्द्रिय से आरम्भ होता है, उसकी अन्त तक वही संज्ञा रहती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—यह ज्ञानधारा का एक क्रम है। इसका मूल है अवग्रह। वह मन-संपृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के सम्पर्क या सामीप्य में होता है। आगे स्थिति बदल जाती है। ईहा आदि ज्ञान इन्द्रिय-संपृक्त मन के द्वारा पदार्थ की असम्बद्ध दशा में होता है, फिर भी उत्पत्ति-स्रोत की मुख्यता के कारण ये अपनी-अपनी परिधि से बाहर नहीं जाते।

मनोमूलक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा आदि मन के होते हैं। मन मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान दोनों का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिए बिना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है, फिर भी अर्थाश्रयी-ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनों को होता है, शब्दाश्रयी (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतन्त्र रूप में मन का विषय 'श्रुत' ही है।

---

१. चरक सूत्र, १।१८ :

चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च, ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत् किंचिद् मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

इन्द्रिय और मन

मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी। इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। वह पटुतर है, पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ को जान लेता है। उसका अनुपलब्धि-काल नहीं होता, इसलिए उसे व्यंजनावग्रह की आवश्यकता नहीं होती।

इन्द्रिय के साथ मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। सब इन्द्रियों के साथ मन युगपत् सम्बन्ध नहीं कर सकता, एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही करता है। आत्मा उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु में उपयोग लगाता है, तब वह तन्मयोपयोग हो जाता है। इसलिए युगपत् क्रिया-द्वय का उपयोग नहीं होता।[1] देखना, चखना, सूंघना—ये भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं। इनमें एक साथ मन की गति नहीं होती, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पैर की गर्मी और सिर की ठंडक दोनों एक स्पर्शन इन्द्रिय की क्रियाएं हैं, उनमें भी मन एक साथ नहीं दौड़ता।

ककड़ी को खाते समय उसके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—सबका ज्ञान एक साथ होता-सा लगता है किन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता। उनका ज्ञान-काल पृथक्-पृथक् होता है। मन की ज्ञान-शक्ति अति तीव्र होती है, इसलिए उसका क्रम जाना नहीं जाता। युगपत् सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण हो सकता है, किन्तु दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते।[2]

मन का स्थान

मन समूचे शरीर में व्याप्त है। इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति 'जहां-जहां चैतन्य, वहां-वहां इन्द्रिय' का नियम नहीं होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता, उसका कोई नियत स्थान नहीं है। जहां-जहां चैतन्य की अनुभूति है, वहां-वहां मन अपना आसन बिछाए हुए है।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४२६-२४४८ वृत्ति···।

२. (क) एगे णाणे···लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽपि उपयोगत एक एव सम्भवति एकोपयोगत्वाद् जीवानामिति···
—स्था० वृ० १

(ख) एगे जीवाणं मणे···मननलक्षणत्वेन सर्वमनस्सामेकत्वात्···।
—स्था० वृ० १

(ग) एगे मणे देवासुर मणुआणं तंसि तंसि समयंसि।—स्था० वृ० १
तुलना—ज्ञानाऽयौगपद्यात् एकं मनः···।—न्याय सू० ३।२।५९

इन्द्रिय-ज्ञान के साथ भी मन का साहचर्य है। स्पर्शन-इन्द्रिय समूचे शरीर में व्याप्त है।[1] उसे अपने ज्ञान में मन का साहचर्य अपेक्षित है। इसलिए मन का भी सकल शरीर व्याप्त होना सहज सिद्ध है। योग-परम्परा में यही तथ्य मान्य है।[2]

'यत्र पवनस्तत्र मन:'—इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार जहां पवन है, वहां मन है। पवन समूचे शरीर में है, यही बात मन के लिए है।

दिगम्बर आचार्य द्रव्य मन का स्थान नाभि-कमल मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। मन का एकमात्र नियत स्थान भले ही न हो, किन्तु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के संतुलन पर मानसिक चिन्तन बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं लगती।

ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियां भी सर्वात्मव्यापी हैं। विषय-ग्रहण की अपेक्षा एक-देशी हैं, इसलिए वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। इन्द्रिय और मन—ये दोनों 'क्षायोपशमिक-आवरण-विलय-जन्य' विकास हैं। आवरण-विलय सर्वात्म-देशों का होता है।[3] मन विषय-ग्रहण की अपेक्षा से भी शरीर व्यापी है।

नैयायिक मन को अणु मानते हैं—इसे मनोणुत्ववाद कहा जाता है।[4] बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं—यह मनोजीववाद कहलाता है।[5] जैन सम्मत मन न अणु है और न वही मात्र जीव किन्तु जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उसकी व्याप्ति का नियम है—'जहां जीव वहां मन।'

श्रुत या शब्दार्थ-योजना

अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस प्रकार जो वाच्य-वाचक की सम्बन्ध-योजना होती है, वह श्रुत है। शब्द के अर्थ-ज्ञान कराने की शक्ति होती है पर प्रयोग किए बिना वह अर्थ का ज्ञान नहीं कराता। श्रुत शब्द की प्रयोग-दशा है। 'घड़ा'—इस दो अक्षर वाले शब्द का अर्थ दो प्रकार से जाना जा सकता है—

---

१. चरक सूत्र, ११।३६।
तुलना—स्पर्शन इन्द्रिय को सर्वेन्द्रिय व्यापक और मन के साथ समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध माना है। मन अणु होने पर भी स्पर्शन इन्द्रिय-सम्बद्ध होने के कारण सब इन्द्रियों में व्यापक रहता है।

२. योगशास्त्र, ५।२ :

मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत् ॥

३. भगवती, १।३ : सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा…।

४. भाषा परिच्छेद : अयौगपद्यात् ज्ञानानां, तस्याणुत्वमिहोच्यते…।

५. अभिधम्म कोष, ४।१ : चेतना मानसं कर्म।

(१) या तो बना-बनाया घड़ा सामने हो, (२) घट-स्वरूप की व्याख्या पढ़ने या सुनने को मिले।

इनमें पहला श्रुत का अननुसारी किन्तु श्रुत-निश्रित ज्ञान है। घट सामने आया और जलादि आहरण-क्रिया-समर्थ मृन्मयादि घट को जान लिया। यहां ज्ञान-काल में श्रुत का सहारा नहीं लिया गया। इसलिए यह श्रुत का अनुसारी नहीं है, किन्तु इससे पूर्व 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है—यह जाना हुआ था, इसलिए वह श्रुत-निश्रित है।[1] 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है, ऐसा पहले जाना हुआ न हो तो घट के सामने आने पर भी 'यह घट शब्द का वाच्यार्थ है'—ऐसा ज्ञान नहीं होता।

दूसरा श्रुतानुसारी ज्ञान है। 'घट अमुक-अमुक लक्षण वाला पदार्थ होता है'—यह या तो कोई बताए अथवा किसी श्रुत ग्रन्थ का लिखित प्रकरण मिले तब जाना जाता है। बताने वाले का वचन और लिखित शब्दावली को द्रव्य-श्रुत—श्रुत-ज्ञान का साधन कहा जाता है, और उसके अनुसार पढ़ने-सुनने वाले व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह भाव-श्रुत—श्रुत-ज्ञान कहलाता है।

श्रुत-ज्ञान की प्रक्रिया

१. भाव-श्रुत…वक्ता के वचनाभिमुख विचार।

२. वचन…वक्ता के लिए वचन-योग और श्रोता के लिए द्रव्य-श्रुत।

३. मति…श्रुत-ज्ञान के प्रारम्भ में होने वाला मत्यंश — इन्द्रिय-ज्ञान।

४. भाव-श्रुत…इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा हुए शब्द-ज्ञान और संकेत-ज्ञान के द्वारा होने वाला अर्थ-ज्ञान।

वक्ता बोलता है वह उसकी अपेक्षा वचन योग है। श्रोता के लिए वह भावश्रुत का साधन होने के कारण द्रव्य-श्रुत है।[2] वक्ता भी भाव-श्रुत को—वचनाभिमुख ज्ञान को वचन के द्वारा व्यक्त करता है। वह एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के पास पहुंचाता है, वह श्रुत-ज्ञान है।

श्रुत-ज्ञान श्रुत-ज्ञान तक पहुंचे उसके बीच की प्रक्रिया के दो अंश हैं—द्रव्य-श्रुत और मत्यंश।

एक व्यक्ति के विचार को दूसरे व्यक्ति तक ले जाने के दो साधन हैं—वचन और संकेत। वचन और संकेत को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां हैं। श्रोता अपनी इन्द्रियों से उन्हें ग्रहण करता है, फिर उनके द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है। इसका रूप इस प्रकार बनता है—

---

१. कर्म विवरण गाथा, ४ देवेन्द्र सूरी कृत स्वोपज्ञ वृत्ति।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९९ वृत्ति…

वक्ता का भाव-श्रुत
|
वचन
|
इन्द्रिय
|
श्रोता का भाव-श्रुत

मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता

१. श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान—मति-ज्ञान।

२. श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान—श्रुत-ज्ञान।

मति-ज्ञान साभिलाप और अनभिलाप दोनों प्रकार का होता है। श्रुत-ज्ञान केवल साभिलाप होता है।[१] अर्थावग्रह साभिलाप नहीं होता। मति के शेष सब प्रकार (ईहा से अनुमान तक) साभिलाप होते हैं। श्रुत-ज्ञान अनभिलाप नहीं होता किन्तु साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुत होना चाहिए—यह बात नहीं है। कारण कि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नहीं कहलाता। जब तक वह स्वार्थ रहता है तब तक साक्षर होने पर भी मति कहलाएगा। साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षम या वचनाभिमुख होने की दशा में श्रुत बनता है। ईहा से लेकर स्वार्थानुमान तक के ज्ञान परार्थ नहीं होते—वचनात्मक नहीं होते, इसलिए 'मति' कहलाते हैं। शब्दावली के माध्यम से मनन या विचार करना और शब्दावली के द्वारा मनन या विचार का प्रतिपादन करना—व्यक्त करना, ये दो बातें हैं। मति-ज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नहीं होता। श्रुत-ज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।[२]

ज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देखकर आंख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियों को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनों प्रकार का होता है। श्रोत्र 'पानी' शब्द मात्र को सुनकर जान लेगा, किन्तु पानी का अर्थ क्या है, पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है—यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है'—ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०० वृत्ति···।

२. (क) अनुयोगद्वार, २ : तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं।
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १००, वृत्ति···।

श्रुत-ज्ञान, शब्द-ज्ञान या आगम है। श्रुत-ज्ञान का पहला अंश, जैसे—शब्द सुना या पढ़ा, वह मति-ज्ञान है और दूसरा अंश, जैसे—शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुत-ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मतिपूर्वक—'मइपुव्वं सुयं' कहा जाता है।[1]

मति-ज्ञान का विषयवस्तु अवग्रहादि काल में उसके प्रत्यक्ष होता है। श्रुत-ज्ञान का विषय उसके प्रत्यक्ष नहीं होता। 'मेरु' शब्द के द्वारा 'मेरु' अर्थ का ज्ञान करते समय वह मेरु अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता—मेरु शब्द प्रत्यक्ष होता है, जो श्रुत-ज्ञान का विषय नहीं है।

श्रुत-ज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है और अवग्रहादि मति श्रुत-निश्रित होती है। इससे इनका अन्योन्यानुगत-भाव जान पड़ता है। कार्यक्षेत्र में ये एक नहीं रहते। मति का कार्य है—उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचार करना। श्रुत का कार्य है—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने में समर्थ होना। मति को कहना चाहिए अर्थ-ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ-ज्ञान।

कार्य-कारण-भाव

मति और श्रुत का कार्य-कारण सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुत ज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण से उत्पन्न अर्थ-बोध है। अमुक अर्थ का अमुक संकेत होता है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। संकेत को मति जानती है। उसके अवग्रहादि होते हैं। फिर श्रुत-ज्ञान होता है।

द्रव्य-श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण बनता है किन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नहीं बनता, इसलिए मति को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता। दूसरी दृष्टि से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नहीं, विषय बनता है। कारण तब कहना चाहिए जबकि श्रूयमाण शब्द के द्वारा श्रोत्र को उसके अर्थ की जानकारी मिले। वैसा होता नहीं। श्रोत्र को केवल शब्द मात्र का बोध होता है। श्रुत-निश्रित मति भी श्रुत-ज्ञान का कार्य नहीं होती। 'अमुक लक्षण वाला कम्बल होता है'—यह परोपदेश या श्रुत ग्रन्थ से जाना और वैसे संस्कार बैठ गए। कम्बल को देखा और जान लिया कि यह कम्बल है। यह ज्ञान पूर्व-संस्कार से उत्पन्न हुआ इसलिए इसे श्रुत-निश्रित कहा जाता है।[2] ज्ञान-काल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए इसे श्रुत का कार्य नहीं माना जाता।

---

१. नन्दी, सूत्र ३५।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १६८ वृत्ति...।

अवधि-ज्ञान

यह मूर्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्तिमान् द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताएं बनती हैं। जैसे—इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।

अवधि-ज्ञान का विषय

१. द्रव्य की अपेक्षा—

जघन्य—अनन्त मूर्तिमान् द्रव्य।

उत्कृष्ट—मूर्तिमान् द्रव्य-मात्र।

२. क्षेत्र की अपेक्षा—

जघन्य—कम से कम अंगुल का असंख्यातवां भाग।

उत्कृष्ट—अधिक से अधिक असंख्य क्षेत्र (लोकाकाश) तथा शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश जैसे और असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।

३. काल की अपेक्षा—

जघन्य—एक आवलिका का असंख्यातवां भाग।

उत्कृष्ट—असंख्य काल (असंख्य अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी)।

४. भाव—पर्याय की अपेक्षा—

जघन्य—अनन्त भाव—पर्याय।

उत्कृष्ट—अनन्त भाव—सब पर्यायों का अनन्त भाग।[1]

अवधि-ज्ञान के छह प्रकार हैं—

१. अनुगामी—जिस क्षेत्र में अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे—वह अनुगामी है।

२. अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना न रहे—वह अननुगामी है।

३. वर्धमान—उत्पत्ति-काल में कम प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः बढ़े—वह वर्धमान है।

४. ह्रीयमान—उत्पत्ति-काल में अधिक प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः घटे—वह ह्रीयमान है।

---

१. नन्दी, सूत्र २२।

५. अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल-ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला—अप्रतिपाती है।

६. प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है।[1]

मन:पर्याय ज्ञान

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसी के अनुरूप चिन्तन प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां—पर्यायें बन जाती हैं। वे मन:पर्याय के द्वारा जानी जाती हैं, इसीलिए इसका नाम है—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।[2]

मन:पर्याय ज्ञान का विषय

१. द्रव्य की अपेक्षा—मन रूप में परिणत पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा।

२. क्षेत्र की अपेक्षा—मनुष्य-क्षेत्र में।

३. काल की अपेक्षा—असंख्य काल तक का (पल्योपम का असंख्यातवां भाग) अतीत और भविष्य।

४. भाव की अपेक्षा—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएं।[3]

अवधि और मन:पर्याय की स्थिति

मानसिक वर्गणाओं की पर्याय अवधि-ज्ञान का भी विषय बनती है, फिर भी मन:पर्याय मानसिक पर्यायों का विशेषज्ञ है। एक डॉक्टर वह है जो समूचे शरीर की चिकित्सा-विधि जानता है और एक वह है जो आंख का, दांत का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है। यही स्थिति अवधि और मन:पर्याय की है।

विश्व के मूल में दो श्रेणी के तत्त्व हैं—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक (मूर्त तत्त्व) इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है। अपौद्गलिक (अमूर्त तत्त्व) केवल क्षायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है।

चिन्तक मूर्त के बारे में सोचता है, वैसे अमूर्त के बारे में भी। मन:पर्याय-ज्ञानी अमूर्त पदार्थ को साक्षात् नहीं कर सकता। वह द्रव्य-मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिन्तन को जानता है, वैसे ही उसके द्वारा चिन्तनीय पदार्थों को जानता है।[4] इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है, फिर भी वह परोक्ष नहीं

---

१. नन्दी, सूत्र ६।
२. वही, सूत्र २३
३. वही, सूत्र २५
४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ वृत्ति...।

होता। कारण कि मनःपर्याय ज्ञान का मूल विषय मनो-द्रव्य की पर्यायें हैं। उनका साक्षात्कार करने में उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं होती।

केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है।[1] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिटकर ज्ञान एक हो जाता है। फिर उसे इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है?

भगवान्—गौतम! नहीं जानता-देखता।

गौतम—भगवन्! ऐसा क्यों होता है?

भगवान्—गौतम! केवली पूर्व-दिशा (या आगे) में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है।[2]

केवल का दूसरा अर्थ 'शुद्ध' है।[3] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अंश भी शेष नहीं रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ 'सम्पूर्ण' है।[4] ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ 'असाधारण' है।[5] ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसा ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का पांचवां अर्थ 'अनन्त' है।[6] ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कभी आवृत नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ 'सर्वज्ञता' से सम्बन्धित नहीं हैं। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमें कोई लम्बा-

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ८४ :

केवल मेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणंतं च :

२. भगवती, ६।१०

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८४ वृत्ति :

शुद्धम्—निर्मलम्—सकलावरणमलकलंकविगमसम्भूतत्वात्।

४. ५. ६. वही, गाथा ८४ वृत्ति :

सकलम्—परिपूर्णम्—सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वात्।
असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।
अनन्तम्—अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्।

चौड़ा विवाद नहीं है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहु-श्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवलज्ञानी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।[1]

केवल-ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। श्रुत-ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नहीं लगता। मति को छोड़ शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं—श्रुत-केवली,[2] अवधि-ज्ञान-केवली, मनःपर्याय-ज्ञान-केवली और केवलज्ञान-केवली।[3] इनमें श्रुत-केवली और केवल-ज्ञान-केवली का विषय समान है। दोनों सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानते हैं। इनमें केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से तथा क्रमशः जानता है और केवल-ज्ञान-केवली उन्हें साक्षात् तथा एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढ़ती है, तब एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होता है। एक क्षण में अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होता किन्तु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहां काल का क्रम नहीं निकाला जा सकता। केवल-ज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम-रूप है। वह एक क्षण में भी अनेक विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जाएगा। उसे संभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद-मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है। यह भूमिका दोनों की समान है। सहज स्थिति में सांकर्य नहीं होता। वह क्रियमाण कार्य में होता है। ज्ञान आत्मा की सहज स्थिति है। वचन एक कार्य है। कार्य में केवली और अकेवली का कोई भेद नहीं है। केवल-ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने में ही है।

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञेय का विचार चार दृष्टिकोणों से किया जाता है—

१. द्रव्य-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सब द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

---

१. दसवेआलियं, ४।२२।

२. अभिधान चिन्तामणि, १।३१।

३. ठाणं, ३।५१३ : तओ केवली पण्णत्ता तंजहा—ओहिनाणकेवली, मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली।

अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त या सब मूर्त द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

मनःपर्याय-ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्तावयवी स्कन्ध जाने-देखे जा सकते हैं।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

२. क्षेत्र-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र सामान्य रूप से जाना जा सकता है, देखा नहीं जा सकता।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

अवधि-ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण लोक जाना-देखा जा सकता है।

मनःपर्याय-ज्ञान द्वारा मनुष्य-क्षेत्रवर्ती मानसिक अणु जाने-देखे जा सकते हैं।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व-क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

३. काल-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व-काल जाना-देखा नहीं जा सकता।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व-काल जाना-देखा जा सकता है।

अवधि-ज्ञान द्वारा असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है।

मनःपर्याय-ज्ञान द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है।

४. भाव-दृष्टि से

मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व पर्याय जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते हैं।

श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्वपर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त पर्याय (सब द्रव्यों का अनन्तवां भाग) जाने-देखे जा सकते हैं।

मनःपर्याय ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्त-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

केवल-ज्ञान द्वारा सर्व पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के दो वर्ग बनते हैं—एक वर्ग है श्रुत और केवल का, दूसरा है मति, अवधि और मनःपर्याय का। पहले वर्ग का ज्ञेय सर्व है और दूसरे वर्ग का ज्ञेय असर्व।

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर भी ज्ञान के दो वर्ग होते हैं—एक

वर्ग में मति और श्रुत आते हैं; दूसरे में अवधि, मन:पर्याय और केवल।

पहले वर्ग का ज्ञेय इन्द्रिय और मन के माध्यम से ज़ाना जाता है और दूसरे का ज्ञेय इनके बिना ही जाना जाता है। ज्ञेय की द्विविधता के आधार पर भी ज्ञान दो वर्गों में विभक्त हो सकता है। पहले वर्ग में मति, अवधि और मन:पर्याय हैं, दूसरे में श्रुत और केवल।

पहले वर्ग के द्वारा सिर्फ मूर्त द्रव्य ही जाना जा सकता है। दूसरे के द्वारा मूर्त और अमूर्त—दोनों प्रकार के ज्ञेय जाने जा सकते हैं।

ज्ञान की नियामक शक्ति

हम आंख से देखते हैं तब कान से नहीं सुनते। कान से सुनते हैं तब इसका अनुभव नहीं करते। संक्षेप में हम एक साथ दो ज्ञान नहीं करते। यह हमारे ज्ञान की इयत्ता है—सीमा है। भिन्न-भिन्न दर्शनों ने ज्ञान की इयत्ता के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये हैं। ज्ञान अर्थोत्पन्न और अर्थाकार नहीं होता इसलिए वे उसकी इयत्ता के नियामक नहीं बनते।[1] मन अणु नहीं, इसलिए वह भी ज्ञान की इयत्ता का नियामक नहीं बन सकता।[2] जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की इयत्ता का नियामक तत्त्व उसके आवरण-विलय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक योग्यता है। आवरण-विलय आंशिक होता है तब एक साथ अनेक विषयों को जानने की योग्यता नहीं होती। योग्यता की कमी के कारण जिस समय जिस विषय में आत्मा व्यापृत होती है, उस समय उसी विषय को जान सकती है। वस्तु को जानने का अव्यवहित साधन इन्द्रिय और मन का व्यापार (उपयोग) है। वह योग्यता के अनुरूप होता है। यही कारण है कि हम एक साथ अनेक विषयों को नहीं जान सकते। चेतना की निरावरण दशा में सब पदार्थ युगपत् जाने जा सकते हैं।

ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। वह सब आत्माओं में समान है। वह स्वयं प्रकाशी है, सदा जानता रहता है। यह सिद्धान्त की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवों में ज्ञान की तरतमता है। वह बाहरी साधनों के अभाव में नहीं जानता और कभी

---

१. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४।४७।

२. (क) वही, १।२ :
मन:अणुपरिमाणं न भवति, इन्द्रियत्वात्, नयनवत्। न च शरीरव्यापित्वे युगपज् ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग: तादृशक्षयोपशमविशेषेणैव तस्य कृतोत्तरत्वात्।

(ख) 'मनोणुवाद' की जानकारी के लिए देखें—
१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकारिका
२. न्यायालोक, ४।११।

जानता है और कभी नहीं जानता।

सिद्धान्त और हमारे प्रत्यक्ष-दर्शन में जो विरोध है, उसका समाधान इन शब्दों में है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति वही है, जो सिद्धान्त की भाषा में निरूपित हुई है। जो विरोध दीखता है, वह भी सही है। दोनों के पीछे दो दृष्टियां हैं।

आत्मा के दो रूप हैं—आवृत और अनावृत। आत्मा ज्ञानावरण के परमाणुओं से आवृत होता है, तब वही स्थिति बनती है जो हमें दीखती है। वह ज्ञानावरण के परमाणुओं से अनावृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमें विपरीत लगती है।

ज्ञान एक है, इसलिए उसे केवल कहा जाता है। वह 'सर्व-ज्ञानावरण' से आवृत रहता है, उस स्थिति में आत्मा निर्बाध ज्ञानमय नहीं होता। आत्मा और अनात्मा की भेद-रेखा मिट जाय, वैसा आवरण कभी नहीं होता। केवल-ज्ञान का अल्पतम भाग सदा अनावृत रहता है।[1] आत्मा का आत्मत्व यही है कि वह कभी भी ज्ञान-शक्ति से शून्य नहीं होता।

विशुद्ध प्रयत्न से आवरण जितना क्षीण होता है, उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञान के विकास की न्यूनतम मात्रा और अनावृत ज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-परमाणु 'देश-ज्ञानावरण' कहलाते हैं।[2]

सर्व-ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान का कोई भेद नहीं रहता, आत्मा ज्ञानमय बन जाता है। यह वह दशा है जहां ज्ञान और उपयोग दो नहीं रहते।

देश-ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार ज्ञान का विकास होता है वहां ज्ञान के विभाग बनते हैं, ज्ञान और उपयोग का भेद भी रहता है।

केवली के सर्व-ज्ञानावरण का विलय हो चुकता है। वे सदा जानते हैं, और सब पर्यायों को जानते हैं।

छद्मस्थ के देश-ज्ञानावरण का विलय होता है। वे जानने को तत्पर होते हैं तभी जानते हैं और जिस पर्याय को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसी को जानते हैं।

ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है।

ज्ञान-शक्ति के अपूर्ण विकास की दशा में जानने का प्रयत्न किए बिना जाना

---

१. नन्दी, सूत्र ७१।

२. ठाणं, २।४२४ :

> णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।

नहीं जाता। इसलिए वहां जानने की क्षमता और जानने की प्रवृत्ति दो बन जाते हैं।

छद्मस्थ ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार जान सकता है, इसलिए क्षमता की दृष्टि से वह अनेक पर्यायों का ज्ञाता है किन्तु उसका ज्ञान निरावरण नहीं होता, इसलिए वह एक काल में एक पर्याय को ही जान सकता है।

ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञाता ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव। दोनों स्वतन्त्र हैं। एक का अस्तित्व दूसरे से भिन्न है। इन दोनों में विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान-स्वरूप नहीं है, ज्ञान ज्ञेय-स्वरूप नहीं है—दोनों अन्योन्य-वृत्ति नहीं हैं।

ज्ञान ज्ञेय में प्रविष्ट नहीं होता, ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता—दोनों का परस्पर प्रवेश नहीं होता।

ज्ञाता की ज्ञायक-पर्याय और अर्थ की ज्ञेय-पर्याय के सामर्थ्य से दोनों का सम्बन्ध जुड़ता है।[1]

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएं

आत्मा को आवृत-दशा में ज्ञान होते हुए भी उसकी सतत प्रवृत्ति (उपयोग) नहीं होती और जो होती है उसका एक क्रम है—पहले दर्शन की प्रवृत्ति होती है, फिर ज्ञान की।

गौतम ने पूछा—भगवन्! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है पर देखता नहीं, यह सच है? अथवा जानता भी नहीं, देखता भी नहीं, यह सच है?

भगवान् ने कहा—गौतम! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुत-ज्ञान से परमाणु को जानते हैं पर दर्शन के अभाव में देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुत-ज्ञानी होते हैं, वे न तो उसे जानते हैं और न देखते हैं।

गौतम—भगवन्! परम अवधि-ज्ञानी परमाणु को जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं?

भगवान्—गौतम! नहीं, वे जिस समय परमाणु को जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं।

गौतम—भगवन्! ऐसा क्यों नहीं होता?

भगवान्—गौतम! ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार, इसलिए

---

१. प्रवचनसार, १।२७—३०

दोनों एक साथ नहीं हो सकते।[1] यह केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की क्रमिक मान्यता का आगमिक पक्ष है। अनावृत आत्मा में ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है और छद्मस्थ को ज्ञान को प्रवृत्ति करनी पड़ती है। छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करने में असंख्य समय लगते हैं और केवली एक समय में ही अपने ज्ञेय को जान लेते हैं। इस पर से यह प्रश्न उठा कि केवली एक समय में समूचे ज्ञेय को जान लेते हैं तो दूसरे समय में क्या जानेंगे? वे एक समय में जान सकते हैं, देख नहीं सकते या देख सकते हैं, जान नहीं सकते तो उनका सर्वज्ञत्व ही टूट जाएगा?

इस प्रश्न के उत्तर में तर्क आगे बढ़ा। दो धाराएं और बन गईं। मल्लवादी ने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के युगपत् होने और सिद्धसेन दिवाकर ने उनके अभेद का पक्ष प्रस्तुत किया।[2]

दिगम्बर-परम्परा में केवल युगपत्-पक्ष ही मान्य रहा।[3] श्वेताम्बर-परम्परा में इसकी क्रम, युगपत् और अभेद—ये तीन धाराएं बन गईं।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने इसका नय-दृष्टि से समन्वय किया है।[4] ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष संगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। पहले समय का ज्ञान कारण है और दूसरे समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहार-नय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत्-पक्ष भी संगत है। संग्रह नय अभेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद-पक्ष भी संगत है। इन तीनों धाराओं को तर्क-दृष्टि से देखा जाय तो इनमें अभेद-पक्ष ही संगत लगता है। जानने और देखने का भेद परोक्ष या अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में होता है। वहां वस्तु के पर्यायों को जानते समय उसका सामान्य रूप नहीं देखा जा सकता और उसके सामान्य रूप को देखते समय उसके विभिन्न पर्याय नहीं जाने जा सकते। प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान की दशा में ज्ञेय का प्रति समय सर्वथा साक्षात् होता है। इसलिए वहां यह भेद नहीं होना चाहिए।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है। उसका प्रतिपादन स्वभाव-स्पर्शी है। पहले समय में वस्तुगत-भिन्नताओं को जानना और दूसरे समय में भिन्नतागत-अभिन्नता को जानना स्वभाव-सिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है। भेदोन्मुखी ज्ञान सबको जानता है और अभेदोन्मुखी दर्शन सबको देखता है। अभेद में भेद और अभेद में भेद समाया हुआ है, फिर भी भेद-प्रधान ज्ञान और अभेद-प्रधान दर्शन का समय एक नहीं होता।

---

१. भगवती, १८।८

२. सन्मति प्रकरण, टीका पृ० ६०८

२. सर्वार्थसिद्धि, १।६

४. ज्ञानबिन्दु,

ज्ञेय-अज्ञेयवाद

ज्ञेय और अज्ञेय की मीमांसा—द्रव्य (वस्तु या पदार्थ), क्षेत्र, काल, और भाव (पर्याय या अवस्था)—इन चार दृष्टियों से होती है।[1] सर्वज्ञ के लिए सब कुछ ज्ञेय है। असर्वज्ञ—छद्मस्थ के लिए कुछ ज्ञेय है और कुछ अज्ञेय—सापेक्ष है।

पदार्थ की दृष्टि से

पदार्थ दो प्रकार के हैं—अमूर्त और मूर्त। मूर्त पदार्थ का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा विकल-परमार्थ-प्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्याय) से साक्षात्कार होता है इसलिए वह ज्ञेय है। अमूर्त-पदार्थ अज्ञेय है।[2]

मानस-ज्ञान—श्रुत या शब्द-ज्ञान परोक्षतया अमूर्त और मूर्त सभी पदार्थों को जानता है, अतः उसके ज्ञेय सभी पदार्थ हैं।[3]

पर्याय की दृष्टि से

तीन काल की सभी पर्यायें अज्ञेय हैं। त्रैकालिक कुछ पर्यायें ज्ञेय हैं।[4]

संक्षेप में छद्मस्थ के लिए दस वस्तुएं अज्ञेय हैं। सर्वज्ञ के लिए वे ज्ञेय हैं।[5] ज्ञेय भी अनन्त और ज्ञान भी अनन्त—यह कैसे बन सकता है? ज्ञान में अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता नहीं है। यदि है तो ज्ञेय सीमित हो जाएगा। दो असीम विषय-विषयी-भाव में नहीं बंध सकते। अज्ञेयवाद या असर्वज्ञतावाद की ओर से ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाता रहा है।

जैन दर्शन सर्वज्ञतावादी है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय (ज्ञान को ढांकने वाले परमाणुओं का वियोग) होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है। अनन्त, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण, सर्वद्रव्य-पर्याय साक्षात्कारी ज्ञान का उदय होता है, वह निरावरण होता है, इसीलिए वह अनन्त होता है। ज्ञान का सीमित भाव आवरण बनता है। उसका आवरण हटता है, तब उसकी सीमितता भी मिट जाती है। फिर केवली (निरावरण ज्ञानी) अनन्त को अनन्त और सान्त को सान्त साक्षात् जानने लगता है। अनुमान से जैसे अनन्त जाना जाता है, वैसे प्रत्यक्ष से भी अनन्त जाना जा सकता है। अनन्तता अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों का ज्ञेय है।

---

१. नंदी, सूत्र २२, २५।
२. वही, सूत्र ४-६।
३. वही, सूत्र १२७।
४. भगवती, ८।२
५. ठाणं, १०।१०६

उनकी अनन्त विषयक जानकारी में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर सिर्फ जानकारी के रूप में है। अनुमान से अनन्त का अस्पष्ट आकलन होता है और प्रत्यक्ष से उसका स्पष्ट दर्शन। अनन्त ज्ञान से अनन्त वस्तु अनन्त ही जानी जाती है। इसीलिए उसकी अनन्तता का अन्त नहीं होता—असीमता सीमित नहीं होती। सर्वज्ञ जैसे को वैसा ही जानता है। जो जैसे नहीं है, उसे वैसे नहीं जानता। सान्त को अनन्त और अनन्त को सान्त जानना अयथार्थ-ज्ञान है। यथार्थ-ज्ञान वह है, जो सान्त को सान्त और अनन्त को अनन्त जाने। सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त जानता है। इसमें दो असीम तत्त्वों का परस्पर आकलन है।[2] ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे से आबद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरण भाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय का आपस में प्रतिबन्धकभाव नहीं है। अनन्त ज्ञेय अनन्तानन्त ज्ञान से ही जाना जाता है।

ज्ञेय अनन्त हैं। निरावरण ज्ञान अनन्तान्त हैं। अनन्त अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता वाला है। परम अवधि ज्ञान का विषय (ज्ञेय) समूचा लोक है। क्षमता की दृष्टि से ऐसे लोक असंख्य और हों तो भी वह उसे साक्षात् कर सकता है। यह सावरण ज्ञान की स्थिति है। निरावरण ज्ञान की क्षमता इससे अनन्त गुण अधिक है।

नियतिवाद

सर्वज्ञता निश्चय-दृष्टि या वस्तु-स्थिति है। सर्वज्ञ जो जानता है, वह वैसे ही होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

परिवर्तन व्यवहार-दृष्टि का विषय है। पुरुषार्थ का महत्त्व निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से है। निश्चय-दृष्टि का पुरुषार्थ आवश्यकतानुरूप और निश्चित दिशागामी होता है। व्यवहार-दृष्टि स्थूल समझ पर आश्रित होती है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। ज्ञानमात्र से क्रिया सिद्ध नहीं होती, इसलिए ज्ञान की निश्चितता और अनिश्चितता दोनों स्थितियों में पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। ज्ञान और क्रिया का पूर्ण सामंजस्य भी नहीं है। इनकी कारण-सामग्री भिन्न होती है। सर्वज्ञ सब कुछ जान लेते हैं, पर सब कुछ कर नहीं पाते।

गौतम ने पूछा—भगवन्! केवली अभी जिस आकाश-खण्ड में हाथ-पैर

---

२. न्यायालोक, पृ० २२१।

अनन्तमलोकाकाशं केवलिना परिच्छिन्नं चेत्तदा उपलब्धावसानत्वादनन्तत्वहानिः। अथाऽपरिच्छिन्नं तदा तत्स्वरूपपरिच्छेद-विरहेण सर्वज्ञत्वाऽभावः नैव दोषः। केवलिनां यज्ज्ञानं तदतिशयवत् क्षायिकमनन्तानन्तपरिमाणं च, तेन तदनन्तमिति साक्षादवसीयते ततो नानन्तत्वस्य हानि र्न वा सर्वज्ञतायाः। नह्यन्यथास्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् इति न तेन सान्तमनन्तत्वेन परिच्छिन्नं किन्तु अनन्तमनन्तत्वेन।

रखते हैं, उसी आकाश-खण्ड में फिर हाथ-पैर रखने में समर्थ हैं ?

भगवान्—गौतम ! नहीं हैं।

गौतम—यह कैसे, भगवन् ?

भगवान्—गौतम ! केवली वीर्य, योग और पौद्गलिक द्रव्य-युक्त होते हैं, इसलिए उनके उपकरण—हाथ-पैर आदि चल होते हैं। वे चल होते हैं, इसलिए केवली जिन आकाश-प्रदेशों पर हाथ-पैर रखते हैं, उन्हीं आकाश-प्रदेशों पर दुबारा हाथ-पैर रखने में समर्थ नहीं होते।[1]

ज्ञान का कार्य जानना है। क्रिया शरीर-सापेक्ष है। शारीरिक स्पन्दन के कारण पूर्व अवगाह-क्षेत्र का फिर अवगाहन नहीं किया जा सकता। इसमें ज्ञान की कोई त्रुटि नहीं है। वह शारीरिक चलभाव की विचित्रता है।

नियति एक तत्त्व है। वह मिथ्यावाद नहीं है। नियतिवाद जो नियति का ही एकान्त आग्रह रखता है, वह मिथ्या है। सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद की बात जोड़ी जाती है। वह कोरा आग्रह है। असर्वज्ञ के निश्चित ज्ञान के साथ भी वह जुड़ती है। सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण निर्णीत समय पर होते हैं। ज्योतिर्विदों के द्वारा किया हुआ निर्णय उनकी स्वयंभावी क्रिया में विघ्न नहीं डालता। मनुष्यों के भाग्य के बारे में भी उन्हीं के जैसे (असर्वज्ञ) मनुष्यों द्वारा किये गए निर्णय उनके प्रयत्नों में विघ्न नहीं बनते। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नहीं किया जा सकता। गोशालक के नियतिवाद का हेतु भगवान् महावीर का निश्चित ज्ञान है।

भगवान् महावीर साधना-काल में विहार कर रहे थे। सर्वज्ञता का लाभ हुआ नहीं था। शरद् ऋतु का पहला महीना चल रहा था। गर्मी और सर्दी की संधि-वेला में बरसात चल बसी थी। कार्त्तिक की कड़ी धूप मिट रही थी और सर्दी मृगसर की गोद में खेलने को उत्सुक हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर सिद्धार्थ-ग्राम नगर से विहार कर कूर्मग्राम नगर को जा रहे थे। उनका एकमात्र शिष्य मंखली पुत्र गोशालक उनके साथ था। सिद्धार्थ-ग्राम से वे चल पड़े। कूर्म-ग्राम अभी आया नहीं। बीच में एक घटना-चक्र बनता है।

मार्ग के परिपार्श्व में एक खेत लहलहा रहा था। उसमें था एक तिल का पौधा। पत्ते और फूल उसकी श्री को बढ़ा रहे थे। उसकी नयनाभिराम हरियाली बरबस पथिकों की दृष्टि अपनी ओर खींच लेती थी। गोशालक की दृष्टि सहसा उस पर जा पड़ी। वह रुका, झुका, वन्दना की और नम्र स्वर में बोला—भगवन् ! देखिए, यह तिल का पौधा जो सामने खड़ा है, क्या पकेगा या नहीं ? इसके सात फूलों में रहे हुए सात जीव मरकर कहां जाएंगे, कहां पैदा होंगे ?

---

१. भगवती, ५।४।१४२।

भगवान् बोले—गोशालक ! यह तिल-गुच्छ पकेगा, नहीं पकेगा ऐसा नहीं। इसके सात फूलों के सात जीव मरकर इसी की एक फली (तिल-संकुलिका या तिल-फलिका) में सात तिल बनेंगे।

गोशालक ने भगवान् को सुना, पर जो सुना उसमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई, प्रतीति नहीं हुई, वह रुचा नहीं। उसकी अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि ने उसे परीक्षा की संकरी पगडंडी में ला पटका। उसकी प्रयोग-बुद्धि में केवल अश्रद्धा ही नही किन्तु नैसर्गिक तुच्छता भी थी। वैसी तुच्छता जो सत्यान्वेषी के जीवन में अभिशाप बनकर आती है।

भगवान् आगे बढ़ चले। गोशालक धीमी गति से पीछे सरका। मन के तीव्र वेग ने गति में और शिथिलता ला दी। उसकी प्रयोग-दृष्टि में सत्य की शुद्ध जिज्ञासा नहीं थी। वह अपने धर्माचार्य के प्रति सद्भावनाशील भी अब नहीं रहा था। वह भगवान् को मिथ्यावादी ठहराने पर तुला हुआ था। विचारों का तुमुल-संघर्ष सिर पर लिए वह उस तिल-स्तम्ब के पास जा पहुंचा। उसे गहरी दृष्टि से देखा। गोशालक के हाथ उसकी ओर बढ़े। कुछ ही क्षणों में तिल-स्तम्ब जमीन से ऊपर उठ आया। गोशालक ने उसे उखाड़कर ही सन्तोष नहीं माना। वह उसे हाथ में लिए चला और कुछ आगे जा एकान्त में डाल आया। महावीर आगे चले जा रहे थे। वे निश्छल थे। इसीलिए अपने सत्य पर निश्चल थे। उनकी निरपेक्षता उन्हें स्वयं सहारा दे रही थी आगे बढ़ने के लिए। गोशालक भगवान् की ओर चल पड़ा।

परिस्थिति का मोड़ कब, कहां, कैसा होता है, इसे जानना सहज नहीं। विश्व की समूची घटनावलियां और कार्य-कारण भाव की शृंखलाएं ऐसी बनती-जुड़ती हैं, जो अनहोने जैसे को बना डालती हैं और जो होने को है, उसे बिखेर डालती हैं। केवल परिस्थिति की दासता जैसे निरा धोखा है, वैसे ही केवल पौरुष का अभिमान भी निरा अज्ञान है। परिस्थिति और पुरुषार्थ अनुकूल क्षेत्र-काल में मिलते हैं, व्यक्ति की पूर्व-क्रिया से प्रेरित हो चलते हैं तभी कुछ बनने का बनता है और बिगड़ने का बिगड़ता है। गोशालक के पैर भगवान् महावीर की ओर आगे बढ़े, पवन की गति में परिवर्तन आया। खाली आकाश बादलों से छा गया। खाली बादल पानी से भर गए। बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की कौंध ने वातावरण में खिचाव-सा ला दिया। देखते-देखते धरती गीली हो गई। धीमे-धीमे गिरी बूंदों ने रज-रेणु को थाम लिया। कीचड़ उनसे बढ़ा नहीं। तत्काल उखाड़ फेंका हुआ वह तिल-स्तम्ब अनुकूल सामग्री पा फिर अंकुरित हो उठा, बद्धमूल हो उठा, जहां गिरा था वहीं प्रतिष्ठित हो गया। सात तिल-फूलों के सात जीव उसी तिल-स्तम्ब की एक फली में सात तिल बन गए।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते-करते फिर कूर्म-ग्राम आये। वहां से

फिर सिद्धार्थ-ग्राम नगर की ओर चले। मार्ग वही था। वे ही थे दोनों गुरु-शिष्य। समय वह नहीं था। ऋतु-परिवर्तन हुआ। परिस्थिति भी बदल चुकी थी। किन्तु मनुष्य बात का पक्का होता है। आग्रह कब जल्दी से छूटता है। गोशालक की गति ही अधीर नहीं थी, मन भी अधीर था। प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते हैं, फिर भी कटते हैं। वह खेत आ गया। गोशालक बोला—"भगवन्! ठहरिए। यह वही खेत है, जहां हमने इससे पूर्व विहार में कुछ क्षण बिताए थे। यह वही खेत है, जहां हमने तिल-स्तम्ब देखा था। यह वही खेत है जहां भगवान् ने मुझे कहा था—'यह तिल-स्तम्ब पकेगा'? किन्तु भगवन्! वह भविष्यवाणी असफल हो गई। वह तिल-स्तम्ब नहीं पका, नहीं पका और नहीं पका। वे सात फूलों के सात जीव मरकर नए सिरे से एक फली में सात तिल नहीं बने, नहीं बने और नहीं बने। सच कह रहा हूं मैं, मेरे धर्माचार्य! प्रत्यक्ष से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं होता।" भगवान् सब सुनते रहे। वे शान्त, मौन और अविचलित थे। गोशालक की भवितव्यता ने प्रेरित किया भगवान् को बोलने के लिए, कुछ कहने के लिए रहस्य को सामने ला रखने के लिए। भगवान् बोले—"गोशालक! मैं जानता हूं तूने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया था। तू आकुल था मेरी भविष्यवाणी को मिथ्या ठहराने के लिए। मुझे मालूम है, गोशालक! उसके लिए तू जो करना चाहता था, वह कर चुका। किन्तु परिस्थिति ने तेरा साथ नहीं दिया।" तिल-स्तम्ब के उखाड़ फेंकने से लेकर उसके फिर से पकने तक की सारी कहानी भगवान् ने सुना डाली। इसके साथ-साथ परिवर्तवाद का सिद्धान्त भी समझा डाला। भगवान् बोले—"गोशालक! वनस्पति में परिवृत्य-परिहार होता है—वनस्पति के जीव एक शरीर से मरकर फिर उसी शरीर में जन्म ले लेते हैं।"

गोशालक नियति के हाथों खेल रहा था। उसे भगवान् की वाणी में विश्वास नहीं हुआ। वह धीरज का बांध तोड़कर चला। उस जगह गया, जहां तिल-स्तम्ब तोड़ फेंका था। उसने देखा, आश्चर्य-भरी दृष्टि से देखा—वह तिल-स्तम्ब फिर से खड़ा हो गया है। उसने नजदीक से देखा, उसके गुच्छों में एक फली भी निकल आयी है। संशय की आतुरता ने भुला दिया—'वनस्पति चेतन होती है, उसे स्पर्शमात्र से वेदना होती है, उसे छूना जैन-मुनि की मर्यादा के अनुकूल नहीं है।' उसके हाथ आगे बढ़े, फली को तोड़ा। अन्दर तिल निकले। उन्हें गिना, वे सात थे। गोशालक स्तब्ध-सा रह गया। उसके ऐसा अध्यवसाय बना—बस पीछे का सब बेकार। अब मुझे तत्त्व मिल गया है। सत्य है नियतिवाद और सत्य है परिवर्तवाद। मनुष्य के लाख प्रयत्न करने पर भी जो होने का है वह नहीं बदलता। यह सारा घटना-चक्र नियति के अधीन है। भवितव्यता ही सब कुछ बनाती-बिगाड़ती है। मनुष्य उसी महाशक्ति की एक रेखा है जो उसी से कर्तृत्व पा कुछ करने का दम भरता है।

परिवर्तवाद भी वैसा ही व्यापक है जैसा कि नियतिवाद। सब जीव परिवृत्य-परिहार करते हैं। इस एक घटना ने गोशालक की दिशा बदल दी। अब गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य नहीं रहा। वह आजीवक-सम्प्रदाय का आचार्य बन गया, नियतिवाद और परिवर्तवाद का प्रचारक बन गया। अब वह 'जिन' कहलाने लगा।

सर्वज्ञता का पारम्पर्य-भेद

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता के बारे में प्रायः एकमत रहा है। कहीं-कहीं मत-भेद भी मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में बताया है—"केवली व्यवहार-दृष्टि से सब कुछ जानते-देखते हैं और निश्चय-दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं।"[1] किन्तु सर्वज्ञता का यह विचार जैन-दृष्टि को पूर्णांशतया मान्य नहीं है। सर्वज्ञता का अर्थ है—लोक-अलोकवर्ती सब द्रव्य और सब पर्यायों का साक्षात्कार।

यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिकी वेदना (इच्छा-स्वीकृत प्रयत्नों) द्वारा भोगेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिकी वेदना (कर्मोदय-कृत वेदना) द्वारा भोगेगा, प्रदेश-वेद्य या विपाक-वेद्य के रूप में जैसा कर्म बंधा है वैसे भोगेगा, जिस देश-काल आदि में जिस प्रकार, जिस निमित्त से, जिन कर्मों के फल भोगने हैं—यह सब अर्हत् को ज्ञात होता है। भगवान् ने जो कर्म जैसे-जैसे देखा है वह वैसे-वैसे ही परिणत होगा।[2] हमारी क्रियाएं विशिष्ट ज्ञान की निश्चितता से मुक्त नहीं हैं, फिर भी ज्ञान आलोक है। सूर्य का आलोक जैसे प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी क्रिया का प्रतिबन्धक नहीं होता।

केवली पूर्व दिशा में मित (परिमाण वाली वस्तु) को भी जानता है, और अमित (परिमाण-रहित वस्तु) को भी जानता है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में वह मित और अमित दोनों को जानता है। केवली सबको जानता-देखता है। सर्वतः जानता-देखता है। सर्व काल में सर्व भावों (पर्यायों या अवस्थाओं) को जानता-देखता है। वह अनन्त-ज्ञानी और अनन्त-दर्शनी होता है। उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है, इसलिए वह सब पदार्थों को सदा, सर्वतः, सर्व-पर्यायों सहित जानता-देखता है।

---

१. नियमसार, १५८।
२. वही, १५८।

२

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का आधार

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी-मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर संक्षिप्त विचार करना होगा; क्योंकि जैन-दृष्टि के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नहीं, वह कर्म और नो-कर्म की स्थिति-सापेक्ष है। इसलिए इनका स्वरूप समझे बिना मन का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

त्रिपुटी का स्वरूप

आत्मा

चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है।[1] ऐसी आत्माएं अनन्त हैं।[2] उनकी सत्ता स्वतन्त्र है।[3] वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है—अनन्त प्रमेयों को जानने में क्षम होती है। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती हैं, किन्तु चेतना का विकास सब में समान नहीं होता।[4] चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है।[5]

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।१०, ११।
२. दसवेआलियं, ४।३।
३. वही, ४।३।
४. ठाणं, २।
५. भगवती, ७।८।

कर्म

आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एक-रसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं।[1] कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक-दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक-दशा में प्राणियों को प्रभावित करते हैं।[2] भोजन आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होता है, इसलिए उनकी शक्ति स्वल्प होती है। कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होता है, इसलिए इनकी सामर्थ्य अधिक होती है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, इसलिए इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। भोजन आदि के परिणामों को जानने के लिए शरीरशास्त्र है, कर्म के परिणामों को समझने के लिए कर्मशास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर। पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय। दोनों प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु। ऐसे ही पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से दुःख और दोनों के विलय से मुक्ति होती है। कर्म के आंशिक विलय से आंशिक मुक्ति—आंशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति—पूर्ण विकास। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल-सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो-कर्म सापेक्ष होता है।

नो-कर्म

कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नो-कर्म कहा जाता है।[3] आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियों को फल देने में क्षम है किन्तु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियों की अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं।[4]

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, ४।१।

२. भगवती, ६।३२; प्रज्ञापना पद २३।

३. प्रज्ञापना, पद १७ वृत्तिः—

वाह्यान्यपि द्रव्याणि, कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा वाह्यौषधिर्ज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेक-विकलतोपजायते।···

४. वही, पद १३।

कर्म के आंशिक विलय से होने वाले आंशिक विकास का उपयोग भी बाह्य-स्थिति-सापेक्ष होता है।

चेतना का पूर्ण विकास होने और शरीर से मुक्ति मिलने के बाद आत्मा को वाह्य-स्थितियों की कोई अपेक्षा नहीं होती।

चेतना का स्वरूप और विभाग

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश-स्वभाव होती है। उसके प्रकाश—चेतना के दो रूप वनते हैं—आवृत और अनावृत। अनावृत-चेतना अखण्ड, एक, विभाग-शून्य और निरपेक्ष होती है।[1] कर्म से आवृत चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं। उनका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है। वह अनन्त प्रकार का होता है, इसलिए चेतना के भी अनन्त रूप बन जाते हैं किन्तु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं—मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्याय।

मति—इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान—वार्तमानिक ज्ञान।

श्रुत—शास्त्र और परोपदेश—शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक मानस-ज्ञान।

अवधि—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-शक्ति से होने वाला ज्ञान।

मन:पर्याय—पर-चित्त-ज्ञान।

इनमें पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम दो प्रत्यक्ष। ज्ञान स्वरूपत: प्रत्यक्ष ही होता है। बाह्यार्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो धाराओं में बंट जाता है।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष।

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है, इसलिए उसे अर्थ-बोध में माध्यम की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। किन्तु चेतना का आवरण बलवान् होता है, तब वह हुए बिना नहीं रहती। मति-ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रिय और पौद्गलिक मन के माध्यम से होता है। श्रुत-ज्ञान शब्द और संकेत के माध्यम से होता है, इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

अवधि-ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्गलिक पदार्थों को जान लेता है। आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान में सामीप्य और दूरी, भीत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा—ये बाधक नहीं बनते।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २९।७१।

मनःपर्याय ज्ञान दूसरों की मानसिक आकृतियों को जानता है।[1] समनस्क प्राणी जो चिन्तन करते हैं, उस चिन्तन के अनुरूप आकृतियां बनती हैं।[2] इन्द्रिय और मन उन्हें साक्षात् नहीं जान सकते। इन्हें चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है।[3] परोक्ष ज्ञानी शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देखकर अन्तर्वर्त्ती मानस प्रवृत्तियों को समझने का यत्न करता है। मनःपर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है।[4]

मनःपर्यवज्ञानी को इस प्रयत्न में अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पड़ता है। वह मानसिक आकृतियों का साक्षात्कार करता है। किन्तु मानसिक विचारों का साक्षात्कार नहीं करता। इसका कारण यह है—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—मूर्त और अमूर्त।[5] पुद्गल मूर्त हैं और आत्मा अमूर्त।[6] अनावृत चेतना को इन दोनों का साक्षात्कार होता है। आवृत चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थ का ही साक्षात्कार कर सकती है। मनःपर्याय ज्ञान आवृत चेतना का एक विभाग है, इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नहीं जान सकता। वह इस (आत्मिक-मन) के निमित्त से होने वाली मूर्त मानसिक परिणति (पौद्गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारों को उसके द्वारा अनुमान से जानता है।[7] मानसिक विचार और उनकी आकृतियों के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा बनता है। इसमें मानसिक विचार अनुमेय होते हैं। फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नहीं है। कारण कि मानसिक विचारों को साक्षात् जानना मनःपर्याय ज्ञान का विषय नहीं। उसका विषय है मानसिक आकृतियों को

---

१. नन्दी, सूत्र २४—मणपज्जवणाणं पुण जणमणपरिचिंतियत्थपागडणं।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ वृत्ति—

मनो द्रव्यस्थितानेव जानाति, न पुनश्चिन्तनीयबाह्यघटादि वस्तुगतानिति।

३. वही, गाथा ८१४—

दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणंते।
तेणावभासिए उण जाणइ बज्झाणुमाणेणं॥

४. वही, गाथा १३६ वृत्ति—

यथा प्राकृतोलोकः स्फुटमाकारैर्मानसं भावं जानाति, तथा मनःपर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य तं तं मानसं भावं जानाति।

५. ठाणं, २।१—सरूवी चेव अरूवी चेव।

६. उत्तरज्झयणाणि, ३६।४, ६६।

७. नन्दी, सूत्र २१ वृत्ति—

इह मनस्त्वपरिणतैः स्कन्धै रालोचितं बाह्यमर्थं घटादिलक्षणं साक्षादध्यक्षतो मनःपर्यवज्ञानी न जानाति, किन्तु मनोद्रव्याणामेव तथारूपपरिणामान्यथानुपपत्तितोऽनुमानतः।

साक्षात् जानना। उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इसलिए यह आत्म-प्रत्यक्ष ही है। मनःपर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायों (ज्ञेय-विषयक अध्यवसायों) को अनुमान से जानता है, वैसे ही मन द्वारा चिन्तनीय विषय को भी अनुमान से जानता है।[1]

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर और चेतना दोनों भिन्न-धर्मक हैं। फिर भी इनका अनादि सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए वे सर्वथा एक नहीं हो सकते। किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं। इसलिए उनमें सम्बन्ध हो सकता है। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है। इसलिए दोनों पर एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतन-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय और मानस-ज्ञान के साधन होते हैं। जब तक ये स्वस्थ रहते हैं, तब तक इन्द्रियां स्वस्थ रहती हैं। इन ज्ञान-तन्तुओं को शरीर से निकाल लिया जाए तो इन्द्रियों में जानने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[2]

शरीर की वनावट और चेतना का विकास

चेतना-विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण-काल में आत्मा उसका निमित्त बनती है और ज्ञान-काल में शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं।

पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है। विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणित-बद्ध होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु, शिरा-बद्ध होता है।[3]

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। देह-मुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नहीं होता किन्तु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के कार्य-कलाप में शरीर सहायक और बाधक बनता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।१६, वृत्ति, पृ० ७०।
२. तन्दुलवैयालीय
३. ठाणं, ३।१५६, १६०।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, वैसे ही पूर्व-प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतन्तु-केन्द्रों— मस्तिष्क या अन्य अवयवों की अपेक्षा रहती है।

शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे ? यह सहज शंका उठती है किन्तु यह नियम पूर्ण व्याप्त नहीं है। बहुत सारे व्यक्तियों के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कई व्यक्तियों के देह के अपूर्ण विकास में भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। देह की अपूर्णता में बौद्धिक विकास पूर्ण नहीं होता, इसका कारण यह है कि वस्तु-विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक देह पूर्ण विकसित नहीं होता, तब तक वह वस्तु विषय का ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता। मस्तिष्क और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है—सहकारी अवयवों के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त-कारण और कार्यभाव सम्बन्ध है। इसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं।

मन क्या है ?

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है।

जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता। उसमें अकेले में ज्ञान-शक्ति नहीं होती। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं।

ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्गलिक परमाणुओं से नहीं बन सकता। वह पौद्गलिक वस्तु का रस नहीं है। पौद्गलिक वस्तु का रस भी पौद्गलिक ही होगा। पित्त का निर्माण यकृत् में होता है, यह पौद्गलिक है। चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की आनुषंगिक उपज भी। यह कार्यक्षम और शरीर का नियामक है। आनुषंगिक उपज में यह सामर्थ्य नहीं होती।

चेतना शरीर-घटक धातुओं का गुण होता तो शरीर से वह कभी लुप्त नहीं होती। चेतना आत्मा का गुण है। आत्म-शून्य शरीर में चेतना नहीं होती और शरीर-शून्य आत्मा की चेतना हमें प्रत्यक्ष नहीं होती। हमें शरीरयुक्त आत्मा की

चेतना का ही बोध होता है।

वस्तु का स्वगुण कभी भी वस्तु से पृथक् नहीं होता। दो वस्तुओं के संयोग से तीसरी नई वस्तु बनती है, तब उसका गुण भी दोनों के सम्मिश्रण से बनता है, किन्तु बाहर से नहीं आता। उसका विघटन होने पर पुनः दोनों वस्तुओं के अपने-अपने गुण स्वतन्त्र हो जाते हैं। गन्धक के तेजाब में हाइड्रोजन, गन्धक और ऑक्सीजन का सम्मिश्रण रहता है। इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं। इसको बनाने वाली मूल धातुएं पृथक्-पृथक् कर दी जाएं, तब वे अपने मूल गुणों के साथ ही पायी जाती हैं।

आत्मा का गुण चैतन्य और जड़ का गुण अचैतन्य है। ये भी इनके साथ सदा लगे रहते हैं। इन दोनों के संयोग से नए गुण पैदा होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में 'वैभाविक गुण' कहा जाता है। ये गुण मुख्य रूप में चार हैं—आहार, श्वास-उच्छ्वास, भाषा और पौद्गलिक मन। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के। ये दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। दोनों के वियोग में ये भी मिट जाते हैं।

शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव

शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर कैसे होता है? अब इस पर हमें विचार करना है। आत्मा अरूपी है, उसको हम देख नहीं सकते। शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत् है और शरीर बल्ब है। ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है। इसी प्रकार पुद्गल ग्रहण एवं हलन-चलन आत्मा करती है और उसका साधन शरीर है। आत्मा के बिना चिन्तन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति-आगति नहीं होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश (अभिव्यक्ति) नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि 'द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते'—अर्थात् संसारी-आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्गलों की सहायता से होता है। हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हमारे चिन्तन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलों को द्रव्य-मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करता चला जाता है। मन-रूप में परिणत हुए अनिष्ट-पुद्गलों से शरीर की हानि होती है और मन-रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों से शरीर को लाभ पहुंचता है।[1] इस प्रकार शरीर पर मन का

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२० वृत्ति—
मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गलनिचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिन्ता-प्रवर्तनेन।

असर होता है। यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्‌गलों के द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्‌गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आंख के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आंख में रोग होता है, दर्शन-क्रिया नष्ट हो जाती है। रोग की चिकित्सा की और दीखने लग जाता है। यही बात मस्तिष्क और मन की क्रिया के बारे में है। इस प्रकार आत्मा पर शरीर का असर होता है।

इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान के साधन हैं—इन्द्रिय और मन। फिर भी दोनों एक नहीं हैं। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। श्रुत को शब्द या संकेत की और अपेक्षा होती है। जहां हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहां घट शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है।[1] मति-ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है किन्तु उस (मति-ज्ञान) में में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच कोई व्यवधान नहीं होता, इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।[2] श्रुत-ज्ञान में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच शब्द का व्यवधान होता है, इसलिए वह सर्वतः परोक्ष ही होता है।

लौकिक-प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष की भाँति समर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है। वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है—

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान—व्यंजन।
वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध—दर्शन।
वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का बोध—अवग्रह।
वस्तु-स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प—संशय।
वस्तु-स्वरूप का परामर्श—वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन—ईहा—(निर्णय की चेष्टा)
वस्तु-स्वरूप का निर्णय—अवाय (निर्णय)

जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या ह्यन्निरुद्धवायुवद् उपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्‌गलपिंडरूपं तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिर्वृत्या भेषजवदनुग्रहं विधत्ते इति…।

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०० वृत्ति……।
२. नन्दी, सूत्र ४।

वस्तु-स्वरूप की स्थिर-अवगति या स्थिरीकरण—धारणा (निर्णय की धारा)

यह क्रम अमनस्क दशा में अपूर्ण हो सकता है किन्तु इसका विपर्यास नहीं हो सकता। अवग्रह हो जाता है, ध्यान बदलने पर 'ईहा' नहीं भी होती। किन्तु ईहा से पहले अवग्रह का यानी वस्तु के विशेष-स्वरूप के परामर्श से पहले उसके सामान्य रूप का ग्रहण होना अनिवार्य है। यह नियम धारणा तक समान है।

इस क्रम में व्यंजन अचेतन होता है, दर्शन विशेष-स्वरूप का अनिर्णायक, और संशय अयथार्थ। निर्णायक ज्ञान की भूमिकाएं चार हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

वस्तुवृत्या निर्णय की भूमि 'अवाय' है। अवग्रह और ईहा निर्णयोन्मुख या स्वरूपांश के निर्णायक होते हैं। धारणा निर्णय का स्थिर रूप है। इसलिए वह भी निर्णायक होती है। धारणा के तीन प्रकार हैं—अविच्युति, वासना और स्मृति।

अविच्युति

निर्णीत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहे, उपयोग की धारा न टूटे, उस धारणा का नाम 'अविच्युति' है। इस अविच्युति की अपेक्षा ही धारणा लौकिक प्रत्यक्ष है। इसके उत्तरवर्ती दो प्रकार प्रत्यक्ष नहीं हैं।

वासना

निर्णय में वर्तमान ज्ञान की प्रवृत्ति—उपयोग का सातत्य छूटने पर प्रस्तुत ज्ञान का व्यक्त रूप चला जाता है। उसका अव्यक्त रूप संस्कार रह जाता है और यही पूर्व-ज्ञान की स्मृति का कारण बनता है। इस संस्कार-ज्ञान का नाम है 'वासना'।

स्मृति

संस्कार उद्‌बुद्ध होने पर अनुभूत अर्थ का पुनर्बोध होता है। वह 'स्मृति' है।

वासना व्यक्त ज्ञान नहीं, इसलिए वह प्रमाण की कोटि में नहीं आती। स्मृति परोक्ष प्रमाण है। धारणा तक मति लौकिक प्रत्यक्ष होती है। स्मृति से लेकर अनुमान तक उसका रूप परोक्ष बन जाता है।

चक्षु और मन का ज्ञान-क्रम पटु होता है। इसलिए उनका व्यंजन नहीं होता—ज्ञेय वस्तु से सन्निकर्ष नहीं होता। जिन इन्द्रियों का व्यंजन होता है, उन्हें व्यंजन का अस्पष्ट बोध होता है। अपने और ज्ञेय वस्तु के संश्लेष का अव्यक्त ज्ञान होता है, इसे 'व्यंजन-अवग्रह' कहा जाता है। यह अपटु ज्ञान-क्रम

है। इससे ज्ञेय अर्थ का बोध नहीं होता। वह इसके उत्तरवर्ती अवग्रह से होता है, इसलिए उसका नाम 'अर्थ-अवग्रह' है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये पांच इन्द्रिय और मन—इन छहों के होते हैं।

इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थग्राही है।[1] पांच इन्द्रियों—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—के पांच विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द।[2] मन सर्वार्थग्राही है। वह इन पांचों अर्थों को जानता है। इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है।[3] 'पुस्तक' शब्द सुनते ही या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है—यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रियों में मात्र विषय की उपलब्धि—अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा—गुण-दोष-विचारणा, परीक्षा या तर्क की शक्ति नहीं होती।[4] मन में ईहापोह शक्ति होती है।[5] इन्द्रिय मति और श्रुत—दोनों में वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्ती विषय को जानती है। मन मति-ज्ञान में भी ईहा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक वन जाता है और श्रुत में त्रैकालिक होता ही है।[6]

मन इन्द्रिय है या नहीं?

नैयायिक मन को इन्द्रिय से पृथक् मानते हैं।[7] सांख्य मन का इन्द्रिय में

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, २।२७।

२. वही, २।२८, ३२।

३. वही, २।३३; तत्त्वार्थ सूत्र, २।२२।

४. नन्दी, सूत्र ६२—

जस्स णं नत्थि ईहा अपोहो मग्गणा गवेसणा,
चिन्ता, वीमंसा से णं असण्णित्ति लब्भइ।

५. नन्दी, सूत्र ६२—

जस्स णं अत्थि ईहा अपोहो मग्गणा
गवेसणा चिन्ता वीमंसा से णं सण्णीति
लब्भइ।

६. वृहत्कल्पभाष्य, १।१।

७. न्याय सूत्र, १।१२।

अन्तर्भाव करते हैं।[1] जैन मन को अन-इन्द्रिय मानते हैं। इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं और वह इन्द्रिय के विषयों को उन्हीं के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कथंचित् इन्द्रिय नहीं, यह भी नहीं। वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नहीं भी है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी।

मानसिक अवग्रह

इन्द्रियां जैसे मति-ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत-ज्ञान की भी हैं मन की भी यही बात है। वह भी दोनों का निमित्त है। किन्तु श्रुत—शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु, केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियों का नहीं।[2] शब्द-संस्पर्श के बिना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन दोनों के द्वारा होता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओं और बुद्धिजन्य काल्पनिक वृत्तों का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण—अवग्रह में सामान्य रूप से वस्तु-पर्यायों का ज्ञान होता है। इसमें आगे-पीछे का अनुसंधान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, विशेष विकल्प आदि नहीं होते। इन्द्रियां इन विशेष पर्यायों को नहीं जान सकतीं। इसलिए मानसिक अवग्रह में वे संयुक्त नहीं होतीं, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह में मन संयुक्त होता है। अवग्रह के उत्तरवर्त्ती ज्ञान क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

मन की व्यापकता

(क) विषय की दृष्टि से

इन्द्रियों के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम-ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त और अमूर्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुत-ज्ञान है। श्रुत-ज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए कि मन का विषय सब पदार्थ हैं किन्तु यह नहीं कहा जाता, उसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं—श्रुत के माध्यम से बनते हैं, इसलिए मन का विषय श्रुत है।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है, इसलिए इन्द्रियां उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है, इसलिए वह भी उसका निमित्त

---

१. सांख्यकारिका, २७।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २।११, पृ० ३२८।

बनता है। श्रुत-मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है—यह उन दोनों का कार्य है।

(ख) काल की दृष्टि से

इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है—मनन के समय ही मन होता है।[1] मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तु-ज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता अभिनिबोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक।

विकास का तरतमभाव

प्राणिमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढंक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत रहता है। यदि वह पूरी आवृत हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता।[2] बादल कितने ही गहरे क्यों न हों, सूर्य की प्रभा रहती है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है।[3] उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि-निद्रा—गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पंचेन्द्रिय-गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है।

द्वीन्द्रिय··················स्पर्शन और रसन।
त्रीन्द्रिय···················स्पर्शन, रसन और घ्राण।
चतुरिन्द्रिय················स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु।
पंचेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम·········स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

---

१. भगवती, १३।७ : मणिज्जमाणे मणे।

२. नन्दी, सूत्र ७१—

सव्वजीवाणंपि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियो, जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा।

३. दसवेआलियं, चूर्णि—

सव्वजहण्णं चित्तं एगिन्दियाणं।

पंचेन्द्रिय-गर्भज.........स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन—अतीन्द्रिय ज्ञान—मूर्त पदार्थ का साक्षात् ज्ञान।

पंचेन्द्रिय-गर्भज मनुष्य...पूर्व के अतिरिक्त पर-चित्त-ज्ञान और केवलज्ञान—चेतना की अनावृत-दशा।

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय (क्षय) होने पर चेतना निरुपाधिक हो जाती है। उसका आंशिक विलय (क्षयोपशम) होता है, तब उसमें अनन्त गुण तरतमभाव रहता है। उसके वर्गीकृत चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय। इनमें भी अनन्तगुण तारतम्य होता है। एक व्यक्ति के मति-ज्ञान से दूसरे व्यक्ति का मति-ज्ञान अनन्तगुण हीन या अधिक हो जाता है।[1] यही स्थिति शेष तीनों की है।

निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति—उपयोग सब विषयों पर निरन्तर होता रहता है। सोपाधिक चेतना (आंशिक विलय से विकसित चेतना) की प्रवृत्ति—उपयोग निरन्तर नहीं रहता। जिस विषय पर जब ध्यान होता है—चेतना की विशेष प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है। प्रवृत्ति छूटते ही उस विषय का ज्ञान छूट जाता है। निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है, इसलिए वह स्वतः प्रवृत्त होती है, उसकी विशेष प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ती। सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिय वह सब विषयों को निरन्तर नहीं जानती; जिस पर विशेष प्रवृत्ति करती है, उसी को जानती है।[2]

सोपाधिक चेतना के दो रूप—अवधि—मूर्त-पदार्थ-ज्ञान और मनः-पर्याय—पर-चित्त-ज्ञान विशद और बाह्य-सामग्री-निरपेक्ष होते हैं, इसलिए ये अव्यक्त नहीं होते, क्रमिक नहीं होते और संशय-विपर्यय-दोष से मुक्त होते हैं।

ऐन्द्रियक और मानसज्ञान (मति और श्रुत) बाह्य-सामग्री-सापेक्ष होते हैं, इसलिए ये अव्यक्त, क्रमिक और संशय-विपर्यय-दोष से युक्त भी होते है। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है। ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया रहता है। चेतना का सीमित विकास—जानने की आंशिक योग्यता (क्षायोपशमिक-भाव) होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नहीं होता तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है। पुरुषार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है। पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए—पानी पर शैवाल बिछा हुआ है। कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रकट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बन्द होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है।[3] ज्ञानावरण का भी यही क्रम है।

---

१. भगवती, ८।२; प्रज्ञापना, पद ५।

२. स्याद्वाद मंजरी, पृ० १४८।

३. तत्त्वार्थ सूत्र २।८; बृहद्वृत्ति, पृ० १५१।

ज्ञान-विकास की तरतमता के आधार पर कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. आत्मा चैतन्यमय है, इसलिए उसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए, फिर विस्मृति क्यों ?

२. ज्ञान का स्वभाव है ज्ञेय को जानना, फिर अव्यक्त बोध क्यों ?

३. ज्ञान का स्वभाव है पदार्थ का निश्चय करना, फिर संशय, भ्रम आदि क्यों ?

४. ज्ञान असीम है, इसलिए उससे अपरिमित पदार्थों का ग्रहण होना चाहिए, फिर वह सीमित क्यों ?

इनका सामुदायिक समाधान यह है—

इन विचित्र स्थितियों के कारण कर्म-पुद्गल हैं। ये विचित्रताएं कर्म-पुद्गल-प्रभावित चेतना में होती हैं।

क्रमिक समाधान इस प्रकार है—

१. आवृत चैतन्य अस्थिर स्वभाव वाला होता है, पदार्थों को क्रमपूर्वक जानता है, इसलिए वह अव्यवस्थित और उद्भ्रान्त होता है। और इसीलिए एक पदार्थ में चिरकाल तक उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। अन्तर्-मुहूर्त्त से अधिक एक विषय में प्रवृत्ति नहीं होती।[1] प्रस्तुत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति रुकती है, दूसरे में प्रारम्भ होती है, तब पूर्व-ज्ञात अर्थ की विस्मृति हो जाती है, वह संस्कार-रूप बन जाता है।

२. सूर्य का स्वभाव है पदार्थों को प्रकाशमान् करना। किन्तु मेघाच्छन्न सूर्य उन्हें स्पष्टतया प्रकाशित नहीं करता। यही स्थिति चैतन्य की है। कर्म-पुद्गलों से आवृत चैतन्य पदार्थों को व्यक्त-रूप में नहीं जान पाता। अव्यक्तता का मात्राभेद आवरण के तरतमभाव पर निर्भर है।

३. चेतना आवृत होती है और ज्ञान की सहायक-सामग्री दोषपूर्ण होती है तब संशय, भ्रम आदि होते हैं।[2]

---

१. प्रज्ञापना, पद १८।

२. (क) भगवती जोड़, ३।६।६८ गाथा ५१-५४—

दिशामूढ अवलोय रे, पूरब ने जाणै पछिम ।
उदय भाव ए जोय रे, पिण क्षयोपशम भाव नहि ॥
है चक्षु में रोग रे, वे चन्दा देखे प्रमुख ।
ते छै रोग प्रयोग रे, तिम विपरीतज जाणवो ॥
चक्षु रोग मिट जाय रे, वहा पछै देखैं तिको।
ए बेहुं जुदा कहाय रे, रोग अने बलि नेत्र ए ॥
उदयभाव छै रोग रे, चक्षु क्षयोपशम भाव छै
ए बेहुं जुदा प्रयोग रे, तिण विध ए पण जाणवो ॥

४. ससीम ज्ञान का कारण चैतन्य का आवरण है ही।

इन्द्रिय और मन का विभाग-क्रम तथा प्राप्ति-क्रम

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है[1], वीर्य का अन्तराय दूर होता है, तब उपयोग होता है।[2] ये दो ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान-मन के विभाग हैं—आत्मिक चेतना के विकास-अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और हैं, निर्वृत्ति—आकार-रचना और उपकरण—विषय-ग्रहण-शक्ति। ये दोनों ज्ञान की सहायक इन्द्रिय—पौद्गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं—शरीर के अंश हैं। इन चारों के समुदाय का नाम इन्द्रिय है। चारों में से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अर्थ-ग्राहक अंश उपयोग है।[3] उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) उतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि (चेतना की योग्यता) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। उपकरण निर्वृत्ति के बिना काम नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग-क्रम इस प्रकार बनता है—निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग।

इनका प्राप्ति-क्रम इससे भिन्न है। उसका रूप इस प्रकार बनता है—लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग।[4] अमुक प्राणी में इतनी इन्द्रियां बनती

(ख) न्यायालोक पत्र १७७—

चेतनास्वरूपत्वेऽनवरतं जानानेनैव भवितव्यं जीवेन, कुतो वा पूर्वोपलब्धार्थविषयविस्मरणम्?

ज्ञानस्योपलब्धिरूपत्वेन व्यक्ततेत्यात्मनापि व्यक्तबोधेन भवितव्यं, नाव्यक्तबोधेन।

निश्चयकत्वेन ज्ञानस्य न कदाचित् संशयोद्भवः स्यात्।

ज्ञानस्य च निरवधित्वेनाशेषविषयग्रहणमापद्येत इति चेत्? नैवं, कर्मवशवर्तित्वेनात्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्। तथाहि कर्मनिगडनियन्त्रितोयमात्मा...

...चलस्वभावो नानार्थेषु परिणममानः कृकलासवद् अव्यवस्थितोद्भ्रान्तमनाश्च कथमेकस्मिन्नर्थे चिरमुपयोगवान्। निसर्गत एवोत्कर्षादुपयोगकालस्यान्तर्मुहूर्तमानत्वाच्च। समुन्नतघनाघनघनपटलाभिभूतमूर्तेर्भास्वतः प्रकाशस्वरूपत्वेऽपि अस्पष्टप्रकाशोद्भववच्च...।

१. जैनतर्कभाषा, २।१८, पृ० १६७।

२. लघीयस्त्रयी, ५।

३. जैन सिद्धान्त दीपिका, २।२-५।

४. वही, २।३१।

हैं, न्यूनाधिक नहीं बनतीं, इसका नियामक इनका प्राप्ति-क्रम है। इसमें लब्धि की मुख्यता है। जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियों के आकार, उपकरण और उपयोग होते हैं।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं तब दूसरी का नहीं करते—हमारे ज्ञान में यह विप्लव नहीं होता। इसका नियामक विभाग-क्रम है। इसमें उपयोग की मुख्यता है। उपयोग निर्वृत्ति आदि निरपेक्ष नहीं होता किन्तु इन तीनों के होने पर भी उपयोग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य-विकास—दोनों के संयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओं को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वीर्य-शक्ति हमारी ज्ञान-शक्ति को ज्ञायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है।[1]

इन्द्रिय-प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पांच भागों में विभक्त होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। किन्तु इन्द्रिय ज्ञान-उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं। एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विषय के किसी विशेष अंश पर ही हो सकता है, सर्वांशतः नहीं।[2]

उपयोग

उपयोग दो प्रकार का होता है—संविज्ञान और अनुभव।

वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) को 'संविज्ञान' और सुख-दुःख के संवेदन को 'अनुभव' कहा जाता है।[3]

१. कई जीव ज्ञान-युक्त होते हैं, वेदना-युक्त नहीं; जैसे—मुक्त आत्माएं।

२. कई जीव ज्ञान (स्पष्ट ज्ञान)-युक्त नहीं होते, वेदना-युक्त होते हैं; जैसे—एकेन्द्रिय जीव।

---

१. स्याद्वादमंजरी १७, पृ० १७३।

२. तत्त्वार्थसूत्र, २।१९ भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० १६९।

यदा शब्दोपयोगवृत्तिरात्मा भवति तदा न शेषकरण-व्यापारः स्वल्पोप्यन्यत्र कान्तद्विष्टाभ्यस्तविषयकलापात्। अर्थान्तरोपयोगे हि प्राच्यमुपयोगबलमाव्रियते कर्मणा, शंखशब्दोप्ययुक्तस्य शृंङ्गशब्द-विज्ञानमस्तमिततन्निर्भासं भवति, अतः क्रमेण उपयोग एकस्मिन्नपि इन्द्रियविषये, किमुत बहुविधविशेषभाजीन्द्रियान्तरे, तस्मादेकेन्द्रियेण सर्वात्मनोपयुक्तः सर्वः प्राण्युपयोगं प्रति एकेन्द्रियो भवति।

३. तत्त्वार्थ सूत्र २।१९, भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० १६८—

उपयोगस्तु द्विविधा चेतना···संविज्ञानलक्षणा अनुभवलक्षणा च। तत्र घटाद्युपलब्धिः संविज्ञानलक्षणा, सुख-दुःखादि संवेदनानुभवलक्षणा, एतदुभयमुपयोगग्रहणाद् गृह्यते।

३. त्रस जीव दोनों से युक्त होते है।

४. अजीव में दोनों नहीं होते।

एकेन्द्रिय से मनस्क पञ्चेन्द्रिय तक के जीव शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। उनमें मन नहीं होता, इसलिए मानसिक वेदना उनके नहीं होती।[1] ज्ञान के मति, श्रुत आदि पांच प्रकार हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। संज्ञा दस या सोलह हैं। वे कर्मों के सन्निपात—सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-संवलित हैं, इसलिए शुद्ध ज्ञान-रूप नहीं हैं।

संज्ञाएं

१. आहार
२. भय
३. मैथुन
४. परिग्रह
५. क्रोध
६. मान
७. माया
८. लोभ
९. ओघ
१०. लोक

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है।[2] इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएं और हैं[3]—

१. हेतुवादोपदेशिकी
२. दीर्घकालिकी
३. सम्यग्-दृष्टि

ये तीनों ज्ञानात्मक हैं। संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। संज्ञाएं आत्मा और मन की प्रवृत्तियां हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सब में 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं—तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि-मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र मोह' कहलाते हैं। चारित्र-मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियां बनती हैं, जैसे—भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, झगड़ालूपन, भोगासक्ति, यौन-सम्बन्ध आदि-आदि। आज का मनोविज्ञान इन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियां कहता है।

---

१. प्रज्ञापना, पद ३५—
एगिंदियविगलिंदिया सरीरवेयणं वेयंति, नो माणसं वेयणं वेयंति।

२. भगवती, २०।१।

३. नन्दी, सूत्र ६१।

तीन एषणाएं—(१) मैं जीवित रहूं, (२) धन बढ़े, (३) परिवार बढ़े और तीन प्रधान मनोवृत्तियां—(१) सुख की इच्छा, (२) किसी वस्तु को पसंद करना या उससे घृणा करना, (३) विजयाकांक्षा अथवा नया काम करने की भावना। ये सभी चारित्र-मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र-मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अन्तःक्षोभ पैदा करता है, जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेष कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत करते हैं, विकृत नहीं।

आहार-संज्ञा

खाने की अभिलाषा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है। इसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं—

१. रिक्त-कोष्ठता।
२. आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।
३. आहार-सम्बन्धी चिन्तन।

भय-संज्ञा

भय की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।
भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१. हीन-सत्वता।
२. भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।
३. भय-सम्बन्धी चिन्तन।

मैथुन-संज्ञा

मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।
मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१. मांस और रक्त का उपचय।
२. मैथुन-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
३. मैथुन-सम्बन्धी चिन्तन।

परिग्रह-संज्ञा

परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।
परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

१. अविमुक्तता।
२. परिग्रह-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।
३. परिग्रह-सम्बन्धी चिन्तन।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं। वीतराग-आत्मा में ये वृत्तियां नहीं होतीं। ये आत्मा के सहज-गुण नहीं किन्तु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

ओघ-संज्ञा

अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे—लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-संज्ञा' है।[1]

लोक-संज्ञा

लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग।

आचारांग निर्युक्ति में चौदह प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है—

१. आहार-संज्ञा	६. मोह-संज्ञा	११. लोभ-संज्ञा
२. भय-संज्ञा	७. विचिकित्सा-संज्ञा	१२. शोक-संज्ञा
३. परिग्रह-संज्ञा	८. क्रोध-संज्ञा	१३. लोक-संज्ञा
४. मैथुन-संज्ञा	९. मान-संज्ञा	१४. धर्म-संज्ञा[2]
५. सुख-दु.ख-संज्ञा	१०. माया-संज्ञा	

ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं।

संवेदन दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय-संवेदन और आवेग। इन्द्रिय-संवेदन दो प्रकार का होता है—

१. सात-संवेदन········सुखानुभूति

२. असात-संवेदन······दुःखानुभूति[3]

आवेग दो प्रकार का होता है—कषाय और नो-कषाय।[4]

कषाय

इसका अर्थ है—आत्मा को रंगने वाली वृत्तियां—क्रोध, मान, माया,

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र १।१४, भाष्यानुसारिणी टीका, पृ० ७९—
ओघ-ज्ञानम्—ओघः सामान्यम् अप्रविभक्तरूपम् यत्र न स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि तानि मनोनिमित्तमाश्रयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीनां निम्बादौ अभिसर्पणज्ञानं न स्पर्शननिमित्तं, न मनोनिमित्तमिति तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरणक्षयोपशम एव केवलं निमित्तीक्रियते ओघज्ञानस्य।

२. आचारांगनिर्युक्ति गाथा, ३५।

३. प्रज्ञापना, पद ३६।

४. वही, पद २३।

लोभ। ये तीव्र आवेग हैं। इनकी उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक—दोनों प्रकार की होती है। जिस व्यक्ति ने प्रिय वस्तु का वियोग किया, करता है, करने वाला है, उसे देख क्रोध उभर आता है। वह सहेतुक क्रोध है।[1] किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों के प्रभाव से क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक है।[2]

नो-कषाय

इसका अर्थ है—कषाय को उत्तेजित करने वाली वृत्तियां—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, घृणा, स्त्री-वेद (स्त्री-सम्बन्धी अभिलाषा), पुरुष-वेद, नपुंसक-वेद। कई आवेग 'संज्ञा' में वर्गीकृत हैं और कई उनसे भिन्न हैं। ये सामान्य आवेग हैं। इनमें से हास्य आदि की उत्पत्ति सकारण और अकारण—दोनों प्रकार की होती है। एक समय में एक ज्ञान और एक संवेदन होता है। समय की सूक्ष्मता से भिन्न-भिन्न संवेदनों के क्रम का पता नहीं चलता किन्तु दो संवेदन दो भिन्न काल में होते हैं।

उपयोग के दो प्रकार

चेतना दो प्रकार की होती है—साकार और अनाकार।[3] वस्तुमात्र को जानने वाली चेतना अनाकार और उसकी विविध परिणतियों को जानने वाली चेतना साकार होती है। चेतना के ये दो रूप उसके स्वभाव की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय-ग्रहण की दृष्टि से बनते हैं। हम पहले अभेद, स्थूल रूप या अवयवी को जानते हैं, फिर भेदों को, सूक्ष्म रूपों या अवयवों को जानते हैं। अभेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष नहीं होते, इसलिए वह अनाकार या दर्शन कहलाती है। भेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष होते हैं, इसलिए उसका नाम साकार या ज्ञान होता है।

अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है—मन-रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त—मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल-दशा में वह अर्ध-व्यक्त भी होता है।

---

१. ठाणं, १०१७।

२. प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र १४ :

अपहिट्ठिए कोहे—निरालम्बन एव केवलं क्रोधवेदनीयोदयादुपजायेत।

३. प्रज्ञापना पद २८।

अव्यक्त चेतना को अध्यवसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध-व्यक्त चेतना का नाम है—हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा।[1] यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, करना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं।[2]

गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं।

सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यग्-दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं में होता है।

मानसिक विकास

मानसिक विकास के चार रूप हैं—

१. औत्पत्तिकी बुद्धि—प्रतिभा या सहज बुद्धि।

२. वैनयिकी बुद्धि—आत्मसंयम के अनुशासन या गुरु-शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि।

३. कार्मिकी बुद्धि—कार्य करते-करते अभ्यास से प्राप्त कौशल।

४. पारिणामिकी बुद्धि—आयु की परिपक्वता के साथ बढ़ने वाला अनुभव।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता। उसमें अनन्तगुण तरतमभाव होता है। दो समनस्क व्यक्तियों का ज्ञान परस्पर अनन्त-गुणहीन और अनन्तगुण अधिक हो सकता है। इसका कारण उनकी आन्तरिक योग्यता, ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है।

बुद्धि का तरतमभाव

जिसमें शिक्षात्मक और क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता होती है, वह 'समनस्क' होता है।[3] बुद्धि समनस्कों में ही होती है। उसके सात प्रधान अंग हैं—

---

१. नन्दी, सूत्र ६३ :

हेऊवएसेणं जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विया करणसत्ती सेणं सण्णीति लब्भइ।

२. दसवेआलियं, ४।६ :

जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं, रुयं, भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइ-गई-विन्नाया।

३. तत्त्वार्थसार, ९३ : यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।

१. ग्रहण-शक्ति
२. विमर्श-शक्ति
३. निर्णय-शक्ति
४. धारणा-शक्ति[1]
५. स्मृति-शक्ति
६. विश्लेषण-शक्ति
७. कल्पना-शक्ति।[2]

मन का शारीरिक ज्ञान-तन्तु के केन्द्रों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान-तन्तु प्रौढ़ नहीं बनते, तब तक बौद्धिक विकास पूरा नहीं होता। जैसे शक्ति-प्रयोग के लिए शारीरिक विकास अपेक्षित होता है, वैसे ही बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान-तन्तुओं की प्रौढ़ता अपेक्षित होती है। बौद्धिक विकास सोलह वर्ष तक पूरा हो जाता है। बाद में साधारणतया बौद्धिक विकास नहीं होता, केवल जानकारी बढ़ती है।

बुद्धि-शक्ति सबकी समान नहीं होती। उसमें विचित्र न्यूनाधिक्य होता है। विचित्रता का कारण अपना-अपना आवरण-विलय होता है। सब विचित्रताएं बतायी नहीं जा सकतीं। उसके वर्गीकृत रूप बारह हैं, जो प्रत्येक बुद्धि-शक्ति के साथ सम्बन्ध रखते हैं—

१. बहु-ग्रहण
२. अल्प-ग्रहण
३. बहुविध-ग्रहण
४. अल्पविध-ग्रहण
५. क्षिप्र-ग्रहण
६. चिर-ग्रहण
७. निश्रित-ग्रहण
८. अनिश्रित-ग्रहण
९. संदिग्ध-ग्रहण
१०. असंदिग्ध-ग्रहण
११. ध्रुव-ग्रहण
१२. अध्रुव-ग्रहण

इसी प्रकार विमर्श, निर्णय आदि के भी ये रूप बनते हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का सम्बन्ध नहीं है। वृद्ध, युवा और बालक—ये भेद अवस्थाकृत हैं, बुद्धिकृत नहीं। जैसा कि आचार्य जिनसेन ने लिखा है[3]—

वर्षीयांसो यवीयांस, इति भेदो वयस्कृतः।
न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये, न यून्यपचयोधियः॥

तुलना—फ्रेंच मनोवैज्ञानिक आल्फ्रेड बीने की बुद्धि माप की प्रणाली के अनुसार सात वर्ष का बच्चा जो बीस से एक तक गिनने में असमर्थ है, छह वर्ष की

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।१५।
२. वही, १।१३।
३. महापुराण, १८।११८।

उम्र के बच्चों के निमित्त बनाये गए प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है तो उसकी बौद्धिक उम्र छह वर्ष की मानी जाएगी। इसके प्रतिकूल सात वर्ष की उम्र वाला बच्चा नौ वर्ष के बच्चों के लिए बनाये गए प्रश्नों का उत्तर दे सके तो उसकी बौद्धिक उम्र अवश्य ही नौ वर्ष की आंकी जाएगी।

मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं—

१. बुद्धि[1]—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होनेवाला मानसिक ज्ञान।

२. उत्साह—कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालनेवाले कर्म पुद्‌गल के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य।

३. उद्योग—क्रियाशीलता।

४. भावना—पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है—आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है—सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन।

भावना का कार्य है—तन्मयता उत्पन्न करना।

चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियां

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्वमान्य दो प्रवृत्तियां हैं—इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है इसलिए उसकी प्रवृत्तियां बहुमुखी नहीं होतीं। मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं—

संकल्प—बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प—हर्ष-विषाद का परिणाम—मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं आदि।

निदान—सुख के लिए उत्कट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति—दृष्ट, श्रुत और अनुभूत विषयों की याद।

---

१. इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धि - र्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम्।
सदनुष्ठानवच्चैतद् - असंमोहोऽभिधीयते॥
रत्नोपलम्भतज्ज्ञानं, तत् प्राप्त्यादि यथाक्रमम्।
इहोदाहरणं साधु, ज्ञेयं बुध्यादिसिद्धये॥

रत्नोपलम्भ—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे उत्पन्न होने वाली बुद्धि; जैसे—यह रत्न है।

रत्न-ज्ञान—आगम वर्णित रत्न के लक्षणों का ज्ञान।

रत्न-प्राप्ति—सम्यक् रूप में उसे ग्रहण करना।

जाति-स्मृति—पूर्व-जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा—पहचान।

कल्पना—तर्क, अनुमान, भावना, कषाय, स्वप्न।

श्रद्धान—मानसिक रुचि।

लेश्या—मानसिक परिणाम।

ध्यान—मानसिक एकाग्रता, आदि-आदि।

इनमें स्मृति, जाति-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान—ये विशुद्ध ज्ञान की दशाएं हैं। शेष दशाएं कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न—ये मोह-प्रभावित चेतना के चिन्तन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान—ये मोह-प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं तब असत् और मोह-शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं तब सत् बन जाते हैं।

स्वप्न-विज्ञान

फ्रॉयड के अनुसार स्वप्न मन में की हुई इच्छाओं के परिणाम हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोह-कर्म और पूर्व-संस्कार के उद्बोध के परिणाम हैं। वे यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं।[1] वे समाधि और असमाधि—इन दोनों के निमित्त बनते हैं।[2] किन्तु वे मोह प्रभावित चैतन्य-दशा में ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं।[3]

स्वप्न-ज्ञान का विषय पहले दृष्ट, श्रुत, अनुभूत वस्तु ही होती है।

---

१. (क) भगवती, १६/६ :

संवुडे भंते! सुविणं पासइ, असंवुडे सुविणं पासइ, संवुडासंवुडे सुविणं पासइ ?
गोयमा! संवुडे वि सुविणं पासइ, असंवुडे वि सुविणं पासइ, संवुडा-संवुडे वि सुविणं पासइ। संवुडे सुविणं पासति अहातच्चं पासति। असंवुडे सुविणं पासति तहा वा तं होज्जा, अन्नहा वा तं होज्ज। संवुडा-संवुडे सुविणं पासति एवं चेव।

(ख) दशाश्रुतस्कन्ध, ५ :

सुमिणं दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासित्तए।

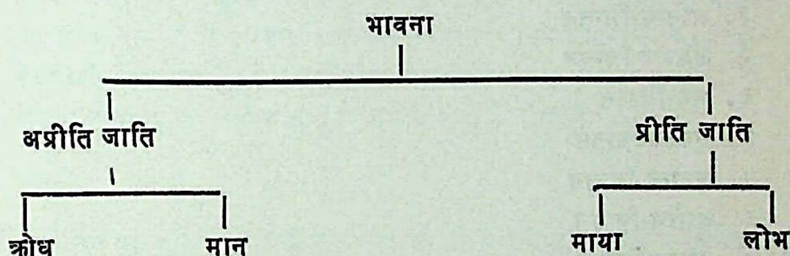
२. भगवती, १६-६ :

कतिविहे णं भंते! सुविणदंसणे पण्णत्ते ?
गोयमा! पंचविहे सुविणदंसणे पण्णत्ते—तंजहा—अहातच्चे पयाणे, चिंता-सुविणे, तव्विवरीए, अवत्तदंसणे।

३. भगवती, १६।६, जयाचार्यकृत जोड़।

स्वप्न अर्ध-निद्रित दशा में आता है।[1] यह नींद का परिणाम नहीं किन्तु इसे नींद के साहचर्य की आवश्यकता होती है। जागृत दशा में जैसे वस्तु अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनों होते हैं, वैसे ही स्वप्न-दशा में भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत्-कल्पना और असत्-कल्पना—ये सब होते हैं। स्वप्न-विज्ञान मानसिक ही होता है।

भावना



भावना की दो जातियां हैं—अप्रीति और प्रीति।

अप्रीति के दो भेद हैं—क्रोध और मान।

प्रीति के दो भेद हैं—माया और लोभ।

अप्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। प्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से माया और लोभ राग है।

व्यवहार की दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया का प्रयोग होता है, वह भी द्वेष है। लोभ मूर्च्छात्मक है, इसलिए वह राग है।

ऋजुसूत्र की दृष्टि से क्रोध अप्रीतिरूप है, इसलिए द्वेष है। मान, माया और लोभ कदाचित् राग और कदाचित् द्वेष होते हैं। मान अहंकारोपयोगात्मक होता है, अपने बहुमान की भावना होती है, तब वह प्रीति की कोटि में जाकर राग बन जाता है और पर-गुण-द्वेषोपयोगात्मक होता है तब अप्रीति की कोटि में जा वही द्वेष बन जाता है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया और लोभ प्रयुक्त होते हैं, तब वे अप्रीति-रूप बन द्वेष की कोटि में चले जाते हैं। अपने धन, शरीर आदि की सुरक्षा या पोषण के लिए प्रयुक्त होते हैं, तब वे मूर्च्छात्मक होने के कारण

---

१. भगवती, १६-६ :
सुत्तेणं भंते ! सुविणं पासति, जागरे सुविणं पासति, सुत्त-जागरे सुविणं पासति ?
गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासई, नो जागरे सुविणं पासई, सुत्त-जागरे सुविणं पासई।

राग बन जाते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं—लोभ या राग और क्रोध या द्वेष।

मान और माया जब स्वहित-उपयोगात्मक होते हैं, तब मूर्च्छात्मक होने से लोभ और लोभ होने से राग बन जाते हैं। वे परोपघात-उपयोगात्मक होते हैं, तब घृणात्मक होने से क्रोध और क्रोध होने से द्वेष बन जाते हैं।[1]

यह वैभाविक या मोह-प्रभावित भावना का रूप है। मोहशून्य या स्वाभाविक भावना के सोलह प्रकार हैं—

१. अनित्य-चिन्तन
२. अशरण-चिन्तन
३. भव-चिन्तन
४. एकत्व-चिन्तन
५. अन्यत्व-चिन्तन
६. अशौच-चिन्तन
७. आस्रव-चिन्तन
८. संवर-चिन्तन
९. निर्जरा-चिन्तन
१०. धर्म-चिन्तन
११. लोक-व्यवस्था-चिन्तन
१२. बोधि-दुर्लभता-चिन्तन
१३. मैत्री-चिन्तन
१४. प्रमोद-चिन्तन
१५. कारुण्य-चिन्तन
१६. माध्यस्थ्य-चिन्तन।[2]

श्रद्धान

श्रद्धा को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल चेतना को प्रभावित करते हैं, तब तात्त्विक धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं। असत्य का आग्रह या आग्रह के बिना भी असत्य की धारणाएं जो बनती हैं वे सहज ही नहीं होतीं। केवल वातावरण से वे नहीं बनतीं। उनका मूल कारण श्रद्धा-मोहक पुद्गल है। जिसकी चेतना इन पुद्गलों से प्रभावित नहीं होती, उनमें असत्य का आग्रह नहीं होता। यह स्थिति नैसर्गिक और शिक्षा-लभ्य—दोनों प्रकार की होती है।

---

1. आवश्यक, मलयगिरीया वृत्ति पत्र ४६९, ५००।
2. शान्तसुधारस १।७।

लेश्या

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं। कर्म-पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं। ये विविध रंग वाले होते हैं। कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं। तेजस्, पद्म और श्वेत —ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान बात नहीं है किन्तु चारित्र-मोह-प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के पुद्गल ही होते हैं — प्रधान बात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है।

ध्यान

मन या वृत्तियों के केन्द्रीकरण की भी दो स्थितियां होती हैं—विभावोन्मुख और स्वभावोन्मुख।

(क) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर फिर उसके संयोग के लिए—

(ख) अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए—जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आर्त्त—दुःखी बनाती है।

(ग) विषय-वासना की सामग्री के संरक्षण के लिए—

(घ) हिंसा के लिए—

(ड़) असत्य के लिए—

(च) चौर्य के लिए—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को क्रूर बनाती है—इसलिए मन का यह केन्द्रीकरण विभावोन्मुख है।

(क) सत्यासत्य विवेक के लिए—

(ख) दोष-मुक्ति के लिए—

(ग) कर्म-मुक्ति के लिए —

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाती है—इसलिए वह स्वभावोन्मुख है।



५

प्रमाण-मीमांसा



१

जैन-न्याय

न्याय और न्यायशास्त्र

मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा का नाम न्याय—तर्क-विद्या है।

न्याय का शाब्दिक अर्थ है—'प्राप्ति'[1] और पारिभाषिक अर्थ है—'युक्ति के द्वारा पदार्थ—प्रमेय—वस्तु की परीक्षा करना।'[2] एक वस्तु के बारे में अनेक विरोधी विचार सामने आते हैं, तब उनके बलाबल का निर्णय करने के लिए जो विचार किया जाता है, उसका नाम परीक्षा है।[3]

'क' के बारे में इन्द्र का विचार सही है और चन्द्र का विचार गलत है, यह निर्णय देनेवाले के पास एक पुष्ट आधार होना चाहिए; अन्यथा उसके निर्णय का कोई मूल्य नहीं हो सकता। 'इन्द्र' के विचार को सही मानने का आधार यह हो सकता है कि उसकी युक्ति (प्रमाण) में साध्य-साधन की स्थिति अनुकूल हो, दोनों (साध्य-साधन) में विरोध न हो। 'इन्द्र' की युक्ति के अनुसार 'क' एक अक्षर (साध्य) है क्योंकि उसके दो टुकड़े नहीं हो सकते।

'चन्द्र' के मतानुसार 'ए' भी अक्षर है; क्योंकि वह वर्णमाला का एक अंग

---

१. न्याय शब्द के अर्थ—
   (क) नियमयुक्त व्यवहार—न्यायालय आदि प्रयोग इसी अर्थ में होते हैं।
   (ख) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जानेवाला सादृश्य, जैसे—देहली-दीपक-न्याय।
   (ग) अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि।
   न्यायशास्त्र में 'न्याय' शब्द का तृतीय अर्थ ग्राह्य है।

२. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।१।

३. न्यायदीपिका, पृ० ८ :
   विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा।

है। 'चन्द्र' का मत गलत है; क्योंकि इसमें साध्य-साधन की संगति नहीं है। 'ए' वर्ण-माला का अंग है, फिर भी अक्षर नहीं है। वह 'अ + इ' के संयोग से बनता है, इसलिए संयोगज वर्ण है।

न्याय-पद्धति की शिक्षा देनेवाला शास्त्र 'न्यायशास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य अंग चार हैं[1]—

१. तत्त्व की मीमांसा करनेवाला—प्रमाता (आत्मा)

२. मीमांसा का मानदण्ड—प्रमाण (यथार्थ-ज्ञान)

३. जिसकी मीमांसा की जाए—प्रमेय (पदार्थ)

४. मीमांसा का फल—प्रमिति (हेय-उपादेय-मध्यस्थ-बुद्धि)

न्यायशास्त्र की उपयोगिता

प्राणि मात्र में अनन्त चैतन्य होता है। यह सत्तागत समानता है। विकास की अपेक्षा उसमें तारतम्य भी अनन्त होता है। सबसे अधिक विकासशील प्राणी मनुष्य है। वह उपयुक्त सामग्री मिलने पर चैतन्य-विकास की चरमसीमा-केवलज्ञान तक पहुंच सकता है। इससे पहली दशाओं में भी उसे बुद्धि-परिष्कार के अनेक अवसर मिलते हैं।

मनुष्य-जाति में स्पष्ट अर्थ-वोधक भाषा और लिपि-संकेत—ये दो ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके द्वारा उसके विचारों का स्थिरीकरण और विनिमय होता है।

स्थिरीकरण का परिणाम है साहित्य और विनिमय का परिणाम है आलोचना।

जैसे-जैसे मानवीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे साहित्य अनेक दिशागामी वनता चला जाता है।

जैन वाङ्मय में साहित्य की शाखाएं चार हैं—

१. चरणकरणानुयोग—आचार-मीमांसा, उपयोगितावाद या कर्तव्यवाद। यह आध्यात्मिक पद्धति है।

२. धर्मकथानुयोग—आत्म-उद्बोधनशिक्षा, रूपक दृष्टान्त और उपदेश।

३. गणितानुयोग—गणितशिक्षा।

४. द्रव्यानुयोग—अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद।

तर्क-मीमांसा और वस्तु-स्वरूप-शास्त्र आदि का समावेश इसमें होता है। यह दार्शनिक पद्धति है। यह दस प्रकार का है—

१. द्रव्यानुयोग—द्रव्य का विचार—

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।२।

जैसे—द्रव्य गुण-पर्यायवान् होता है । जीव में ज्ञान, गुण और सुख-दुःख आदि पर्याय मिलते हैं, इसलिए वह द्रव्य है।

२. मातृकानुयोग—सत् का विचार—

जैसे—द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होने के कारण सत् होता है। जीव-स्वरूप की दृष्टि मे ध्रुव होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से उत्पाद-व्यय-धर्म वाला है इसलिए वह सत् है।

३. एकार्थिकानुयोग—एक अर्थवाले शब्दों का विचार—

जैसे—जीव, प्राणी, भूत, सत्व आदि-आदि जीव के पर्यायवाची नाम हैं।

४. करणानुयोग—साधन का विचार, साधकतम पदार्थ की मीमांसा—

जैसे—जीव, काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ पाकर कार्य में प्रवृत्त होता है ।

५. अर्पितानर्पितानुयोग—मुख्य और गौण का विचार, भेदाभेद-विवक्षा—

जैसे—जीव अभेद-दृष्टि से जीव मात्र है और भेद-दृष्टि की अपेक्षा वह दो प्रकार का है—वद्ध और मुक्त। वद्ध के दो भेद हैं—स्थावर और त्रस ।

६. भाविताभावितानुयोग—अन्य से प्रभावित और अप्रभावित विचार—

जैसे—जीव की अजीव द्रव्य या पुद्गल द्रव्य-प्रभावित अशुद्ध दशाएं, पुद्गल-मुक्त स्थितियां—शुद्ध दशाएं।

७. वाह्यावाह्यानुयोग—सादृश्य और वैसादृश्य का विचार—

जैसे—सचेतन जीव अचेतन आकाश से वाह्य (विसदृश) है और आकाश की भांति जीव अमूर्त है, इसलिए वह आकाश से अवाह्य (सदृश) है।

८. शाश्वताशाश्वतानुयोग—नित्यानित्य विचार—

जैसे—द्रव्य की दृष्टि से जीव अनादि-निधन है, पर्याय की दृष्टि से वह नए-नए पर्यायों में जाता है।

९. तथाज्ञानअनुयोग—सम्यग्दृष्टि जीव का विचार।

१०. अतथाज्ञानअनुयोग—असम्यग्दृष्टि जीव का विचार।[1]

एक विषय पर अनेक विचारकों की अनेक मान्यताएं, अनेक निगमन—निष्कर्ष होते हैं। जैसे—आत्मा के वारे में—

अक्रियावादी-नास्तिक—आत्मा नहीं है।

क्रियावादी—आस्तिक दर्शनों में—

१. जैन—आत्मा चेतनावान्, देह-परिमाण, परिणामी—नित्यानित्य, शुभ-अशुभ कर्म-कर्त्ता, फल-भोक्ता और अनन्त है।

---

१. ठाणं, १०।४६

२. बौद्ध—क्षणिक चेतनाप्रवाह के अतिरिक्त आत्मा और कुछ नहीं है।

३. नैयायिक-वैशेषिक—आत्मा कूटस्थ-नित्य, अपरिणामी, अनेक और व्यापक है।

४. सांख्य—आत्मा अकर्त्ता, निष्क्रिय, भोक्ता, बहु और व्यापक है।

यहां वास्तविक निष्कर्ष की परीक्षा के लिए बुद्धि में परिष्कार चाहिए। इस बौद्धिक परिष्कार का साधन न्यायशास्त्र है। यह बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाता है। फलितार्थ में बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाना, यही न्यायशास्त्र की उपयोगिता है।

अर्थ-सिद्धि के तीन रूप

उद्देश्य से कार्य का आरम्भ होता है और सिद्धि से अन्त। उद्देश्य और सिद्धि एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रिया चलती है और उसकी सिद्धि होने पर क्रिया रुक जाती है। प्रत्येक सिद्धि (निवृत्तिक्रिया) के साथ निर्माण, प्राप्ति या निर्णय—इन तीनों में से एक अर्थ अवश्य जुड़ा रहता है, इसलिए अर्थसिद्धि के तीन रूप बनते हैं[1]।

१. असत् का प्रादुर्भाव (निर्माण)—मिट्टी से घड़े का निर्माण। मिट्टी के ढेर में पहले जो घड़ा नहीं था, वह बाद में बना, यह असत् का प्रादुर्भाव है। अर्थ की सिद्धि है—एक 'घड़ा' नामक वस्तु की उत्पत्ति।

२. सत् वस्तु की प्राप्ति—प्यास लग रही है। पानी पीने की इच्छा है। पानी मिल जाना, यह सत् वस्तु की प्राप्ति है।

३. भावज्ञप्ति—वस्तु के स्वरूप का निर्णय। यह सत् पदार्थ की निश्चित जानकारी या बौद्धिक प्राप्ति है।

इनमें (१) असत् की उत्पत्ति और (२) सत् की प्राप्ति से न्यायशास्त्र का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। न्यायशास्त्र का क्षेत्र सत् के स्वरूप की निश्चिति है।[2] परम्परकारण के रूप में इष्ट-वस्तु की प्राप्ति भी प्रमाण का फल माना जा सकता है।[3]

जैन न्याय का उद्गम और विकास

जैन तत्त्ववाद प्रागैतिहासिक है। इसका सम्बन्ध युग के आदि-पुरुष भगवान्

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।३।

२. वही, १।३।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५ :
सिद्धिरसतः प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्तिर्भावज्ञप्तिश्च। तत्र ज्ञापकप्रकरणाद् असतः प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते।

ऋषभनाथ से जुड़ता है। भारतीय साहित्य में भगवान् ऋषभनाथ के अस्तित्व-साधक प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।[1] जैन-साहित्य में जो तत्त्ववाद हमें आज मिलता है, वह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की उपदेश-गाथाओं से सम्बद्ध है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन सूत्र भगवान् ऋषभनाथ और भगवान् महावीर के तत्त्ववाद की मौलिक एकता का समर्थन करते हैं।[2] जैन दर्शन का नामकरण भी इसी का पोषक है। इसका किसी व्यक्ति के नाम से सम्बन्ध नहीं। अविच्छिन्न परम्परा के रूप में यह चलता आ रहा है।

'निर्ग्रन्थ प्रवचन', 'आर्हत दर्शन', 'जैन दर्शन'—इस प्रकार नाम क्रम वदलने पर भी सभी नाम गुणात्मक रहे, किसी व्यक्ति-विशेष से नहीं जुड़े। निर्ग्रन्थ, अर्हत् और जिन—ये नाम सभी तीर्थंकरों के हैं, किसी एक तीर्थंकर के नहीं। इसलिए परम्परा की दृष्टि से जैन तत्त्ववाद प्रागैतिहासिक और तद्विषयक उपलब्ध साहित्य की अपेक्षा वह भगवान् महावीर का उपदेश है। इस दृष्टि से उपलब्ध जैन न्याय के उद्गम का समय विक्रम पूर्व पांचवीं शताब्दी है। वादरायण ने ब्रह्मसूत्र (२।२।३३) में स्याद्वाद में विरोध दिखाने का प्रयत्न किया है। बादरायण का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इससे भी जैन न्याय-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। जैन आगम-सूत्रों में स्थान-स्थान पर न्याय के प्राणभूत अंगों का उल्लेख मिलता है। उनके आधार पर जैन-विचार-पद्धति की रूपरेखा और मौलिकता सहज समझी जा सकती है।

जैन न्याय की मौलिकता

'जैन न्याय मौलिक है' इसे समझने के लिए हमें 'जैन आगमों में तर्क का क्या

---

१. (क) अंहो मुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपां न पातमश्विना हुवेधिय इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोजः।

—अथर्व० का० १६।४२।४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आह्वान करता हूं। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

(ख) भागवत स्कन्ध ५, अ० ३।६।

(ग) इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरितं पुंसः समस्त दुश्चरितानि हरणम्।

—भागवत स्कन्ध ५।२८

(घ) धम्म०—उसभं पवरं वीरं (४२२)

(ङ) जैन वाङ्मय—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यक, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।

२. नन्दी, सूत्र १२६ :

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भूविं च, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

स्थान है'—इस पर दृष्टि डालनी होगी।

कथा तीन प्रकार की होती है—

१. अर्थ-कथा

२. धर्म-कथा

३. काम-कथा

धर्म-कथा के चार भेद हैं। उनमें दूसरा भेद है—विक्षेपणी। इसका तात्पर्य है—धर्म-कथा करनेवाला मुनि—

१. अपने सिद्धान्त की स्थापना कर पर-सिद्धान्त का निराकरण करे।

२. पर-सिद्धान्त का निराकरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना करे।

३. पर-सिद्धान्त के सम्यग्वाद को बताकर उसके मिथ्यावाद को बताए।

४. पर-सिद्धान्त के मिथ्यावाद को बताकर उसके सम्यग्वाद को बताए।

तीन प्रकार की वक्तव्यता—

१. स्व-सिद्धान्त-वक्तव्यता।

२. पर-सिद्धान्त-वक्तव्यता।

३. उन दोनों की वक्तव्यता।

स्व-सिद्धान्त की स्थापना और पर-सिद्धान्त का निराकरण वादविद्या में कुशल व्यक्ति ही कर सकता है।

भगवान् महावीर के पास समृद्धवादी सम्पदा थी। चार सौ मुनि वादी थे।[1]

नौ निपुण पुरुषों में वादी को निपुण (सूक्ष्मज्ञानी) माना गया है।[2]

भगवान् महावीर ने आहरण (दृष्टान्त) और हेतु के प्रयोग में कुशल साधु को ही धर्म-कथा का अधिकारी बताया है।[3]

इसके अतिरिक्त चार प्रकार के आहरण और उसके चार दोष, चार प्रकार के हेतु, छह प्रकार के विवाद, दस प्रकार के दोष, दस प्रकार के विशेष, आदेश (उपचार) आदि-आदि कथाङ्गों का प्रचुर मात्रा में निरूपण मिलता है।

तर्क-पद्धति के विकीर्ण बीज जो मिलते हैं, उनका व्यवस्थित रूप क्या था, यह समझना सुलभ नहीं किन्तु इस पर से इतना निश्चित कहा जा सकता है कि जैन परम्परा के आगम-युग में भी परीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कई तीर्थिक जीव-हिंसात्मक प्रवृत्तियों से 'सिद्धि' की प्राप्ति बताते हैं, उनके इस अभिमत

---

१. समवाओ, प्र० २०।

२. ठाण, ९।२८

३. आयारो, १।९।५, चूर्णि पृ० २३७ नागार्जुनीय पाठ
आहरणहेउकुसले···पभू धम्मस्स आघवित्तए।

को 'अपरीक्ष्य दृष्ट' कहा गया है।[1] "सत्-असत् की परीक्षा किये बिना अपने दर्शन की श्लाघा और दूसरे दर्शन की गर्हा कर स्वयं को विद्वान् समझनेवाले संसार से मुक्ति नहीं पाते।"[2] इसलिए जैन परीक्षा-पद्धति का यह प्रधान पाठ रहा है कि "स्व-पक्ष-सिद्धि और पर-पक्ष की असिद्धि करते समय आत्म-समाधि वाले मुनि को 'वहुगुण प्रकल्प' के सिद्धान्त को नहीं भूलना चाहिए। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन अथवा मध्यस्थ वचन—ये बहु गुण का सर्जन करने वाले हैं। वादकाल में अथवा साधारण वार्तालाप में मुनि ऐसे हेतु आदि का प्रयोग करे, जिससे विरोध न वढ़े...हिंसा न वढ़े।"[3]

वादकाल में हिंसा से वचाव करते हुए भी मुनि तत्त्व-परीक्षा के लिए प्रस्तुत रहते, तव उन्हें प्रमाण-मीमांसा की अपेक्षा होती, यह स्वयं गम्य होता है।

जैन-साहित्य दो भागों में विभक्त है—आगम और ग्रन्थ।

आगम के दो विभाग हैं—अंग और अंग-अतिरिक्त।

अंग स्वतः प्रमाण है। अंग-अतिरिक्त साहित्य वही प्रमाण होता है जो अंग-साहित्य का विसंवादी नहीं होता।

केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और नव-पूर्वधर (दसवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु सहित) ये आगम कहलाते हैं।[4] उपचार से इनकी रचना को भी 'आगम' कहा जाता है।[5]

अन्य स्थविरों और आचार्यों की रचनाओं की संज्ञा 'ग्रन्थ' है। इनकी प्रामाणिकता का आधार आगम की अविसंवादकता है।

अंग-साहित्य की रचना भगवान् महावीर की उपस्थिति में हुई। भगवान् के निर्वाण के बाद इनका लघु-करण और कई आगमों का संकलन और संग्रहण हुआ। इनका अन्तिम स्थिर रूप विक्रम की पांचवीं शताब्दी से है।

आगम-साहित्य के आधार पर प्रमाण-शास्त्र की रूपरेखा इस प्रकार वनती है—

१. प्रमेय—सत्।

---

१. सूयगडो, ७।१६।

२. वही, १।१।२।२३ :
सयं-सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारे ते विउस्सिया ॥

३. वही, १।३।३।१६।

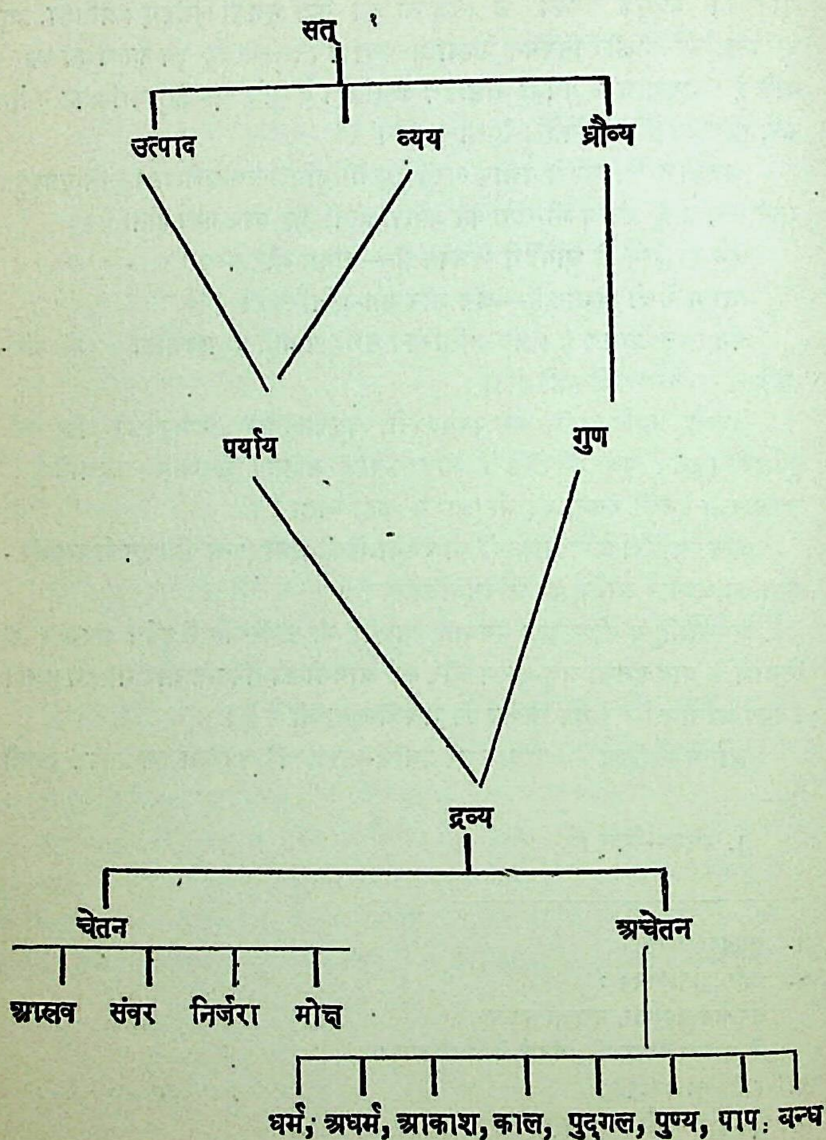
४. (क) भगवती, ८।८ वृत्ति—
(ख) भगवती जोड़, ढाल १४६।

५. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४।२ : उपचारादाप्तवचनं च।

सत् के तीन रूप हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय की समष्टि—पर्याय।

ध्रौव्य—गुण।

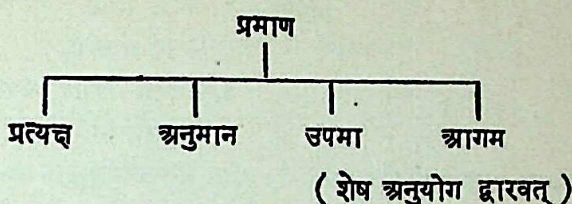
गुण और पर्याय की समष्टि—द्रव्य।



१. भगवती, ८।९ : सद्द्व्वं वा।

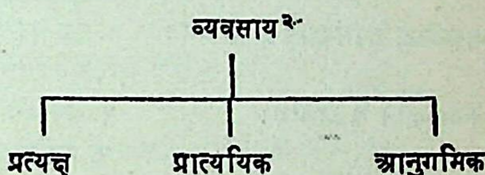
२. प्रमाण—यथार्थ ज्ञान या व्यवसाय।

(भगवती के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)[1]



(शेष अनुयोग द्वारवत्)

(स्थानांग सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)



अथवा—(द्वितीय प्रकार[3])

ज्ञान दो प्रकार का होता है—१. प्रत्यक्ष, २. परोक्ष।

प्रत्यक्ष के दो भेद—१. केवल-ज्ञान, २. नो-केवल-ज्ञान।

केवल-ज्ञान के दो भेद—१. भवस्थ-केवल-ज्ञान, २. सिद्ध-केवल-ज्ञान।

भवस्थ-केवल-ज्ञान के दो भेद—१. संयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।
२. अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

संयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान के भेद—

१. प्रथम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।
२. अप्रथम समय संयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

अथवा—१. चरम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।
२. अचरम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।

अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद—१. प्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

---

१. भगवती, ५।३।
२. ठाणं, ३।३।१८५ वृत्ति।
३. वही, २।८६-१०२

२. अप्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

अथवा—१. चरम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

२. अचरम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान।

सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद : १. अनन्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान
२. परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान

अनन्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद १. एकान्तर-सिद्ध केवल-ज्ञान
२. अनेकान्तर-सिद्ध-केवल-ज्ञान

परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद : १. एक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान
२. अनेक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान

नो-केवल-ज्ञान के दो भेद : १. अवधि-ज्ञान
२. मनःपर्यवज्ञान

अवधिज्ञान के दो भेद : १. भव-प्रात्ययिक
२. क्षायोपशमिक

मनःपर्यव के दो भेद : १. ऋजुमति, २. विपुलमति

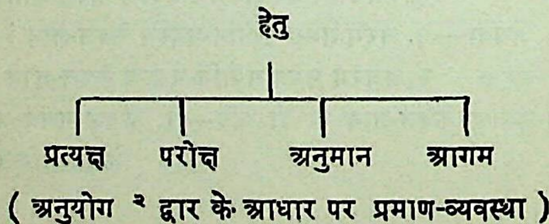
परोक्षज्ञान के दो भेद : १. आभिनिबोधिक ज्ञान
२. श्रुतज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद : १. श्रुत-निश्रित, २. अश्रुत निश्रित

श्रुत-निश्रित के दो भेद : १. अर्थावग्रह, २. व्यंजनावग्रह

अश्रुत-निश्रित के दो भेद : १. अर्थावग्रह, २. व्यंजनावग्रह

अथवा—तृतीय प्रकार[1]

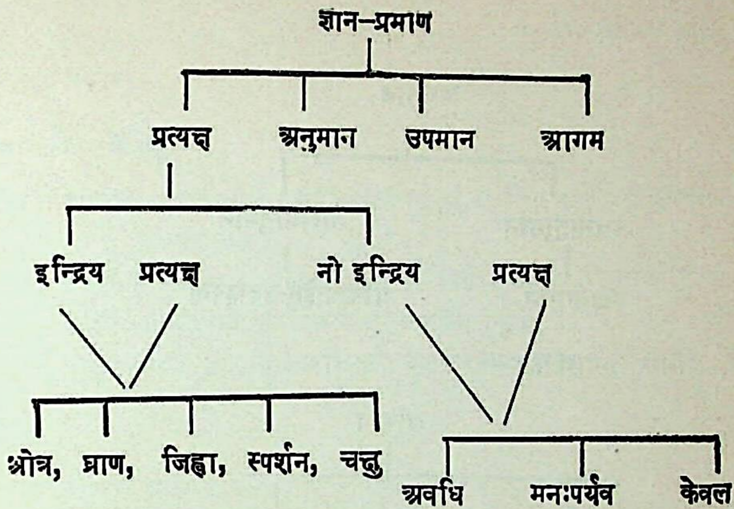


(अनुयोग[2] द्वार के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

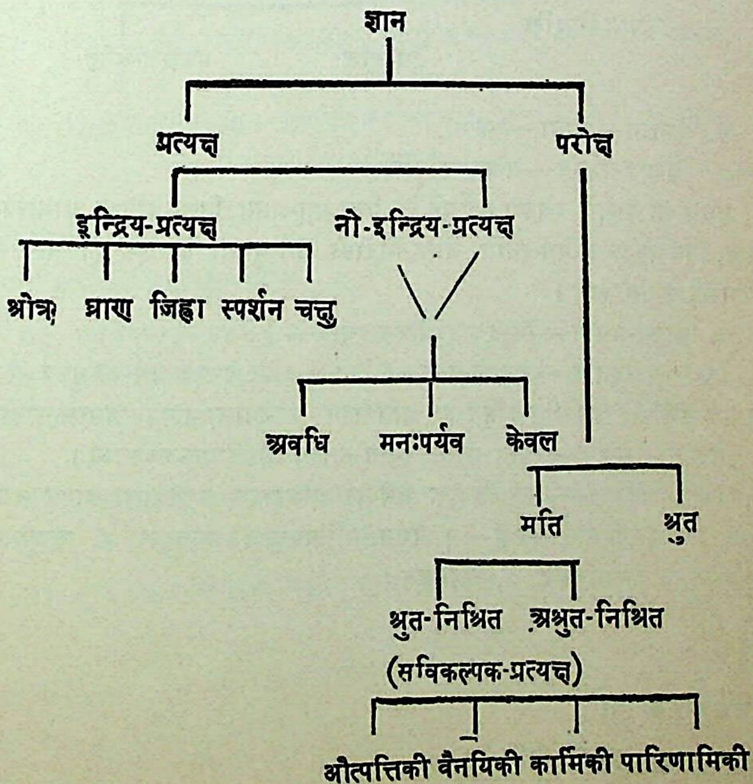
---

१. ठाणं, ४।५०४।

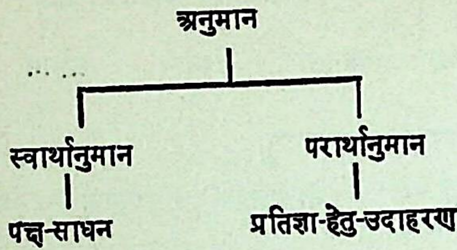
२. अनुयोगद्वार, १४४।



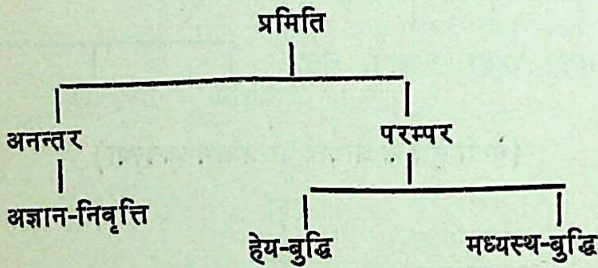
(नन्दी सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)



अनुमान का परिवार—



३. प्रमिति—प्रमाण फल—



४. प्रमाता—ज्ञाता—आत्मा।

५. विचार-पद्धति—अनेकान्त-दृष्टि—

प्रमेय का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय आदि विरोधी धर्म-युगलों का एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से स्वीकार।

६. वाक्य-प्रयोग—स्याद्वाद और सद्वाद—

(क) स्याद्वाद—अखण्ड वस्तु का अपेक्षा-दृष्टि से एक धर्म को मुख्य और शेष सब धर्मों को उसके अन्तर्हित कर प्रतिपादन करनेवाला वाक्य 'प्रमाण वाक्य' है। इसके तीन रूप हैं—स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति और स्यात्-अवक्तव्य।

(ख) सद्वाद—वस्तु के एक धर्म का प्रतिपादन करनेवाला वाक्य 'नय-वाक्य' है। इसके सात भेद हैं—१. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ४. ऋजुसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ़, ७. एवम्भूत।

हेतु

चार प्रकार के हेतु

१. विधि-साधक विधि हेतु।

२. निषेध-साधक विधि हेतु।

३. विधि-साधक निषेध हेतु।
४. निषेध-साधक निषेध हेतु।

द्वितीय प्रकार—

चार प्रकार के हेतु[1]—

(क) यापक—समय-यापक हेतु। विशेषण-बहुल, जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके।
(ख) स्थापक—प्रसिद्ध-व्याप्तिक साध्य को शीघ्र स्थापित करनेवाला हेतु।
(ग) व्यंसक—प्रतिवादी को छल में डालनेवाला हेतु।
(घ) लूषक व्यंसक से प्राप्त आपत्ति को दूर करनेवाला हेतु।

आहरण

चार प्रकार के आहरण[2]—

(क) अपाय—हेयधर्म का ज्ञापक दृष्टान्त।
(ख) उपाय—ग्राह्य वस्तु के उपाय बतानेवाला दृष्टान्त।
(ग) स्थापना कर्म—स्वाभिमत की स्थापना के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला दृष्टान्त।
(घ) प्रत्युत्पन्न-विनाशी—उत्पन्न दूषण का परिहार करने के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला दृष्टान्त।

आहरण के दोष

चार प्रकार के आहरण-दोष[3]—

(क) अधर्मयुक्त—अधर्मबुद्धि उत्पन्न करनेवाला दृष्टान्त।
(ख) प्रतिलोम—अपसिद्धान्त का प्रतिवादक दृष्टान्त।
अथवा—'शठे शाठ्यं समाचरेत्'—ऐसी प्रतिकूलता की शिक्षा देनेवाला दृष्टान्त।
(ग) आत्मोपनीत—परमत में दोष दिखाने के लिए दृष्टान्त रखना जिससे स्वमत दूषित बन जाए।
(घ) दुरुपनीत—दोषपूर्ण निगमन वाला दृष्टान्त।

---

१. ठाणं, ४।५०४
२. वही, ४।५००
३. वही, ४।५०२

वाद के दोष[1]

१. तज्जात-दोष—वादकाल में आचरण आदि का दोष बताना अथवा प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर मौन हो जाना।

२. मतिभंग-दोष—तत्त्व की विस्मृति हो जाना।

३. प्रशास्तृ-दोष—सभानायक या सभ्य की ओर से होनेवाला प्रमाद।

४. परिहरण-दोष—अपने दर्शन की मर्यादा या लोक-रूढ़ि के अनुसार अनासेव्य का आसेवन करना अथवा आसेव्य का आसेवन नहीं करना अथवा वादी द्वारा उपन्यस्त हेतु का सम्यक् प्रतिकार न करना।

५. स्वलक्षण-दोष—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव।

६. कारण-दोष—कारण ज्ञात न होने पर पदार्थ को अहेतुक मान लेना।

७. हेतु-दोष—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक।

८. संक्रामण-दोष—प्रस्तुत प्रमेय में अप्रस्तुत प्रमेय का समावेश करना अथवा परमत जिस तत्त्व को स्वीकार नहीं करता उसे उसका मान्य तत्त्व बतलाना।

९. निग्रह-दोष—छल आदि से निगृहीत हो जाना।

१०. वस्तु-दोष (पक्ष-दोष)
   १. प्रत्यक्ष-निराकृत—शब्द अश्रावण है।
   २. अनुमान-निराकृत—शब्द नित्य है।
   ३. प्रतीति-निराकृत—शशी अचन्द्र है।
   ४. स्व-वचन-निराकृत—मैं कहता हूं वह मिथ्या है।
   ५. लोकरूढ़ि-निराकृत—मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

विवाद[2]

१. अपसरण—अवसर-लाभ के लिए येन-केन-प्रकारेण समय बिताना।

२. उत्सुकीकरण—अवसर मिलने पर उत्सुक हो जय के लिए वाद करना।

३. अनुलोमन—विवादाध्यक्ष को 'साम' आदि नीति के द्वारा अनुकल बनाकर अथवा कुछ समय के लिए प्रतिवादी का पक्ष स्वीकार कर उसे अनुकूल बनाकर वाद करना।

---

१. ठाणं, १०।६४
२. वही, ६।१११

४. प्रतिलोमन—सर्व-सामर्थ्य-दशा में विवादाध्यक्ष अथवा प्रतिवादी को प्रतिकूल बनाकर वाद करना।

५. संसेवन—अध्यक्ष को प्रसन्न रख वाद करना।

६. मिश्रीकरण या भेदन—निर्णयदाताओं में अपने समर्थकों को मिश्रित करके अथवा उन्हें (निर्णयदाताओं को) प्रतिवादी का विरोधी बनाकर वाद करना।

प्रमाण-व्यवस्था का आगमिक आधार

१. प्रमेय—

प्रमेय अनन्त-धर्मात्मक होता है। इसका आधार यह है कि वस्तु में अनन्त-पर्यव होते हैं।

२. प्रमाण—

प्रमाण की परिभाषा है—व्यवसायी ज्ञान का यथार्थ-ज्ञान। इनमें पहली का आधार स्थानांग का 'व्यवसाय' शब्द है। दूसरी का आधार ज्ञान और प्रमाण का पृथक्-पृथक् निर्देशन है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है, इसलिए ज्ञान सामान्य के निरूपण में ज्ञान पांच बतलाए हैं।[1]

प्रमाण यथार्थ ज्ञान ही होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान के निरूपण में वे दो बन जाते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

३. अनुमान का परिवार—

अनुयोगद्वार के अनुसार श्रुतज्ञान परार्थ और शेष सब ज्ञान स्वार्थ हैं। इस दृष्टि से सभी प्रमाण जो ज्ञानात्मक हैं वे स्वार्थ हैं और जो वचनात्मक हैं वे परार्थ हैं। इसी के आधार पर आचार्य सिद्धसेन[2], वादिदेव सूरि प्रत्यक्ष को परार्थ मानते हैं।[3]

अनुमान, आगम आदि की स्वार्थ-परार्थ रूप द्विविधता का यही आधार है।

४. प्रमिति—

प्रमाण का साक्षात् फल है—अज्ञान-निवृत्ति और व्यवहित फल है—हेयबुद्धि

---

१. भगवती, ८।२।

२. न्यायावतार, ११ वृत्ति :

प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि॥
अनुमानप्रतीतं प्रत्यायन्नेवं वचनमिति—अग्निरत्र धूमात्।
प्रत्यक्षप्रतीतं पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।

३. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ३।२६, २७।

और मध्यस्थबुद्धि। इसका आधार श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान और संयम का क्रम है। श्रवण का फल ज्ञान, ज्ञान का विज्ञान, विज्ञान का प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल है संयम। दर्शनावरण के विलय से 'सुनना' मिलता है। श्रुत-अर्थ में ज्ञानावरण के विलय से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये होते हैं। इनसे ज्ञान होता है, अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर विज्ञान होता है—हेय, उपादेय की बुद्धि बनती है। इसके बाद हेय का प्रत्याख्यान—त्याग होता है। त्याग के पश्चात् संयम। आध्यात्मिक दृष्टि से यावन्मात्र पर-संयोग है, वह हेय है। पर-संयोग मिटने पर संयम आता है, अपनी स्थिति में रमण होता है। वह बाहर से नहीं आता, इसलिए उपादेय कुछ भी नहीं। लौकिक दृष्टि में हेय और उपादेय दोनों होते हैं। जो वस्तु न ग्राह्य होती है और न अग्राह्य, वहां मध्यस्थ बुद्धि बनती है अथवा हर्ष और शोक दोनों से बचे रहना, वह मध्यस्थ बुद्धि है।

इनके अतिरिक्त व्याप्ति, अभाव, उपचार आदि के भी बीज मिलते हैं।

जैन प्रमाण और परीक्षा-पद्धति का विकास इन्हीं के आधार पर हुआ है। दूसरे दर्शनों के उपयोगी अंश अपनाने में जैनाचार्यों को कभी आपत्ति नहीं रही है। उन्होंने अन्य परम्पराओं की नई सूझों का हमेशा आदर किया है और अपनाया है। फिर भी यह निर्विवाद है कि उनकी न्याय-परम्परा सर्वथा स्वतन्त्र और मौलिक है और भारतीय न्यायशास्त्र को उसकी एक बड़ी देन है।

अनेकान्त-व्यवस्था

आगम-साहित्य में सिर्फ ज्ञान और ज्ञेय की प्रकीर्ण मीमांसा ही नहीं मिलती, उनकी व्यवस्था भी मिलती है।

सूत्रकृताङ्ग में विचार और आचार, दोनों के बारे में अनेकान्त का तलस्पर्शी विवेचन मिलता है। भगवती और सूत्रकृताङ्ग में अनेक मतवादों का निराकरण कर स्वपक्ष की स्थापना की गई है।

इन बिखरी मुक्ताओं को एक धागे में पिरोने का काम पहले-पहल आचार्य उमास्वाति ने किया। उनका तत्त्वार्थसूत्र जैन न्याय विकास की पहली रश्मि है। यों कहना चाहिए कि विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के लगभग जैन-परम्परा में 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्र के रूप में स्वतन्त्र परीक्षा-शैली का शिलान्यास हुआ।[1]

धार्मिक मतवादों के पारस्परिक संघर्ष ज्यों-ज्यों बढ़ने लगे और अपनी मान्यताओं को युक्तियों द्वारा समर्थित करना अनिवार्य हो गया, तब जैन आचार्यों ने भी अपनी दिशा बदली; अपने सिद्धान्तों को युक्ति की कसौटी पर कसकर जनता के सामने रखा। इस काल में अनेकान्त का विकास हुआ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।६।

अहिंसा की साधना जैनाचार्यों का पहला लक्ष्य था। उससे हटकर मत-प्रचार करने को वे कभी लालायित नहीं हुए। साधु के लिए पहले 'आत्मानुकम्पी' (अहिंसा की साधना में कुशल) होना जरूरी है। जैन-आचार्यों की दृष्टि में विवाद या शुष्क तर्क का स्थान कैसा था, इस पर महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन की 'वादद्वात्रिंशिका' पूरा प्रकाश डालती है।[1]

हरिभद्रसूरि का वादाष्टक भी शुष्क तर्क पर सीधा प्रहार है। जैनाचार्यों ने तार्किक आलोक में उतरने की पहल नहीं की, इसका अर्थ उनकी तार्किक दुर्बलता नहीं किन्तु समतावृत्ति ही थी।

वाद-कथा क्षेत्र में एक ओर गौतम प्रदर्शित छल, जल्प, वितंडा, जाति और निग्रह की व्यवस्था और दूसरी ओर अहिंसा का मार्ग कि—'अन्य-तीर्थिकों के साथ वाद करने के समय आत्म-समाधि वाला मुनि सत्य के साधक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण का प्रयोग करे और इस प्रकार बोले कि प्रतिपक्षी अपना विरोधी न बने।'[2] सत्य का शोधक और साधक "अप्रतिज्ञ होता है, वह असत्य-तत्त्व का समर्थन करने की प्रतिज्ञा नहीं रखता"—यह एक समस्या थी, इसको पार करने के लिए अनेकान्तदृष्टि का सहारा लिया गया।

अनेकान्त के विस्तारक श्वेताम्बर-परम्परा में 'सिद्धसेन' और दिगम्बर-परम्परा में 'समन्तभद्र' हुए। उनका समय विक्रम की पांचवीं-छठी शती के लगभग माना जाता है। सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिका और सन्मति की रचना करके यह सिद्ध किया कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन नयों का समूह-विविध सापेक्ष दृष्टियों का समन्वय है।[3] एकान्त-दृष्टि मिथ्या होती है। उसके द्वारा 'सत्य' नहीं पकड़ा जा सकता। जितने पर-समय हैं, वे सब नयवाद हैं।[4] एक दृष्टि को ही एकान्त रूप से पकड़े हुए हैं, इसलिए वे सत्य की ओर नहीं ले जा सकते। जिन-प्रवचन में नित्यवाद, अनित्यवाद, काल,

---

१. वादद्वात्रिंशिका :
ग्रामान्तरोपगतयो - रेकामिषसङ्गजातमत्सरयोः ।
स्यात् सख्यमपि शुनो र्भ्रात्रोरपि वादिनो न स्यात् ॥ १ ॥
अन्यत एव श्रेयान्, अन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ ७ ॥
ज्ञेयः परसिद्धान्तः, स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम् ।
परपक्षक्षोभणमभ्युपेत्य तु सतामनाचारः ॥ १६ ॥
परनिग्रहाध्यवसितश्चित्तैकाग्र्यमुपयाति यद् वादी ।
यदि तत् स्याद् वैराग्ये, न चिरेण शिवं पदमुपयातु ॥ २५ ॥

२. सूयगडो, १।३।३-१६ ।

३. सन्मतिप्रकरण, ३।६९ ।

४ वही, ३।४७ ।

स्वभाव, नियति आदि सब दृष्टियों का समन्वय होता है, इसलिए यह सत्य का सीधा मार्ग है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आप्तमीमांसा' में वीतराग को आप्त सिद्ध कर उनकी अनेकान्त वाणी से 'सत्' का यथार्थ-ज्ञान होने का विजय-घोष किया। उन्होंने अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य—इन चार भंगों के द्वारा सदेकान्तवादी सांख्य, असदेकान्तवादी माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी बौद्ध के दुराग्रहवाद का बड़ी सफलता से निराकरण किया। भेद-एकान्त, अभेद-एकान्त आदि अनेक एकान्त पक्षों में दोष दिखाकर अनेकान्त की व्यापक सत्ता का पथ प्रशस्त कर दिया।

स्याद्वाद—सप्तभंगी और नय की विशद योजना में इन दोनों आचार्यों की लेखनी का चमत्कार आज भी सर्व-सम्मत है।

प्रमाण-व्यवस्था

आचार्य सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवों की चर्चा प्रमाण-शास्त्र की स्वतन्त्र रचना का द्वार खोल देती है। फिर भी उसकी आत्मा शैशवकालीन-सी लगती है। इसे यौवनश्री तक ले जाने का श्रेय दिगम्बर आचार्य अकलंक को है। उनका समय विक्रम की आठवीं-नवीं शताब्दी है। उनके 'लघीयस्त्रय', 'न्यायविनिश्चय' और 'प्रमाण-संग्रह' में मिलने वाली प्रमाण-व्यवस्था पूर्ण विकसित है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों धाराओं में उसे स्थान मिला है। इसके बाद समय-समय पर अनेक आचार्यों द्वारा लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे गए। दसवीं शताब्दी की रचना माणिक्यनंदी का 'परीक्षा-मुखमण्डन', बारहवीं शताब्दी की रचना वादिदेवसूरि का 'प्रमाण नय तत्त्वालोक' और आचार्य हेमचन्द्र की 'प्रमाण-मीमांसा', पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना धर्मभूषण की 'न्यायदीपिका', अठारहवीं शताब्दी की रचना यशोविजयजी की 'जैन तर्कभाषा' बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त बहुत सारे लाक्षणिक ग्रन्थ अभी तक अप्रसिद्ध भी पड़े हैं। इन लाक्षणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चा और प्रमाण के लक्षण की स्थापना और उत्थापना में जिनका योग है, वे भी प्रचुर मात्रा में हैं।

२

प्रमाण-मीमांसा

प्रमाण का लक्षण

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और संशय-विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण सिर्फ यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का संशय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'—प्रमा का करण ही प्रमाण है। 'तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही जानना 'प्रमा' है। करण का अर्थ है साधकतम। एक अर्थ की सिद्धि में अनेक सहयोगी होते हैं किन्तु वे सब 'करण' नहीं कहलाते। फल की सिद्धि में जिसका व्यापार अव्यवहित (प्रकृत उपकारक) होता है वह 'करण' कहलाता है। कलम बनाने में हाथ और चाकू दोनों चलते हैं किन्तु करण चाकू ही होगा। कलम काटने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है, हाथ से उसके बाद। इसलिए हाथ साधक और चाक साधकतम कहलाएगा।

प्रमाण के सामान्य लक्षण में किसी को आपत्ति नहीं है। विवाद का विषय 'करण' बनता है। बौद्ध सारूप्य और योग्यता को 'करण' मानते हैं।[1] नैयायिक

---

१. (क) न्यायबिंदु, १।१९।२०

(ख) बौद्ध (सौत्रान्तिक) दर्शन के अनुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थ-ग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारुप्य भी कहा जाता है।

स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद् रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य, प्रमाणं तेन मीयते ॥
(प्रमाण समुच्चय, पृ० २४)

प्रमाणं तु सारूप्यं, योग्यता वा।
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १३-४४)

सन्निकर्ष और ज्ञान इन दोनों को करण मानते हैं। इस दशा में जैन सिर्फ ज्ञान को ही करण मानते हैं।[1] सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ-बोध की सहायक सामग्री है। उसका निकट सम्बन्धी ज्ञान ही है और वही ज्ञान और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

प्रमाण का फल होता है—अज्ञान-निवृत्ति, इष्ट-वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग। यह सब प्रमाण को ज्ञान-स्वरूप माने बिना हो नहीं सकता। इसलिए अर्थ के सम्यक् अनुभव में 'करण' बनने का श्रेय ज्ञान को ही मिल सकता है।

प्रमाण की परिभाषा का क्रमिक विकास

प्रामाणिक क्षेत्र में प्रमाण की अनेक धाराएं बहीं, तब जैन आचार्यों को भी प्रमाण की स्वमन्तव्य-पोषक एक परिभाषा निश्चित करनी पड़ी। जैन विचार के अनुसार प्रमाण की आत्मा 'निर्णायक ज्ञान' है। जैसा कि आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है—

'तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात्, व्यर्थमन्यद् विशेषणम्॥'[2]

पदार्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान 'प्रमाण' है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है और सब विशेषण व्यर्थ हैं किन्तु फिर भी परिभाषा के पीछे जो कई विशेषण लगे उसके मुख्य तीन कारण हैं—

१. दूसरों के प्रमाण-लक्षण से अपने लक्षण का पृथक्करण।
२. दूसरों के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण।
३. बाधा का निरसन।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बतलाया है—'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'[3] —स्व और पर को प्रकाशित करनेवाला अबाधित ज्ञान प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसक ज्ञान को स्वप्रकाशित नहीं मानते। उनकेमत से 'ज्ञान है'—इसका पता अर्थ-प्राकट्यात्मक अर्थापत्ति से लगता है। दूसरे शब्दों में, उनकी दृष्टि में ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। अर्थ को हम जानते हैं—यह अर्थज्ञान (अर्थ-प्राकट्य) है। हम अर्थ को जानते हैं इससे पता चलता है कि अर्थ को जानने-वाला ज्ञान है। 'अर्थ की जानकारी के द्वारा ज्ञान की जानकारी होती है'—यह परोक्ष ज्ञानवाद है।[4] ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानवादी नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को ज्ञानान्तर-वेद्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म-समवायी दूसरे

---

१. न्यायभाष्य १।१।३
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१०।७७
३. न्यायावतार, १।
४. मीमांसाश्लोकवार्तिक, १८४-१८७।

ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान परप्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। अचेतन ज्ञानवादी सांख्य प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्रकृति की पर्याय—विकार है, इसलिए वह अचेतन है।

उक्त परिभाषा में आया हुआ 'स्व-आभासि' शब्द इनके निराकरण की ओर संकेत करता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान 'स्व-अवभासि' है। ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है, यह जानने के लिए अर्थ-प्राकट्य (अर्थ-बोध) की अपेक्षा नहीं है।

१. ज्ञान प्रमेय ही नहीं, ईश्वर के ज्ञान की भांति प्रमाण भी है।

२. ज्ञान अचेतन नहीं—जड़ प्रकृति का विकार नहीं, आत्मा का गुण है।[1]

ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानते हैं, बाह्य पदार्थ को नहीं।[2] इसका निराकरण करने के लिए 'पर आभासि' विशेषण जोड़ा गया।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की भांति बाह्य वस्तुओं की भी पारमार्थिक सत्ता है।[3]

विपर्यय आदि प्रमाण नहीं हैं, यह बतलाने के लिए 'बाधविवर्जित' विशेषण है।

समूचा लक्षण तत्काल प्रचलित लक्षणों से जैन लक्षण का पृथक्करण करने के लिए है।

आचार्य अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थग्राही' विशेषण लगाकर एक नई परम्परा शुरू कर दी।[4] इस पर बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का प्रभाव पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक 'धारावाहिक ज्ञान' (अधिगत ज्ञान—गृहीतग्राही ज्ञान) को प्रमाण मानने के पक्ष में थे और बौद्ध विपक्ष में। आचार्य अकलंक ने बौद्ध दर्शन का साथ दिया। आचार्य अकलंक का प्रतिबिम्ब आचार्य माणिक्य नन्दी पर पड़ा। उन्होंने यह माना कि 'स्वापूर्वार्थं व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'—स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। इसमें आचार्य अकलंक के मत का 'अपूर्व' शब्द के द्वारा समर्थन किया।

वादिदेव सूरि ने 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्' इस सूत्र में माणिक्य नन्दी के 'अपूर्व' शब्द पर ध्यान नहीं दिया।

इस काल में दो धाराएं चल पड़ीं। दिगम्बर आचार्यों ने गृहीत-ग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। श्वेताम्बर आचार्य इसको प्रमाण मानते थे। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने इस प्रश्न को खड़ा करना उचित ही नहीं समझा।

---

१. स्याद्वादमंजरी, श्लोक १५
२. देखिए—वसुबन्धुकृत, विंशतिका
३. स्याद्वादमंजरी, १६।
४. लघीयस्त्रयी, ६०।

उन्होंने बड़ी उपेक्षा के साथ बताया कि—

'गृहीतमगृहीतं वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु, विजहाति प्रमाणताम्।।'[1]

स्व और पर का निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीतग्राही हो, चाहे अगृहीतग्राही।

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षण-सूत्र का परिष्कार ही नहीं किया किन्तु एक ऐसी बात सुझाई, जो उनकी सूक्ष्म-दृष्टि की परिचायक है। उन्होंने कहा—'ज्ञान स्व-प्रकाशी होता अवश्य है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं बनता।[2] कारण कि प्रमाण की भांति अप्रमाण—संशय विपर्यय ज्ञान भी स्वसंविदित होता है। पूर्वाचार्यों ने 'स्वनिर्णय को लक्षण में रखा है, वह परीक्षा के लिए है, इसलिए वहां कोई दोष नहीं आता"—यह लिखकर उन्होंने अपने पूर्वजों के प्रति अत्यन्त आदर सूचित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा—'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्'—अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। यह जैन-प्रमाण-लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप है।

आचार्य तुलसी ने 'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'—यथार्थ (सम्यक्) ज्ञान प्रमाण है,[3] इसमें अर्थ पद को भी नहीं रखा। ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ—ये दो रूप वाह्य पदार्थों के प्रति उसका व्यापार होता है, तव बनते हैं। इसलिए अर्थ के निर्णय का वोध 'यथार्थ' पद अपने आप करा देता है।[4] यदि वाह्य अर्थ के प्रति ज्ञान का व्यापार नहीं होता तो लक्षण में यथार्थ-पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमें कोई द्वैत नहीं, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार वह याथार्थ्य है। याथार्थ्य का अर्थ है—'ज्ञान की तथ्य के साथ संगति'।[5] ज्ञान अपने प्रति सत्य ही होता है। प्रमेय के साथ उसकी संगति निश्चित नहीं होती, इसलिए उसके दो रूप बनते हैं—तथ्य के साथ संगति

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।१०।७८

२. प्रमाणमीमांसा, १।३।

३. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।१०।

४. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, १।१९ :
सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम्।
वहिरर्थापेक्षया तु किंचित् प्रमाणं, किंचित् प्रमाणाभासम्।

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५।

हो वह सत्य ज्ञान और तथ्य के साथ संगति न हो वह असत्य ज्ञान।

अबाधितत्त्व, अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसंवादित्त्व या संवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्तिसामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता—ये सत्य की कसौटियां हैं, जो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्त्वबाधक प्रमाण के अभाव या कथनों के पारस्परिक सामंजस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं। सन्मति-टीकाकार आचार्य अभयदेव इसका निराकरण करते हैं।[1] आचार्य अकलंक बौद्ध और मीमांसक अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन (अज्ञात अर्थ के ज्ञापन) को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं।[2] वादिदेव सूरि और आचार्य हेमचन्द्र इसका निराकरण करते हैं।[3]

संवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनों का व्यवहार सर्व-सम्मत है। किन्तु ये प्रामाण्य के मुख्य नियामक नहीं बन सकते। संवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की भांति व्यापक नहीं है। प्रत्येक निर्णय में तथ्य के साथ ज्ञान की संगति अपेक्षित होती है, वैसे संवादक ज्ञान प्रत्येक निर्णय में अपेक्षित नहीं होता। वह क्वचित् ही सत्य को प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ-सिद्धि का दूसरा रूप है। ज्ञान तब तक सत्य नहीं होता, जब तक वह फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं बन जाता। यह भी सार्वदिक सत्य नहीं है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। क्वचित् यह 'सत्य की कसौटी' बनता है, इसलिए यह अमान्य भी नहीं है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री में मिलनेवाले गुण और दोष क्रमशः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं। निर्विशेषण सामग्री से यदि ये दोनों उत्पन्न होते तो इन्हें स्वतः माना जाता किन्तु ऐसा होता नहीं। ये दोनों सविशेषण सामग्री से पैदा होते हैं; जैसे गुणवत्-सामग्री से प्रामाण्य और दोषवत्-सामग्री से अप्रामाण्य। अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनों में होता है। किन्तु अप्रमाण (संशय-विपर्यय) में अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नहीं होता और प्रमाण में वह यथार्थ होता है। अयथार्थ-परिच्छेद की भांति यथार्थ-परिच्छेद भी सहेतुक होता है। दोष मिट जाए, मात्र इससे यथार्थता नहीं आती। वह तब आती है, जब गुण उसके कारण बने। जो कारण

---

१. सन्मतिप्रकरण, पृ० ६१४।
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५।
३. प्रमाणमीमांसा

बनेगा वह 'पर' कहलाएगा। ये दोनों विशेष स्थिति-सापेक्ष हैं, इसलिए इनकी उत्पत्ति 'पर' से होती है।

प्रामाण्य-निश्चय के दो रूप—स्वतः और परतः

जानने के साथ-साथ 'यह जानना ठीक है' ऐसा निश्चय होता है, वह स्वतः निश्चय है।

जानने के साथ-साथ 'यह जानना ठीक है' ऐसा निश्चय नहीं होता तब दूसरी कारण सामग्री से—संवादक प्रत्यय से उसका निश्चय किया जाता है, यह परतः निश्चय है। जैन प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः भी मानते हैं और परतः भी।

स्वतः प्रामाण्य-निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सचाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भली-भांति परिचित है। वह मित्र-गृह को देखते ही निस्सन्देह उसमें प्रविष्ट हो जाता है। 'यह मेरे मित्र का घर है'—ऐसा ज्ञान होने के समय ही उस ज्ञानगत सचाई का निश्चय नहीं होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नहीं होता।

परतः प्रामाण्य-निश्चय

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सचाई का पता नहीं लगता तब विशेष कारणों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। पहले सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है, फिर भी उसे यह सन्देह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का ? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सचाई मालूम हो जाती है। यहां ज्ञान की सचाई का दूसरे की सहायता से पता लगा, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है। विशेष कारण-सामग्री के दो प्रकार हैं—संवादक प्रमाण अथवा बाधक प्रमाण का अभाव।

जिस प्रमाण से पहले प्रमाण की सचाई का एक निश्चय होता है, उसका प्रामाण्य-निश्चय परतः नहीं होता। पहले प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय कराने वाले प्रमाण की प्रामाणिकता परतः मानने पर प्रमाण की शृंखला का अन्त नहीं होता और न अन्तिम निश्चय ही हाथ लगता है। संवादक प्रमाण किसी दूसरे प्रमाण का ऋणी बनकर सही जानकारी नहीं देता। कारण कि उसे जानकारी देने के समय उसका ज्ञान करना नहीं है। अतः उसके लिए स्वतः या परतः का प्रश्न ही नहीं उठता।

'प्रामाण्य का निश्चय स्वतः या परतः होता है'—यह विभाग विषय

(ग्राह्यवस्तु) की अपेक्षा से है। ज्ञान के स्वरूप-ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य-निश्चय अपने आप होता है।

अयथार्थ ज्ञान या समारोप

एक रस्सी के बारे में चार व्यक्तियों के ज्ञान के चार रूप हैं :

पहला—यह रस्सी है—यथार्थ-ज्ञान।

दूसरा—यह सांप है—विपर्यय।

तीसरा—यह रस्सी है या सांप है ?—संशय।

चौथा—रस्सी को देखकर भी अन्यमनस्कता के कारण ग्रहण नहीं करता—अनध्यवसाय।

पहले व्यक्ति का ज्ञान सही है। यही प्रमाण होता है, जो पहले बताया जा चुका है। शेष तीनों व्यक्तियों के ज्ञान में वस्तु का सम्यक् निर्णय नहीं होता, इसलिए वे अयथार्थ हैं।

विपर्यय[1]

विपर्यय निश्चयात्मक होता है किन्तु निश्चय पदार्थ के असली स्वरूप के विपरीत होता है। जितनी निरपेक्ष एकान्त-दृष्टियां होती हैं, वे सब विपर्यय की कोटि में आती हैं। पदार्थ अपनी गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है और अवस्था-भेद की दृष्टि से अनित्य। इसलिए उसका समष्टि रूप बनता है—पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। यह सम्यक् ज्ञान है। इसके विपरीत पदार्थ नित्य ही है अथवा पदार्थ अनित्य ही है—यह विपर्यय ज्ञान है।

अनेकान्त दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पदार्थ कथंचित् नित्य ही है, कथंचित् अनित्य ही है।' यह निरपेक्ष नहीं किन्तु कथंचित् यानी गुणात्मक सत्ता की अपेक्षा नित्य ही है और परिणमन की अपेक्षा अनित्य ही है।

पदार्थ नष्ट नहीं होता, यह प्रमाणसिद्ध है। उसका रूपान्तर होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इस दशा में पदार्थ को एकान्ततः नित्य या अनित्य मानना सम्यग् निर्णय नहीं हो सकता।

विपरीत ज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों में विभिन्न धारणाएं हैं—

सांख्य, योग और मीमांसक (प्रभाकर) इसे विवेकाख्याति या अख्याति[2],

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।१२

२. रस्सी में सांप का ज्ञान होता है, वह वास्तव में ज्ञान-द्वय का मिलित रूप है—रस्सी का प्रत्यक्ष और सांप की स्मृति। द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोष से प्रत्यक्ष और स्मृति के विवेक—भेद को भूल जाता है, यही 'अख्याति या विवेकाख्याति' है।

वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति[1], बौद्ध (योगाचार) 'आत्म-ख्याति'[2], कुमारिल (भट्ट) नैयायिक-वैशेषिक 'विपरीत ख्याति'[3], (या अन्यथा ख्याति) और चार्वाक अख्याति (निरावलम्बन) कहते हैं।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह 'सत्-असत् ख्याति' है। रस्सी में प्रतीत होने वाला सांप स्वरूपतः सत् और रस्सी के रूप में असत् है। ज्ञान के साधनों की विकल दशा में सत् का असत् के रूप में ग्रहण होता है, यह 'सदसत्ख्याति' है।

संशय

ग्राह्य वस्तु की दूरी, अंधेरा, प्रमाद, व्यामोह आदि-आदि जो विपर्यय के कारण बनते हैं, वे ही संशय के कारण हैं। हेतु दोनों के समान हैं, फिर भी उनके स्वरूप में बड़ा अन्तर है। विपर्यय में जहां सत् में असत् का निर्णय होता है, वहां संशय में सत् या असत् किसी का भी निर्णय नहीं होता। संशय ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। वह 'यह' या 'वह' के घेरे को तोड़ नहीं सकता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायक होते हैं। एक सफेद चार पैर और सींग वाले प्राणी को दूर से देखते ही मन विकल्प से भर जाता है—क्या यह गाय है अथवा गवय—रोझ ?

निर्णायक विकल्प संशय नहीं होता, यह हमें याद रखना होगा। पदार्थ के बारे में अभी-अभी हम दो विकल्प कर आए हैं—'पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी'। यह संशय नहीं है। संशय या अनिर्णायक विकल्प वह होता है जहां पदार्थ के एक धर्म के बारे में दो विकल्प होते हैं। अनेक-धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों पर होने वाले अनेक विकल्प इसलिए निर्णायक होते हैं कि उनकी कल्पना आधार-शून्य नहीं होती। स्याद्वाद के प्रामाणिक विकल्पों—भंगों को संशयवाद कहनेवालों को यह स्मरण रखना चाहिए।

अनध्यवसाय

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। किसी पक्षी को देखा और एक आलोचन शुरू हो गया—इस पक्षी का क्या नाम है ? चलते-चलते किसी पदार्थ का स्पर्श हुआ। यह जान लिया कि स्पर्श हुआ है किन्तु किस वस्तु का हुआ है, यह

---

१. रस्सी में जिस सर्प का ज्ञान होता है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, सत्-असत् भी नहीं है, इसलिए 'अनिर्वचनीय'—सदसत्-विलक्षण है। वेदान्ती किसी भी ज्ञान को निर्विषय नहीं मानते, इसलिए इनकी धारणा है कि भ्रमज्ञान में एक ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है, जिसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. ज्ञान-रूप आन्तरिक पदार्थ की बाह्य रूप में प्रतीति होती है, यानी मानसिक विज्ञान ही बाहर सर्पाकार में परिणत हो जाता है, यह 'आत्मख्याति' है।

३. द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोषवश रस्सी में पूर्वानुभूत सांप के गुणों का आरोपण करता है, इसलिए उसे रस्सी सर्पाकार दीखने लगती है। इस प्रकार रस्सी का सांप के रूप में जो ग्रहण होता है, वह 'विपरीत ख्याति' है।

नहीं जाना। इस ज्ञान की आलोचना में ही परिसमाप्ति हो जाती है, कोई निर्णय नहीं निकलता। इसमें वस्तु-स्वरूप का अन्यथा ग्रहण नहीं होता, इसलिए यह विपर्यय से भिन्न है और यह विशेष का स्पर्श नहीं करता, इसलिए संशय से भी भिन्न है। संशय में व्यक्ति का भी उल्लेख होता है। यह जाति सामान्य विषयक है। इसमें पक्षी और स्पर्श किए व्यक्ति का नामोल्लेख नहीं होता।

अनध्यवसाय वास्तव में अयथार्थ नहीं है, अपूर्ण है। वस्तु जैसी है उसे विपरीत नहीं किन्तु उसी रूप में जानने में अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है। अनध्यवसाय को अयथार्थ उसी दशा में कहा जा सकता है, जबकि यह 'आलोचन मात्र' तक ही रह जाता है। अगर यह आगे बढ़े तो अवग्रह के अन्तर्गत हो जाता है।[1]

अयथार्थ ज्ञान के हेतु

एक ही प्रमाता का ज्ञान कभी प्रमाण बन जाता है और कभी अप्रमाण। यह क्यों? जैन दृष्टि में इसका समाधान यह है कि यह सामग्री के दोष से होता है।

प्रमाता का ज्ञान निरावरण होने पर ऐसी स्थिति नहीं बनती। उसका ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। यह स्थिति उसके सावरणज्ञान की दशा में बनती है।[2]

ज्ञान की सामग्री द्विविध होती है—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक सामग्री है, प्रमाता के ज्ञानावरण का विलय। आवरण के तारतम्य के अनुपात में जानने की न्यूनाधिक शक्ति होती है। ज्ञान के दो क्रम हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और आत्म-परोक्ष। आत्म-प्रत्यक्ष जितनी योग्यता विकसित होने पर जानने के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। आत्म-परोक्ष की ज्ञान की दशा में बाह्य सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन्द्रिय और मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान बाह्य सामग्री सापेक्ष होता है। पौद्गलिक इन्द्रियां, पौद्गलिक मन, आलोक, उचित सामीप्य या दूरत्व, दिग्, देश, काल आदि बाह्य सामग्री के अंग हैं।

अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य सामग्री दोनों हैं। आवरण-विलय मन्द होता है और बाह्य सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब अयथार्थ ज्ञान होता है। आवरण विलय की मन्दता में बाह्य सामग्री की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। उससे ज्ञान की स्थिति में परिवर्तन आता है। तात्पर्य यह है कि अयथार्थ ज्ञान का निमित्त ज्ञान-मोह है और ज्ञानमोह का निमित्त दोषपूर्ण सामग्री है। परोक्ष ज्ञान-दशा में चेतना का विकास होने पर भी अदृश्य सामग्री के अभाव में यथार्थ बोध नहीं होता।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३१७, वृत्ति···
अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

२. न्यायालोक, पत्र १७७ :
कर्मवशवर्तित्वेन आत्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्।

अर्थ-वोध ज्ञान की योग्यता से नहीं होता, किन्तु उसके व्यापार से होता है। सिद्धान्त की भाषा में लब्धिप्रमाण नहीं होता। प्रमाण होता है उपयोग। लब्धि (ज्ञानावरण विलयजन्य आत्म-योग्यता) शुद्ध ही होती है। उसका उपयोग शुद्ध या अशुद्ध (यथार्थ या अयथार्थ) दोनों प्रकार का होता है। दोषपूर्ण ज्ञानसामग्री ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनती है। ज्ञानावरण के उदय से प्रमाता मूढ़ बन जाता है। यही कारण है कि वह ज्ञानकाल में प्रवृत्त होने पर भी ज्ञेय की यथार्थता को नहीं जान पाता।

संशय और विपर्यय के काल में प्रमाता जो जानता है वह ज्ञानावरण का परिणाम नहीं किन्तु वह यथार्थ नहीं जान पाता, वह अज्ञान ज्ञानावरण का परिणाम है। समारोपज्ञान में अज्ञान (यथार्थ-ज्ञान के अभाव) की मुख्यता होती है, इसलिए मुख्यवृत्ति से उसे ज्ञानावरण के उदय का परिणाम कहा जाता है। वस्तुवृत्त्या जितना ज्ञान का व्यापार है, वह ज्ञानावरण के विलय का परिणाम है और उसमें जितना यथार्थज्ञान का अभाव है, यह ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।[1]

अयथार्थ ज्ञान के दो पहलू

अयथार्थ ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक संशय को मिश्र मोह कहा जाता है। इनका उद्‌भव आत्मा की मोह दशा से होता है। इससे श्रद्धा विकृत होती है।

व्यावहारिक संशय और विपर्यय का नाम है 'समारोप'। यह ज्ञानावरण के उदय से होता है। इससे ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

पहला पक्ष दृष्टि-मोह है और दूसरा पक्ष ज्ञान-मोह। इनका भेद समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"तत्त्व श्रद्धा में विपर्यय होने पर मिथ्यात्व होता है। अन्यत्र विपर्यय होता है, तब ज्ञान सत्य होता है किन्तु वह मिथ्यात्व नहीं बनता।"[2]

दृष्टि-मोह मिथ्यादृष्टि के ही होता है। ज्ञान-मोह सम्यग्‌दृष्टि और मिथ्यादृष्टि—दोनों के होता है। दृष्टि-मोह मिथ्यात्व है, किन्तु अज्ञान नहीं। मिथ्यात्व मोह-जनित होता है[3] और अज्ञान (मिथ्यादृष्टि का ज्ञान) ज्ञानावरण-विलय (क्षयोपशम) जनित।[4] श्रद्धा का विपर्यय मिथ्यात्व से होता है, अज्ञान से नहीं।

मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्तर बताते हुए जयाचार्य ने लिखा है—"अज्ञानी

---

१. भगवती जोड़, ३।६।६८ गाथा ५१-५४
२. इन्द्रियवादी री चौपई, ७-९
३. प्रज्ञापना, पद २३
४. अनुयोगद्वार, १२६

कई विषयों में विपरीत श्रद्धा रखता है वह मिथ्यात्व-आस्रव है। वह मोह कर्म के उदय से पैदा होता है, इसलिए वह अज्ञान नहीं। अज्ञानी जितना सम्यग् जानता है, वह ज्ञानावरण के विलय से उत्पन्न होता है। वह अधिकारी की अपेक्षा से अज्ञान कहलाता है, इसलिए अज्ञान और विपरीत श्रद्धा दोनों भिन्न हैं।"[1]

जैसे मिथ्यात्व सम्यक् श्रद्धा का विपर्यय है, वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नहीं है। ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप-भेद नहीं किन्तु अधिकारी भेद है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान।[2]

अज्ञान में नञ् समास कुत्सार्थक है। ज्ञान कुत्सित नहीं, किन्तु ज्ञान का पात्र जो मिथ्यात्वी है, उसके संसर्ग से वह कुत्सित कहलाता है।[3]

सम्यग्दृष्टि का समारोप ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का समारोप या असमारोप अज्ञान। इसका यह अर्थ नहीं होता कि सम्यग्दृष्टि का समारोप भी प्रमाण होता है और मिथ्यादृष्टि का असमारोप भी अप्रमाण।[4] समारोप दोनों का अप्रमाण होगा। असमारोप दोनों का प्रमाण। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के निमित्त क्रमशः दृष्टि-मोह का उदय और विलय है। समारोप का निमित्त है ज्ञानावरण या ज्ञान-मोह।[5] समारोप का निमित्त दृष्टि-मोह माना जाता है, वह उचित प्रतीत नहीं होता। "जहां विषय, साधन आदि का दोष हो वहां वह दोष आत्मा की मोहावस्था ही के कारण अपना कार्य करता है।[6] इस लिए जैन-दृष्टि यही मानती है कि अन्य दोष आत्म-दोष के सहायक होकर ही मिथ्या प्रत्यय के जनक हैं पर उसका मुख्य जनक आत्म-दोष (मोह) ही है।[7]

---

१. भगवती जोड़, ८।२
२. (क) नन्दी, सूत्र
   (ख) भगवती जोड़ ८।२।५५ :
   भाजन लारे जाण रे, ज्ञान अज्ञान कहीजिए।
   समदृष्टि रै ज्ञान रे, अज्ञान अज्ञानी तणो॥
३. लोकप्रकाश (द्रव्यलोक), श्लोक ६९ :
   कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं, कुत्सार्थस्य नञोऽन्वयात्।
   कुत्सितत्वं तु मिथ्यात्वयोगात् तत् त्रिविधं पुनः॥
४. ज्ञानविन्दु ४०।४१
५. इन्द्रियवादी री चौपाई १०।३२, ३६, ३७।
६. न्यायावतारवार्तिक वृत्ति, पृ० १७०
७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २५६ :
   मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु, दृष्टि मोहोदयाद् भवेत्॥
   यथा सरजसालाबूफलस्य कटुकत्वतः।
   क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः, कटुभावस्तथाविधः॥
   तथात्मनोपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते।
   मत्यादिसंविदां ताक्, मिथ्यात्वं कस्यचित् सदा॥

समारोप का निमित्त ज्ञान-मोह हो सकता है किन्तु दृष्टि-मोह नहीं। उसका सम्बन्ध सिर्फ तात्त्विक विप्रतिपत्ति से है।

तीन अज्ञान—मति, श्रुत और विभंग तथा तीन ज्ञान—मति, श्रुत और अवधि ये विपर्यय नहीं हैं। इन दोनों त्रिकों की ज्ञानावरण-विलयजन्य योग्यता में द्विरूपता नहीं है।[1] अन्तर केवल इतना आता है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान संज्ञा दी जाती है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित नहीं होता इसलिए उनकी संज्ञा ज्ञान रहती है। ज्ञान जो अज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्व के साहचर्य का परिणाम है। किन्तु मिथ्यात्वी का ज्ञानमात्र विपरीत होता है अथवा उसका अज्ञान और मिथ्यात्य एक है, ऐसी बात नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र (१—३२, ३३) और उसके भाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य में अज्ञान का हेतु सत्-असत् का अविशेष बतलाया है।[2] इससे भी यह फलित नहीं होता कि मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान मात्र विपरीत है या उसका ज्ञान विपरीत ही होता है, इसलिए उसकी संज्ञा अज्ञान है। सत्-असत् के अविशेष का सम्बन्ध उसकी यदृच्छोपलब्ध या तात्त्विक प्रतिपत्ति से है। मिथ्या-दृष्टि की तत्त्व-श्रद्धा या तत्त्व-उपलब्धि यादृच्छिक या अनालोचित होती है, वहां उसके मिथ्यात्व या उन्माद होता है किन्तु उसके इन्द्रिय और मानस का विषय-बोध मिथ्यात्व या उन्माद नहीं होता। वह मिथ्यात्व से अप्रभावित होता है—केवल ज्ञानावरण के विलय से होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टि में सत्-असत् का विवेक होता ही नहीं, यह एकान्त भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। दृष्टि मोह के उदय से उसकी तात्त्विक प्रतिपत्ति में उन्माद आता है, उससे उसकी दृष्टि या श्रद्धा मिथ्या बनती है, किन्तु उसमें दृष्टि-मोह का विलय भी होता है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं होता, जिसमें दृष्टि-मोह का न्यूनाधिक विलय (क्षयोपशम) न मिले।[3]

मिश्रदृष्टि तत्त्व के प्रति संशयितदशा है और मिथ्यादृष्टि विपरीत संज्ञान। संशयितदशा में अतत्त्व का अभिनिवेश नहीं होता और विपरीत संज्ञान में वह होता है, इसलिए पहली भूमिका का अधिकारी अंशतः सम्यग्-दर्शनी होते हुए भी तीसरी

---

१. अनुयोगद्वार, १२६ :
खओवसमिआ आभिणीवोहियणाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी। खओवसमिआ मइ अण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुय अण्णाणलद्धी खओवसमिआ विभंग अण्णाणलद्धी…।

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११५ :
सदसद् विसेसणाओ, भवहेतु जदिच्छिओवलंभाओ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं॥

३. भगवती, २४।२१

भूमिका के अधिकारी की भांति सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि नहीं कहलाता। मिथ्यादृष्टि के साथ सम्यग्-दर्शन का उल्लेख नहीं होता, यह उसके दृष्टि-विपर्यय की प्रधानता का परिणाम है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें सम्यग्-दर्शन का अंश नहीं होता। सम्यग्-दर्शन का अंश होने पर भी वह सम्यग्दृष्टि इसलिए नहीं कहलाता कि उसके दृष्टि-मोह का अपेक्षित विलय नहीं होता।

वस्तुवृत्त्या तत्त्वों की संप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप नहीं है। सम्यक्त्व दृष्टि मोह-रहित आत्म-परिणाम है और मिथ्यात्व दृष्टि मोह-संवलित आत्म-परिणाम।[1] तत्त्वों का सम्यग् और असम्यग् श्रद्धान उनके फल हैं।[2]

प्रमाता दृष्टि-मोह से बद्ध नहीं होता, तब उसका तत्त्व-श्रद्धान यथार्थ होता है और उससे बद्धदशा में वह यथार्थ नहीं होता। आत्मा के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम तात्त्विक सम्प्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति के द्वारा स्थूलवृत्त्या अनुमेय हैं।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार अज्ञानत्रिक में दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तीन बोध (मति, श्रुत और विभंग) मिथ्यात्व स्वरूप ही होते हैं।[3]

उक्त विवेचन के फलित ये हैं—

१. तात्त्विक-विपर्यय दृष्टि-मोह के उदय का परिणाम है।

२. व्यावहारिक-विपर्यय ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।

प्रमाण-संख्या

प्रमाण की संख्या सब दर्शनों में एक-सी नहीं है।

नास्तिक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं।

वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान।

सांख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम।

नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान।

मीमांसा (प्रभाकर) पांच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति।

---

१. भगवती ८।२ वृत्ति :
मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयक्षयोपशमसमुत्थे आत्मपरिणामे।

२. धर्मप्रकरण, अधिकरण २।
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यम्, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यः शुभआत्म-परिणामविशेषः।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २५६।

मीमांसा (भट्ट, वेदान्त) छह—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

पौराणिक—इनके अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य और प्रातिभ।

जैन दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण-भेद का निमित्त

आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान है। केवलज्ञान—पूर्णज्ञान अथवा एक ज्ञान। बादलों में ढके हुए सूर्य के प्रकाश में जैसे तारतम्य होता है, वैसे ही कर्म-मलावरण से ढकी हुई आत्मा में ज्ञान का तारतम्य होता है। कर्ममल के आवरण और वनावरण के आधार पर ज्ञान के अनेक रूप बनते हैं। प्रश्न यह है कि किस ज्ञान को प्रमाण मानें? इसके उत्तर में जैन-दृष्टि यह है कि जितने प्रकार के ज्ञान (इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान) हैं, वे सब प्रमाण बन सकते हैं। शर्त केवल यही है कि वे यथार्थ से अवच्छिन्न होने चाहिए—ज्ञानसामान्य में खींची हुई यथार्थता की भेद-रेखा का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। फलतः जितने यथार्थ ज्ञान उतने ही प्रमाण। यह एक लम्बा-चौड़ा निर्णय हुआ। बात सही है, फिर भी सबके लिए कठिन है, इसलिए इसे समेटकर दो भागों में बांट दिया। बांटने में एक कठिनाई थी। ज्ञान का स्वरूप एक है, फिर उसे कैसे बांटा जाए? इसका समाधान यह मिला कि विकास-मात्रा (अनावृत दशा) के आधार पर उसे बांटा जाए। ज्ञान के पांच स्थूल भेद हुए—

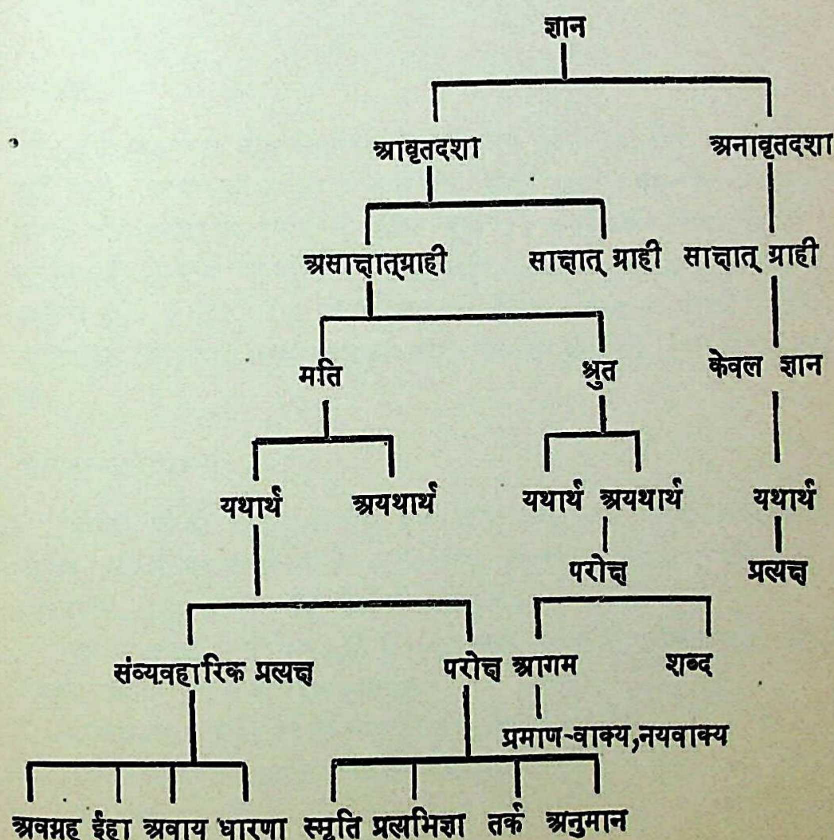
१. मतिज्ञान—इन्द्रिय ज्ञान, मानस ज्ञान २. श्रुतज्ञान—शब्दज्ञान	ऐन्द्रियिक
३. अवधिज्ञान—मूर्त पदार्थ का ज्ञान ४. मनःपर्यवज्ञान—मानसिक भावना का ज्ञान ५. केवलज्ञान–समस्त द्रव्य-पर्याय का ज्ञान, पूर्णज्ञान	अतीन्द्रिय

अब प्रश्न रहा, प्रमाण का विभाग कैसे किया जाय? ज्ञान केवल आत्मा का विकास है। प्रमाण पदार्थ के प्रति ज्ञान का सही व्यापार है। ज्ञान आत्मनिष्ठ है। प्रमाण का सम्बन्ध अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों से है। बहिर्जगत् की यथार्थ घटनाओं को अन्तर्जगत् तक पहुंचाए, यही प्रमाण का जीवन है। बहिर्जगत् के प्रति ज्ञान का व्यापार एक-सा नहीं होता। ज्ञान का विकास प्रबल होता है, तब वह बाह्य साधन की सहायता लिए बिना ही विषय को जान लेता है। विकास कम होता है, तब बाह्य साधन का सहारा लेना पड़ता है। बस यही प्रमाण-भेद का

आधार बनता है।

१. पदार्थ को जो सहाय-निरपेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण है और २. जो सहाय-सापेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह परोक्ष-प्रमाण है। स्वनिर्णय में प्रत्यक्ष ही होता है। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो भेद पदार्थ-निर्णय के दो रूप—साक्षात् और अ-साक्षात् की अपेक्षा से होते हैं।

'प्रत्यक्ष और परोक्ष' प्रमाण की कल्पना जैन न्याय की विशेष सूझ है। इन दो दिशाओं में सब प्रमाण समा जाते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भेद किए जाते हैं किन्तु भेद उतने ही होने चाहिए जितने अपना स्वरूप असंकीर्ण रख सकें। फिर भी जिनमें यथार्थता है, उन्हें प्रमाणभेद मानने में समन्वयवादी जैनों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष का उदर इतना विशाल है कि उसमें प्रमाणभेद समाने में किंचित् भी कठिनाई नहीं होती।



प्रमाण-विभाग

प्रमाण के मुख्य भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—व्यवहार-प्रत्यक्ष और परमार्थ-प्रत्यक्ष। व्यवहार-प्रत्यक्ष के चार विभाग हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। परमार्थ-प्रत्यक्ष के तीन विभाग हैं—केवल, अवधि और मनःपर्यव। परोक्ष के पांच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।

३

प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्ष

"नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम'—प्रत्यक्ष-सिद्ध के लिए युक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती। स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्थान न्यूनाधिक नहीं है। अपने-अपने विषय में दोनों तुल्यबल हैं। सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल में स्वतन्त्र होता है और परोक्ष साधन-परतन्त्र। फलतः प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित (साक्षात्) सम्बन्ध होता है और परोक्ष का व्यवहित (दूसरे के माध्यम से)।

प्रत्यक्ष-परिवार

प्रत्यक्ष की दो प्रधान शाखाएं हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। पहली परामार्थाश्रयी है, इसलिए यह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरी व्यवहाराश्रयी है, इसलिए यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्म-प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—केवलज्ञान—पूर्ण या सकल-प्रत्यक्ष, और नो-केवलज्ञान—अपूर्ण या विकल-प्रत्यक्ष।

नो-केवलज्ञान के दो भेद हैं—अवधि और मनःपर्यव।

इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—

१. अवग्रह
२. ईहा
३. अवाय
४. धारणा

प्रत्यक्ष का लक्षण

आत्म-प्रत्यक्ष—आत्मा—पदाथ।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष—आत्मा—इन्द्रिय—पदार्थ।

आत्म-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय, मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिए बिना आत्मा को पदार्थ का साक्षात् ज्ञान होता है उसे आत्म-प्रत्यक्ष, पारमार्थिक-प्रत्यक्ष या नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष और आत्मा के लिए परोक्ष होता है, इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या संव्यवहार-प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियां धूम आदि लिङ्ग का सहारा लिए बिना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं, इसलिए यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।

आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्षतया अर्थ-परिच्छेदक ज्ञान' को प्रत्यक्ष कहा है।[1] इसमें 'अपरोक्ष' शब्द विशेष महत्त्व का है। नैयायिक 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्ष' शब्द के द्वारा उससे असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होनेवाला ज्ञान आत्मा (प्रमाता) के साक्षात् नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए अर्थ और उसके बीच अव्यवधान होना जरूरी है।

आचार्य सिद्धसेन की इस निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती[2] और स्थानांग की प्रमाण-व्यवस्था है।[3] आचार्य अकलंक की व्याख्या के अनुसार—'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है।'[4] अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' में स्थान देने का एक कारण है। आचार्य अकलंक की प्रमाण-व्यवस्था में व्यवहार-दृष्टि का भी आश्रयण है, जिसका आधार नन्दी की प्रमाण-व्यवस्था है।[5] इसके अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—मुख्य और संव्यवहार। मुख्य-प्रत्यक्ष वही है, जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करे। संव्यवहार प्रत्यक्ष में अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमें 'अपरोक्षतया-अर्थ-ग्रहण' लक्षण नहीं बनता। इसलिए दोनों की संगति करने के लिए 'विशद' शब्द की योजना करनी पड़ी।

---

१. न्यायावतार, ४।
२. भगवती, ४।३।
३. ठाणं, ५।३।
४. प्रमाणप्रवेश, १।३।
५. नंदी, ३।

'विशद' का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा (अनुमान आदि की अपेक्षा न होना) और 'यह है' ऐसा प्रतिभास होना।[1] संव्यवहार-प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है—'यह है' ऐसा प्रतिभास होता है, इसलिए इसकी 'विशुद्धता' निर्बाध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' का वेदान्त के और विशद का बौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, फिर भी उसके विषय-ग्राहक स्वरूप में मौलिक भेद है। वेदान्त के मतानुसार पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है। अन्तःकरण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहते हैं। अन्तःकरण दृश्यमान पदार्थ का आकार धारण करता है। आत्मा अपने शुद्ध साक्षी-चैतन्य से उसे प्रकाशित करता है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[2]

जैन-दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान और ज्ञेय के बीच दूसरी कोई शक्ति नहीं होती। शुद्ध चैतन्य के द्वारा अन्तःकरण को प्रकाशित मानें और अन्तःकरण की पदार्थाकार परिणति मानें, यह प्रक्रिया-गौरव है। आखिर शुद्ध चैतन्य के द्वारा एक को प्रकाशित मानना ही है, तब पदार्थ को ही क्यों न मानें।

बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्विकल्प बोध (दर्शन) निर्णायक नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष तो क्या प्रमाण ही नहीं बनता।

समन्वय का फलित रूप

अपरोक्ष और विशद का समन्वय करने पर सहाय-निरपेक्ष अर्थ फलित होता है। 'अपरोक्ष' यह परिभाषा परोक्ष-लक्षणाश्रित है। 'विशद' यह आकांक्षा-सापेक्ष है। वैशद्य का क्या अर्थ है, इसकी अपेक्षा रहती है। 'सहाय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष' इसमें यह आकांक्षा अपने आप पूरी हो जाती है। जो सहाय निरपेक्ष-आत्म-व्यापार-मात्रापेक्ष होगा, वह विशद भी होगा और अपरोक्ष भी।[3] व्यवहार प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर की और वास्तविक-प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर और पौद्गलिक इन्द्रिय—इन दोनों की सहायता अपेक्षित नहीं होती।

केवलज्ञान

अनावृत अवस्था में आत्मा के एक या अखण्ड ज्ञान होता है, वह केवलज्ञान

---

१. प्रमाणमीमांसा, १।१४।

२. वेदान्त में ज्ञान दो प्रकार का है—साक्षि-ज्ञान और वृत्ति-ज्ञान। अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान 'साक्षि-ज्ञान' और साक्षि-चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति को 'वृत्ति-ज्ञान' कहा जाता है।

३. जैनतर्कभाषा, पृ० १००।

है। जैन-दृष्टि में आत्मा ज्ञान का अधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कहा जाता है—चेतन आत्मा का जो निरावरण-स्वरूप है, वही केवल-ज्ञान है। वास्तव में 'केवल' व्यतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। बाकी के सब ज्ञान इसी की आवरण-दशा के तारतम्य से बनते हैं। जयाचार्य ने ज्ञान के भेद-अभेद की मीमांसा करते हुए समझाया है—"माना कि एक चांदी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारों पर से धूल हटने लगी। एक कोना दीखा, हमने एक चीज़ मान ली। दूसरा दीखा तब दो, इसी प्रकार तीसरे और चौथे कोने के दीखने पर चार चीजें मान लीं। बीच में से धूल नहीं हटी, इसलिए उन चारों की एकता का हमें पता नहीं लगा। ज्यों ही बीच की धूल हटी, चौकी सामने आयी। हमने देखा कि वे चारों चीजें उसी एक में समा गई हैं। ठीक वैसे ही केवलज्ञान ढंका रहता है तब तक उसके अल्प-विकसित छोरों को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। आवरण-विलय (घातिकर्म चतुष्टय का क्षय) होने पर जब केवलज्ञान प्रकट होता है, तब ज्ञान के छोटे-छोटे सब भेद उसमें विलीन हो जाते हैं। फिर आत्मा में सब द्रव्य और द्रव्यगत सब परिवर्तनों को साक्षात् करनेवाला एक ही ज्ञान रहता है, वह है केवलज्ञान। त्रिकालवर्ती प्रमेय इसके विषय बनते हैं, इसलिए यह पूर्ण-प्रत्यक्ष कहलाता है। इसकी आवृत दशा में अवधि और मन:पर्यव अपूर्ण (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन का ज्ञान अल्प-विकसित होता है, इसलिए पदार्थ के ज्ञान में उनका एक निश्चित क्रम रहता है। हमें उनके द्वारा पहले-पहल वस्तु मात्र—सामान्य रूप या एकता का बोध होता है। उसके बाद क्रमश: वस्तु की विशेष अवस्थाएं या अनेकता जानी जाती हैं। एकता का बोध सुलभ और अल्पसमय-लभ्य होता है। उस दशा में अनेकता का बोध यत्नसाध्य और दीर्घकाललभ्य होता है। उदाहरणस्वरूप—गांव है, वन है, सभा है, पुस्तकालय है, घड़ा है, कपड़ा है—यह बोध हज़ार घर हैं, सौ वृक्ष हैं, चार सौ आदमी हैं, दस हज़ार पुस्तकें हैं, अमुक-परिमाण मृत् कण हैं, अमुक परिमाण तन्तु हैं—से पहले और सहज-सरल होता है। 'आम एक वृक्ष है'—इससे पहले वृक्षत्व का बोध होना आवश्यक है। आम पहले वृक्ष है और बाद में आम।

विशेष का बोध सामान्यपूर्वक होता है। सामान्य व्यापक होता है और विशेष व्याप्य। धर्मी अनेक धर्मों का, अवयवी अनेक अवयवों का, समष्टि अनेक व्यक्तियों का पिण्ड होता है।

एकता का रूप स्थूल और स्पष्ट होता है, इसलिए हमारा स्थूल ज्ञान पहले उसी को पकड़ता है। अनेकता का रूप सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, इसलिए उसे जानने के लिए विशेष मनोयोग लगाना पड़ता है। फिर क्रमश: पदार्थ के विविध

पहलुओं का निश्चय होता है। निश्चय की तीन सीमाएं हैं—

१. दृश्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय—अर्थमात्र-ग्रहण।

२. आलोचनात्मक निश्चय—स्वरूप-विमर्श।

३. अपायात्मक निश्चय—स्वरूप-निर्णय।

इनकी पृष्ठभूमि में दो बातें अपेक्षित हैं—

१. इन्द्रियों और पदार्थ का उचित स्थान में योग (सन्निकर्ष या सामीप्य)।

२. दर्शन—निर्विकल्प-बोध, सामान्य मात्र (सत्तामात्र) का ग्रहण।

पूरा क्रम यों बनता है—

१. इन्द्रिय और अर्थ का उचित योग—शब्द और श्रोत्र का सन्निकर्ष।

२. निर्विकल्प बोध द्वारा सत्ता मात्र का ज्ञान। जैसे—'है'।

३. ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—'यह वस्तु है'।

४. आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द होना चाहिए'।

५. अपायात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द ही है'। यहां निश्चय की पूर्णता होती है।

६. निश्चय की धारणा। जैसे—'तद्रूप शब्द ही होता है'। यहां व्यवहार प्रत्यक्ष समाप्त हो जाता है।

अवग्रह

अवग्रह का अर्थ है—पहला ज्ञान। इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध होते ही 'सत्ता है' का बोध जाग उठता है। प्रमाता इसे जान नहीं पाता। इसमें विशेष धर्म का बोध नहीं होता, इसलिए प्रमाण नहीं कहा जा सकता। फिर भी वह उत्तर-भावी-अवग्रह प्रमाण का परिणामी कारण है। इसके बाद स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यंजन-अवग्रह होता है। 'व्यंजन' के तीन अर्थ हैं—

१. शब्द आदि पुद्गल द्रव्य।

२. उपकरण इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय।

३. विषय और उपकरण इन्द्रिय का संयोग।

व्यंजन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है।[1] प्रमाता अब भी नहीं जानता। इसके बाद होता है—अर्थ का अवग्रह।

अर्थ शब्द के दो अर्थ होते हैं—द्रव्य (सामान्य) और पर्याय (विशेष)। अवग्रह आदि पर्याय के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं, पूर्ण द्रव्य को नहीं जान सकते। इन्द्रियां अपने-अपने विषयभूत वस्तु-पर्यायों को जानती हैं और मन भी

---

१. स्थानांगवृत्ति पत्र ४७ :
व्यंजनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात्तु नोपलभ्यते सुप्ताव्यक्तविज्ञानवत्।

एक साथ नियत अंश का ही विचार करता है।

अर्थावग्रह व्यंजना से कुछ व्यक्त होता है, जैसे—'यह कुछ है'...यह सामान्य अर्थ का ज्ञान है। सामान्य का निर्देश हो सकता है (कहा जा सकता है) जैसे—वन, सेना, नगर आदि-आदि। अर्थावग्रह का विषय अनिर्देश्य-सामान्य होता है—किसी भी शब्द के द्वारा कहा नहीं जा सके, वैसा होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थावग्रह के द्वारा अर्थ के अनिर्देश्य सामान्यरूप का ज्ञान होता है। दर्शन के द्वारा 'सत्ता है' का बोध होता है। अर्थावग्रह के द्वारा 'वस्तु है' का ज्ञान होता है। सत्ता से यह ज्ञान सिर्फ इतना-सा आगे बढ़ता है। इसमें अर्थ के स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य आदि की कल्पना के अन्तर्गत शाब्दिक प्रतीति नहीं होती।[1] अर्थावग्रह से ज्ञात अर्थ का स्वरूप क्या है, नाम क्या है, वह किस जाति का है, उसकी क्रिया क्या है, गुण क्या है, कौन-सा द्रव्य है, यह नहीं जाने जाते। इन्हें जाने विना (स्वरूप आदि की कल्पना के बिना) अर्थ-सामान्य का निर्देश भी नहीं किया जा सकता। उक्त स्वरूप के आधार पर इसकी यह परिभाषा बनती है—"अनिर्देश्य सामान्य अर्थ को जाननेवाला ज्ञान अर्थावग्रह होता है।"

प्रश्न हो सकता है कि अनध्यवसाय और अर्थावग्रह—दोनों सामान्यग्राही हैं तब एक को अप्रमाण और दूसरे को प्रमाण क्यों माना जाए ? उत्तर स्पष्ट है। अनध्यवसाय अर्थावग्रह का ही आभास है। अर्थावग्रह के दो रूप बनते हैं—निर्णयोन्मुख और अनिर्णयोन्मुख। अर्थावग्रह निर्णयोन्मुख होता है, तब प्रमाण होता है और जब वह निर्णयोन्मुख नहीं होता, अनिर्णय में ही रुक जाता है, तब वह अनध्यवसाय कहलाता है। इसीलिए अनध्यवसाय का अवग्रह में समावेश होता है।[2]

ईहा

अवग्रह के बाद संशय ज्ञान होता है। 'यह क्या है—शब्द है अथवा स्पर्श ?' इसके अनन्तर ही जो सत्-अर्थ का साधक वितर्क उठता है—'यह श्रोत्र का विषय है, इसलिए 'शब्द होना चाहिए', इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करनेवाले ज्ञान-क्रम का नाम 'ईहा' है।

---

१. १. स्वरूप—रसना के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह 'रस' होता है।
   २. नाम—रूप, रस आदि वाचक शब्द।
   ३. जाति—रूपत्व, रसत्व आदि जाति।
   ४. क्रिया—सुखकर, हितकर आदि क्रिया।
   ५. गुण—कोमल, कठोर आदि गुण।
   ६. द्रव्य—पृथ्वी, पानी आदि द्रव्य।

२. विशेषावश्यकभाष्य, वृत्ति, पृ० ३१७ :
   अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

इसकी विमर्श-पद्धति अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होती है। ज्ञात वस्तु के प्रतिकूल तथ्यों का निरसन और अनुकूल तथ्यों का संकलन कर यह उसके स्वरूप-निर्णय की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

ईहा से पहले संशय होता है पर वे दोनों एक नहीं हैं। संशय कोरा विकल्प खड़ा कर देता है, किन्तु समाधान नहीं करता। ईहा संशय के द्वारा खड़े किये हुए विकल्पों को पृथक् करती है। संशय समाधायक नहीं होता, इसीलिए उसे ज्ञान-क्रम में नहीं रखा जाता। अवग्रह में अर्थ के सामान्य रूप का ग्रहण होता है और ईहा में उसके विशेष धर्मों (स्वरूप, नाम, जाति आदि) का पर्यालोचन शुरू हो जाता है।

अवाय

ईहा के द्वारा ज्ञात सत्-अर्थ का निर्णय होता है, जैसे—'यह शब्द ही है, स्पर्श नहीं है'—उसका नाम 'अवाय' है। यह ईहा के पर्यालोचन का समर्थन ही नहीं करता, किन्तु उसका विशेष अवधानपूर्वक निर्णय भी कर डालता है।

धारणा

अवाय द्वारा किया गया निर्णय कुछ समय के लिए टिकता है और मन के विषयान्तरित होते ही वह चला जाता है। पीछे अपना संस्कार छोड़ जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

धारणाकाल में जो सतत उपयोग चलता है, उसे अविच्युति कहा जाता है। उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष से उद्‌बुद्ध होकर स्मृति का कारण बनती है। वासना स्वयं ज्ञान नहीं है किन्तु अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानों को जोड़नेवाली कड़ी के रूप में ज्ञान मानी जाती है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष की परम्परा यहां पूरी हो जाती है। इसके बाद स्मृति आदि की परोक्ष परम्परा शुरू होती है।

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान करानेवाला होता है। इसकी चर्चा ऊपर की गई है। व्यावहारिक अवग्रह विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने-वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के बाद होनेवाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मों की मीमांसा हो चुकती है, उसी वस्तु के नये-नये धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का काम है। अवाय के द्वारा एक तथ्य का निश्चय होने पर फिर तत्सम्बन्धी दूसरे तथ्य की जिज्ञासा होती है, तब पहले का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह बन जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए फिर ईहा और अवाय होते हैं। यह काम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासाएं पूरी नहीं होतीं।

नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा—'यह शब्द ही है'—यहां समाप्त हो जाती है। इसके बाद व्यावहारिक-अवग्रह की धारा चलती है। जैसे—

१. व्यावहारिक-अवग्रह—यह शब्द है।

(संशय—पशु का है या मनुष्य का ?

२. ईहा—स्पष्ट भाषात्मक है, इसलिए मनुष्य का होना चाहिए।

३. अवाय—(विशेष परीक्षा के पश्चात्) मनुष्य का ही है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के उक्त आकार में—'यह शब्द है', यह अपायात्मक निश्चय है। इसका फलित यह होता है कि नैश्चयिक अवग्रह का अपाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि-रूप बनता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएं हो सकती हैं। जैसे—

अवस्था-भेद से—यह शब्द बालक का है या बूढ़े का ?

लिंग-भेद से—स्त्री का है या पुरुष का ? आदि-आदि।

व्यवहार-प्रत्यक्ष का क्रमविभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम। अर्थ-ग्रहण के बाद ही विचार हो सकता है, विचार के बाद ही निश्चय और निश्चय के बाद ही धारणा। इसलिए ईहा अवग्रहपूर्वक होती है, अवाय ईहापूर्वक और धारणा अवायपूर्वक।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के ये विभाग निर्हेतुक नहीं हैं। यद्यपि ये एक-वस्तु-विषयक ज्ञान की धारा के अविरल रूप हैं, फिर भी उनकी अपनी विशेष स्थितियां हैं, जो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करती हैं।

१. 'यह कुछ है'—इतना-सा ज्ञान होते ही प्रमाता दूसरी बात में ध्यान देने लगा, बस वह फिर आगे नहीं बढ़ता। इसी प्रकार 'यह अमुक होना चाहिए'—यह अमुक ही है'—यह भी एक-एक हो सकते हैं। यह एक स्थिति है जिसे 'असामस्त्येन उत्पत्ति' कहा जाता है।

२. दूसरी स्थिति है—'क्रमभावित्व'—धारा-निरोध। इनकी धारा अन्त तक चले, यह कोई नियम नहीं किन्तु जब चलती है तब क्रम का उल्लंघन नहीं होता। 'यह कुछ है' इसके बिना 'यह अमुक होना चाहिए'—यह ज्ञान नही होता। 'यह अमुक होना चाहिए'—इसके बिना 'यह अमुक ही है' यह नहीं जाना जाता। 'यह अमुक ही है'—इसके बिना धारणा नहीं होती।

३. तीसरी स्थिति है—'क्रमिक प्रकाश'। ये एक ही वस्तु के नये-नये पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इससे एक बात और भी स्पष्ट होती है कि अपने-अपने विषय में इन सबकी निर्णायकता है, इसलिए ये सब प्रमाण हैं। अवाय स्वतन्त्र निर्णय नहीं करता। ईहा के द्वारा ज्ञात अंश की अपेक्षा से ही उस पर विशेष प्रकाश

डालता है।

अपरिचित वस्तु के ज्ञान में इस क्रम का सहज अनुभव होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं, हम एक-एक तथ्य का संकलन करते-करते अन्तिम तथ्य तक पहुंचते हैं। परिचित वस्तु को जानते समय हमें इस क्रम का स्पष्ट भान नहीं होता। इसका कारण है—'ज्ञान का आशु उत्पाद'—शीघ्र उत्पत्ति। वहां भी यह क्रम नहीं टूटता। क्षणभर में विजली-घर से सुदूर तक विजली पहुंच जाती है। वह एक साथ नहीं जाती। गति में क्रम होता है, किन्तु गति का वेग अति तीव्र होता है, इसलिए वह सहज बुद्धिगम्य नहीं होता।

संशय, ईहा और अवाय का क्रम गौतमोक्त सोलह पदार्थगत संशय[1], तर्क[2] और निर्णय के साथ तुलनीय है।[3]

ईहा और तर्क का भेद

परोक्ष प्रमाणगत तर्क से ईहा भिन्न है। तर्क से व्याप्ति (अन्वय-व्यतिरेक का त्रैकालिक नियम) का निर्णय होता है और ईहा से केवल वर्तमान अर्थ का अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक विमर्श होता है।[4]

न्याय के अनुसार अविज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा होती है। जिज्ञासा के बाद संशय उत्पन्न होता है। संशयावस्था में जिस पक्ष की ओर कारण की उत्पत्ति देखने में आती है, उसी की सम्भावना मानी जाती है और वही सम्भावना तर्क है। 'संशयावस्था में तर्क का प्रयोजन होता है'—यह लक्षण ईहा के साथ संगति कराने वाला है।

प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

साधारणतया पांच इन्द्रियां समकक्ष मानी जाती हैं किन्तु योग्यता की दृष्टि से चक्षु का स्थान कुछ विशेष है। शेष चार इन्द्रियां अपना विषय ग्रहण करने में पटु हैं। इस दशा में चक्षु पटुतर है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ग्राह्य वस्तु से संपृक्त होने पर उसे जानते हैं, इसलिए वे पटु हैं। चक्षु ग्राह्य वस्तु को उचित सामीप्य से ही जान लेता है, इसलिए यह पटुतर है। पटु इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, इसलिए उनका व्यंजनावग्रह होता है। चक्षु प्राप्यकारी नहीं, इसलिए उसका व्यंजनावग्रह नहीं होता।

१. न्यायसूत्र, १।१।२३।
२. वही, १।१।४०।
३. वही, १।१।४१।
४. जैन तर्कभाषा :
त्रिकालगोचरस्तर्क, ईहा तु वार्तमानिकार्थविषया।

व्यंजनावग्रह सम्पर्कपूर्वक होनेवाला अव्यक्त ज्ञान है। अर्थावग्रह उसी का चरम अंश है। पटु इन्द्रियां एक साथ विषय को पकड़ नहीं सकतीं। व्यंजनावग्रह के द्वारा अव्यक्त ज्ञान होते-होते जब वह पुष्ट हो जाता है, तब उसको अर्थ का अवग्रह होता है। चक्षु अपना विषय तत्काल पकड़ लेता है, इसलिए उसे पूर्वभावी अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

मन की भी यही बात है। वह चक्षु की भांति व्यवहित पदार्थ को जान लेता है, इसलिए उसे भी व्यंजनावग्रह की अपेक्षा नहीं होती।

बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नहीं मानते। उक्त दोनों दृष्टियों से जैन-दृष्टि भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रोत्र से संपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है। इसलिए श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, इसलिए वे प्राप्यकारी नहीं हो सकते। इनका ग्राह्य वस्तु के साथ सम्पर्क नहीं होता।

विज्ञान के अनुसार—

···चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिविम्ब पड़ता है। उससे चक्षु को अपने विषय का ज्ञान होता है। नैयायिकों की प्राप्यकारिता का आधार है चक्षु की सूक्ष्म-रश्मियों का पदार्थ से संपृक्त होना। विज्ञान इसे स्वीकार नहीं करता। वह आंख को एक बढ़िया कैमरा मानता है। उसमें दूरस्थ वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। जैन दृष्टि की अप्राप्यकारिता में इससे कोई बाधा नहीं आती। कारण कि विज्ञान के अनुसार चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। कांच स्वच्छ होता है, इसलिए उसके सामने जो वस्तु आती है, उसकी छाया कांच में प्रतिबिम्बित हो जाती है। ठीक यही प्रक्रिया आंख के सामने कोई वस्तु आने पर होती है। कांच में पड़नेवाला वस्तु का प्रतिबिम्ब और वस्तु एक नहीं होते, इसलिए कांच उस वस्तु से संपृक्त नहीं कहलाता। ठीक यही बात आंख के लिए है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के २८ भेद—

	अवग्रह		ईहा	अवाय	धारणा
स्पर्शन	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
घ्राण	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
चक्षु	×	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
श्रोत्र	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
मन	×	अर्थावग्रह	इहा	अवाय	धारणा

अवग्रह आदि का कालमान

व्यंजनावग्रह—असंख्य समय।
अर्थावग्रह—एक समय।
ईहा—अन्तर्-मुहूर्त।
अवाय—अन्तर्-मुहूर्त।
धारणा—संख्येय काल और असंख्येय काल।

मति के दो भेद हैं—श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित।[1] श्रुत-निश्रित मति के २८ भेद हैं, जो व्यवहार-प्रत्यक्ष कहलाते हैं।[2] औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय अश्रुत-निश्रित हैं।[3] नन्दी में श्रुत-निश्रित मति के २८ भेदों का विवरण है। अश्रुत-निश्रित के चार भेदों का इनमें समावेश होता है या नहीं इसकी कोई चर्चा नहीं। मति के २८ भेद वाली परम्परा सर्वमान्य है किन्तु २८ भेदों की स्वरूप-रचना में दो परम्पराएं मिलती हैं। एक परम्परा अवग्रह-अभेदवादियों की है। इसमें व्यंजनावग्रह की अर्थावग्रह से भिन्न गणना नहीं होती, इसलिए श्रुत-निश्रित मति के २४ भेद और अश्रुत-निश्रित के चार—इस प्रकार मति के २८ भेद बनते हैं।[4]

दूसरी परम्परा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की है। इसके अनुसार अवग्रह आदि चतुष्टय अश्रुत-निश्रित और श्रुत-निश्रित मति के सामान्य धर्म हैं, इसलिए भेद-गणना में अश्रुत-निश्रित मति श्रुत-निश्रित में समाहित हो जाती है।[5] फलस्वरूप व्यवहार प्रत्यक्ष के २८ भेद और मति के २८ भेद एक-रूप बन जाते हैं। इसका आधार स्थानांग है। वहां व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह की श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित—इन दोनों भेदों में गणना की है। अश्रुत-निश्रित बुद्धि-चतुष्टय मानस ज्ञान होता है। उसका व्यंजनावग्रह नहीं होता, इससे फलित होता है कि बुद्धि-चतुष्टय के अतिरिक्त भी अवग्रह आदि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

---

१. नंदी, सूत्र ३७।
२. वही, सूत्र ३९-४८।
३. वही, सूत्र ३८।
४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा, ३०१, ३०२ :

केई त्तु वंजणोग्गहवज्जेच्छोढूण मेयम्मि॥
अस्सुय निस्सियमेवं अट्ठावीस विहं ति भासंति।
जमवग्गहो दुभेओऽवग्गह सामण्णओ गहिओ॥

५. वही, गाथा ३०३।

नंदी के अनुसार अवग्रहादि चतुष्क केवल श्रुत-निश्रित है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार वह श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित दोनों है। स्थानांग के अनुसार वह दोनों तो है ही, विशेष बात यह है कि बुद्धि-चतुष्टय में होनेवाला अवग्रहादि चतुष्क ही अश्रुत-निश्रित नहीं किन्तु उसके अतिरिक्त भी अवग्रहादि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

४

परोक्ष-प्रमाण

परोक्ष

१. इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह 'आत्म-परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय ज्ञान—पौद्गलिक-इन्द्रिय—पदार्थ।

२. धूम आदि की सहायता से अग्नि आदि का जो ज्ञान होता है, वह 'इन्द्रिय-परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय—धूम—अग्नि।

पहली परिभाषा नैश्चयिक है। इसके अनुसार संव्यवहार-प्रत्यक्ष को वस्तुतः परोक्ष माना जाता है।

मति और श्रुत—ये दोनों ज्ञान आत्म-निर्भर नहीं हैं, इसलिए ये परोक्ष कहलाते हैं। मति साक्षात्-रूप में पौद्गलिक-इन्द्रिय और मन के और परम्परा के रूप में अर्थ और आलोक के अधीन होती है। श्रुत साक्षात्-रूप में मन के और परम्परा के रूप में शब्द-संकेत तथा इन्द्रिय (मति-ज्ञानांश) के अधीन होता है। मति में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा समकक्ष है, श्रुत में मन का स्थान पहला है।

मति के दो साधन हैं—इन्द्रिय और मन। मन द्विविध-धर्मा है—अवग्रह आदि धर्मवान् और स्मृत्यादि धर्मवान्। इस स्थिति में मति दो भागों में बंट जाती है—व्यवहार-प्रत्यक्ष मति और परोक्ष मति। इन्द्रियात्मक और अवग्रहादि धर्मक मनरूप मति व्यवहार-प्रत्यक्ष है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष-विभाग में बतलाया जा चुका है।

स्मृत्यादि धर्मक मन रूप परोक्ष-मति के चार विभाग होते हैं—

१. स्मृति।
२. प्रत्यभिज्ञा।
३. तर्क।
४. अनुमान।

स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभवमूलक, तर्क प्रत्यभिज्ञा-मूलक, अनुमान तर्क निर्णीत साधनमूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। श्रुत का साधन मन होता है। उसका एक भेद है—'आगम'। वह वचनमूलक होता है, इसलिए परोक्ष है।

स्मृति प्रामाण्य

जैन तर्क-पद्धति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राच्य भारतीय तर्क-पद्धति में स्मृति का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय को ग्रहण करती है, इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण वह अप्रमाण है—स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। जैन दर्शन की युक्ति यह है कि अनुभव वर्तमान अर्थ को ग्रहण करता है और स्मृति अतीत अर्थ को, इसलिए यह कथंचित् अगृहीतग्राही है। काल की दृष्टि से इसका विषय स्वतन्त्र है। दूसरी बात—गृहीतग्राही होने मात्र से स्मृति का प्रामाण्य धुल नहीं जाता।

प्रामाण्य का प्रयोजक अविसंवाद होता है, इसलिए अविसंवादक स्मृति का प्रामाण्य अवश्य होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष से पृथक् नहीं मानते। क्षणिकवादी बौद्ध की दृष्टि में प्रत्यक्ष और स्मृति की संकलना हो भी कैसे सकती है?

जैन-दृष्टि के अनुसार यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष का विषय होता है—दृश्य-वस्तु, वर्तमान-पर्यायव्यापी द्रव्य। प्रत्यभिज्ञा का विषय बनता है—संकलन—अतीत और प्रत्यक्ष की एकता, पूर्व और अपर पर्यायव्यापी द्रव्य, अथवा दो प्रत्यक्ष द्रव्यों या दो परोक्ष द्रव्यों का संकलन। हमारा प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति त्रिकालविषयक नहीं होता, इसलिए उससे सामने खड़ा व्यक्ति जाना जा सकता है किन्तु 'यह वही व्यक्ति है'—यह नहीं जाना जा सकता। उसकी एकता का बोध स्मृति के मेल से होता है, इसलिए यह अस्पष्ट-परोक्ष है। प्रत्यक्ष और तर्क के मेल से होनेवाला अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण है, तब फिर प्रत्यक्ष

और स्मृति के मेल से होनेवाली प्रत्यभिज्ञा का स्वतन्त्र स्थान क्यों नहीं होना चाहिए ?

प्रत्यक्ष-द्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने होती हैं, फिर भी उनका संकलन इन्द्रिय से नहीं होता, विचारने से होता है। विचार के समय उनमें से एक ही वस्तु मन के प्रत्यक्ष होती है, इसलिए यह भी प्रत्यक्ष नहीं होता। परोक्ष-द्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने नहीं होतीं, इसलिए वह प्रत्यक्ष का स्पर्श नहीं करता।

प्रत्यभिज्ञान को दूसरे शब्दों में तुलनात्मक ज्ञान, उपमित करना या पहचानना भी कहा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञान में दो अर्थों का संकलन होता है। उसके तीन रूप बनते हैं—

१. प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन—

(क) यह वही निर्ग्रन्थ है।
(ख) यह उसके सदृश है।
(ग) यह उससे विलक्षण है।
(घ) यह उससे छोटा है।

पहले आकार में—निर्ग्रन्थ की वर्तमान अवस्था का अतीत की अवस्था के साथ संकलन है, इसलिए यह 'एकत्व प्रत्यभिज्ञा' है।

दूसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से तुलना है। इसलिए यह 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञा' है।

तीसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से विलक्षणता है, इसलिए यह 'वैसदृश्य-प्रत्यभिज्ञा' है।

चौथे आकार में—दृष्ट वस्तु पूर्व दृष्ट वस्तु की प्रतियोगी है, इसलिए यह 'प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा' है।

२. दो प्रत्यक्षों का संकलन—

(क) यह इसके सदृश है।
(ख) यह इससे विलक्षण है।
(ग) यह इससे छोटा है।

इसमें दोनों प्रत्यक्ष हैं।

३. दो स्मृतियों का संकलन —

(क) वह उसके सदृश है।
(ख) वह उससे विलक्षण है।
(ग) वह उससे छोटा है।

इसमें दोनों परोक्ष हैं।

तर्क

नैयायिक तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक या सहायक मानते हैं।[1] बौद्ध इसे अप्रमाण मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार यह परोक्ष प्रमाण का एक भेद है। यह प्रत्यक्ष में नहीं समाता। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह उनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाता।

यह अग्नि है, यह धुंआं है—यह प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु—

१. धूम होने पर अग्नि अवश्य होती है। २. धूम अग्नि में ही होता है।	अन्वय-व्याप्ति
३. अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता।	व्यतिरेक-व्याप्ति

—यह प्रत्यक्ष का काम नहीं, तर्क का है।

हम प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की सहायता से अनेक प्रामाणिक नियमों की सृष्टि करते हैं। वे ही नियम हमें अनुमान करने का साहस बंधाते हैं। तर्क को प्रमाण माने बिना अनुमान की प्रामाणिकता अपने आप मिट जाती है। तर्क और अनुमान की नींव एक है। भेद सिर्फ ऊपरी है। तर्क एक व्यापक नियम है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग। तर्क का काम है, धुएं के साथ अग्नि का निश्चित सम्बन्ध बताना। अनुमान का काम है, उस नियम के सहारे अमुक स्थान में अग्नि का ज्ञान कराना। तर्क से धुएं के साथ अग्नि की व्याप्ति जानी जाती है। किन्तु इस पर्वत में 'अग्नि है'—यह नहीं जाना जाता। 'इस पर्वत में अग्नि है'—यह अनुमान का साध्य है। तर्क का साध्य केवल अग्नि (धर्म) होता है। अनुमान का साध्य होता है—'अग्निमान् पर्वत' (धर्मी)। दूसरे शब्दों में तर्क के साध्य का आधार अनुमान का साध्य बनता है।

न्याय की तीन परिधियां हैं—

१. सम्भव-सत्य।
२. अनुमानित-सत्य।
३. ध्रुव-सत्य।

---

१. तर्कभाषा :
तथा हि पर्वतोयं साग्निः उतानग्निः, इति संदेहानन्तरं यदि कश्चिन् मन्यते—अग्निरिति तदा तं प्रति यंद्ययमनग्निरभविष्यत्तर्हि धूमवन्नाभविष्यत् इत्यवह्निमत्त्वेनाधूमवत्त्वप्रसज्जनं क्रियते। स चानिष्टं प्रसंगः तर्क उच्यते। एवं प्रवृत्तः तर्कः अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् अनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति…।

अकुशल व्यक्ति सम्भव-सत्य से सत्य ढूंढता है। न्यायाधीश अनुमानित-सत्य से सत्य का पता लगाते हैं। दार्शनिक का न्याय इन दोनों से भिन्न है। वह ध्रुव-सत्य—व्याप्ति के द्वारा सत्य की शोध करता है। ध्रुव-सत्य नियमों की निश्चित जानकारी तर्क है। उसके द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार अनुमान होता है।

तर्क का प्रयोजकत्व

'स्वभावे तार्किका भग्नाः'—स्वभाव के क्षेत्र में तर्क का कोई प्रयोजन नहीं होता। इसीलिए जैन-दर्शन में दो प्रकार के पदार्थ माने जाते हैं—हेतुगम्य (तर्क-गम्य) और अहेतुगम्य (तर्क-अगम्य)।

पहली बात—तर्क का अपना क्षेत्र कार्य-कारणवाद या अविनाभाव या व्याप्ति है। व्याप्ति का निश्चय तर्क के बिना और किसी से नहीं होता। इसका निश्चय अनुमान से किया जाए तो उसकी (व्याप्ति के निश्चय के लिए प्रयुक्त अनुमान की) व्याप्ति के निश्चय के लिए फिर एक दूसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति का स्मरण होने पर ही होता है। साधन और साध्य के सम्बन्ध का निश्चय होने पर ही साध्य का ज्ञान होता है।

पहले अनुमान की व्याप्ति 'ठीक है या नहीं' इस निश्चय के लिए दूसरा अनुमान आये तो दूसरे अनुमान की वही गति होगी और उसकी व्याप्ति का निर्णय करने के लिए फिर तीसरा अनुमान आयेगा। इस प्रकार अनुमान-परम्परा का अन्त नहीं होगा। यह अनवस्था का रास्ता है। इससे कोई निर्णय नहीं मिलता।

दूसरी बात—व्याप्ति अपने निश्चय के लिए अनुमान का सहारा ले और अनुमान व्याप्ति का—यह अन्योन्याश्रय दोष है। अपने-अपने निश्चय में परस्पर एक-दूसरे के आश्रित होने का अर्थ है—अनिश्चय। जिसका यह घोड़ा है, मैं उसका सेवक हूं और जिसका मैं सेवक हूं उसका यह घोड़ा है—इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ भी समझ में नहीं आया। इसलिए व्याप्ति का निश्चय करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

अनुमान

अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है। पर्वत सिद्ध होता है और अग्नि भी। अनुमान इन्हें नहीं साधता। वह 'इस पर्वत में अग्नि है' (अग्निमानयं पर्वतः) इसे साधता है। इस सिद्धि का आधार व्याप्ति है।

अनुमान का परिवार

तर्कशास्त्र के बीज का विकास अनुमानरूपी कल्पतरु के रूप में होता है।

कई नैयायिक आचार्य पंचवाक्यात्मक प्रयोग को ही न्याय मानते हैं।[1] निगमन फल-प्राप्ति है। वह समस्त प्रमाणों के व्यापार से होती है।[2] प्रतिज्ञा में शब्द, हेतु में अनुमान, दृष्टान्त में प्रत्यक्ष, उपनय में उपमान—इस प्रकार सभी प्रमाण आ जाते हैं। इन सबके योग से फलितार्थ निकलता है—ऐसा न्यायवार्तिककार का मत है। व्यवहार-दृष्टि से जैन-दृष्टि भी इससे सहमत है। यद्यपि पंचावयव में प्रमाण का समावेश करना आवश्यक नहीं लगता, फिर भी तर्कशास्त्र का मुख्य विषय साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि है, इसमें द्वैत नहीं हो सकता।

अनुमान अपने लिए स्वार्थ होता है, वैसे दूसरों के लिए परार्थ भी होता है। 'स्वार्थ' ज्ञानात्मक होता है और 'परार्थ' वचनात्मक। 'स्वार्थ' की दो शाखाएं होती हैं—पक्ष और हेतु। 'परार्थ' की जहां श्रोता तीव्र बुद्धि होता है वहां सिर्फ ये दो शाखाएं हैं और जहां मंद बुद्धि होता है वहां पांच शाखाएं होती हैं—

१. पक्ष।
२. हेतु।
३. दृष्टान्त।
४. उपनय।
५. निगमन।

स्वार्थ और परार्थ

अनुमान वास्तव में 'स्वार्थ' ही होता है। अनुमाता श्रोता को वचनात्मक हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान कराता है, तब वह वचन श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। वचन-प्रतिपादक के अनुमान का कार्य और श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। प्रतिपादक के अनुमान की अपेक्षा कार्य को कारण मानकर (कारण में कार्य का उपचार कर) और श्रोता के अनुमान की अपेक्षा कारण को कार्य मानकर (कार्य में कारण का उपचार कर) वचन को अनुमान कहा जाता है।

व्याप्ति

व्याप्ति के दो भेद हैं—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा है—यह पक्ष है। 'चैतन्यगुण मिलता है, इसलिए वह है'—यह साधन है।

---

१. वात्स्यायनभाष्य :
सपञ्चावयवोपेतवाक्यात्मकोन्यायः।
२ न्यायवार्तिक :
समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः।

इसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है—'जहां-जहां चैतन्य है, वहां-वहां आत्मा है'। किन्तु इसके लिए दृष्टान्त कोई नहीं बन सकता; क्योंकि यह व्याप्ति अपने विषय को अपने आप में समेट लेती है। उसका समानधर्मा कोई शेष नहीं रहता।

बहिर्व्याप्ति में साधर्म्य मिलता है। पक्षीकृत विषय के सिवाय भी साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिलती है। 'पर्वत अग्निमान् है'—यह पक्ष है। धूम है, इसलिए वह अग्निमान् है—यह साधन है। इसकी व्याप्ति इस प्रकार बनती है—'जहां-जहां धूम है, वहां-वहां अग्नि है।' इसका दृष्टान्त बन सकता है, जैसे—रसोईघर या अन्य अग्निमान् प्रदेश।

हेतु : भाव और अभाव

अभाव चार होते हैं[1]—

१. प्राक्।

२. प्रध्वंस।

३. इतरेतर।

४. अत्यन्त।

भाव जैसे वस्तु स्वरूप का साधक है, वैसे अभाव भी। भाव के बिना वस्तु की सत्ता नहीं बनती तो अभाव के बिना भी उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं बनती।

'है' यह जैसे वस्तु का स्वभाव है वैसे ही 'स्व लक्षण है—असंकीर्ण है'—यह भी उसका स्वभाव है।

अगर हम वस्तु को केवल भावात्मक मानें तो उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वह होता है। एक क्षण से दूसरे क्षण में, एक देश से दूसरे देश में, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में वस्तु जाती है। यह कालकृत, देशकृत और अवस्थाकृत परिवर्तन वस्तु से सर्वथा भिन्न नहीं होता। दूसरे क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु से पहले क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु का सम्बन्ध जुड़ ही नहीं सकता, अगर अभाव उसका स्वभाव न हो। परिवर्तन का अर्थ ही यही है—भाव और अभाव की एकाश्रयता। 'सर्वथा मिट जाय, सर्वथा नया बन जाय' यह परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन यह होता है—'जो मिटे भी, बने भी और फिर भी धारा न टूटे'।

उपादान कारण में इसकी स्पष्ट भावना है। कारण ही कार्य बनता है। कारण का भाव मिटता है, कार्य का अभाव मिटता है तब एक वस्तु बनती है। बनते-बनते उसमें कारण का अभाव और कार्य का भाव आ जाता है। यह कार्यकारण-सापेक्ष भावाभाव एक वस्तुगत होते हैं। वैसे ही स्वगुण-परगुणापेक्ष भावाभाव भी एक वस्तुगत होते हैं। अगर यह न माना जाय तो वस्तु निर्विकार, अनन्त, सर्वात्मक और

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, ३।२९-३३।

एकात्मक बन जाएगी। किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्तु में विकार होता है। पहला रूप मिटता है, दूसरा बनता है। मिटनेवाला रूप बननेवाले रूप का प्राक्-अभाव होता है, दूसरे शब्दों में उपादन-कारण कार्य का प्राक्-अभाव होता है। बीज मिटा, अंकुर बना। बीज के मिटने की दशा में ही अंकुर का प्रादुर्भाव होगा। प्राक्-अभव अनादि-सान्त है। जब तक बीज का अंकुर नहीं बनता, तब तक बीज में अंकुर का प्राक्-अभाव रहता है। अंकुर बनते ही प्राक्-अभाव मिट जाता है। जो लोग प्रत्येक अनादि वस्तु को नाश-रहित (अनन्त) मानते हैं, यह अयुक्त है, यह इससे समझा जा सकता है।

प्राक्-अभाव जैसे निर्विकारता का विरोधी है, वैसे ही प्रध्वंसाभाव वस्तु की अनन्तता का विरोधी है। प्रध्वंस-अभाव न हो तो वस्तु बनने के बाद मिटने का नाम ही न ले, वह अनन्त हो जाए। पर ऐसा होता कहां है? दूसरी पर्याय बनती है, पहली मिट जाती हैं। वृक्ष कार्य है। वह टूटता है, तब उसकी लकड़ी बनती है। दूसरे कार्य में पहले कार्य का प्रध्वंस-रूप अभाव होता है। लकड़ी में वृक्ष का अभाव है या यों कहिए लकड़ी वृक्ष का प्रध्वंसाभाव है। लकड़ी की आविर्भाव दशा में वृक्ष की तिरोभाव-दशा हुई है। प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त है। जिस वृक्ष की लकड़ी बनी, उससे वह वृक्ष कभी नहीं बनता। इससे यह भी समझिए कि प्रत्येक सादि पदार्थ सान्त नहीं होता।

ऊपर की पंक्तियों का सार यह है—वर्तमान दशा पूर्वदशा का कार्य बनती है और उत्तरदशा का कारण। पूर्वदशा उसका प्राक्-अभाव होता है और उत्तरदशा प्रध्वंस-अभाव।

एक बात और स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि द्रव्य सादि-सान्त नहीं होते। सादि-सान्त होती हैं द्रव्य की पर्याएं (अवस्थाएं) अवस्थाएं। अनादि-अनन्त नहीं होतीं किन्तु पूर्व-अवस्था कारण रूप में अनादि है। उससे बननेवाली वस्तु पहले कभी नहीं बनी। उत्तर अवस्था मिटने के बाद फिर वैसी कभी नहीं बनेगी, इसलिए वह अनन्त है। यह सारी एक ही द्रव्य की पूर्व-उत्तरवर्ती दशाओं की चर्चा है। अब हमें अनेक सजातीय द्रव्यों की चर्चा करनी है। खम्भा पौद्गलिक है और घड़ा भी पौद्गलिक है किन्तु खम्भा घड़ा नहीं है और घड़ा खम्भा नहीं है। दोनों एक जाति के हैं, फिर भी दोनों दो हैं। यह 'इतर इतर-अभाव' आपस में एक-दूसरे का अभाव है।[1] खम्भे में घड़े का और घड़े में खम्भे का अभाव है। यह न हो तो हम वस्तु का लक्षण कैसे बनायें? किसको खम्भा कहें और किसको घड़ा? फिर सब एकमेक बन जाएंगे। यह अभाव सादि-सान्त है। खम्भे के पुद्गल स्कन्ध घड़े के रूप में और घड़े के पुद्गल-स्कन्ध खम्भे के रूप में बदल सकते हैं किन्तु सर्वथा विजातीय द्रव्य के

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, ३।३२

लिए यह नियम नहीं। अचेतन चेतन और चेतन अचेतन तीन काल में भी नहीं होते। इसका नाम है—अत्यन्त अभाव।[1] यह अनादि-अनन्त है। इसके विना चेतन और अचेतन—इन दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों की तादात्म्यनिवृत्ति सिद्ध नहीं होती।

साध्य : धर्म और धर्मी

साध्य और साधन का सम्बन्ध मात्र जानने में साध्य धर्म ही होता है। कारण कि धुएं के साथ अग्नि होने का नियम है, वैसे अग्निमान् पर्वत होने का नियम नहीं बनता। अग्नि पर्वत के सिवाय अन्यत्र भी मिलती है। साधन के प्रयोगकाल में साध्य धर्मी होता है। धर्मी तीन प्रकार का होता है—

१. बुद्धि-सिद्ध।
२. प्रमाण-सिद्ध।
३. उभय-सिद्ध।

१. प्रमाण से जिसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध न हो किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो, वह 'बुद्धि-सिद्ध धर्मी' होता है; जैसे—'सर्वज्ञ है'। अस्तित्व सिद्धि से पहले सर्वज्ञ किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पहले-पहल जब धर्मी वनाया जाता है, तब उसका अस्तित्व बुद्धि से ही माना जाता है। प्रमाण द्वारा उसका अस्तित्व बाद में सिद्ध किया जाएगा। संक्षेप में जिस साध्य का अस्तित्व या नास्तित्व साधना हो, वह धर्मी बुद्धि-सिद्ध यां विकल्प-सिद्ध होता है।

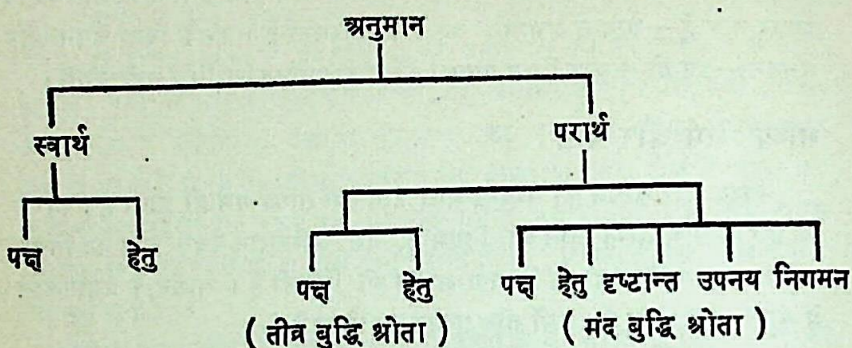
२. जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध हो, वह धर्मी 'प्रमाण-सिद्ध' होता है। 'इस वादल में पानी है'—बादल हमारे प्रत्यक्ष है। उसमें पानी धर्म को सिद्ध करने के लिए हमें वादल, जो धर्मी है, को कल्पना से मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

३. 'मनुष्य मरणशील है'—यहां म्रियमाण मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है और मृत तथा मरिष्यमाण मनुष्य बुद्धि-सिद्ध। 'मनुष्य मरणशील है'—इसमें कोई एक खास धर्मी नहीं, सभी मनुष्य धर्मी हैं। प्रमाण-सिद्ध धर्मी व्यक्त्यात्मक होता है, उस स्थिति में उभय-सिद्ध धर्मी जात्यात्मक। उभय-सिद्ध धर्मी में सत्ता-असत्ता के सिवाय शेष सब धर्म साध्य हो सकते हैं।

अनुमान को नास्तिक के सिवाय शेष सभी दर्शन प्रमाण मानते हैं। नास्तिक व्याप्ति की निर्णायकता स्वीकार नहीं करते। उसके बिना अनुमान हो नहीं सकता। व्याप्ति को संदिग्ध मानने का अर्थ तर्क से परे हटना होना चाहिए।

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, ३।३३



हेतु के प्रकार

हेतु के दो प्रकार होते हैं—उपलब्धि और अनुपलब्धि। ये दोनों विधि और निषेध के साधक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुपलब्धि को विधि-साधक हेतु के रूप में स्थान नहीं दिया है।

'परीक्षामुख' में विधि-साधक छह उपलब्धियों एवं तीन अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक छह उपलब्धियों एवं सात अनुपलब्धियों का निरूपण है। इसका विकास प्रमाणनयतत्त्वालोक में हुआ है। वहां विधि-साधक छह उपलब्धियों एवं पांच अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक सात-सात उपलब्धियों एवं अनुपलब्धियों का उल्लेख है। प्रस्तुत वर्गीकरण 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' के अनुसार है।

विधि-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से अविरुद्ध रूप में उपलब्ध होने के कारण जो हेतु साध्य की सत्ता को सिद्ध करता है, वह अविरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धि-उपलब्धि के छह प्रकार हैं—

१. अविरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि—

साध्य—शब्द परिणामी है।

हेतु—क्योंकि वह प्रयत्न-जन्य है। यहां प्रयत्न-जन्यत्व व्याप्य है। वह परिणामित्व से अविरुद्ध है। इसलिए प्रयत्न-जन्यत्व से शब्द का परिणामित्व सिद्ध होता है।

२. अविरुद्ध-कार्य उपलब्धि—

साध्य—इस पर्वत पर अग्नि है।

हेतु—क्योंकि धुआं है।

धुआं अग्नि का कार्य है, वह अग्नि से अविरुद्ध है। इसलिए धूम कार्य से पर्वत पर ही अग्नि की सिद्धि होती है।

३. अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—वर्षा होगी।

हेतु—क्योंकि विशिष्ट प्रकार के बादल मंडरा रहे हैं।

बादलों की विशिष्ट-प्रकारता वर्षा का कारण है और उसका विरोधी नहीं है।

४. अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के बाद तिष्य नक्षत्र का उदय होगा।

हेतु—क्योंकि पुनर्वसु का उदय हो चुका है।

'पुनर्वसु का उदय' यह हेतु 'तिष्योदय' साध्य का पूर्वचर है और उसका विरोधी नहीं है।

५. अविरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्व-फाल्गुनी का उदय हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तर-फाल्गुनी का उदय हो चुका है।

उत्तर-फाल्गुनी का उदय पूर्व-फाल्गुनी के उदय का निश्चित उत्तरवर्ती है।

६. अविरुद्ध-सहचर-उपलब्धि—

साध्य—इस आम में रूप विशेष है।

हेतु—क्योंकि रस विशेष आस्वाद्यमान है।

यहां रस (हेतु) रूप (साध्य) का नित्य सहचारी है।

निषेध-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से विरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसके अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धोपलब्धि के सात प्रकार हैं—

१. स्वभाव-विरुद्ध-उपलब्धि—

साध्य—सर्वथा एकान्त नहीं है।

हेतु—क्योंकि अनेकान्त उपलब्ध हो रहा है।

अनेकान्त—एकान्त स्वभाव के विरुद्ध है।

२. विरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि—

साध्य—इस पुरुष का तत्त्व में निश्चय नहीं है।

हेतु—क्योंकि सन्देह है।

'सन्देह है' यह 'निश्चय नहीं है' इसका व्याप्य है। इसलिए सन्देह-दशा में निश्चय का अभाव होगा। ये दोनों विरोधी हैं।

३. विरुद्ध-कार्य-उपलब्धि—

साध्य—इस पुरुष का क्रोध शान्त नहीं हुआ है।

हेतु—क्योंकि मुख-विकार हो रहा है।

साध्य—यह महर्षि असत्य नहीं बोलता।

हेतु—क्योंकि इसका ज्ञान राग-द्वेष की कलुषता से रहित है।

यहां असत्य-वचन का विरोधी सत्य-वचन है और उसका कारण राग-द्वेष-रहित ज्ञान-सम्पन्न होना है।

५. अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योंकि अभी रोहिणी का उदय है।

यहां प्रतिषेध्य पुष्य नक्षत्र के उदय से विरुद्ध पूर्वचर रोहिणी नक्षत्र के उदय की उपलब्धि है। रोहिणी के पश्चात् मृगशीर्ष, आर्द्रा और पुनर्वसु का उदय होता है। फिर पुष्य का उदय होता है।

६. विरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले मृगशिरा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि अभी पूर्व-फाल्गुनी का उदय है।

यहां मृगशीर्ष प्रतिषेध्य है। पूर्वा-फाल्गुनी का उदय उसका विरोधी है। मृगशिरा के पश्चात् क्रमशः आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा और पूर्व फाल्गुनी का उदय होता है।

७. विरुद्ध-सहचर-उपलब्धि—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन है।

मिथ्या ज्ञान और सम्यग् दर्शन एक साथ नहीं रह सकते।

निषेध-साधक अनुपलब्धि-हेतु

प्रतिषेध्य से अविरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसका प्रतिषेध्य सिद्ध करता है, वह अविरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धानुपलब्धि के सात प्रकार हैं—

१. अविरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां घट नहीं है।

हेतु—क्योंकि उसका दृश्य स्वभाव उपलब्ध नहीं हो रहा है।

चक्षु का विषय होना घट का स्वभाव है। यहां इस अविरुद्ध स्वभाव से ही प्रतिषेध्य का प्रतिषेध है।

२. अविरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां पनस नहीं है।

हेतु—क्योंकि वृक्ष नहीं है।

मुख-विकार क्रोध की विरोधी वस्तु का कार्य है—

४. विरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

वृक्ष व्यापक है, पनस व्याप्य। यह व्यापक की अनुपलब्धि में व्याप्य का प्रतिषेध है।

३. अविरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि—

साध्य—यहां अप्रतिहत शक्तिवाले बीज नहीं हैं।

हेतु—क्योंकि अंकुर नहीं दीख रहे हैं।

यह अविरोधी कार्य की अनुपलब्धि के कारण का प्रतिषेध है।

४. अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि—

साध्य—इस व्यक्ति में प्रशमभाव नहीं है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है।

प्रशमभाव—सम्यग् दर्शन का कार्य है। यह कारण के अभाव में कार्य का प्रतिषेध है।

५. अविरुद्ध-पूर्वचर-अनुपलब्धि —

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योंकि अभी चित्रा का उदय नहीं है।

यह चित्रा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव द्वारा स्वाति के उत्तरवर्ती उदय का प्रतिषेध है।

६. अविरुद्ध-उत्तरचर-अनुपलब्धि—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभाद्रपदा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तरभाद्रपदा का उदय नहीं है।

यह उत्तरभाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव के द्वारा पूर्वभाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय का प्रतिषेध है।

७. अविरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि—

साध्य—इसे सम्यग् ज्ञान प्राप्त नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन नहीं है।

सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन दोनों नियत सहचारी हैं। इसलिए यह एक के अभाव में दूसरे का प्रतिषेध है।

विधि-साधक अनुपलब्धि-हेतु

साध्य के विरुद्ध रूप की उपलब्धि न होने के कारण जो हेतु उसकी सत्ता को सिद्ध करता है, वह विरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धानुपलब्धि हेतु के पांच प्रकार हैं—

१. विरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि—

साध्य—इसके शरीर में रोग है।

हेतु—क्योंकि स्वस्थ प्रवृत्तियां नहीं मिल रही हैं। स्वस्थ प्रवृत्तियों का भाव रोग-विरोधी कार्य है। उसकी यहां अनुपलब्धि है।

२. विरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि—

साध्य—यह मनुष्य कष्ट में फंसा हुआ है।

हेतु—क्योंकि इसे इष्ट का संयोग नहीं मिल रहा है। कष्ट के भाव का विरोधी कारण इष्ट-संयोग है, वह यहां अनुपलब्ध है।

३. विरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि—

साध्य—वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है।

हेतु—क्योंकि एकान्त-स्वभाव की अनुपलब्धि है।

४. विरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि

साध्य—यहां छाया है।

हेतु—क्योंकि उष्णता नहीं है।

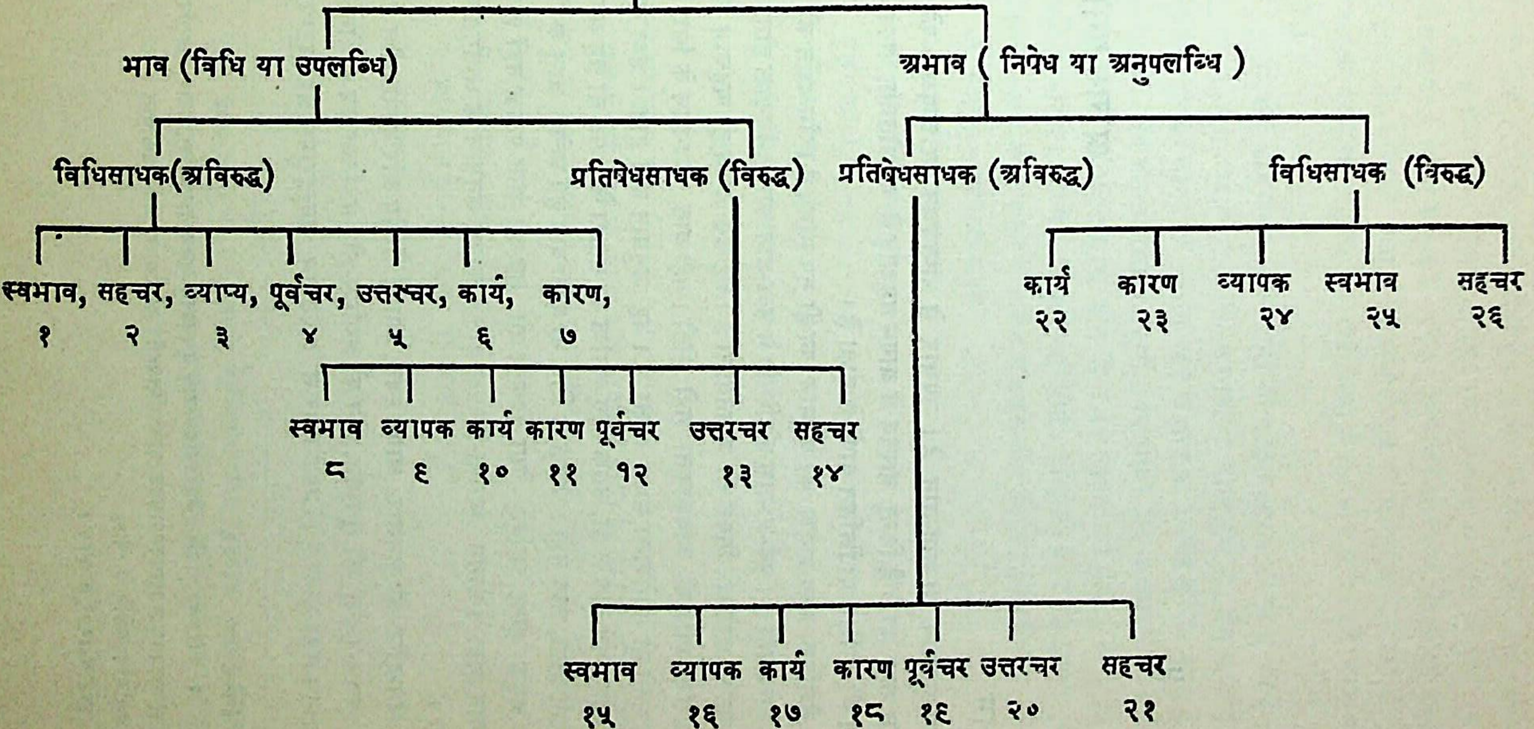
५. विरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान प्राप्त है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं है।[1]

---

१. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ३।६५–१०७।


हेतु
भाव (विधि या उपलब्धि)
अभाव (निषेध या अनुपलब्धि)
विधिसाधक(अविरुद्ध)
प्रतिषेधसाधक (विरुद्ध)
प्रतिषेधसाधक (अविरुद्ध)
विधिसाधक (विरुद्ध)
स्वभाव, सहचर, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर, कार्य, कारण,
१ २ ३ ४ ५ ६ ७
स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वचर उत्तरचर सहचर
८ ९ १० ११ १२ १३ १४
स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वचर उत्तरचर सहचर
१५ १६ १७ १८ १९ २० २१
कार्य कारण व्यापक स्वभाव सहचर
२२ २३ २४ २५ २६

५

आगम-प्रमाण

आगम

आगम श्रुतज्ञान या शब्द-ज्ञान है। उपचार से आप्तवचन या द्रव्यश्रुत को भी आगम कहा जाता है किन्तु वास्तव में आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त की मौखिक या लिखित वाणी से होता है।

वैशेषिक शब्द-प्रमाण को अनुमान का ही रूप मानते हैं। जैन दर्शन को यह बात मान्य नहीं है। पूर्व-अभ्यास की स्थिति में शब्द-ज्ञान व्याप्ति-निरपेक्ष होता है। एक व्यक्ति खोटे-खरे सिक्के को जाननेवाला है। वह उसे देखते ही पहचान लेता है। उसे ऊहापोह की आवश्यकता नहीं होती। यही बात शब्द-ज्ञान के लिए है। शब्द सुनते ही सुननेवाला समझ जाता है। वह अनुमान नहीं होता। शब्द सुनने पर उसका अर्थ-बोध न हो, उसके लिए व्याप्ति का सहारा लेना पड़े तो वह अवश्य अनुमान होगा, शब्द नहीं। प्रत्यक्ष के लिए भी यही बात है। प्रत्येक वस्तु के लिए 'यह अमुक होना चाहिए' ऐसा विकल्प बने, तब वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा, अनुमान होगा। आगम व्याप्ति-निरपेक्ष होने के कारण अनुमान के अन्तर्गत नहीं आता।[1]

जैन-दृष्टि के अनुसार आगम स्वतः प्रमाण, पौरुषेय और आप्तप्रणीत होता है।[2] वचन-रचना को सूत्रागम, ज्ञान को अर्थागम और समन्वित रूप में दोनों को उभयागम कहा जाता है।[3] प्रकारान्तर से आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परा-

---

१. जैनतर्कभाषा, पृ० २६
न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापण-निरूपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणैवास्य अर्थबोधकत्वात्।

२. अयोगव्यवच्छेदिका, १७।

३. अनुयोगद्वार, सूत्र १४४।

गम, यों तीन प्रकार का आगम होता है। उपदेश के बिना अपने आप अर्थ-ज्ञान होता है, वह आत्मागम है। वह तीर्थंकर या स्वयम्बुद्ध आदि के होता है। उनकी उपदेश-वाणी से शिष्य के सूत्र की अपेक्षा आत्मागम और अर्थ की अपेक्षा अनंतरागम होता है। तीसरी कक्षा में प्रशिष्य के सूत्र की अपेक्षा अनंतरागम और अर्थ की अपेक्षा परम्परागम होता है। चौथी कक्षा में सूत्र और अर्थ दोनों परम्परागम होते हैं।[1]

ज्ञाता, ज्ञेय और वचन—इन तीनों की संहिता आगम का समग्र रूप है।

ज्ञाता ज्ञान करानेवाला और करनेवाला दोनों होते हैं। ज्ञेय पहले ने जान रखा है, दूसरे को जानना है। वचन पहले के ज्ञान का प्रकाश है और दूसरे के ज्ञान का साधन। ज्ञेय अनन्तशक्तियों, गुणों, अवस्थाओं का अखण्ड-पिण्ड होता है। उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक होता है। ज्ञेय आगम की रीढ़ होता है, फिर भी उसके आधार पर आगम के विभाग नहीं होते। ज्ञाता की दृष्टि से इसका एक भेद होता है—अर्थागम। वचन की दृष्टि से इसके तीन विभाग बनते हैं—

१. स्याद्वाद—प्रमाण-वाक्य।
२. सद्वाद—नय-वाक्य।
३. दुर्नय—मिथ्या श्रुत।

दूसरे शब्दों में—

१. अनेकान्त वचन।
२. सत्-एकान्त वचन।
३. असत्-एकान्त वचन।

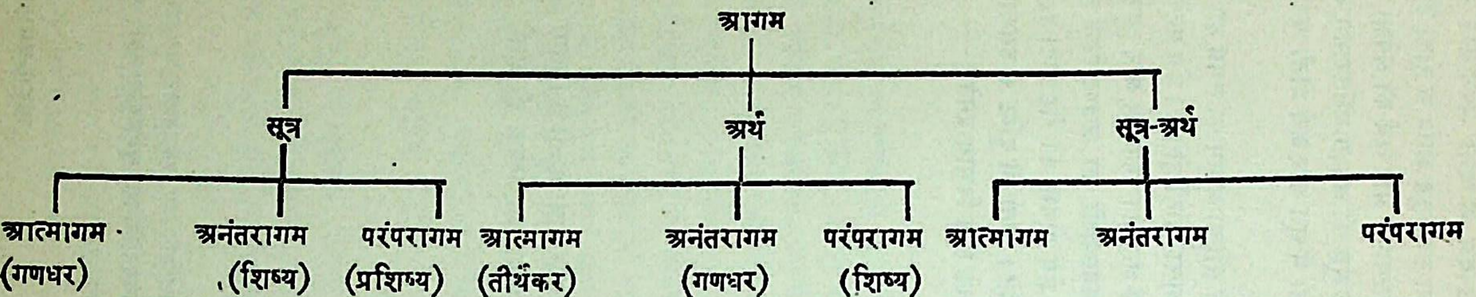
वाक्-प्रयोग

वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा बनती है। भाषा अनक्षर भी होती है पर वह स्पष्ट नहीं होती। स्पष्ट भाषा अक्षरात्मक ही होती है। अक्षर तीन प्रकार के हैं[2]—

१. संज्ञाक्षर—अक्षर की लिपि।
२. व्यंजनाक्षर—अक्षर का उच्चारण।
३. लब्ध्यक्षर—अक्षर का ज्ञान।

---

१. अनुयोगद्वार, सूत्र १४४।
२. (क) नंदी, सूत्र ३९।
(ख) जैनतर्कभाषा पृ० ९ : संज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेदम्, व्यंजनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि, एते चोपचाराच्छ्रुते। लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः तदावरणक्षयोपशमो वा···।



तीर्थंकर की अपेक्षा—अर्थ—आत्मागम।

गणधर की अपेक्षा—सूत्र—आत्मागम, अर्थ—अनंतरागम।

गणधर-शिष्य की अपेक्षा—सूत्र—अनंतरागम, अर्थ—परम्परागम।

तद्-शिष्य शिष्य-की अपेक्षा—सूत्र—परंपरागम, अर्थ—परम्परागम।

(पृष्ठ ६०२, ६०३ से सम्बद्ध)

शब्द तीन प्रकार के होते हैं— रूढ़, यौगिक और मिश्र। जिनकी व्युत्पत्ति नहीं होती, वे शब्द 'रूढ़' होते हैं।[1] गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि के योग से बननेवाले शब्द 'यौगिक' कहलाते हैं।[2] जिनमें दो शब्दों का योग होने पर भी परावृत्ति नहीं हो सकती, वे 'मिश्र' हैं।[3]

नाम और क्रिया के एकाश्रयी योग को वाक्य कहते हैं। शब्द या वचन ध्वनि-रूप पौद्गलिक परिणाम होता है। वह ज्ञापक या बतानेवाला होता है। वह चेतन के वाक्प्रयत्न से पैदा होता है और अवयव-संयोग से भी सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। अचेतन के संघात और भेद से पैदा होता है, वह निरर्थक ही होता है, अर्थ-प्रेरित नहीं होता।[4]

शब्द की अर्थ-बोधकता

शब्द अर्थ का बोधक बनता है। इसके दो हेतु हैं—स्वाभाविक और समय या संकेत।[5] नैयायिक स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार नहीं करते। वे केवल संकेत को ही अर्थज्ञान का हेतु मानते हैं।[6] इस पर जैन-दृष्टि यह है कि यदि शब्द में अर्थ-बोधक शक्ति सहज नहीं होती तो उसमें संकेत भी नहीं किया जा सकता। संकेत रूढ़ि है, वह व्यापक नहीं। 'अमुक वस्तु के लिए अमुक शब्द'—यह मान्यता है। देश-काल के भेद से यह अनेक भेद वाली होती है। एक देश में एक शब्द का अर्थ कुछ ही होता है और दूसरे देश में कुछ ही। हमें इस संकेत या मान्यता के आधार पर दृष्टि डालनी चाहिए। संकेत का आधार है शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति। शब्द अर्थ को बता सकता है। किसको बताए, यह बात संकेत पर निर्भर है। संकेत ज्ञातकालीन और अज्ञातकालीन दोनों प्रकार के होते हैं। अर्थ की अनेकता के कारण शब्द के अनेक रूप बनते हैं, जैसे—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, क्रियावाचक आदि-आदि।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है। वाच्य से वाचक न सर्वथा

---

१. अभिधान चिन्तामणि १।१।

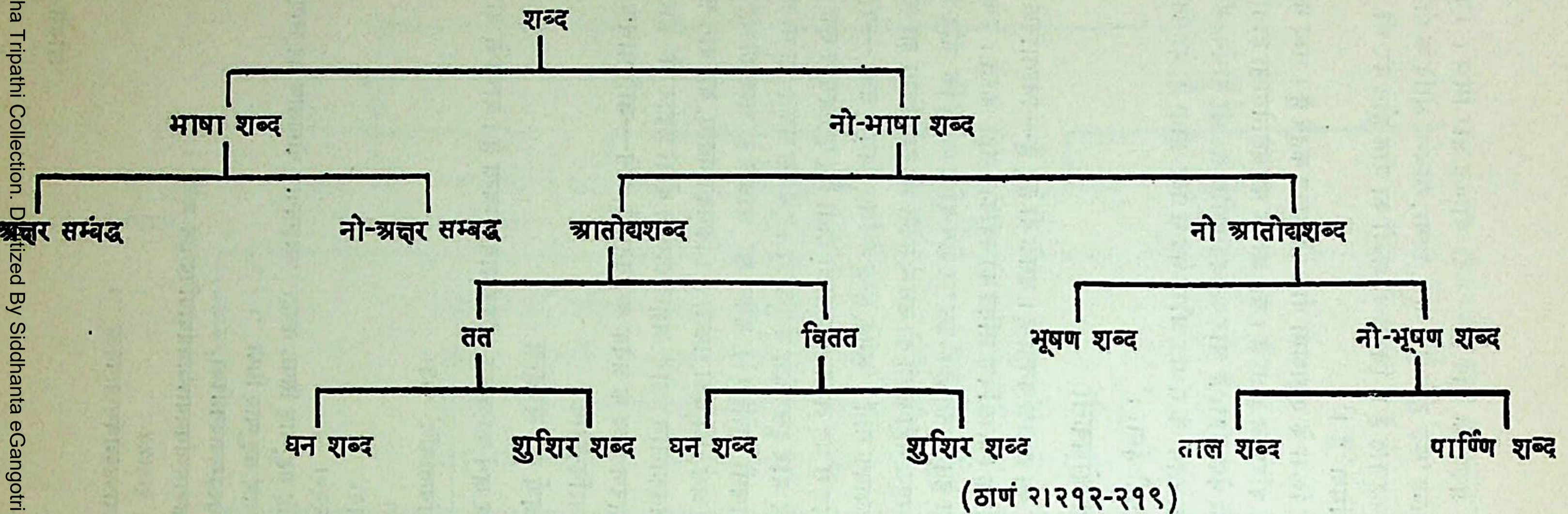
२. वही, १।२।

३. वही, १।१६।

४. ठाणं, २।२२०।
दोहि ठाणेहिं सद्दुप्पाए सिया, तंजहा…साहन्नंताणं पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया, भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया…।

५. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ४:
स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।

६. न्यायसूत्र, २।१।५५:
सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य…।



शब्द के अवान्तर भेद (पृष्ठ ६०५ से संबद्ध)

भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचकपर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्यपर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथंचित् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाचक बोध कराने की पर्याय में होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय में।

वाच्य-वाचकभाव की प्रतीति तर्क के द्वारा होती है।[1] एक आदमी ने अपने सेवक से कहा—'रोटी लाओ'। सेवक रोटी लाया। एक तीसरा व्यक्ति जो रोटी को नहीं जानता, वह दोनों की प्रवृत्ति देखकर जान जाता है कि यह वस्तु 'रोटी' शब्द के द्वारा वाच्य है। इसकी व्याप्ति यों बनती है—'वस्तु के प्रति जो शब्दानुसारी प्रवृत्ति होती है, वह वाच्य-वाचक भाववाली होती है। "जहां वाच्य-वाचक भाव नहीं होता, वहां शब्द के अनुसार अर्थ के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती।"

शब्द का याथार्थ्य और अयाथार्थ्य

शब्द पौद्गलिक होता है। वह अपने आप में यथार्थ या अयथार्थ कुछ भी नहीं होता। वक्ता के द्वारा उसका यथार्थ या अयथार्थ प्रयोग होता है। यथार्थ प्रयोग के स्याद्वाद और नय—ये दो प्रकार हैं। दुर्नय इसलिए आगमाभास होता है कि वह यथार्थ प्रयोग नहीं होता।

वचन की सत्यता के दो पहलू हैं—प्रयोगकालीन और अर्थग्रहणकालीन। एक वक्ता पर निर्भर है, दूसरा श्रोता पर। वक्ता यथार्थ-प्रयोग करता है, वह सत्य है। श्रोता यथार्थ-ग्रहण करता है, वह सत्य है। ये दोनों सत्य अपेक्षा से जुड़े हुए हैं।

सत्य-वचन की दस अपेक्षाएं

सत्य-वचन के लिए दस अपेक्षाएं हैं[2]—

१. जनपद, देश या राष्ट्र की अपेक्षा सत्य।
२. सम्मत या रूढ़ि-सत्य।
३. स्थापना की अपेक्षा सत्य।
४. नाम की अपेक्षा सत्य।

---

१. जैनतर्कभाषा पृ० १५
२. ठाणं, १०।८९

५. रूप की अपेक्षा सत्य।

६. प्रतीत्य-सत्य—दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य।

जैसे—कनिष्ठा की अपेक्षा अनामिका बड़ी और मध्यमा की अपेक्षा छोटी है। एक ही वस्तु छोटी और बड़ी दोनों हो; यह विरुद्ध बात है, ऐसा आरोप आता है किन्तु यह ठीक नहीं। एक ही वस्तु का छोटापन और मोटापन दोनों तात्त्विक हैं और परस्पर विरुद्ध भी नहीं हैं। इसलिए नहीं हैं कि दोनों के निमित्त दो हैं। यदि अनामिका को एक ही कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा छोटी-बड़ी कहा जाय तब विरोध आता है किन्तु 'छोटी की अपेक्षा बड़ी और बड़ी की अपेक्षा छोटी' इसमें कोई विरोध नहीं आता। एक निमित्त से परस्पर-विरोधी दो कार्य नहीं हो सकते किन्तु दो निमित्त से वैसे दो कार्य होने में कोई आपत्ति नहीं। छोटापन और मोटापन तात्त्विक नहीं है; ऋजुता और वक्रता की भांति दूसरे निमित्त की अपेक्षा रखे बिना प्रतीति नहीं होती। इसलिए उनकी प्रतीति दूसरे की अपेक्षा से होती है, इसलिए वे काल्पनिक हैं, ऐसी शंका होती है पर समझने पर बात ऐसी नहीं है। वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं[1]—

१. परप्रतीति-सापेक्ष—सहकारी द्वारा व्यक्त।

२. परप्रतीति-निरपेक्ष—स्वतः व्यक्त।

अस्तित्व आदि गुण स्वतः व्यक्त होते हैं। छोटा, बड़ा आदि धर्म सहकारी द्वारा व्यक्त होते हैं। गुलाब में सुरभि अपने आप व्यक्त है। पृथ्वी में गन्ध पानी के संयोग से व्यक्त होती है।

छोटा, बड़ा—ये धर्म काल्पनिक हों तो एक वस्तु में दूसरी वस्तु के समावेश की (बड़ी वस्तु में छोटी के समाने की) बात अनहोनी होती। इसलिए हमें मानना चाहिए कि सहकारी व्यंग्य धर्म काल्पनिक नहीं है।[2] वस्तु में अनन्त परिणतियों की क्षमता होती है। जैसा-जैसा सहकारी का सन्निधान होता है वैसा ही उसका रूप बन जाता है। "कोई व्यक्ति निकट से लम्बा और वही दूर से ठिगना दीखता है, पर वह लम्बा और ठिगना एक साथ नहीं हो सकता। अतः लम्बा और ठिगना केवल मनस् के विचार मात्र हैं।" बर्कले का यह मत उचित नहीं है। लम्बा और ठिगन ये केवल मनस् के विचार मात्र होते तो दूरी और सामीप्य सापेक्ष नहीं होते। उक्त दोनों धर्म सापेक्ष हैं—एक व्यक्ति जैसे लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा ठिगना और ठिगने की अपेक्षा लम्बा हो सकता है; वैसे ही एक ही व्यक्ति दूरी की अपेक्षा ठिगना और

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, ४।५ :

द्विविधोहि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवद् वर्णादिवच्च।

२. भाषा-रहस्य, ३० :

ते हुंति परावेक्खा, वंजयमुहदंसिणोत्ति णय तुच्छा।
दिट्ठमिणं वेचित्तं, सरावकप्पूरगंधाणं॥

सामीप्य की अपेक्षा लम्बा हो सकता है। लम्बाई और ठिगनापन एक साथ नहीं होते, भिन्न-भिन्न सहकारियों द्वारा भिन्न-भिन्न काल में अभिव्यक्त होते हैं। सामीप्य की अपेक्षा लम्बाई सत्य है और दूरी की अपेक्षा ठिगनापन।

७. व्यवहारसत्य—औपचारिक सत्य—पर्वत जल रहा है।

८. भावसत्य—व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से सत्य—दूध सफ़ेद है।

९. योगसत्य—सम्बन्ध सत्य।

१०. औपम्य-सत्य।

प्रत्येक वस्तु को अच्छी-बुरी, उपयोगी-अनुपयोगी, हितकर-अहितकर जो कहा जाता है वह देश, काल, स्थिति की अपेक्षा से सत्य है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—"सत्यवादी के लिए विभज्यवाद का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है।" वे स्वयं इसी मार्ग पर चले। आत्मा, लोक आदि प्रश्नों पर मौन नहीं रहे। उन्होंने इन प्रश्नों को महात्मा बुद्ध की भांति अव्याकृत नहीं कहा और न संजय वेलट्ठीपुत्त की भांति बीच में लटकाए रखा। उन्होंने सत्य के अनेक रूपों का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया। लोक में जितने द्रव्य हैं उतने ही थे और रहेंगे। उनमें न अणु मात्र कम होता है और न अधिक। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश केवल अवस्था-परिवर्तन हैं। जो स्थिति आत्मा की है, वही एक परमाणु या पौद्गलिक-स्कंध या शरीर की है। आत्मा एकान्त नित्य नहीं है, शरीर एकान्त अनित्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का परिवर्तन होता रहता है। पहला रूप जन्म या उत्पाद और दूसरा रूप मृत्यु या विनाश है। विच्छेदनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त है। अविच्छेदनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन सभी वस्तुएं सदा अपने रूप में रहती हैं अतः अनन्त हैं।[1] प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि है, स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा सादि।[2] लोक व्यक्ति-संख्या की दृष्टि से एक है, इसलिए सान्त है। लोक की लम्बाई-चौड़ाई असंख्य-योजन कोड़ाकोड़ी है, इस क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है। काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है।[3]

इस प्रकार एक वस्तु की अनेक स्थिति-जन्य अनेकरूपता स्वीकार कर भगवान् महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होनेवाले मतवाद एक सूत्र में पिरो दिये, तात्त्विक चर्चा के निर्णय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। भगवान् से पूछा गया—"भगवन्! जीव परभव को जाते समय स-इन्द्रिय जाता है या अन्-इन्द्रिय?"

भगवान्—"स-इन्द्रिय भी जाता है और अन्-इन्द्रिय भी।"

गौतम—"कैसे, भगवन्?"

---

१. भगवती, ७।३
२. उत्तरज्झयणाणि, ३६।८०
३. भगवती, ९।१

भगवान्—"ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय और पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा अन्-इन्द्रिय।"

पौद्गलिक इन्द्रियां स्थूल शरीर से और ज्ञान इन्द्रियां आत्मा से सम्बद्ध होती हैं। स्थूल शरीर छूटने पर पौद्गलिक इन्द्रियां नहीं रहतीं, उनकी अपेक्षा परभव-गामी जीव अन्-इन्द्रिय जाता है। ज्ञान शक्ति आत्मा में बनी रहती है, इस दृष्टि से वह स-इन्द्रिय जाता है।[1]

गौतम—"भगवन्! दुःख आत्मकृत है, परकृत है या उभयकृत?"

भगवान्—"दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं है, उभयकृत नहीं है।"[2]

महात्मा बुद्ध शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को सत्य नहीं मानते थे। उनसे पूछा गया—

"भगवन्! क्या दुःख स्वयंकृत है?"

"काश्यप! ऐसा नहीं है।"

"क्या दुःख परकृत है?"

"नहीं।"

"क्या दुःख स्वकृत और परकृत है?"

"नहीं।"

"क्या दुःख अ-स्वकृत अ-परकृत है?"

"नहीं।"

"तब क्या है? आप तो सभी प्रश्नों का उत्तर नकार में देते हैं, ऐसा क्यों?"

"दुःख स्वकृत है, ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जो करता है, वही भोगता है, यह शाश्वतवाद है। दुःख परकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि दुःख करने-वाला कोई दूसरा है और उसे भोगनेवाला कोई दूसरा, यह उच्छेदवाद है।"

उन्होंने इन दोनों को छोड़कर मध्यम मार्ग—प्रतीत्य-समुत्पाद का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि में "उत्तर पूर्व से सर्वथा असम्बद्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नहीं, किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण ही उत्तर होता है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर में आ जाती है। पूर्व का कुल संस्कार उत्तर को मिल जाता है। अतएव पूर्व अब उत्तर रूप में अस्तित्व में है। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न अव्याकृत है, क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है।[3] महात्मा बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य नहीं थे, अतएव ऐसे प्रश्नों का उन्होंने अव्याकृत कहकर उत्तर दिया।

---

१. भगवती, १।७।६१

२. वही, १७।३

३. संयुक्तनिकाय

भगवान् महावीर भी शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध थे। इस विषय में दोनों की भूमिका एक थी, फिर भी भगवान् महावीर ने कहा—"दुःख आत्मकृत है।" कारण कि वे इन दोनों वादों से दूर भागनेवाले नहीं थे। उनकी अनेकान्तदृष्टि में एकान्त शाश्वत या उच्छेद जैसी क़ोई वस्तु थी ही नहीं। दुःख के करण और भोग में जैसे आत्मा की एकता है वैसे ही करणकाल में और भोगकाल में उसकी अनेकता है। आत्मा की जो अवस्था करणकाल में होती है, वही भोगकाल में नहीं होती, यह उच्छेद है। करण और भोग दोनों एक आधार में होते हैं, यह शाश्वत है। शाश्वत और उच्छेद के भिन्न-भिन्न रूप कर जो विकल्प पद्धति से निरूपण किया जाता है, वही विभज्यवाद है।

इस विकल्प-पद्धति के समर्थक अनेक संवाद उपलब्ध होते हैं—

सोमिल—"भगवन् ! क्या आप एक हैं या दो ?

अक्षय, अव्यय, अवस्थित हैं या परिवर्तनशील ?

भगवान्—"सोमिल ! मैं एक भी हूं और दो भी।"

सोमिल—"यह कैसे, भगवन् ?"

भगवान्—"द्रव्य की दृष्टि से एक हूं, सोमिल ! ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से दो। आत्मप्रदेश की दृष्टि से मैं अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूं और भूत-भावी काल में विविध विषयों पर होनेवाले परिणाम की दृष्टि से परिवर्तनशील भी हूं।"[1]

यह शंकित भाषा नहीं है। तत्त्व-निरूपण में उन्होंने निश्चित भाषा का प्रयोग किया और शिष्यों को भी ऐसा ही उपदेश दिया। छद्‌मस्थ मनुष्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, शरीर-रहित जीव आदि को सर्वभाव से नहीं जान सकते।[2]

अतीत, वर्तमान, या भविष्य की जिस स्थिति की निश्चित जानकारी न हो, तब 'ऐसे ही है' इस प्रकार निश्चित भाषा नहीं बोलनी चाहिए और यदि असंदिग्ध जानकारी हो तो 'एवमेव' कहना चाहिए।[3] भावी कार्य के बारे में निश्चयपूर्वक नहीं बोलना चाहिए। न मालूम जो काम करने का संकल्प है, वह अधूरा रह जाए। इसलिए भावी कार्य के लिए 'अमुक कार्य करने का विचार है' या 'यह होना सम्भव है'—यह भाषा होनी चाहिए। यह कार्य से सम्बन्धित सत्य-भाषा की मीमांसा है, तत्त्व-निरूपण से इसका सम्बन्ध नहीं है। तत्त्व-प्रतिपादन के अवसर पर

---

१. भगवती, १८।१०
२. वही, ८।२
३. दसवेआलियं, ७।८,९

अपेक्षापूर्वक निश्चय भाषा बोलने में कोई आपत्ति नहीं है।[1]

महात्मा बुद्ध ने कहा—

१. मेरी आत्मा है।

२. मेरी आत्मा नहीं है।

३. मैं आत्मा को आत्मा समझता हूं।

४. मैं अनात्मा को अनात्मा समझता हूं।

५. यह जो मेरी आत्मा है, वह पुण्य और पाप कर्म के विपाक की भोगी है।

६. यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामिधर्मा है— जैसी है वैसी सदैव रहेगी।[2]

इन छह दृष्टियों में फंसकर अज्ञानी जीव जरा-मरण से मुक्त नहीं होता, इसलिए साधक को इनमें फंसना उचित नहीं। उनके विचारानुसार—"मैं भूतकाल में क्या था? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊंगा? मैं क्या हूं? यह सत्त्व कहां से आया? यह कहां जाएगा?—इस प्रकार का चिन्तन 'अयोनिसो मनसिकार'— विचार का अयोग्य ढंग है। इससे नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते हैं।"

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत था। उन्होंने कहा—

१. आत्मा नहीं है।

२. आत्मा नित्य नहीं है।

३. आत्मा कर्म की कर्त्ता नहीं है।

४. आत्मा कर्म-फल की भोक्ता नहीं है।

५. निर्वाण नहीं है।

६. निर्वाण का उपाय नहीं है।

ये छह मिथ्यात्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।

१. आत्मा है।

२. आत्मा नित्य है।

३. आत्मा कर्म की कर्त्ता है।

४. आत्मा कर्म-फल की भोक्ता है।

५. निर्वाण है।

६. निर्वाण के उपाय हैं।

ये छह सम्यक्त्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।[3]

---

१. आचारांगवृत्ति, पत्र ३७०

२. मज्झिमनिकाय, (सब्बासव सुत्त)

३. सन्मतिप्रकरण, ३।५४

"कई व्यक्ति यह नहीं जानते—'मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कहां जाऊंगा? जो अपने आप या पर व्याकरण से यह जानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।[1]

इस दृष्टि को लेकर भगवान् महावीर ने तत्त्व-चिन्तन की पृष्ठभूमि पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—"जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता; वह संयम को कैसे जान सकेगा?"[2] "जिसे जीव-अजीव, त्रस-स्थावर का ज्ञान नहीं, उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान हैं और जिसे इनका ज्ञान है, उसके प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हैं।"[3] यही कारण है कि भगवान् महावीर की परम्परा में तत्त्व-चिन्तन की अनेक धाराएं अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में वहीं।

आत्मा, कर्म, गति, आगति, भाव, अपर्याप्त, पर्याप्त आदि के बारे में ऐसा मौलिक चिन्तन है, जो जैन दर्शन की स्वतन्त्रता का स्वयम्भू प्रमाण है।

जैन दर्शन में प्रतिपादन की पद्धति में अव्याकृत का स्थान है—वस्तु मात्र कथंचित् अवक्तव्य है। तत्त्व-चिन्तन में कोई वस्तु अव्याकृत नहीं। उपनिषद् के ऋषि परमब्रह्म को मुख्यतया 'नेति-नेति' द्वारा बताते हैं।[4] वेदान्त में वह अनिर्वचनीय है। 'नेति-नेति से अभाव की शंका न आए, इसलिए ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। तात्पर्य में वह अनिर्वचनीय ही है क्योंकि वह वाणी का विषय नहीं बनता।[5]

बौद्ध दर्शन में लोक शाश्वत है या अशाश्वत? सान्त है या अनन्त? जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न? मृत्यु के बाद तथागत होते हैं या नहीं होते?[6] इन प्रश्नों को अव्याकृत कहा है। बौद्ध दर्शन का यह निषेधक दृष्टिकोण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, दोनों का अस्वीकार है। इसमें जैन-दृष्टि का मतद्वैध नहीं है किन्तु वह इससे आगे बढ़ती है। भगवान् महावीर ने शाश्वत और उच्छेद—दोनों का समन्वय कर विधायक दृष्टिकोण सामने रखा। वही अनेकान्त-दर्शन और स्याद्वाद है।

---

१. आयारो, १।५
२. दसवेआलियं, ४।१३
३. भगवती, ७।२
४. बृहदारण्यक उपनिषद्, २।३।११; ४।२।११
५. तैत्तरीय उपनिषद्, २।४ : यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।
६. मज्झिमनिकाय (चूलमालुक्य सुत्त ६)

उपमान

सादृश्य प्रत्यभिज्ञा जैन न्याय का उपमान है।[1]

अर्थापत्ति

अनुमान में जैसे साध्य-साधन का निश्चित अविनाभाव होता है, वैसे ही अर्थापत्ति में भी होता है। पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता—इसका अर्थ यह आया कि वह रात को अवश्य खाता है'।[2] इसके साध्य देवदत्त के रात्रि-भोजन के साथ 'पुष्टत्व' साधन का निश्चित अविनाभाव है। इसलिए यह अनुमान से भिन्न नहीं है, कोरा कथन-भेद है।

अभाव

अभाव प्रमाण दो विरोधियों में से एक के भाव से दूसरे का अभाव और एक के अभाव से दूसरे का भाव सिद्ध करनेवाला है। केवल भूतल देखने से घट का ज्ञान नहीं होता। भूतल में घट, पट आदि अनेक वस्तुओं का अभाव हो सकता है, इसलिए घट-रिक्त भूतल में घट के अभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसका स्मरण करने पर ही अभाव के द्वारा भूतल में घटाभाव जाना जा सकता है।[3]

जैन-दृष्टि से—१. 'वह अघट भूतल है'—इसका समावेश स्मरण में, २. 'यह वही अघट भूतल है'—इसका प्रत्यभिज्ञा में, ३. 'जो अग्निमान् नहीं होता, वह धूमवान् नहीं होता'—इसका तर्क में, ४. 'इस भूतल में घट नहीं है, क्योंकि यहां घट का जो स्वभाव मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा है'— इसका अनुमान में, तथा ५. 'सोहन घर पर नहीं है'—इसका आगम में समावेश हो जाता है।[4]

सामान्य अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। कोई भी वस्तु केवल सद्रूप या केवल असद्रूप नहीं है। वस्तु-मात्र सत्-असत्-रूप (उभयात्मक) है। प्रत्यक्ष के द्वारा जैसे सद्भाव का ज्ञान होता है, वैसे असद्भाव का भी।[5] कारण स्पष्ट है।

१-२. प्रमेयकमलमार्तंड, पृ० ३४५ :
एकत्वसादृश्यप्रतीत्योः संकलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानताऽनतिक्रमात्।
अर्थादापत्तिः अर्थापत्तिः, आपत्तिः—प्राप्तिः प्रसंगः यथा अभिधीयमानेऽर्थे
चान्योर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः, यथा—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते,
इत्यभिधानाद् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते।

३. मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ० ४७३ :
प्रमाणपंचकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राऽभाव-प्रमाणता॥

४. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, २।१।

५. न्यायावतार, पृ० २१।

ये दोनों इतने घुले-मिले हैं कि किसी एक को छोड़कर दूसरे को जाना नहीं जा सकता।

एक वस्तु के भाव से दूसरी का अभाव और एक के अभाव से दूसरी का भाव निश्चित चिह्न के मिलने या न मिलने पर निर्भर है।

स्वस्तिक चिह्न वाली पुस्तक के लिए जैसे स्वस्तिक उपलब्धि-हेतु बनता है, वैसे ही अचिह्नित पुस्तक के लिए चिह्नाभाव अनुपलब्धि-हेतु बनता है, इसलिए यह अनुमान की परिधि से बाहर नहीं जाता।

सम्भव

अविनाभावी अर्थ—जिसके बिना दूसरा न हो सके, वैसे अर्थ की सत्ता ग्रहण करने के द्वारा दूसरे अर्थ की सत्ता बतलाना 'सम्भव' है।[1] इसमें निश्चित अविनाभाव है—पौर्वापर्य, साहचर्य या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसलिए यह भी अनुमानपरिवार का ही एक सदस्य है।

ऐतिह्य

प्रवाद-परम्परा का आदि-स्थान न मिले, वह ऐतिह्य है। जो प्रवाद-परम्परा अयथार्थ होती है, वह अप्रमाण है और जिस प्रवाद-परम्परा का आदि-स्रोत आप्त पुरुष की वाणी मिले, वह आगम से अतिरिक्त नहीं है।[2]

प्रातिभ

प्रातिभ के बारे में जैनाचार्यों में दो विचार-परम्पराएं मिलती हैं। वादिदेव सूरि आदि जो न्याय-प्रधान रहे, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष और अनुमान में समावेश किया और हरिभद्र सूरि, उपाध्याय यशोविजयजी आदि जो न्याय के साथ-साथ योग के क्षेत्र में भी चले, उन्होंने इसे प्रत्यक्ष और श्रुत के बीच का माना।

पहली परम्परा के अनुसार इन्द्रिय, हेतु और शब्द-व्यापार निरपेक्ष जो स्पष्ट आत्म-प्रतिभान होता है, वह मानस-प्रत्यक्ष में चला जाता है।

प्रसाद और उद्वेग के निश्चित लिङ्ग से जो प्रिय-अप्रिय फल-प्राप्ति का प्रतिभान होता है, वह अनुमान की श्रेणी में है।

---

१. सम्भवः—अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणं सम्भवः। अयं द्विविधः—1. सम्भावनारूपः—यथा—अमुको मनुष्यो वैश्योऽस्ति अतो धनिकोऽपि स्यात्। २. निर्णयरूपः यथा—अमुकस्य पार्श्वे यदि शतमस्ति तत् पंचाशता अवश्यं भाव्यम्।

२. ऐतिह्यः—अनिर्दिष्टवक्तृकं प्रवादपारंपर्यम्।
चरक (विमानस्थान ८।३०) में आगम को भी ऐतिह्य कहा है—तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति।
ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः। (चरक विमानस्थान ८।४३)

दूसरी परम्परा—प्रातिभ-ज्ञान न केवलज्ञान है, न श्रुतज्ञान और न ज्ञानान्तर।[1] इसकी दशा ठीक अरुणोदय-संध्या जैसी है। अरुणोदय न दिन है, न रात और न दिन-रात से अतिरिक्त है। यह आकस्मिक प्रत्यक्ष है और यह उत्कृष्ट क्षयोपशम (निरावरण दशा) या योग-शक्ति से उत्पन्न होता है।

प्रातिभ-ज्ञान विवेक-जनित ज्ञान का पूर्व-रूप है। सूर्योदय से कुछ पूर्व प्रकट होने वाली सूर्य की प्रभा से मनुष्य सब वस्तुओं को देख सकता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के द्वारा योगी सब बातों को जान लेता है।[2]

समन्वय

वस्तुतः जैन ज्ञान-मीमांसा के अनुसार प्रातिभ-ज्ञान अश्रुत-निश्रित-मतिज्ञान का एक प्रकार है, जिसका नाम है—'औत्पत्तिकी बुद्धि'। नन्दी में उसके निम्न लक्षण बतलाए हैं—'पहले अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात अर्थ का तत्काल बुद्धि के उत्पाद-काल में अपने आप सम्यग् निर्णय हो जाता है और उसका परिच्छेद्य अर्थ के साथ अबाधित योग होता है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है।'[3]

मतिज्ञान के दो भेद होते हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित।[4] श्रुतनिश्रित के अवग्रह आदि चार भेद व्यावहारिक प्रत्यक्ष में चले जाते हैं।[5] और स्मृति आदि

---

१. अध्यात्म उपनिषद् २।२ :
योगजादृष्टिजनितः स तु प्रातिभसंज्ञितः।
सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक्॥

२. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ५२६
इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवं अर्थतया भावप्रकाशं ज्ञानं प्रतिभेति प्रसिद्धम्—श्वो मे भ्राता आगन्ता, इत्यादिवत्।
(ख) न्यायमंजरी विवरण, पृ० १०६,१०७ जयंत
अपि चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित्।
प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे, भ्रातागन्तेति दृश्यते॥
नानर्थजं न संदिग्धं न वादविधुरीकृतम्।
न दुष्टकारणञ्चेति, प्रमाणमिदमिष्यताम्॥

३. नन्दी, सूत्र ३८ :
पुव्वमदिट्ठ-मसुय-मवेइय-तक्खणविसुद्धगहिअत्था।
अव्वाहय-फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम॥

४. वही, सूत्र ३७।

५. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, २।५

चार भेद परोक्ष में।[1] अश्रुत-निश्रित मति के चार भेद—औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय का समावेश किसी प्रमाण के अन्तर्गत किया हुआ नहीं मिलता।

जिनभद्रगणि ने बुद्धि चतुष्टय में भी अवग्रह आदि की योजना की है[2]। परन्तु उसका सम्बन्ध मतिज्ञान के २८ भेद विषयक चर्चा से है।[3] अश्रुत-निश्रित मति को किस प्रमाण में समाविष्ट करना चाहिए, यह वहां मुख्य चर्चनीय नहीं है।

औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय में अवग्रह आदि होते हैं, फिर भी यह व्यवहार प्रत्यक्ष से पूर्ण समता नहीं रखता। उसमें पदार्थ का इन्द्रिय से साक्षात् होता है, इसमें नहीं। वह शास्त्रोपदेशजनित संस्कार होता है और यह आत्मा की सहज स्फुरणा। इसलिए यह केवल और श्रुत के वीच का ही होना चाहिए तथा इसका प्रातिभ के साथ पूर्ण सामंजस्य दीखता है। इसे केवल और श्रुत के वीच का ज्ञान इसलिए मानना चाहिए कि इससे न तो समस्त द्रव्य-पर्यायों का ज्ञान होता है और न यह इन्द्रिय, लिङ्ग आदि की सहायता तथा शास्त्राभ्यास आदि के निमित्त से उत्पन्न होता है। पहली परम्परा के प्रातिभज्ञान के लक्षण इससे भिन्न नहीं हैं। मानस-प्रत्यक्ष इसी का नामान्तर हो सकता है और जो निश्चित लिङ्ग के द्वारा होने वाला प्रातिभ कहा गया है, वह वास्तव में अनुमान है। जो उसे प्रातिभ मानते हैं, उनकी अपेक्षा उसे प्रातिभ कहकर उसे अनुमान के अन्तर्गत किया गया है।

प्रमाता और प्रमाण का भेदाभेद

प्रमाता आत्मा है, वस्तु है। प्रमाण निर्णायक ज्ञान है, आत्मा का गुण है। प्रमेय आत्मा भी है और आत्म-अतिरिक्त पदार्थ भी। प्रमिति प्रमाण का फल है।

गुणी से गुण न अत्यन्त भिन्न होता है और न अत्यन्त अभिन्न किन्तु दोनों भिन्नाभिन्न होते हैं। प्रमाण प्रमाता में ही होता है, इस दृष्टि से इनमें कथंचिद् अभेद है। कर्ता और करण के रूप में ये भिन्न हैं—प्रमाता कर्ता है और प्रमाण करण। अभेद-कक्षा में ज्ञाता और ज्ञान का साधन—ये दोनों आत्मा या जीव कहलाते हैं। भेद-कक्षा में आत्मा ज्ञाता कहलाता है और ज्ञान जानने का साधन।[4] ज्ञान आत्मा ही है, आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञान-व्यतिरिक्त भी—इस दृष्टि से भी

---

१. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, ३।२

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३००-०६।

३. वही, गाथा ३०५ वृत्ति…।

४. (क) आयारो, १।५ :

जे विण्णाया से आया…जेण वियाणइ से आया।

(ख) भगवती, ६।१० वृत्ति—

प्रमाता और प्रमाण में भेद है।[1]

प्रमाता और प्रमेय का भेदाभेद

प्रमाता चेतन ही होता है, प्रमेय चेतन और अचेतन दोनों होते हैं। इस दृष्टि से प्रमाता प्रमेय से भिन्न है। ज्ञेय-काल में जो आत्मा प्रमेय बनती है, वही ज्ञान-काल में प्रमाता बन जाती है, इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

प्रमाण साधन है और फल साध्य—इस दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। प्रमाण और फल इन दोनों का अधिकरण एक ही प्रमाता होता है। प्रमाण-रूप में परिणत आत्मा ही फल-रूप में परिणत होती है—इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।[2]

---

१. भगवती, १२।१ : णाणे पुण णियमं आया।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४३ :
स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः, स्वप्रमातृत्वमात्मनः
प्रमेयत्वमपि स्वस्य, प्रमितिश्चेयमागता।

६

निक्षेप

शब्द-प्रयोग की प्रक्रिया

संसारी जीवों का समूचा व्यवहार पदार्थाश्रित है। पदार्थ अनेक हैं। उन सबका व्यवहार एक साथ नहीं होता। वे अपनी पर्याय में पृथक्-पृथक् होते हैं। उनकी पहचान भी पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। यह एक बात है। दूसरी बात है—मनुष्य का व्यवहार सहयोगी है। मनुष्य करता और कराता है, देता और लेता है, सीखता और सिखाता है। पदार्थ के बिना क्रिया नहीं होती, लेन-देन नहीं होता, सीखना-सिखाना भी नहीं होता। इस व्यवहार का साधन चाहिए। उसके बिना 'क्या करे, क्या दे, किसे जाने'—इनका कोई समाधान नहीं मिलता। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए संकेत-पद्धति का विकास हुआ और शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष माने जाने लगे।

स्वरूप की दृष्टि से पदार्थ और शब्द में कोई अपनापन नहीं। दोनों अपनी-अपनी स्थिति में स्वतन्त्र हैं। किन्तु उक्त समस्याओं के समाधान के लिए दोनों एकता की शृङ्खला में जुड़े हुए हैं। इनका आपस में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह भिन्नाभिन्न है। अग्नि शब्द के उच्चारण से दाह नहीं होता, इससे हम जान सकते हैं कि 'अग्नि पदार्थ' और शब्द' एक नहीं हैं। ये दोनों सर्वथा एक नहीं हैं, ऐसा भी नहीं। अग्नि शब्द से अग्नि पदार्थ का ही ज्ञान होता है। इससे हम जान सकते हैं कि इन दोनों में अभेद भी है। भेद स्वभाव-कृत है और अभेद संकेत-कृत। संकेत इन दोनों के भाग्य को एक सूत्र में जोड़ देता है। इससे अर्थ में 'शब्द-ज्ञेयता' नामक पर्याय और शब्द में 'अर्थ-ज्ञापकता' नामक पर्याय की अभिव्यक्ति होती है।

संकेत-काल में जिस वस्तु के बोध के लिए जो शब्द गढ़ा जाता है वह वही रहे, तब कोई समस्या नहीं आती। किन्तु ऐसा होता नहीं। वह आगे चलकर अपना क्षेत्र विशाल बना लेता है। उससे फिर उलझन पैदा होती है और वह शब्द

इष्ट अर्थ की जानकारी देने की क्षमता खो बैठता है। इस समस्या का समाधान पाने के लिए निक्षेप पद्धति है।

निक्षेप का अर्थ है—"प्रस्तुत अर्थ का वोध देनेवाली शब्द-रचना या अर्थ का शब्द में आरोप।"[1] अप्रस्तुत अर्थ को दूर रखकर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराना इसका फल है। यह संशय और विपर्यय को दूर किये देता है। विस्तार में जाएं तो कहना होगा कि वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हैं, उतने ही निक्षेप हैं। संक्षेप में कम से कम चार तो अवश्य होते हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[2]

नाम-निक्षेप

वस्तु का इच्छानुसार नाम रखा जाता है, वह नाम निक्षेप है। नाम सार्थक (जैसे 'इन्द्र') या निरर्थक (जैसे 'डित्थ'), मूल अर्थ से सापेक्ष या निरपेक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु जो नामकरण सिर्फ संकेत-मात्र से होता है, जिसमें जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं होती, वही 'नाम निक्षेप' है।[3] एक अनक्षर व्यक्ति का नाम 'अध्यापक' रख दिया। एक गरीब आदमी का नाम 'इन्द्र' रख दिया। अध्यापक और इन्द्र का जो अर्थ होना चाहिए, वह उनमें नहीं मिलता, इसलिए ये नाम निक्षिप्त कहलाते हैं। उन दोनों में इन दोनों का आरोप किया जाता है। 'अध्यापक' का अर्थ है—पढ़ानेवाला। 'इन्द्र' का अर्थ है—परम ऐश्वर्यशाली। जो अध्यापक है, जो अध्यापन कराता है, उसे 'अध्यापक' कहा जाए, यह नाम-निक्षेप नहीं। जो परम ऐश्वर्य-सम्पन्न है, उसे 'इन्द्र' कहा जाए—यह नाम-निक्षेप नहीं। किन्तु जो ऐसे नहीं, उनका ऐसा नामकरण करना नाम-निक्षेप है। 'नाम-अध्यापक' और 'नाम-इन्द्र' ऐसी शब्द-रचना हमें बताती है कि ये व्यक्ति नाम से 'अध्यापक' और 'इन्द्र' हैं। जो अध्यापन कराते हैं और जो परम ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं और उनका नाम भी अध्यापक और इन्द्र हैं तो हम उनको 'भाव-अध्यापक' और 'भाव-इन्द्र' कहेंगे। यदि नाम-निक्षेप नहीं होता तो हम 'अध्यापक' और 'इन्द्र' ऐसा नाम सुनते ही यह समझ लेने को बाध्य होते कि अमुक व्यक्ति पढ़ाता है और अमुक व्यक्ति ऐश्वर्य-सम्पन्न है। किन्तु संज्ञासूचक शब्द के पीछे नाम विशेषण लगते ही सही स्थिति सामने आ जाती है।

स्थापना-निक्षेप

जो अर्थ तद्‌रूप नहीं है, उसे तद्‌रूप मान लेना स्थापना-निक्षेप है।[4] स्थापना

---

१. जैनसिद्धान्त दीपिका, ६।४
२. वही, ६।५
३. वही, ६।६
४. वही, ६।७

दो प्रकार की होती है— सद्भाव (तदाकार) स्थापना और असद्भाव (अतदाकार) स्थापना। एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है, यह सद्भाव-स्थापना है। एक व्यक्ति ने शंख में अपने गुरु का आरोप कर दिया, यह असद्भाव-स्थापना है। नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ-शून्य होते हैं।

द्रव्य-निक्षेप

अतीत-अवस्था, भविष्यत्-अवस्था और अनुयोग-दशा—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते, इसलिए इन्हें द्रव्य-निक्षेप कहा जाता है। भाव-शून्यता—वर्तमान-पर्याय की शून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है, यही इसमें द्रव्यता का आरोप है।

भाव-निक्षेप

वाचक द्वारा संकेतित क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को भाव-निक्षेप कहा जाता है।[1] इनमें (द्रव्य और भाव निक्षेप में) शब्द-व्यवहार के निमित्त ज्ञान और क्रिया—ये दोनों बनते हैं। इसलिए इनके दो-दो भेद होते हैं—

(१,२) जाननेवाला द्रव्य और भाव।

(३,४) करनेवाला द्रव्य और भाव।

ज्ञान की दो दशाएं होती हैं—(१) उपयोग—दत्तचित्तता।

(२) अनुपयोग—दत्तचित्तता का अभाव।

अध्यापक शब्द का अर्थ जाननेवाला उसके अर्थ में उपयुक्त (दत्तचित) नहीं होता। इसलिए वह आगम या जाननेवाले की अपेक्षा द्रव्य-निक्षेप है।

अध्यापक शब्द का अर्थ जानता था, उसका शरीर 'ज्ञ-शरीर' कहलाता है और उसे आगे जानेगा, उसका शरीर 'भव्य-शरीर'। ये भूत और भावी पर्याय के कारण हैं, इसलिए द्रव्य हैं।

वस्तु की उपकारक सामग्री में वस्तुवाची शब्द का व्यवहार किया जाता है, वह 'तद्-व्यतिरिक्त' कहलाता है। जैसे—अध्यापक के शरीर को अध्यापक कहना अथवा अध्यापक की अध्यापन के समय होनेवाली हस्त-संकेत आदि क्रिया को अध्यापक कहना। 'ज्ञ-शरीर' में अध्यापक शब्द का अर्थ जाननेवाले व्यक्ति का शरीर अपेक्षित है और तद्-व्यतिरिक्त में अध्यापक का शरीर।

१. ज्ञाता…अनुपयुक्त…आगम से द्रव्य-निक्षेप।

२. ज्ञाता का मृतक शरीर…नो-आगम से मृत-ज्ञ-शरीर—द्रव्य-निक्षेप।

---

१. जैनसिद्धान्त दीपिका, ६।९

३. भावी पर्याय का उपादान···नो-आगम से भावी-ज्ञ-शरीर—द्रव्य-निक्षेप।

४. पदार्थ से सम्बन्धित वस्तु में परार्थ का व्यवहार नो-आगम से तद्-व्यतिरिक्त—द्रव्य-निक्षेप। जैसे—वस्त्र के कर्ता व वस्त्र-निर्माण की सामग्री को वस्त्र कहना।

आगम-द्रव्य-निक्षेप में उपयोगरूप आगम-ज्ञान नहीं होता, लब्धि-रूप (शक्ति-रूप) होता है। नो-आगम द्रव्यों में दोनों प्रकार का आगम-ज्ञान नहीं होता, सिर्फ आगम-ज्ञान का कारणभूत शरीर होता है। नो-आगम तद्व्यतिरिक्त में आगम का सर्वथा अभाव होता है। यह क्रिया की अपेक्षा द्रव्य है। इसके तीन रूप बनते हैं—लौकिक, कुप्रावचनिक, लोकोत्तर।

१. लोकमान्यतानुसार 'दूब' मंगल है।

२. कुप्रावचनिक मान्यतानुसार 'विनायक' मंगल है।

३. लोकोत्तर मान्यतानुसार 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म' मंगल है।

ज्ञाता उपयुक्त (अध्यापक शब्द के अर्थ में उपयुक्त)—आगम से भाव-निक्षेप।

ज्ञाता क्रिया-प्रवृत्त (अध्यापन-क्रिया में प्रवृत्त)—नो-आगम से भाव-निक्षेप।

यहां 'नो' शब्द मिश्रवाची है, क्रिया के एक देश में ज्ञान है। इसके भी तीन रूप बनते हैं—

१. लौकिक

२. कुप्रावचनिक

३. लोकोत्तर

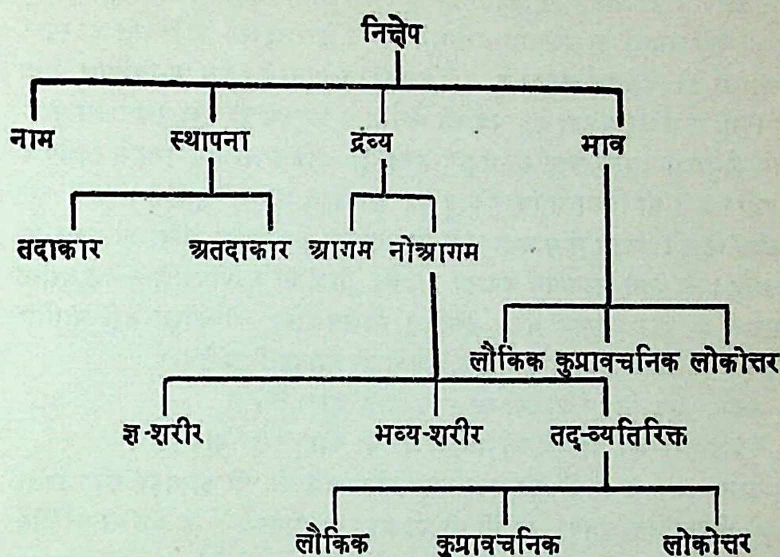
नो-आगम-तद्-व्यतिरिक्त द्रव्य के लौकिक आदि तीन भेद और नो-आगम भाव के तीन रूप बनते हैं। इनमें यह अन्तर है कि द्रव्य में नो शब्द सर्वथा आगम का निषेध बताता है और भाव एक देश में।[1] द्रव्य-तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र सिर्फ क्रिया है और इसका क्षेत्र ज्ञान और क्रिया दोनों हैं। अध्यापन करानेवाला हाथ हिलाता है, पुस्तक के पन्ने उलटता है, इस क्रियात्मक देश में ज्ञान नहीं है और वह जो पढ़ाता है, उसमें ज्ञान है, इसलिए भाव में 'नो शब्द' देशनिषेधवाची है।

निक्षेप के सभी प्रकारों की सब द्रव्यों में संगति होती है, ऐसा नियम नहीं है। इसलिए जिनकी उचित संगति होती हो, उन्हीं की करनी चाहिए।

---

१. आगम सव्वनिसेहे, नो सद्दो अहव देसपडिसेहे।—'नो शब्द' के दो अर्थ होते हैं—सर्व-निषेध और देश-निषेध। यहां नो शब्द दोनों प्रकार के निषेध के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

पदार्थ मात्र चतुष्पर्यायात्मक होता है। कोई भी वस्तु केवल नाममय, केवल आकारमय, केवल द्रव्यता-श्लिष्ट और केवल भावात्मक नहीं होती।



नय और निक्षेप

नय और निक्षेप का विषय-विषयी सम्बन्ध है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध तथा उसकी क्रिया नय से जानी जाती है। नामादि तीन निक्षेप द्रव्य-नय के विषय हैं, भाव पर्याय-नय का। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य-अन्वय होता है। नाम, स्थापना और द्रव्य का सम्बन्ध तीन काल से होता है, इसलिए ये द्रव्यार्थिक के विषय बनते हैं। भाव में अन्वय नहीं होता है। उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान-पर्याय से होता है, इसलिए वह पर्यायार्थिक का विषय बनता है।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि-बिन्दु हैं। भाव अकल्पित दृष्टि है, इसलिए वह प्रधान होता है। शेष तीन निक्षेप कल्पित होते हैं, इसलिए वे अप्रधान होते हैं।

नाम में पहचान और स्थापना में आकार की भावना होती है, गुण की वृत्ति नहीं होती। द्रव्य मूल-वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य वस्तु होती है। इसमें भी मौलिकता नहीं होती। इसलिए ये तीनों मौलिक नहीं होते।

निक्षेप पद्धति की उपयोगिता

निक्षेप भाषा और भाव की संगति है। इसे समझे बिना भाषा के प्रास्ताविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। अर्थ-सूचक शब्द के पीछे अर्थ की स्थिति को स्पष्ट करनेवाला जो विशेषण लगता है, यही इसकी विशेषता है। इसे 'स-विशेषण भाषा प्रयोग' भी कहा जा सकता है। अर्थ की स्थिति के अनुरूप ही शब्द-रचना या शब्द-प्रयोग की शिक्षा वाक्-सत्य का महान् तत्त्व है। अधिक अभ्यास-दशा में विशेषण का प्रयोग नहीं भी किया जाता किन्तु वह अन्तर्हित अवश्य रहता है। यदि इस अपेक्षादृष्टि को ध्यान में न रखा जाए तो पग-पग पर मिथ्या भाषा का प्रसंग आ सकता है। जो कभी अध्यापन कराता था, वह आज भी अध्यापक है—यह असत्य हो सकता है और भ्रामक भी। इसलिए निक्षेप दृष्टि की अपेक्षा नहीं भुलानी चाहिए। यह विधि जितनी गंभीर है, उतनी ही व्यावहारिक है।

नाम—एक निर्धन आदमी का नाम 'इन्द्र' होता है।

स्थापना—एक पाषाण की प्रतिमा को भी लोग 'इन्द्र' मानते हैं।

द्रव्य—जो कभी घी का घड़ा रहा, वह आज भी 'घी का घड़ा' कहा जाता है। जो घी का घड़ा बनेगा, वह भी घी का घड़ा कहलाता है। एक व्यक्ति आयुर्वेद में निष्णात है, वह अभी व्यापार में लगा हुआ है, फिर भी लोग उसे आयुर्वेद-निष्णात कहते हैं। भौतिक ऐश्वर्य वाला लोक में 'इन्द्र' कहलाता है। आत्म-संपत् का अधिकारी लोकोत्तर जगत् में 'इन्द्र' कहलाता है। इस समूचे व्यवहार का कारण निक्षेप-पद्धति ही है।

७

लक्षण

लक्षण

समग्रं वस्तुनो रूपं, प्रमाणेन प्रमीयते।
असङ्कीर्णं स्वरूपं हि, लक्षणेनावधार्यते॥

अर्थ-सिद्धि के दो साधन हैं—लक्षण और प्रमाण।[1] प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है। लक्षण निश्चित स्वरूप वाली वस्तुओं को श्रेणीबद्ध करता है। प्रमाण हमारा ज्ञानगत धर्म है, लक्षण वस्तुगत धर्म। यह जगत् अनेक-विध पदार्थों से संकुल है। हमें उनमें से किसी एक की अपेक्षा होती है, तब उसे औरों से पृथक् करने के लिए विशेष-धर्म बताना पड़ता है, वह लक्षण है।[2] लक्षण में लक्ष्य-वस्तु के स्वभाव-धर्म, अवयव अथवा अवस्था का उल्लेख होना चाहिए। इसके द्वारा हम ठीक लक्ष्य को पकड़ते हैं, इसलिए इसे व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) धर्म कहते हैं। व्यवच्छेदक धर्म वह होता है जो वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता (असंकीर्ण व्यवस्था) बतलाए। स्वतन्त्र पदार्थ वह होता है, जिसमें एक विशेष गुण (दूसरे पदार्थों में न मिलनेवाला गुण) मिले।

स्वभावधर्म-लक्षण

चैतन्य जीव का स्वभाव-धर्म है। वह जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करता है, इसलिए वह जीव का गुण है और वह हमें जीव को अजीव से पृथक् समझने में सहायता देता है, इसलिए वह जीव का लक्षण बन जाता है।

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।४।
२. वही, १।५।

अवयव-लक्षण

सास्ना (गलकम्बल) गाय का अवयव विशेष है। वह गाय के ही होता है। दूसरे पशुओं के नहीं होता, इसलिए वह गाय का लक्षण बन जाता है। जो आदमी गाय को नहीं जानता उसे हम 'सास्ना चिह्न' समझाकर गाय का ज्ञान करा सकते हैं।

अवस्था-लक्षण

दस आदमी जा रहे हैं। उनमें से एक आदमी को बुलाना है। जिसे बुलाना है, उसके हाथ में डण्डा है। आवाज़ हुई—"डण्डेवाले आदमी ! आओ।" दस में से एक आ जाता है। इसका कारण उसकी एक विशेष अवस्था है।

अवस्था-लक्षण स्थायी नहीं होता। डण्डा हर समय उसके पास नहीं रहता। इसलिए इसे कादाचित्क लक्षण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम अनात्मभूत लक्षण भी है। कुछ समय के लिए भले ही, किन्तु यह वस्तु का व्यवछेद करता है, इसलिए इसे लक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती।

पहले दो प्रकार के लक्षण स्थायी (वस्तुगत) होते हैं, इसलिए उन्हें 'आत्म-भूत' कहा जाता है।

लक्षण के दो रूप

विषय के ग्रहण की अपेक्षा से लक्षण के दो रूप बनते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'ताप' अग्नि का प्रत्यक्ष लक्षण है। धूम के द्वारा अग्नि का परोक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'धूम' अग्नि का परोक्ष लक्षण है।

लक्षण के तीन दोष—लक्षणाभास[1]

किसी वस्तु का लक्षण बनाते समय हमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। जैसे, लक्षण—

१. श्रेणी के सब पदार्थों में होना चाहिए।
२. श्रेणी के बाहर नहीं होना चाहिए।
३. श्रेणी के लिए असम्भव नहीं होना चाहिए।

लक्षणाभास के उदाहरण

१. 'पशु सींग वाला होता है'—यहां पशु का लक्षण सींग है। यह लक्षण

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, १।६।

पशु जाति के सब सदस्यों में नहीं मिलता। 'घोड़ा एक पशु है किन्तु उसके सींग नहीं होते' इसलिए यह 'अव्याप्त-दोष' है।

२. 'वायु चलनेवाली होती है'—इसमें वायु का लक्षण गति है। यह वायु में पूर्ण रूप से मिलता है किन्तु वायु के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं में भी मिलता है। "घोड़ा वायु नहीं, फिर भी वह चलता है" इसलिए यह 'अतिव्याप्त-दोष' है।

३. पुद्गल (भूत) चैतन्यवान् होता है—यह जड़ पदार्थ का 'असम्भव लक्षण' है। जड़ और चेतन का अत्यन्ताभाव होता है—किसी भी समय जड़ चेतन और चेतन जड़ नहीं बन सकता।

वर्णन और लक्षण में भेद

वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं—स्वभाव-धर्म और स्वभाव-सिद्ध-धर्म। प्राणी ज्ञान वाला होता है—यह प्राणी नामक वस्तु का स्वभाव-धर्म है। प्राणी वह होता है, जो खाता है, पीता है, चलता है—ये उसके स्वभाव-सिद्ध-धर्म हैं। 'ज्ञान' प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् करता है, इसलिए वह प्राणी का लक्षण है। खाना, पीना, चलना—ये प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् नहीं करते। इंजिन भी खाता है, पीता है, चलता है, इसलिए ये प्राणी के लक्षण नहीं बनते, सिर्फ उसका वर्णन करते हैं।

८

कार्यकारणवाद

कार्यकारणवाद

असत् का प्रादुर्भाव—यह भी अर्थ-सिद्धि का एक रूप है। न्यायशास्त्र असत् के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया नहीं बताता किन्तु असत् से सत् बनता है या नहीं—इसकी मीमांसा करता है। इसी का नाम कार्यकारणवाद है।

वस्तु का जैसे स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यवहार-दृष्टि को काम में लेते हैं। मिश्री की डली को हम सफ़ेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चय की बात देखिए। निश्चय-दृष्टि के अनुसार उसमें सब रंग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहां तक आ जाते हैं कि वह परमाणुओं से बनी है। ये दोनों दृष्टियां मिल सत्य को पूर्ण बनाती हैं। जैन दर्शन की भाषा में ये 'निश्चय और व्यवहार नय' कहलाती हैं।[1] बौद्ध दर्शन में इन्हें लोक-संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य कहा जाता है।[2] शंकराचार्य ने ब्रह्म को परमार्थ-सत्य और प्रपंच को व्यवहार

---

१. भिक्षुन्यायकर्णिका, ५।७

२. (क) माध्यमिककारिका, २४।८ :

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च, सत्यं च परमार्थतः।।

(ख) वही, ६।२३,२४ :

सम्यग्मृषादर्शनलब्धभावं, रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः।
सम्यग्दृशो यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम्।।
मृषादृशोऽपि द्विविधास्त इष्टा, दीप्तेन्द्रिया इन्द्रियदोषवन्तः।
दुष्टेन्द्रियाणां किल बोध इष्टः सुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्य मिथ्या।।

सत्य माना है।[१] प्रो० आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किए बिना हम उसे छू ही नहीं सकते।[२]

निश्चय-दृष्टि अभेद-प्रधान होती है, व्यवहार-दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय-दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है। जीव और शिव में कोई भेद नहीं। व्यवहार-दृष्टि कर्म-बद्ध आत्मा को जीव कहती है और कर्म-मुक्त आत्मा को शिव।[३]

कारण-कार्य

प्रत्येक पदार्थ में पल-पल परिणमन होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहलेवाला कारण और पीछेवाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है।[४] परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते हैं। किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति काल में ही उनकी अपेक्षा रहती है।

परिणमन के दो पहलू हैं—उत्पाद और नाश। कार्य का उत्पाद होता है और कारण का नाश। कारण ही अपना रूप त्यागकर कार्य को रूप देता है, इसीलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नहीं बनता और असत् सत् नहीं बनता। जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होगा, वह उसी से होगा, किसी दूसरे से नहीं। और कारण भी जिसे उत्पन्न करता है उसी को करेगा, किसी दूसरे को नहीं। एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होगा। कारण और कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए कार्य से कारण का और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है।

एक कार्य के अनेक कारण और एक कारण से अनेक कार्य बनें यानी बहु-कारणवाद या बहु-कार्यवाद माना जाए तो कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान नहीं हो सकता।

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६।८।७, शांकरभाष्य, पृ० ६६१।

२. Mysterious universe, p. 138.
We can only know the relative truth but absolute truth is know only to the universal observer.

३. जीवः शिवः शिवोजीवो, नान्तरं शिवजीवयोः।
कर्मबद्धो भवेज्जीवः, कर्म-मुक्तः सदा शिवः॥

४. व्यक्ताऽव्यक्तात्मरूपं यत्, पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेपि तद् द्रव्य-मुपादानमिति स्मृतम्॥

विविध विचार

कार्य-कारणवाद के बारे में भारतीय दर्शन की अनेक धाराएं हैं—

१. न्याय-वैशेषिक कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनका कार्य-कारणवाद 'आरम्भवाद या असत्-कार्यवाद' कहलाता है।

२. सांख्य कार्य और कारण दोनों को सत् मानते हैं, इसलिए उनकी विचार-धारा 'परिणामवाद या सत् कार्यवाद' कहलाती है।

३. वेदान्ती कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनके विचार को 'विवर्त्तवाद या सत्-कारणवाद' कहा जाता है।

४. बौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं, इसे 'प्रतीत्य-समुत्पात' कहा जाता है।

बौद्ध असत् कारण से सत् कार्य मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत् कारण से असत् कार्य मानते हैं। उनके मतानुसार वास्तव में कारण और कार्य एक-रूप हों, तब दोनों सत् होते हैं।[1] कार्य और कारण को पृथक् माना जाए, तब कारण सत् और आभासित कार्य असत् होता है। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है।

१. कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नहीं होते । कारण कार्य का ही पूर्व-रूप है और कार्य कारण का उत्तर-रूप। असत् कार्यवाद के अनुसार कार्य-कारण एक ही सत्य के दो पहलू न होकर दोनों स्वतन्त्र बन जाते हैं। इसलिए यह युक्ति-संगत नहीं।

२. सत्-कार्यवाद भी एकांगी है। कार्य और कारण में अभेद है सही किन्तु वे सर्वथा एक नहीं हैं। पूर्व और उत्तर स्थिति में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता।

३. असत् कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती। कार्य किसी शून्य से उत्पन्न नहीं होता। सर्वथा अभूतपूर्व और सर्वथा नया भी उत्पन्न नहीं होता। कारण सर्वथा मिट जाए, उस दशा में कार्य का कोई रूप बनता ही नहीं।

४. विवर्त्त परिणाम से भिन्न कल्पना उपस्थित करता है। वर्तमान अवस्था त्यागकर रूपान्तरित होना परिणाम है। दूध दही के रूप में परिणत होता है, यह परिणाम है। विवर्त्त अपना रूप त्यागे बिना मिथ्या प्रतीति का कारण बनता है। रस्सी अपने रूप का त्याग किये बिना ही मिथ्या प्रतीति का कारण बनती है।[2]

---

१. शांकरभाष्य, २।१।१८ :
सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः स्यान्नसदसतोरसतो वा।

२. वेदान्तसार :
सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतो ऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः ।।

तत्त्वचिन्तन में 'विवर्त्त' गम्भीर मूल्य उपस्थित नहीं करता। रस्सी में सांप का प्रतिभास होता है, उसका कारण रस्सी नहीं, द्रष्टा की दोषपूर्ण सामग्री है। एक काल में एक व्यक्ति को दोषपूर्ण सामग्री के कारण मिथ्या प्रतीति हो सकती है किन्तु सर्वदा सब व्यक्तियों को मिथ्या प्रतीति नहीं होती।

न्याय-वैशेषिक कार्य-कारण का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं। सांख्य द्वैतपरक अभेद[1], वेदान्त अद्वैतपरक अभेद[2], बौद्ध कार्य-कारण का भिन्न काल स्वीकार करते हैं।[3]

जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् होता है। इसे सत्-असत् कार्यवाद या परिणामि-नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक हैं—अभिन्न हैं। काल और अवस्था के भेद से पूर्व और उत्तर रूप में परिवर्तित एक ही वस्तु को निश्चय-दृष्टि भिन्न नहीं मानती। व्यवहार-दृष्टि में कार्य और कारण भिन्न हैं—दो हैं। द्रव्य-दृष्टि से जैन सत्-कार्यवादी है और पर्याय दृष्टि से असत्-कार्यवादी। द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा "भाव का नाश और अभाव का उत्पाद नहीं होता।"[4] पर्याय-दृष्टि की अपेक्षा—"सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है।"[5]

कारण-कार्य जानने की पद्धति

कारण-कार्य का सम्बन्ध जानने की पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति कहा जाता है। जिसके होने पर ही जो होता है, वह अन्वय है और जिसके बिना जो नहीं होता, वह व्यतिरेक है। ये दोनों जहां मिलें, वहां कार्य-कारण-भाव जाना जाता है।

परिणमन के हेतु

जो परिवर्तन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक या अहेतुक कहलाता है। 'प्रत्येक कार्य कारण का आभारी होता है'—यह तर्क-नियम सामान्यतः सही है किन्तु स्वभाव इसका अपवाद है। इसीलिए उत्पाद के दो रूप बनते हैं—

---

१. सांख्यकौमुदी, ९ : कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। नहि कारणाद् भिन्नं कार्यम्।
२. ब्रह्मसूत्र, २।२।१७ (शांकरभाष्य)
"नहि कार्यकारणयोर्भेदः आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तिभिरभ्युपगम्यते।
कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्।
३. प्रमाणवार्तिक, २-१४९
४. पंचास्तिकाय, १५ : भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।
५. पंचास्तिकाय, ६० :
एवं सदो विणासो, असदो जीवस्स होइ उप्पादो।

१. स्व-प्रत्यय-निष्पन्न, वैस्रसिक या स्वापेक्ष परिवर्तन।

२. पर-प्रत्यय-निष्पन्न, प्रायोगिक या परापेक्ष-परिवर्तन।

गौतम...भगवन्! क्या अस्तित्व अस्तित्वरूप में परिणत होता है? नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है?

भगवान्—हां, गौतम! होता है।

गौतम—भगवन्! क्या स्वभाव से अस्तित्व अस्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है? क्या स्वभाव से नास्तित्व नास्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है?

भगवान्—गौतम! स्वभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में, नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है और प्रयोग से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में और नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है।[1]

वैभाविक परिवर्तन प्रायः पर-निमित्त से ही होता है। मृद्-द्रव्य का पिंडरूप अस्तित्व कुम्हार के द्वारा घटरूप अस्तित्व में परिणत होता है। मिट्टी का नास्तित्व तन्तु-समुदय जुलाहे के द्वारा मिट्टी के नास्तित्व कपड़े के रूप में परिणत होता है। ये दोनों परिवर्तन प्रायोगिक हैं। मेघ के पूर्व-रूप पदार्थ स्वयं मेघ के रूप में परिवर्तित होते हैं, यह स्वाभाविक या अकर्तृक परिवर्तन है।

पर-प्रत्यय से होनेवाले परिवर्तन में कर्त्ता या प्रयोक्ता की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह प्रायोगिक कहलाता है। पदार्थ में जो अगुरु-लघु (सूक्ष्म-परिवर्तन) होता है, वह परनिमित्त से नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायों का पिंड होता है। उसके गुण और शक्तियां इसलिए नहीं बिखरतीं कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमें स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकतीं। सांसारिक आत्मा और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में रूपान्तर दशाएं पैदा होती हैं। शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में निरपेक्षवृत्या स्वभाव परिवर्तन ही होता है। मुक्त आत्मा में भी यही होता है। ऐसा कहना चाहिए कि स्व-निमित्त परिवर्तन सब में होता है। नाश की भी यही प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त उसके दो रूप—रूपान्तर और अर्थान्तर जो बनते हैं, उनसे यह मिलता है कि रूपान्तर होने पर भी परिवर्तन की मर्यादा नहीं टूटती।[2]

---

१. भगवती, ५।३

२. द्रव्यानुयोगतर्कणा, ९।२५,२६।
नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तरविगोचरः।
अर्थान्तरगतिश्चैव, द्वितीयः परिकीर्तितः।
तत्रान्धतमसस्तेजो, रूपान्तरस्य संक्रमः।
अणोरण्वंतरप्राप्तो, ह्यर्थान्तरगमश्च सः॥

तैजस् परमाणु तिमिर के रूप में परिणत हो जाते हैं—यह रूपान्तर है, पर स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है, उससे आगे नहीं। तैजस् परमाणु असंख्य या अनन्त रूप पा सकते हैं किन्तु चैतन्य नहीं पा सकते। कारण, वह उनकी मर्यादा या वस्तु-स्वरूप से अत्यन्त या त्रैकालिक भिन्न-गुण है। यही बात अर्थान्तर के लिए समझिए।

दो सरीखी वस्तुएं अलग-अलग थीं, तब तक वे दो थीं। दोनों मिलती हैं, तब एक बन जाती हैं।[1] यह भी अपनी मर्यादा में ही होता है। केवल चैतन्यमय या केवल अचैतन्यमय पदार्थ हैं नहीं, ऐसा स्पष्ट बोध हो रहा है। यह जगत् चेतन और जड़—इन दो पदार्थों से परिपूर्ण है। चेतन जड़ और जड़ चेतन बन सके तो कोई व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए पदार्थ का जो विशेष स्वरूप है वह कभी नष्ट नहीं होता। यही कारण और कार्य के अविच्छिन्न एकत्व की धारा है।

मार्क्स के धर्म-परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त में कार्य-कारण का निश्चित नियम नहीं है। वह पदार्थ का परिवर्तन मात्र स्वीकार नहीं करता। उसका सर्वथा नाश और सर्वथा उत्पाद भी स्वीकार करता है। जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा—इसे वह समाज के विकास में भारी रुकावट मानता है। सच तो यह है कि 'जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा'—वाली धारणा का हमें लगभग सब जगह सामना करना पड़ता है और व्यक्तियों और समाज के विकास में भारी रुकावट पड़ती है।"[2]

किन्तु यह आशंका कार्य-कारण के एकांगी रूप को ग्रहण करने का परिणाम है। जो था, है और वैसा ही रहेगा—यह तत्त्व के अस्तित्व या कारण की व्याख्या है। कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में पदार्थ परिणाम-स्वभाव है। पूर्ववर्ती और परवर्ती में सम्बन्ध हुए बिना कार्य-कारण की स्थिति ही नहीं बनती। परवर्ती पूर्ववर्ती का ऋणी होता है, पूर्ववर्ती परवर्ती में अपना संस्कार छोड़ जाता है।[3] यह शब्दान्तर से 'परिणामी नित्यत्व' का ही स्वीकार है।

---

१. द्रव्यानुयोग तर्कणा, ६।१७।२२
२. मार्क्सवाद, पृ० ७५।
३. पानी जब गर्म होने लगता है तो हमको पहले पानी के रूप में ही प्रतीत होता है। परन्तु जब ताप-वृद्धि की मात्रा सीमा-विशेष तक पहुंच जाती है तो पानी का स्थान भाप ले लेती है। इसी प्रकार के क्रमिक परिवर्तन को…मात्रा-भेद से लिंग-भेद कहते हैं। दूसरी अवस्था पहली अवस्था की प्रतियोगी—उससे विपरीत होती है परन्तु परिवर्तन-क्रम वहीं नहीं रुक सकता, वह और आगे बढ़ता है और मात्रा-भेद से लिंग-भेद होकर तीसरी अवस्था का उदय होता है, जो दूसरी की प्रतियोगी होती है। इस प्रकार पहली की प्रतियोगी की प्रतियोगी होती है। इसको यों कहते हैं कि पूर्वावस्था, तत् प्रतिषेध, प्रतिषेध का प्रतिषेध—इस क्रम से अवस्था-परिणाम का प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, अपने प्रतिषेधक में अपने संस्कार छोड़ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती में प्रत्येक पूर्ववर्ती विद्यमान है। धर्म-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं।



परिशिष्ट



१ : पट्टावलि

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव और विचार-श्रेणी के अनुसार 'युग-प्रधान-पट्टावलि' और समय :

१. आचार्यों के नाम	समय (वीर-निर्वाण से)
१. गणधर सुधर्मा स्वामी	१-२०
२. आचार्य जम्बू स्वामी	२०-६४
३. आचार्य प्रभव स्वामी	६४-७५
४. आचार्य शय्यंभवसूरि	७५-९८
५. आचार्य यशोभद्रसूरि	९८-१४८
६. आचार्य संभूतिविजय	१४८-१५६
७. आचार्य भद्रबाहु स्वामी	१५६-१७०
८. आचार्य स्थूलभद्र	१७०-२१५
९. आचार्य महागिरि	२१५-२४५
१०. आचार्य सुहस्तिसूरि	२४५-२९१
११. आचार्य गुणसुन्दरसूरि	२९१-३३५
१२. आचार्य श्यामाचार्य	३३५-३७६
१३. आचार्य स्कन्दिल	३७६-४१४
१४. आचार्य रेवतिमित्र	४१४-४५०
१५. आचार्य धर्मसूरि	४५०-४९५
१६. आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५-५३३
१७. आचार्य श्री गुप्तसूरि	५३३-५४८
१८. आचार्य वज्रस्वामी	५४८-५८४
१९. आचार्य आर्यरक्षित	५८४-५९७

२०. आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ५९७-६१७
२१. आचार्य वज्रसेनसूरि ६१७-६२०
२२. आचार्य नागहस्ती ६२०-६८९
२३. आचार्य रेवतिमित्र ६८९-७४८
२४. आचार्य सिंहसूरि ७४८-८२६
२५. आचार्य नागार्जुनसूरि ८२६-९०४
२६. आचार्य भूतदिन्नसूरि ९०४-९८३
२७. आचार्य कालिकसूरि (चतुर्थ) ९८३-९९४
२८. आचार्य सत्यमित्र ९९४-१०००
२९. आचार्य हरिल्ल १०००-१०५५
३०. आचार्य जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण १०५५-१११५
३१. आचार्य उमास्वातिसूरि १११५-११९०
३२. आचार्य पुष्यमित्र ११९०-१२५०
३३. आचार्य संभूति १२५०-१३००
३४. आचार्य माठर संभूति १३००-१३६०
३५. आचार्य धर्मऋषि १३६०-१४००
३६. आचार्य ज्येष्ठांगगणी १४००-१४७१
३७. आचार्य फल्गुमित्र १४७१-१५२०
३८. आचार्य धर्मघोष १५२०-१५९८

२. वालभी युगप्रधान-पट्टावलि

१. आचार्य सुधर्मा स्वामी २० वर्ष
२. आचार्य जम्बू स्वामी ४४ वर्ष
३. आचार्य प्रभव स्वामी ११ वर्ष
४. आचार्य शय्यंभव २३ वर्ष
५. आचार्य यशोभद्र ५० वर्ष
६. आचार्य सम्भूतिविजय ८ वर्ष
७. आचार्य भद्रबाहु १४ वर्ष
८. आचार्य स्थूलभद्र ४६ वर्ष
९. आचार्य महागिरि ३० वर्ष
१०. आचार्य सुहस्ती ४५ वर्ष
११. आचार्य गुणसुन्दर ४४ वर्ष
१२. आचार्य कालकाचार्य ४१ वर्ष
१३. आचार्य स्कन्दिलाचार्य ३८ वर्ष

१४. आचार्य रेवतिमित्र	३६ वर्ष
१५. आचार्य मंगु	२० वर्ष
१६. आचार्य धर्म	२४ वर्ष
१७. आचार्य भद्रगुप्त	४१ वर्ष
१८. आचार्य वज्रसेन	३६ वर्ष
१९. आचार्य रक्षित	१३ वर्ष
२०. आचार्य पुष्यमित्र	२० वर्ष
२१. आचार्य वज्रसेन	३ वर्ष
२२. आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३. आचार्य रेवतिमित्र	५९ वर्ष
२४. आचार्य सिंहसूरि	७८ वर्ष
२५. आचार्य नागार्जुन	७८ वर्ष
२६. आचार्य भूतदिन्न	७९ वर्ष
२७. आचार्य कालका	११ वर्ष

३. माथुरी युगप्रधान-पट्टावलि

१. आचार्य सुधर्मा स्वामी
२. आचार्य जम्बू स्वामी
३. आचार्य प्रभव स्वामी
४. आचार्य शय्यंभव
५. आचार्य यशोभद्र
६. आचार्य सम्भूतविजय
७. आचार्य भद्रबाहु
८. आचार्य स्थूलभद्र
९. आचार्य महागिरि
१०. आचार्य सुहस्ती
११. आचार्य बलिसह
१२. आचार्य स्वाति
१३. आचार्य श्यामाचार्य
१४. आचार्य सांडिल्य
१५. आचार्य समुद्र
१६. आचार्य मंगु
१७. आचार्य आर्यधर्म
१८. आचार्य भद्रगुप्त

१९. आचार्य वज्र
२०. आचार्य रक्षित
२१. आचार्य आनन्दिल
२२. आचार्य नागहस्ती
२३. आचार्य रेवतिनक्षत्र
२४. आचार्य ब्रह्मदीपक सिंह
२५. आचार्य स्कन्दिलाचार्य
२६. आचार्य हिमवंत
२७. आचार्य नागार्जुन
२८. आचार्य गोविन्द
२९. आचार्य भूतदिन्न
३०. आचार्य लौहित्य
३१. आचार्य दूष्यगणि
३२. आचार्य देवर्द्धिगणि

२ : साहित्य

(क) जैन संस्कृत साहित्य

१. व्याकरण

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
१. लेखाचार्य	ऐन्द्र व्याकरण	ई० पू० ५९०
२. पूज्यपाद	जैनेन्द्र व्याकरण	वि० ६ठी शती
३. शाकटायन	शब्दानुशासन	वि० ९वीं शती
४. हेमचन्द्र (कलिकाल सर्वज्ञ)	सिद्धहेम शब्दानुशासन	वि० १२वीं शती
५. मुष्टि व्याकरण	मलयगिरि सूरि	वि० १२३०
६. मुनि चोथमल	भिक्षु शब्दानुशासन	वि० २०वीं शती

२. छन्दशास्त्र

१. जयकीर्ति	छन्दोनुशासन	वि० १०५०
२. राजशेखर	छन्दशेखर	वि० ११७९
३. हेमचन्द्र	छन्दोनुशासन	वि० १२१०
४. अमरचन्द्र सूरि	छन्दोरत्नावली	१३वीं शती
५. वाग्भट	छन्दोनुशासन	वि० १३५०

३. अलंकारशास्त्र

१. वाग्भट	वाग्भटालंकार	वि० ११९०
२. हेमचन्द्र	काव्यानुशासन	वि० ११९८
३. अमरचन्द्र सूरि	काव्यकल्पलता	वि० १२८०
४. नरेन्द्रप्रभ सूरि	अलंकारमहोदधि	वि० १२८०
५. वाग्भट	काव्यानुशासन	वि० १३५०

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
४. गणितशास्त्र		
१. महावीराचार्य	गणितसार संग्रह	वि० ९००
२. अनंतपाल	पाटी गणित	वि० १२५०
३. ठक्कर फेरू	गणितसार	वि० १३७०
५. नीतिशास्त्र		
१. सोमदेव सूरि	नीतिवाक्यामृत	वि० १०५०
२. तिलकप्रभ सूरि	नीतिशास्त्र	वि० १३वीं शती
३. धनद	नीति धनद	वि० १४९०
६. काव्य (गद्य, पद्य, चम्पू)		
१. रविषेण	पद्मपुराण	वि० ८वीं शती
२. जिनसेन	हरिवंशपुराण	वि० ९वीं शती
३. सिद्धर्षि	उपमितिभवप्रपंचकथा	वि० ९वीं शती
४. धनपाल	तिलकमंजरी	वि० १०३०
५. पद्मदेव सूरि	पार्श्वनाथ चरित	वि० ११वीं शती
६. सोमदेव	यशस्तिलक चम्पू	वि० ११वीं शती
७. धनंजय	द्विसंधान काव्य	वि० ११वीं शती
८. वाग्भट	नेमि निर्वाण	वि० १२वीं शती
९. मल्लिषेण सूरि	महापुराण	वि० १२वीं शती
१०. हेमचन्द्र	त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र	वि० १२-१३वीं शती
११. हेमचन्द्र	द्वयाश्रय काव्य	वि० १२-१३वीं शती
१२. अमरचन्द्र सूरि	पद्मानन्द महाकाव्य	वि० १३वीं शती
१३. माणिक्यचन्द्र सूरि	शान्तिनाथ चरित्र	वि० १३वीं शती
१४. मेरुतुंग सूरि	प्रवन्धचिन्तामणि	वि० १३६१
१५. मुनि भद्रसूरि	शान्तिनाथ चरित्र	वि० १४१०
१६. रत्नप्रभ सूरि	कुवलयमाला	वि० १४वीं शती
१७. समयसुन्दर	कथाकोश	१७०२
१८. मेघविजयगणि	सप्तसन्धान काव्य	१७६०
१९. पुण्यकुशल	भरतवाहुवलि महाकाव्य	

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
(ख) जैन न्याय साहित्य		
१. आचार्य कुन्दकुन्द	प्रवचनसार	वि० २री शती
२. गृद्धपिच्छाचार्य	तत्त्वार्थसूत्र	वि० ३री शती
३. उमास्वाति	तत्त्वार्थधिगमभाष्य	
४. समन्तभद्र	आप्तमीमांसा	वि० ४-५वीं शती
	युक्त्यनुशासन	
	बृहत्स्वयंभूस्तोत्र	
	जीवसिद्धि	
५. सिद्धसेन	सन्मतितर्क	वि० ५वीं शती
६. अकलंक देव	लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	वि० ७वीं शती
	न्यायविनिश्चय	
	प्रमाणसंग्रह	
	सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	
	तत्त्वार्थवार्तिक	
	अष्टशती (आप्तमीमांसा की वृत्ति)	
७. हरिभद्र	अनेकान्तजयपताका	वि० ८वीं शती
	अनेकान्तवादप्रवेश	
	षड्दर्शनसमुच्चय	
	शास्त्रवार्तासमुच्चय	
	न्यायप्रवेशटीका	
८. कुमारनन्दि	वादन्याय	वि० ८वीं शती
अनन्तवीर्य (वृद्ध)	सिद्धिविनिश्चयटीका	वि० ९वीं शती
९. विद्यानन्द	अष्टसहस्री	वि० ९वीं शती
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	
	विद्यानन्द महोदय	
	युक्त्यनुशासनटीका	
	आप्तपरीक्षा	
	प्रमाणपरीक्षा	

ग्रन्थाकार	ग्रन्थ	काल
	पत्रपरीक्षा	
	सत्यशासनपरीक्षा	
१०. अनन्तकीर्ति	जीवसिद्धिटीका	वि० १०वीं शती
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	
११. वसुनन्दि	आप्तमीमांसावृत्ति	वि० ११-१२वीं शती
१२. सिद्धर्षि	न्यायावतारवृत्ति	वि० १०वीं शती
१३. माणिक्यनन्दि	परीक्षामुख	वि० ११वीं शती
१४. वादिराज सूरि	न्यायविनिश्चयविवरण	वि० ११वीं शती
	प्रमाणनिर्णय	
१५. वादीभसिंह	स्याद्वादसिद्धि	वि० ११वीं शती
	नवपदार्थ-निश्चय	
१६. अभयदेव सूरि	सन्मतिटीका	वि० ११वीं शती
१७. प्रभाचन्द्र	प्रमेयकमलमार्तण्ड	वि० ११-१२वीं शती
	न्यायकुमुदचन्द्र	
१८. अनन्तवीर्य	प्रमेयरत्नमाला	वि० १२वीं शती
१९. शान्ति सूरि	न्यायावतारवार्तिक (सवृत्ति)	वि० ११वीं शती
२०. वादिदेव सूरि	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	वि० १२वीं शती
	स्याद्वादरत्नाकर	
२१. हेमचन्द्र	प्रमाणमीमांसा	वि० १२वीं शती
	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	
२२. भावसेन त्रैविद्य	विश्वतत्त्वप्रकाश	वि० १२-१३वीं शती
लघु सामन्तभद्र	अष्टसहस्री टिप्पण	वि० १३वीं शती
२३. आशाधर	प्रमेयरत्नाकर	वि० १३वीं शती
२४. शान्तिषेण	प्रमेयरत्नसार	वि० १३वीं शती
२५. नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	
२६. विमलदास	सप्तभंगीतरंगिणी	
२७. धर्मभूषण	न्यायदीपिका	वि० १५वीं शती
२८. अजितसेन	न्यायमणिदीपिका	
२९. शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका	

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
३०. चारूकीर्ति पंडिताचार्य	प्रमेयरत्नालंकार	
३१. नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	
३२. मणिकण्ठ	न्यायरत्न	
३३. शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	
३४. अभयचन्द्र सूरि	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	
३५. रत्नप्रभ सूरि	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	वि० १३वीं शती
३६. मल्लिषेण	स्याद्वादमंजरी	वि० १४वीं शती
३७. यशोविजय	अष्टसहस्री विवरण	वि० १८वीं शती
	अनेकान्तव्यवस्था	
	ज्ञानबिन्दु	
	जैन तर्कभाषा	
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	
	न्यायखण्डखाद्य	
	अनेकान्तप्रवेश	
	न्यायालोक	
	गुरुतत्त्वविनिश्चय	

३ : कर्म

ज्ञानावरण—ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

१. आभिनिवोधिक ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

२. श्रुत-ज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

३. अवधि-ज्ञानावरण—मूर्त द्रव्य-पुद्‌गल को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

४. मनःपर्याय-ज्ञानावरण—दूसरों के मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

५. केवल-ज्ञानावरण—सर्व द्रव्य और पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

दर्शनावरण—सामान्य वोध को आवृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

१. चक्षु-दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

२. अचक्षु-दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

३. अवधि-दर्शनावरण—मूर्त द्रव्यों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

४. केवल-दर्शनावरण— सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

५. निन्द्रा—सामान्य नींद (सोया हुआ व्यक्ति सुख से जाग जाए, वह नींद)।

६. निद्रानिद्रा—घोर नींद (सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जागे, वह नींद)।

७. प्रचला—खड़े या बैठे हुए जो नींद आये।

८. प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जो नींद आए।

९. स्त्यानर्धि—(स्त्यान-गृद्धि) संकल्प किये हुए कार्य को नींद में कर डाले, वैसी प्रगाढ़तम नींद।

वेदनीय—अनुभूति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

१. सात वेदनीय—सुखानुभूति का निमित्त—

(क) मनोज्ञ शब्द, (ख) मनोज्ञ रूप, (ग) मनोज्ञ गन्ध, (घ) मनोज्ञ रस, (ङ) मनोज्ञ स्पर्श, (च) सुखित मन, (छ) सुखित वाणी, (ज) सुखित काय।

२. असात वेदनीय—दुःखानुभूति का निमित्त—

(क) अमनोज्ञ शब्द, (ख) अमनोज्ञ रूप, (ग) अमनोज्ञ गन्ध, (घ) अमनोज्ञ रस, (ङ) अमनोज्ञ स्पर्श, (च) दुःखित मन, (छ) दुःखित वाणी, (ज) दुःखित काय।

मोहनीय—आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म-पुद्गल।

(क) दर्शन मोहनीय—सम्यक्-दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

१. सम्यक्त्व-वेदनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक्-दृष्टि के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

२. मिथ्यात्व-वेदनीय—सम्यक्-दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

३. मिश्र-वेदनीय—तत्त्व-श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(ख) चारित्र मोहनीय—चरित्र-विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

कषाय-वेदनीय—राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

नो-कषाय-वेदनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म-पुद्गल—

हास्य—सकारण या अकारण (बाहरी कारण के बिना भी) हंसी उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

रति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न करने वाले या संयम में रुचि उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

अरति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न करने वाले या संयम में अरुचि उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

शोक—सकारण या अकारण शोक उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

भय—सकारण या अकारण भय उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

जुगुप्सा—सकारण या अकारण घृणा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

स्त्री-वेद—पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-

पुद्गल।

पुरुष-वेद—स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

नपुंसक-वेद—स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

आयु—जीवन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

१. नरकायु—नरक-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

२. तिर्यञ्चायु—तिर्यञ्च-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

३. मनुष्यायु—मनुष्य-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

४. देवायु—देव-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

नाम—जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म-पुद्गल—

१. गति-नाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(क) निरय-गति-नाम—नारक जीवन दु:खमय दशा की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) तिर्यञ्च-गति-नाम—पशु, पक्षी आदि के जीवन (दु:ख-वहुल दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) मनुष्य-गति-नाम—मनुष्य-जीवन (सुख-दु:ख मिश्रित दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) देव-गति-नाम—देव-जीवन (सुखमय दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

२. जाति-नाम—इन्द्रिय-रचना के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(क) एकेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन (त्वग्) इन्द्रिय की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) द्वीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन और जिह्वा—इन दो इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-गुद्गल।

(ग) त्रीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा और नाक—इन तीनों इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) चतुरिन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक और चक्षु—इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) पंचेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, चक्षु और कान—इन पांच इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

३. शरीर-नाम—शरीर-प्राप्ति के निमित्त कर्म:पुद्गल—

(क) औदारिक-शरीर-नाम—स्थूल शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-

पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-नाम—विविध क्रिया कर सकने वाले कामरूपी शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-नाम—आहारक-लब्धिजन्य शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर-नाम—तेज, पाक तथा तेजस् और शीत लेश्या का निर्गमन कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-नाम—कर्म समूह या कर्म विकारमय शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

४. शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग-नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

५. शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कर्म।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत।

(ग) आहारक-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत।

(घ) तैजस-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत।

(ङ) कार्मण-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत।

कर्म-ग्रन्थ में शरीर-बन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं :

१. औदारिक औदारिक बन्धन नाम।

२. औदारिक तैजस बन्धन नाम।

३. औदारिक कार्मण बन्धन नाम।

४. वैक्रिय बन्धन नाम।

५. वैक्रिय तैजस बन्धन नाम।

६. वैक्रिय कार्मण बन्धन नाम।

७. आहारक आहारक बन्धन नाम।
८. आहारक तैजस बन्धन नाम।
९. आहारक कार्मण वन्धन नाम।
१०. औदारिक तैजस कार्मण वन्धन नाम।
११. वैक्रिय तैजस कार्मण वन्धन नाम।
१२. आहारक तैजस कार्मण वन्धन नाम।
१३. तैजस तैजस वन्धन नाम।
१४. तैजस कार्मण बन्धन नाम।
१५. कार्मण कार्मण वन्धन नाम।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर-विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्वन्ध नहीं होता।

६. शरीर-संघातन-नाम—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघात-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७. संहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है, इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। वज्र-कील, ऋष—वेष्टन पट्ट, नाराच—मर्कट-बन्ध—दोनों ओर आपस में एक-दूसरे को बांधे हुए हों, वैसी आकृति; आंटी लगाए हुए हो, वैसी आकृति; बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो, वैसी आकृति; जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो—ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्रऋषभ-नाराच-संहनन' है

(ख) ऋषभनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल, 'ऋषभ-

नाराच संहनन' में हड्डियों की आंटी और वेष्टन होता है, कील नहीं होती। यह दृढ़तर है।

(ग) नाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'नाराच-संहनन' में केवल हड्डियों की आंटी होती है, वेष्टन और कील नहीं होती।

(घ) अर्धनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'अर्ध-नाराच संहनन' में हड्डी का एक छोर मर्कट-बन्ध से बंधा हुआ और दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।

(ङ) कीलिका-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कीलिका संहनन' में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई होती हैं।

(च) सेवार्त-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'सेवार्त संहनन' में केवल हड्डियां ही आपस में जुड़ी हुई होती हैं।

८. संस्थान-नाम—इसके उदय का शरीर की आकृति-रचना पर प्रभाव होता है, इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

समचतुरस्र-संस्थान—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। पालथी मारकर बैठे हुए व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं। वह 'समचतुरस्र संस्थान' है।

न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण और नीचे के अवयव प्रमाणहीन होते हैं, वह 'न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान' है।

सादि-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव प्रमाणहीन और नीचे के अवयव पूर्ण होते हैं, वह 'सादि-संस्थान' है।

वामन-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'वामन-संस्थान'—बौना।

कुब्ज-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कुब्ज संस्थान'—कुबड़ा।

हुंड-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। सब अवयव बेढब या प्रमाणशून्य होते हैं, वह हुंड-संस्थान है।

९. वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रंग पर प्रभाव पड़ता है।

(क) कृष्ण-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग काला हो जाता है।

(ख) नील-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग नीला हो जाता है।

(ग) लोहित-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग लाल हो जाता है।

(घ) हारिद्र-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग पीला हो जाता है।

(ङ) श्वेत-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग सफेद हो जाता है।
१०. गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के गंध पर प्रभाव पड़ता है।
(क) सुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर सुगन्धवासित होता है।
(ख) दुरभि-गन्ध-नाम—इन कर्म के उदय से शरीर दुर्गन्धवासित होता है।
११. रस-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है।
(क) तिक्त-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस तिक्त होता है।
(ख) कटु-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस कड़वा होता है।
(ग) कषाय-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस कसैला होता है।
(घ) आम्ल-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस खट्टा होता है।
(ङ) मधुर-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस मीठा होता है।
१२. स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता है।
(क) कर्कश-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कठोर होता है।
(ख) मृदु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कोमल होता है।
(ग) गुरु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर भारी होता है।
(घ) लघु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर हल्का होता है।
(ङ) स्निग्ध-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर चिकना होता है।
(च) रूक्ष-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर रूखा होता है।
(छ) शीत-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर ठंडा होता है।
(ज) उष्ण-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर गरम होता है।
१३. अगुरुलघु-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर न सम्हल सके वैसा भारी भी नहीं होता और हवा में उड़ जाए वैसा हल्का भी नहीं होता।
१४. उपघात-नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्महत्या करता है।
१५. पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।
१६. आनुपूर्वी नाम—विश्रेणि-स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(ख) तिर्यञ्च-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यञ्च-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

१७. उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।

१८. आतप-नाम—इसके उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।

१९. उद्योत-नाम—इसके उदय से शरीर में से शीत प्रकाश निकलता है।

२०. विहायोगति-नाम—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है।

(क) प्रशस्त विहायोगति-नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।

(ख) अप्रशस्त विहायोगति-नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।

२१. त्रस-नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं।

२२. स्थावर-नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छापूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।

२३. सूक्ष्म-नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है।

२४. बादर-नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है।

२५. पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।

२६. अपर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते हैं।

२७. साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है।

२८. प्रत्येक-शरीर-नाम—इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।

२९. स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं।

३०. अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।

३१. शुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।

३२. अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं।

३३. सुभग-नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए बिना और सम्बन्ध के बिना भी जीव दूसरों को प्रिय लगता है।

३४. दुर्भग-नाम—इसके उदय से उपकारक और सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।

३५. सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।

३६. दुःस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।

३७. आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।

३८. अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नहीं होता।

३९. यशकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

४०. अयशकीर्ति-नाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

४१. निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

४२. तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त भूत कर्म।

गोत्र

१. उच्च गोत्र—इनके उदय से सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-उच्च-गोत्र—मातृपक्षीय सम्मान।

(ख) कुल-उच्च-गोत्र—पितृपक्षीय सम्मान।

(ग) बल-उच्च-गोत्र—बलपक्षीय सम्मान।

(घ) रूप-उच्च-गोत्र—रूपपक्षीय सम्मान।

(ङ) तप-उच्च-गोत्र—तपपक्षीय सम्मान।

(च) श्रुत-उच्च-गोत्र—ज्ञानपक्षीय सम्मान।

(छ) लाभ-उच्च-गोत्र—प्राप्तिपक्षीय सम्मान।

(ज) ऐश्वर्य-उच्च-गोत्र—ऐश्वर्यपक्षीय सम्मान।

२. नीच गोत्र—इसके उदय से असम्मान और अप्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-नीच-गोत्र—मातृपक्षीय असम्मान।

(ख) कुल-नीच-गोत्र—पितृपक्षीय असम्मान।

(ग) बल-नीच-गोत्र—बलपक्षीय असम्मान।

(घ) रूप-नीच-गोत्र—रूपपक्षीय असम्मान।

(ङ) तप-नीच-गोत्र—तपपक्षीय असम्मान।

(च) श्रुत-नीच-गोत्र—ज्ञानपक्षीय असम्मान।

(छ) लाभ-नीच-गोत्र—प्राप्तिपक्षीय असम्मान।

(ज) ऐश्वर्य-नीच-गोत्र—ऐश्वर्यपक्षीय असम्मान।

अन्तराय—इसके उदय का क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव होता है।

(क) दान-अन्तराय—इसके उदय से सामग्री की पूर्णता होने पर भी दान नहीं दिया जा सकता।

(ख) लाभ-अन्तराय—इसके उदय से लाभ नहीं होता।

(ग) भोग-अन्तराय—इसके उदय से भोग नहीं होता।

(घ) उपभोग-अन्तराय—इसके उदय से उपभोग नहीं होता।

(ङ) वीर्य-अन्तराय—इसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

कर्म की उत्तर-प्रकृतियां और उनकी स्थिति

कर्म की प्रकृतियां	जघन्य-स्थिति	उत्कृष्ट-स्थिति
५ ज्ञानावरणीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटाकोटि सागर
१० निद्रापंचक	एक सागर के ३/७ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	३० कोटाकोटि सागर
१४ दर्शन-चतुष्क	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटाकोटि सागर
१५ सात-वेदनीय (ईर्यापथिक, सम्पराय)	२ समय	२ समय
१६ असात-वेदनीय	एक सागर के ३/७ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	३० कोटाकोटि सागर
१७ सम्यक्त्व-वेदनीय	अन्तर्मुहूर्त्त	कुछ अधिक ६६ सागर से
१८ मिथ्यात्व-वेदनीय	एक सागर में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	७० कोटाकोटि सागर
१९ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	अन्तर्-मुहूर्त्त
३१ कषाय-द्वादशक (अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया, लोभ)	एक सागर के ४/७ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	४० कोटाकोटि सागर
३२ क्रोध—संज्वलन	२ मास	४० कोटाकोटि सागर

३३ मान—संज्वलन	१ मास	४० कोटाकोटि सागर
३४ माया—संज्वलन	अर्द्ध-मास	४० कोटाकोटि सागर
३५ लोभ—संज्वलन	अन्तर्-मुहूर्त्त	४० कोटाकोटि सागर
३६ स्त्री-वेद	एक सागर के $\frac{15}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१५ कोटाकोटि सागर
३७ पुरुष-वेद	८ वर्ष	१० कोटाकोटि सागर
४२ नपुंसक वेद, अरति, भय, शोक, दुगुंछा	एक सागर के $\frac{2}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	२० कोटाकोटि सागर
४४ हास्य, रति	एक सागर के $\frac{1}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१० कोटाकोटि सागर
४६ नैरयिकायुष देवायुष	१०,००० वर्ष अन्तर्-मुहूर्त्त अधिक	३३ सागर क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक
४८ निर्यञ्चायुष, मनुष्यायुष	अन्तर्-मुहूर्त्त	३ पल्य और क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक
५४ नैरयिकगतिनाम, नरकानुपूर्वीनाम, वैक्रयिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, वंधन, संघातन)	हजार सागर के $\frac{2}{7}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	२० कोटाकोटि सागर
५६ तिर्यञ्चगतिनाम तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम यथा नपुंसक वेद		

५८	मनुष्य गतिनाम, मनुष्यानुपूर्वी नाम	एक सागर के $\frac{1}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१५ कोटाकोटि सागर
६०	देव-गतिनाम, देवानुपूर्वीनाम	हज़ार सागर के $\frac{1}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१० कोटाकोटि सागर
७२	एकेन्द्रिय जातिनाम, पंचेन्द्रिय जातिनाम, औदारिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन) तैजस, कार्मण दोनों कालिक (शरीर, बन्धन, संघातन)	एक सागर के $\frac{2}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	२० कोटाकोटि सागर
७५	द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जातिनाम	एक सागर के $\frac{9}{35}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१८ कोटाकोटि सागर
८०	आहारक चतुष्क, तीर्थंकर नाम	अन्त: कोटाकोटि सागर	अन्त: कोटाकोटि सागर
८२	वज्रऋषभनाराच-संहनन नाम समचतुरस्र-संस्थान नाम	हास्यवत्	
८४	ऋषभनाराच-संहनन नाम न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम	एक सागर के $\frac{8}{35}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१२ कोटाकोटि सागर
८६	नाराच संहनन नाम सादिसंस्थान नाम	एक सागर के $\frac{7}{35}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१४ कोटाकोटि सागर

८८ अर्द्धनाराच संहनन नाम वामन संस्थान नाम	एक सागर के $\frac{8}{35}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१६ कोटाकोटि सागर
९० कीलक संहनन नाम कुब्ज संस्थान नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	तीन विकलेन्द्रियवत्
९२ सेवार्त्त संहनन नाम हुंडक संस्थान नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
९४ श्वेतवर्ण नाम, मधुर-रस-नाम	हास्यवत्	
९६ पीत-वर्ण-नाम, आम्ल-रस-नाम	एक सागर के $\frac{5}{28}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१२$\frac{1}{2}$ कोटाकोटि सागर
९८ रक्त-वर्ण-नाम, कषाय-रस-नाम	एक सागर के $\frac{6}{28}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१५ कोटाकोटि सागर
	एक सागर के $\frac{7}{28}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१७$\frac{1}{2}$ कोटाकोटि सागर
१०० नील वर्ण, कटुक रस		
१०२ कृष्ण-वर्ण, तिक्त रस	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१०४ सुरभि गन्ध, प्रशस्त विहायोगति	हास्यवत्	हास्यवत्
१०६ दुरभि गन्ध, अप्रशस्त विहायोगति	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्

११०	कर्कश-स्पर्शनाम, गुरु-स्पर्शनाम, शीत-स्पर्शनाम, रूक्ष-स्पर्शनाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११४	मृदु-स्पर्शनाम, लघु-स्पर्शनाम स्निग्ध-स्पर्शनाम, उष्ण-स्पर्शनाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१२१	पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, आतप नाम उद्योत नाम, अगुरु-लघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१२४	सूक्ष्म-नाम, अपर्याप्ति-नाम, साधारण-नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	तीन विकलेन्द्रियवत्
१३५	त्रसनाम, बादर-नाम, प्रत्येक-नाम पर्याप्त-नाम, स्थावर-नाम, अस्थिर-नाम, अशुभ-नाम, दुर्भग-नाम, दुःस्वर-नाम अनादेय-नाम, अयशःकीर्ति-नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४०	स्थिर-नाम, सुभ-नाम, शुभग-नाम, सुस्वर-नाम, आदेय-नाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१४२	यश, कीर्ति-नाम, उच्चगोत्र	अष्ट-मुहूर्त्त	१० कोटाकोटि सागर
१४३	नीच-गोत्र	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४८	अन्तराय पंचक	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटाकोटि सागर

४ : नामानुक्रम

५ : प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अंगुत्तरनिकाय
अग्निमालविका
अतीत का अनावरण
अथर्ववेद
अथर्ववेदकारिका
अध्यात्मोपनिषद्
अनुयोगद्वार
अनेकान्त व्यवस्था
अन्तकृत
अन्ययोगव्यवच्छेदिका
अभिधम्मकोष
अभिधान चिन्तामणि
अयोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका
अवर ओरियन्टल हेरीटेज
अष्ट-सहस्री
अष्टांगहृदय
आगम अष्टोत्तरी
आचारांग चूर्णि
आचारांग निर्युक्ति
आचारांग वृत्ति
आदिपुराण
आप्तमीमांसा
आयारचूला
आयारो
आवश्यक कथा
आवश्यक चूर्णि
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
आवश्यक सूत्र
इडियन थोर एण्ड इट्स डेवलपमेंट
इंडियन फिलॉसफी
इन्द्रियवादी री चौपई
ईशा उपनिषद्
उत्तरज्झयणाणि
उत्तरपुराण
उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति
उत्पादादिसिद्धी
ऋग्वेद
औपपातिक
कठोपनिषद्
कर्णाटक कवि चरित्र
कर्मग्रन्थ
कर्मविवरण (स्वोपज्ञ वृत्ति)
कल्पसूत्र
केन उपनिषद्
कौषीतकी उपनिषद्

गणधरवाद
गीता
गीता रहस्य
चरक
छान्दोग्य उपनिषद्
जड़वाद
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
जाबालोपनिषद्
जैन गुर्जर कविओ
जैन तर्कभाषा
जैन दर्शन का इतिहास
जैन सिद्धान्त दीपिका
ज्ञाताधर्मकथा
ज्ञानविन्दु
ज्ञानसार
ठाणं
तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थ भाष्य टीका
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
तत्त्वार्थ वृत्ति
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थ सार
तत्त्वार्थ सूत्र
तन्दुल वैयालिय
तर्कभाषा
तर्कमीमांसा
तर्कसंग्रह
तैत्तिरीय उपनिषद्
दक्षिण भारत में जैन धर्म
दर्शन और चिन्तन
दर्शन का इतिहास
दर्शन दिग्दर्शन
दर्शनशास्त्र का इतिहास
दशवैकालिक (जिनदास चूर्णि)
दशवैकालिक भूमिका
दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति
दशाश्रुतस्कन्ध
दसवेआलियं
द्रव्यसंग्रह
द्रव्यानुयोग तर्कणा
द्वात्रिंशिका
धम्मपद
धर्मप्रकरण
धर्मवादाष्टक
धवला टीका
ध्यानशतक
नन्दी
नन्दी वृत्ति
नयरहस्य
नव पदार्थ चौपई
नियमसार
निरुक्त
निशीथ चूर्णि
निश्चयद्वात्रिंशिका
नीतिवाक्यामृत
न्यायकारिका
न्यायकारिकावली
न्यायकुमुदचन्द्र
न्यायखंडनखाद्य
न्यायदीपिका
न्यायबिन्दु
न्यायभाष्य
न्यायमंजरी
न्यायवार्तिक
न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकारिका
न्यायसूत्र
न्यायावतार
न्यायावतार टीका

न्यायावतार वार्तिक वृत्ति
न्यायालोक
न्यायोपदेश
पंचसंग्रह
पंचास्तिकाय
पंचास्तिकाय टीका
पद्मपुराण
पन्नवणा
परमात्मप्रकाश
परमात्मप्रकाश टीका
परिशिष्ट पर्व
परीक्षा मुखमंडन
पाइय भाषाओ अने साहित्य
पाइयसद्दमहण्णवो
पातञ्जल योग
पातञ्जल योगभाष्य
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
पिंडनिर्युक्ति वृत्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन
प्रज्ञापना
प्रज्ञापनावृत्ति
प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
प्रमाण प्रवेश
प्रमाण मीमांसा
प्रमाणवार्तिक
प्रमाण समुच्चय
प्रवचनसार
प्रवचनसार वृत्ति
प्रवचनसारोद्धार
प्रशमरति प्रकरण
प्रश्न व्याकरण
प्राकृत व्याकरण
प्रमेयकमलमार्तण्ड
बृहत्कल्प निर्युक्ति
बृहत्कल्प भाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बुद्ध चरित्र
बुद्ध वचन
ब्रह्मसूत्र (शंकर भाष्य)
भगवती
भगवती जोड़
भगवती वृत्ति
भागवत
भाषा परिच्छेद
भाषा रहस्य
भाषाविज्ञान विशेषांक
भारतीय दर्शन
भारतीय प्राचीन लिपिमाला
भारतीय मूर्तिकला
भारतीय संस्कृति और अहिंसा
भिक्षुन्यायकर्णिका
मज्झिमनिकाय
मनुस्मृति
महादेवस्तोत्र
महापुराण
महाभारत
महावंश
महावीर कथा
माध्यमिककारिका
मानव की कहानी
मार्क्सवाद
मार्क्सवाद क्या है ?
मीमांसा श्लोकवार्तिक
मीस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डक उपनिषद्
मेरी जीवनगाथा

मैं कौन हूं ?
यशस्तिलक
युक्त्यनुशासन
योगदर्शन
योगदृष्टि समुच्चय
योगविन्दु
योगविंशिका
योगशास्त्र
योगसूत्र
रत्नकरण श्रावकाचार
रिस्पोन्स इन दी लिविंग एण्ड नोन-लिविंग
लघीयस्त्रयी
लोकतत्त्वनिर्णय
लोकप्रकाश
वरांगचरित्र
वाक्यप्रदीप
वात्स्यायनभाष्य
वादद्वात्रिंशिका
विज्ञान और कम्युनिज़्म
विज्ञान की रूपरेखा
विशेषावश्यक भाष्य
विशेषावश्यक वृत्ति
विश्ववाणी
विश्वपुराण
वीतरागस्तव
वीतरागस्तोत्र
वेदान्तसार
वेदान्तसूत्र (शांकर भाष्य)
वैशेषिक दर्शन
वैशेषिक सूत्र
व्यवहार भाष्य
व्यास भाष्य
शंकर दिग्विजय
शतपथ ब्राह्मण
शांकरभाष्य
शान्त सुधारस
शान्तिपर्व
शारीरिक भाष्य
शास्त्रवार्ता समुच्चय
शुक्र रहस्य
श्वेताश्वतर उपनिषद्
षट्खंडागम
षट्दर्शन समुच्चय
षट्प्राभृत
संयुक्त निकाय
समयसार
समवाओ
समाचारी शतक
समाजवाद
सम्मति
सम्मति टीका
सर्वार्थसिद्धि
सांख्यकौमुदी
सांख्य सूत्र
साहित्य संदेश
सुत्तनिपात
सूत्रकृतांग वृत्ति
सूयगडो
स्थानांग वृत्ति
स्याद्वादमंजरी
स्वयंभूस्तोत्र
स्वरूप सम्बोधन
स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा
हारिभद्रीय अष्टक
हिन्दी विश्वभारती



